

# भारतीय दर्शन का इतिहास

माग-४

# [ भारतीय बहुत्ववाद ]

<sup>सेखक</sup> **डॉ**. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त

धनुवादकः
डॉ॰ मोहनलाल शर्मा
रीडर, बर्गन विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-४

शिक्षा तथा समाय-कस्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विक्यविद्यालय प्रन्य योजना के अन्तर्गत राजस्यान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

परिवीक्षक - डॉ. रसिकविहारी ओशी, ओधपुर विश्वविद्यालय ।

प्रथम संस्करण-१६७२।

मूल्य--१६.०० ६०

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ श्रकादमी,
 विद्यालय मार्ग, तिलकनगर,
 जयपुर-४।

मुद्रक-शर्मा बदर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस, अलवर ।

#### प्रस्तावना

बारतीय गायाओं को उच्च विक्षा का माध्यम बनाने की राष्ट्रीय नीति को बीझ किमानित करने के लिए वसु १६६० में भारत सरकार में एक बहुत् योवना का सूच्यात किया या जिसके संतर्गत विक्षित संदेशों में सम्ब कार्यायों में महत्यपूरी एक स्व नामान के निक्ष माध्यम के विद्यविद्याल-तिहा-तिहा र विक्षित्र विक्षा में महत्यपूरी एक के माध्यम के विद्यविद्याल-तिहा नति या या मायाओं से बन्यानुवाद कराने का कार्यक्रम त्वीकृत हुमा था। मारत सरकार के विक्षा एवं बुवक-सेवा मंत्रासय ने चतुर्व पंचवर्षीय योजना के सत्यगंत हसके लिए खठ-प्रतिवात मनुवान स्वीकार किया। राजस्थान हिनी स्वय सकाश्यों की स्वाप्त मो हसी उद्देश की पूर्ति एवं योजना को क्षियानित करने के लिए की वह यो। प्रस्तुत प्रत्य भारतीय दखेन का इतिहाल?' का प्रकारत भी इसी योजना के सन्तर्गत हुमा है।

दासमुप्त की इस ऐतिहासिक इति का महत्व सर्वविदित ही है। यह सन्य भारतीय वर्षन का एक व्यापक धीर विविध चित्र प्रस्तुत करता है। भारतीय वर्षन के शतिहास पर प्रमेक सन्य सक्ते प्रचात अभावत हुए हैं और उनमें कुछ बहुत महत्व-पूर्ण हैं, किन्तु वे इस सन्य के महत्त्व को कम नहीं कर सके, क्योंकि यह प्रन्य सालो-चनात्मक नहीं होकर कुक्यतः विवरणात्मक है और यह विवरण प्रत्यिक विस्तार भीर तटस्य भाव से प्रस्तुत करता है।

हमे प्राज्ञा है कि इस ग्रन्थ का दार्शनिक जगत् में समुचित बादर होगा ।

नारायण सिंह मसूबा

#### प्राक्कथन

प्रस्तृत बन्य-माला का तृतीय बन्य सन् १६४० ई० में प्रकाशित हवा और चतुर्य बन्य की पाण्डलिपि भी उस समय श्रीवकांश रूप में तैयार बी, तथा उसे सन् १६४२ ईo तक प्रकाशनार्थ मेजना भी सम्भव था । किन्तु सन् १६३६ ईo में द्वितीय महायुद्ध प्रारंभ हो गया । यद्यपि केन्द्रिज विश्वविद्यालय प्रेस युद्ध-काल में भी पाण्डुलिपि को प्रहरा करने के लिए तैयार था. तथापि मक्के कलकता से केम्ब्रिज तक पाण्डलिपि का भेजना तथा इंगलैंड धीर भारत के बीच प्रफ इधर से उधर भेजना अत्यधिक आशंका यक्त प्रतीत हमा । सन् १६४५ ई० में, कसकता विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग के बाध्यक्ष-पद से धवकाश बहुता करने के पत्रवान में इंगलैंड बाया तथा यहाँ बागमन के तरन्त पश्चात ही रोग-प्रस्त हो गया । इस रुग्णावस्था के काल में ही मैंने पाण्डुलिपि का संशोधन किया और उसे विद्वविद्यालय प्रेस को अर्थित किया। इसी कारए। नृतीय ग्रन्थ भीर प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में भप्रत्याशित विलम्ब हो गया है। नृतीय प्रन्थ की प्रस्तावना में प्रस्तुत ग्रन्थ की विषय सारिएी पर जो वचन दिए गए थे उनका मैंने निष्ठा से पालन किया है, परन्त बाब मुझे पाँचवें ग्रन्थ के प्रकाशन के प्रति उतना विश्वास नही रहा । बायुवृद्धि और निरंतर बस्वस्थता के कारण मुक्के सदेह है कि में भविष्य में इस प्रकार के लेखन और प्रकाशन के झारीरिक और मानसिक श्रम को सहन करने में समर्थ हो सकता। परन्त फिर भी मैं पाँचवें ग्रन्थ के लिए सामग्री एकत्रित कर रहा है और द्वाचा करता है कि ग्रपने जीवन काल में उसका भी प्रकाशन देख सक गा।

प्रस्तुत बन्य में 'भागवत-पुराख' का दर्धन, तथ्य एव उनके घनुवावियों का दर्धन तथा स्वान्त का दर्शन और वेट्युववाद के गीडीय सम्प्रदाय के दर्धन का निकरण है। वहां नक मुक्ते जात है, 'भागवत-पुराख' तथा वल्लम के दर्धन पर किसी मी महत्वपूष्टं कृति का सभी तक प्रकाशन नहीं हुआ है। स्वप्य के दर्धन पर सहास के भी नातारव समी धीर प्रोफेसर हेल्यय वान गतेवेतेष्य हारा यो महत्त्वपूर्णं रचनाध्री का कमश्चः घर्षच्यां व वर्मन में प्रकाशन किसा गया है। किन्तु घर तक वय-तीचे एवं ख्यास-तीर्षं वैसे मध्य-सम्प्रदाय के महान् उपदेशकों के दर्धन के सर्वच में कुछ भी प्रकाशित नहीं हुआ है। मण्य के विचार-सम्प्रदाय के भेट्ट प्रमुत्तावियों धीर देवान के खरूर-सम्प्रदाय के प्रनुवावियों कीर देवान के खरूर-सम्प्रदाय के प्रनुवावियों के स्थ्य महान् विवाद के सर्वच की बहुत कम वानकारी प्राप्त है। मेरे मतानुस्तार वय-तीर्षं धीर व्यान्त के खरूर-सम्प्रदाय के प्रनुवावियों के स्थ्य महान् विवाद के सर्वच की बहुत कम वानकारी प्राप्त है। मेरे मतानुस्तार वय-तीर्षं धीर व्यान्त की पर व्यान्त में उच्चतम कोर्ट के हमारसक तक-कीचल का प्रवर्ण करते हैं। स्वेच्य कर का स्वर्ण करते हैं। स्वरंच कर का स्वरंच करते हैं। संवर्ण का स्वरंच करते हैं। स्वरंच कर का स्वरंच करते हैं। स्वरंच कर का स्वरंच करते हैं। संवर्ष का स्वरंच करते हैं। संवर्ष कर का स्वरंच करते हैं। संवरंच करते स्वरंच करते हैं। संवरंच करते स्वरंच करते स्वरंच करते हैं। संवरंच करते स्वरंच करते

भीर योग की वस्तुवादी एवं हैतवादी विचारचारा ने पुराखों एवं परवर्ती सेखकों के हाथों में बहुतबाद के साथ समझौता स्थापित कर सिया था, किन्तु प्रस्तुत प्रत्य के जिन पाठकों का जय-तीर्थ और विशेषतः व्यास-तीर्थ के दर्शन से परिचय करवाया जायगा उन्हें डैतबादी मत की शक्ति एवं समभौता न करने वाली प्रभविष्णुता की प्रत्यक्ष धनुभृति हो जायगी । व्यास-तीर्य द्वारा प्रवश्चित की नई तीक्श द्वन्द्वारमक विचारता की तार्किक क्यालता व गहराई भारतीय चिन्तन के समुचे क्षेत्र में लगभग बहितीय है। व्यास-तीर्थ के 'तर्क-ताव्डव' में निक्रपित मध्य-ताय-तंत्र पर बीर भी बाधिक लिखा जा सकता है। इस महान कृति में व्यासतीय ने गंगेश की 'तत्व-चिन्तामिए। में दी गई लगमग प्रत्येक तार्किक परिमाषा को चूनौती दी है, जो नवीन न्याय-सम्प्रदाय की आधार-शिला है, किन्तु उसका उचित स्थान मध्य-न्याय के संबंध में एक प्रथक प्रन्य ही हो सकता था । शकर-सम्प्रदाय के श्रवेतवादियों सीर मध्य-सम्प्रदाय के दैतवादियों के मध्य विवाद में श्रविकांश लोग मध्य के पक्ष के प्रति श्रज्ञ होते हैं और बढ़ैतवादी दृष्टिकोण से परिचित रहते है। बाहा है कि प्रस्तृत बन्ध में मध्य एवं उनके अनुवासियों का जो निक्ष्यता किया गया है उससे मारतीय चिन्तन के प्रध्येतायों को नवीन प्रकाश मिलेगा, तथा वह इन्द्रात्मक तक के ऐसे धनेक नवीन पक्षों को प्रस्तुत करेगा जिनकी ग्रवतक भारतीय ग्रथवा यरोपीय चिन्तन में खोज नहीं हो पाई है।

'विशुद्धाद्वेत' नामक बल्लम के दर्शन का निक्पण सद्वैतवाद के एक नवीन पक्ष को प्रस्तुत करता है, तथा हमें मित्र के संवेष का एक दार्शनिक विश्लेषण भी प्रदान करता है। यद्यपि मारतीय दर्शन के पाठक बल्लम के नाम से परिवाह होंगे, तथािंप ऐसे सोग विरत्ने ही है जो उसके सम्प्रदाय के सहस्यों के महत्त्वपूर्ण योगादान से परिचित हैं।

मैंने 'माणवत-पुरासा' के दर्शन को अधिक स्थान नहीं दिया है। सांस्य, योग भीर वेदान्त का निकास करते समय अधिकाश में उसके दार्शनिक मत का पूर्वामास पहुंते ही प्रस्तुत किया जा पुका है। जहाँ तक देवर के स्थान तथा जगत से उसके संबंध का प्रवन है, 'माणवत-पुरासा' का इंटिक्सेल अस्पट है। इसीलिए मध्यो, सलमो व गीडीय-सम्प्रदाय के विचारकों द्वारा अध्येन-अपने समर्थन में 'भागवत-पुरासा' का उस्लेख किया गया है। गीडीय-सम्प्रदाय तो 'भागवत-पुरासा' को अपनी प्रेरसा का उस्लेख किया गया है। गीडीय-सम्प्रदाय तो 'भागवत-पुरासा' को अपनी प्रेरसा का मुल-स्रोत मानता हुआ प्रतीत होता है।

गौड़ीय विचार-सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिपादक चैतन्य है, परन्तु वे एक धर्म-प्रास् मक्त वे, तथा उनके उपवेश्वा के प्रति बहुत कम जानकारी उपनक्ष्य है। उन्होंने किसी साहित्यक प्रयथा दार्थनिक इति की रचना नहीं की, किन्तु उनके प्रश्नायियों तथा मनुवर्ती प्रमुयायियों में कुछ उत्तम साहित्यकार और दार्धनिक वे। इस प्रकार वैच्छावों के पीडीय-सम्प्रदाय में कुप वोस्तामी, बीच गोस्वामी और बनवेद विद्या- भूक्या के मत की एक संक्षिप्त ब्याक्या का निक्पण है। बा॰ एस॰ के॰ हे॰ हारा जीव गोस्लामी की स्थिति पर बनेक महत्त्वपूर्ण शेख प्रकाशित किए गए हैं, परन्तु उनसे भी ऐसा मतीत नहीं होता कि वे वार्शनिक दृष्टिकोण पर कस देना चाहते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ को लिखते समय मैंने संस्कृत में प्रकाशित विशाल सामग्री तथा सपनी दक्षिण मारत की यात्रा के समय विभिन्न प्रवसरों पर एकत्रित धनेक विश्ल हस्तलेखों का उपयोग किया है।

नेरे पुराने नित्र डा० एक० डब्स्यू० वामस नेरे सर्वोत्तम बन्यवाद के पात्र हैं बिन्होंने सपनी ब्रुडाबस्या एवं स्रवेक महस्वपूर्ण पूर्वनियोजित कार्यों के होते हुए भी हतभी धाववानी सीर परिस्तम से पाष्टुजियि के कुछ संखों के संबोधन तथा प्रक संबोधन एवं समुद्धि-निवारण का कष्ट उठाया है। उनकी सहायता के बिना प्रस्तुत सन्य की सपूर्णुताएं सीर की स्थिक होती।

डा॰ ई॰ वे॰ यामस का भी मैं मानारी हूँ जिन्होंने प्रस्तुत बन्यमाला के प्रारंभिक काल से ही भनेक बार सामयिक सहायता प्रवान की है। मेरी पत्नी भीमती सुरमा वासपुरत एम॰ ए०, पी॰-एव॰ ग्री॰ (कलकता व कैन्टव॰) शास्त्री को भी प्रन्य-निका भीर उसके प्रकाशन से संविध्त प्रन्य मानेक कार्यों में प्राप्त निरस्तर सहायता के लिए मेरा सर्वोत्तम प्रन्यवाद है। मैं सपने पूर्व शिष्य डा॰ सतीशकुमार मुखर्जी एम० ए०, पी-एव॰ डी॰ की सहायता के प्रति मी इतक हूँ वो कुछ वर्ष पूर्व पा॰ हुलिपि की तैयार करते समय उनसे शास्त्र की थी।

द्रिनीटी कॉलेज, केम्बिज धगस्त, १६४८

सुरेन्द्रनाथ बासगुप्त

# विषय-सूची

			पृष्ठ
	शब्दाव-२४		
	भागवत पुराण		
₹.	वर्न		2
₹.	बह्यन्, परमारमन्, भगवत् भौर परमेश्वर	•••	18
₹.	भागवत-पुराख में कपिल दर्शन	•••	58
	मरलोत्तर ग्रवस्था-संबंधी सिद्धान्त	•••	86
	श्रम्याय-२४		
	मध्य भीर उनका सन्प्रवाय		
₹.	मध्य का जीवन		**
₹.	मध्य गुरुग्रो की उत्तराधिकार-सूची	•••	X to
₹.	मध्य की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ		20
٧,	मध्व-सम्प्रदाय के भावार्य और सेलक		<b>ج</b> و
X.	रामानुज और मध्व	•••	€२
	ब्रम्याय-२६		
	मध्व द्वारा 'ब्रह्म-सूत्रों' की व्याख्या		
₹.	बहा-सूत्र १-१-१ की व्यास्था		200
₹.	ब्रह्म-सूत्र १, १, २ की व्याख्या	•••	399
ş	बहा-सूत्र १, १, ३-४ की व्याख्या	•••	१२५
¥.	'बहा-सूत्रों' के ग्रन्य महत्त्वपूर्ण ग्रधिकरणों की एक व्यापक समीक्षा		१२७
	ब्रध्याय-२७		
	मध्व-दर्शन की एक व्यापक समीक्षा		
₹.	तस्ब-मीमांसा	•••	१५०
₹.	प्रमास (सत्य ज्ञान के साधन)	•••	१६१
₹.	स्वत:-प्रामाण्य	•••	375
	भ्रान्ति भीर संशय	•••	१७१
¥.	'भेद'की प्रतिरक्षा	•••	\$50

### सम्बाय-२८

### मध्य का तर्कशास्त्र

<b>१. प्रस्पक्ष</b>	•••	8=
२. बनुमान	•••	<b>1</b> 5
३. तक	•••	35
४. ब्याप्ति	•••	₹•
५. धनुमान में ज्ञानमीमांसारमक प्रक्रिया		२०
<ol> <li>प्रमुमान के संबंध में विभिन्न विचार</li> </ol>	•••	₹•1
७. ज्ञास्य	***	201
श्रम्याय-२६		
द्वैतवादियों और ग्रद्वैतवादियों के मध्य विव	ाद	
<ol> <li>जगत् के मिथ्यात्व पर व्यास-तीर्थ, मधुसूदन भीर रामाचार्य</li> </ol>		२०ः
२. ज्ञान का स्वरूप		231
३. माया के रूप में जगत्		24
ब्रध्याय-३०		
द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों के मध्य विवाद (	क्मशः)	
१. अविद्याकी परिमायाका खण्डन		२६
२. 'ग्रज्ञान' का प्रत्यक्ष		२६ः
३. भज्ञान का अनुमान	•••	250
¥. घविद्या के सिद्धान्त का सण्डन	•••	२८३
५. मज्ञान भीर महकार	•••	385
६. जगत्-प्रपंच की श्रनिवंचनीयता	•••	₹05
७. ब्रह्मन् का स्वरूप	•••	300
<ul> <li>मह्मन् का उपादान एवं निमित्त कारण के रूप में अध्यन</li> </ul>	•••	355
€. मोक्ष	•••	388
बध्याय-३१		
बल्लभ का वर्शन		
<ol> <li>वल्लम द्वारा 'ब्रह्म-सूत्र' की व्याख्या</li> </ol>		३२४
२. बहान् का स्वरूप		338
६. तत्व	•••	336
४. प्रमास	•••	380

# ( )

५. मिक्त का प्रत्यय	•••	\$ X 0				
६. वल्सभ के बनुयायियों द्वारा वल्सभ वेदान्त के प्रकरखों की व्याक्र	TT .	363				
<ol> <li>विट्ठल द्वारा वल्लभ के विचारों की व्याक्या</li> </ol>	•••	३६८				
<ul><li>वस्लम का जीवन (१४८१-१५३३)</li></ul>	•••	₹७६				
<ol> <li>वस्सम भीर उनके शिष्यों की कृतियाँ</li> </ol>	•••	३७⊏ '				
१०. विध्युस्वामिन्		\$ = E				
क्रम्बाय-३२						
चैतन्य भीर उनके अनुवायी						
१. चैतन्य के जीवन-कथाकार	•••	३६६				
२. चैतस्य का जीवन	•••	3=6				
३. चैतन्य का भावावेशवाद	•••	<b>\$2</b> \$				
४. चैतन्य के दार्शनिक मत के विषय में 'चैतन्य-चरितामृत' से संग्रह	•••	\$8X				
५. चैतन्य के कुछ सामी	•••	€9				
सच्याय-३३						
चेतन्य के अनुयायी जीव गोस्वामी व बलदेव विद्याभूषण का दर्शन						
१. तत्त्व-मीमांसा		You				
२. जगत् की स्थिति	•••	308				
३. परमेश्वर ग्रीर उसकी शक्तियाँ	•••	868				
४. भ्रपने भक्तों के साथ मगवान का संबंध	•••	RSH				
५: मक्तिका <del>स्वरू</del> प	***	850				
६. चरम-सिद्धि	•••	838				
७. मिक्त का मानद	•••	×36				
<ul><li>वलदेव विद्याभूष्मा का दर्शन</li></ul>	•••	ARK				



#### अध्यान २४

# भागवत पुरारा

भारतीय भक्ति-साहित्य में "मयवद्यीता" को मीति "मायवदगुरागु" का मी महितीय स्वान है। किन्तु वह "मयवद्यीता" के समक्ष पुरातनत्व का दावा नहीं कर सकता। इस पुरतक के लेखक को स्वयं सामायी वृद्ध उसके संवेष में कोई उत्लेख नहीं मिले हैं। स्वयं रामायुन (वन्य तिष्य कर्ष १०%) ने भी "मायवत-पुराया" का न तो नाम से उत्लेख किया भीर न उसमें कोई उदस्य दिये हैं। लेकिन मध्य के समय तक यह इति प्रसिद्ध हो चुकी थी: मध्य (व॰ ति॰ तेरहवी सदी) की मुख्य इतियों में से एक का नाम "मायवन तात्य" है, जिसके उन्होंने "मायवत-पुराया" के प्रमुख विचानों की व्याख्या की है भीर न उसने सत की पुष्टि करने वाले विचारों पर वल दिया है। "मायवत-पुराया" के विचारों में उच्च कोटि की काव्यास्वकता है लेकिन उसकी बीती घरेलाकृत दुक्ह है। इस लेखक का मत है कि उसे किसी बीतया प्रारतीय ने निल्ला होगा क्योंकि उससे भागवारों का उत्लेख मिता है दिवने संबंध में करावित्त किसी भी उत्तर मारत के लेखक ने कभी कोई उत्लेख नहीं निया। "मायवत-पुराया" के इतानो मदीता हुई कि तत्काल हो उस पर टीकाएँ विलंब गई। उसकी तिमानीलांवत टीकाएँ उव्लेखनीय हैं.—

 "बिटुल दीक्षित का "निवन्य-अकाव," वस्त्वमानायं की "अनुक्रमणिका," ब्रह्मानद की 'एकाव्य स्क्रम्ब तात्ययं अदिका," बोयदेव की "अनुक्रमणिका।" "मानवा पुराए" के विचिन्न विवयों पर कई धन्य प्रत्य भी निवेश पट्टित्या कुछ प्रयत्ती में उसका सारांख दिया गया है। इनमें से कुछ यय-रामानद तीयं, प्रियदास, विवयेद्वर, पुरुषोत्तम, श्रीनाथ वृंदावन गोस्वायी, विष्णु-पुरी भीर सनावन के द्वारा रचित है।

#### धर्म

"धमं" बब्द, जिसे साधारणतया अब्रेजी में "रैलिजन" या "वर्च्" बब्दों द्वारा अनुदित किया जाता है-का प्रयोग मारतीय चिंतन की विभिन्न शास्त्राओं एवं धर्म-परम्पराग्रों में बहत भिन्न-मिन्न ग्रथों में किया जाता है। "मागवत पुराएा" मे व्याख्या किए गए "धर्म" के प्रत्यय का पाठक से परिचय कराने से पूर्व तत्सम्बन्धी कुछ प्रधिक महत्वपूर्णं घारणाद्यां का उल्लेख करना उपयोगी सिद्ध होगा। "मीमासा-सूत्र का भारम्म "धर्म" के स्वरूप की जिज्ञासा से होता है, तथा उसकी परिभाषा के भनुसार धर्म वह निश्रेयस है जो केवल वैदिक ब्रादेशों से निर्धारित किया जा सकता है। शाबर और कुमारिल की व्यास्था के अनुसार "धर्म" कहे जाने वाले श्रेय का धर्य है स्वर्गीद शुम फलों के प्रदाता वैदिक-यज्ञ । वैदिक यज्ञो द्वारा बांछनीय फलों की जर्मात होती है। यह तथ्य न तो इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है धौर न उसका ग्रन्य दत्त-सामग्री के बल पर ग्रनुमान किया जा सकता है। उसे तो केवल **बैदिक भादेशों** एव निर्देशों के साक्ष्य द्वारा जाना जा सकता है। इसलिए धर्म का भ्रयं है वैदिक यज्ञो द्वारा प्राप्त श्रेयस्कर फल एव स्वय वैदिक विधि-निवेध द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। विवेकशील एव दुरद्शितापुर्श कार्यों द्वारा प्राप्त बांछनीय फलो का "धर्म" कहा जासकता है जो बैदिक विधि-निषेधो का यथावत अनुसरए। किये गये कार्यों से प्राप्त हाते हैं। किन्तु बेदों में कई प्रकार के यज्ञा का बर्गन किया गया है जिनके अनुष्ठान द्वारा कोई व्यक्ति अपने शत्रश्रो का नाश करके भ्रथवा उसको नाना प्रकार की गहरी चांटे पहुँचा कर उनसे प्रतिशोध ले सकता है। पर किसी मानव को चोट पहुँचाने वाला कार्य भवाछनीय है अतः ऐसा कार्य "धर्म" नहीं कहा जा सकता। जैसा कि हम श्रव समऋते हैं कि इस श्रर्थ में ''धमें'' का ईश्वर अथवा साधारण रूढ नीति, अथवा किसी प्रकार के रहस्यवादी या घामिक भावावेश से कोई सम्बन्ध नही है। उसका ग्रयं है केवल वैदिक कर्म-काण्ड तथा उनके अनुष्ठान द्वारा उत्पन्न माने जाने वाले श्रेयस्कर फल, उसका कोई धार्मिक या

 <sup>&</sup>quot;भ्रथातो धर्म-जिज्ञासा" -मीमांसा-सूत्र १, १, १।
 चोदना-लक्षरगोऽर्थो धर्मः -बही १, १, २।

प्रवास अयस्करः स एक धर्म शब्देन उच्चते, कथनवगम्यताम्, यो हि वानम-मुतिक्टिन, नं प्राप्तिक इति सम्बाच्छते, यक्त बस्य कर्ता स तेन व्यपिद्दरते, यक्षा पाठकः, नावक इति । नेन यः पुत्त्व तिःधेयवेत ससुपति, स वर्षाव्यक्त उच्चते ...... की.ध्यं.-यो नि.श्रेवनाय क्योतिल्टोमार्डिः । को.जक्तं---यः प्रयवनायाः ।

<sup>–&</sup>quot;मीमासा सूत्र" पर "श्वदर-भाष्य," १, १, २।

नंकिन प्रमाकर इस नियम की निम्न व्याख्या देते हैं, तथा सुकाब देते हैं कि इसका नात्मयं यह है कि बेदों का प्रत्येक झादेश सदा बाच्यकारी होता है और "यर्भ कहनाना है, मेले ही उनके पानन करने से हम ऐमें कार्य कर बैठे जो झाय लोगों को झार सहैवाये।

नतः सर्वस्य वेदार्थस्य कार्यस्य अर्थस्य अर्थस्य च विधीयत इति इयेनादिनियोगानाम पि अर्थस्य स्थानः।

<sup>~&</sup>quot;श्रास्त्र-दोपिका" पृ० १७, निर्माय सागर प्रेस, बस्बई १६१४ ।

कुमारित टमकी सागे व्याच्या करते हुए कहते हैं कि वह कार्य (वैदिक प्रादेशों के सनुसार सपादित) जो मुख उत्पन्न करे तथा तत्काल या सुदूर सविष्य में दुःख उत्पन्न न परे "अर्म" कहलाता है।

फल तावद धर्मोज्य ब्येनादेः सम्प्रधायते यदा येनेप्ट सिद्धिः स्थादनुष्ठानानुबंधिनी तस्य धर्मत्वमुख्येत ततः व्येनादि वर्जनम् यदा त चोदना गम्यः कार्याकार्यानयेक्षया

किये वा सकते हैं, तथापि, यह तथ्य कि उनके एक विशेष कर्म-कांडीय पद्धति के सनुसार परिचालन द्वारा अनुष्ठानकर्ता के सुख की उत्पत्ति होगी, वैदिक विश्व-निषेष द्वारा ही बात किया वा सकता है और केवल इस ज्ञान के लिये ही "वर्म" वेदों पर निर्मार करता है। "वर्मन वनु की हिसा करने से एक व्यक्ति को तालक्षिक सुख प्राप्त हो सकता है, तेकिन वैदिक शाहेगां द्वारा विवत होने के कारण उससे मिच्य में मिलावर्षतः हुआ उत्पत्न होता। (किन्तु यहानुष्ठान में पहु जीवन की हिसा से अवर्ष उत्पत्न नहीं होता, प्रतः उसे "वर्म" के कारण तसा विवत होता, प्रतः उसे "वर्म" के क्षत्रान समाविष्ट मानना पढ़ेगा।

वर्मः प्रीतिनिमित्तं स्यात् तदा श्येनेऽपि वर्मता यदा त्वप्रीति-हेतुर्यः साम्राद्वयर्वाहतोऽपि वा सोऽवर्मश्चोदनातः स्यात्तदा श्येनऽप्यवर्मता।

<sup>–&</sup>quot;इसोकवार्तिक," सूत्र २ इसोक २७०–२७३ ।

श्रेट्य-क्रिया-मुखादीनां बर्मत्व स्थापांयच्यते तेषामऍन्द्रियकत्वेऽपि न ताडूच्येण धर्मता श्रेयः साधनता होयां नित्यं वेदान् प्रतीयते ताडूच्येण च धर्मत्वं तस्मानूनेन्द्रिय-गोचरः ।

\_''इलोक-वार्त्तिक,'' सूत्र २, १३, १४।

धर्माधर्माधिर्मात्तरः मृत्यौ विधि-निषेषकौ व्यविदस्या निषिद्धत्वाच्छितिः शास्त्रेस्
वीचिताः विद्याना हि कथ्यन्ते बक्तयो द्रष्यकर्मसाम् तदेव चेदं कर्मैति शास्त्रमे
वानुषावता ।

<sup>–</sup>वही, २४१, २४१।

(अपूर्व) है जो कार्य की समाप्ति के पश्चात् दीर्चकाल तक विश्वमान रहता है तथा उचित समय पर उचित एवं अशुभ प्रमाव उत्पन्न करता है।

स्मृति-साहित्य के स्रोन बेद माने जाते हैं, बतः उसे प्रामाशिक समक्रता चाहिए, उसकी सामग्री का मूल यदि वेदों तक नहीं खोजा जा सकता है तो भी यह भनुमान द्वारा सिद्ध होता है कि उक्त वैदिक मूल-पाठ मस्तित्व में रहा होगा। \* स्मृति तभी अमान्य समभी जानी चाहिये जबकि किसी विशेष आदेश अथवा तथ्य के कथन में वेदों द्वारा उसका प्रत्यक्ष व्याचान किया जाय । चतएव स्मृति-प्रन्य सामान्यतया वेदों के कमानुवर्त्ती माने जाते हैं। यद्यपि वास्तव में स्मृति-ग्रन्थ परवर्ती युग में विभिन्न कालों में लिखे होने के कारण कई नवीन प्रत्ययों और कई नवीन आदशों का। श्रीगरीस करते हैं, पर कुछ स्मृतियों में पुराशों भीर स्मृतियों के उपदेशों की वैदिक उपदेशों से निम्नतर स्तर का माना गया है। इस्ति और वेदों के सम्बन्ध पर कम से कम दी भिन्न हृष्टिकोर्ग हैं। प्रथम हृष्टिकोर्ग के अनुसार यदि स्मृतियाँ वेदों से विपरीत हों, तो स्मृति के मूल-पाठ की इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए कि वह वैदिक मूल-पाठ के संदर्भ में सहमत हो जाय, और यदि ऐसा सम्मद न हो तो स्मृति के मूल पाठ की धमान्य समभना चाहिये। अन्य विद्वानों के अनुसार विपरीत स्मृति मूल पाठ को क्षमान्य ही समभना चाहिये। मित्र मिश्र, शवर एवं सट्ट शालाओं के उपर्युक्त दी मतो पर टीका करते हुए कहते है कि पहले मत के अनुसार यह सदेह हो जाता है कि वेदों से विपरीत स्मृति के मूल पाठ का लेखक नृटियों से मुक्त नहीं है, प्रतएव वेदों से श्चांवपरीत म्मृति के मूल पाठों को भी दोषपूर्ण समक्षा जा सकता है जिनका स्रोत बेदों मे नहीं लोजा जा सकता। द्वितीय नत के अनुसार स्मृति को मान्य समका जाता है क्यांकि कोई यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि वे देदों से प्रविपरीत मूल-पाठ, जिनका स्रोत वेदों में नहीं बांजा जा सकता, यथार्य में वेदों में सविद्यमान हैं। जिनमें सामजस्य की कोई मू जायश न हो, ऐसे बेदो से विपरीत मूल-पाठों की दशा में भी, स्मृति के मादेश वैदिक मादेशों से विपरीत होने पर वैकल्पिक रूप से मान्य समक्रे जा

<sup>ै</sup> न हि ज्योतिष्टोमादि-यागस्यापि घमेल झस्ति, अपूर्वस्य घमेलास्युपगमात् । -"शास्त्र-दीपिका," पु० ३३, बम्बई, १९१५ ।

<sup>&</sup>lt;sup>३</sup> विरोधे त्वनपेक्ष्य स्यादस्ति ह्यनुमानम् ।

<sup>-&</sup>quot;मीयांसा-सूत्र," १, ३, ३ ।

अतः स परतो सर्मो यो बेदाद् सवनम्यते स्रवरः स तु त्रित्रेयः पुवेरासास्तिषु स्कृतः तथा च वेदिका धर्मो मुख्य उत्कृष्टत्वात्, स्तातंः सनुकत्यः सप्रकृष्टत्वात् । —"सोर निकोद्य-तरिप्तावा-प्रकाल" में "स्थास-सृति" से उद्दुत्त दृ० २६ ।

हकते हैं। वेदों में "वर्म" के प्रत्यय से अनुष्ठानकर्ता अथवा अन्य व्यक्तियों को सामप्रद उन सभी बातो का अपवर्जन हो जाता है जो अनुमव अथवा निरीक्षण द्वारा श्रात की जा सकती है, वह पूर्णतया उन कर्मकाण्डीय कियाओं तक ही सीमित है जिनके शुम प्रमाद ग्रनुमद द्वारा नहीं बल्कि केवल वैदिक प्रादेशों के द्वारा ही ज्ञात किये जा सकते हैं। वैसे कुएँ खुदवाना आदि कार्यों को अनुभव द्वारा सार्वजनिक हिना (परोपकाराय) के कार्य के रूप मे जात किया जाता है, बतः वह "धर्म" नहीं कहा भायगा । अतएव कोई भी "हष्टार्य" अर्थान् वे कार्य जिनके लामप्रद प्रमाव अनुभव द्वारा ज्ञात किये जा सकें, "धर्म" नहीं कहला सकते । "ग्रंगिर: स्मृति" इसी विचार को प्रतिष्वनित करते हुए कहती है कि झात्मज्ञान की प्राप्ति मे किये गए प्रयत्नो के म्रतिरिक्त कोई व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत इच्छा मधवा मिलनाया से प्रेरित होकर जो भी कार्यं करता है, वह बालकोड़ावत् एवं निष्ययोजन होता है। <sup>3</sup> पर कई महत्वपूर्णं स्मृतियाँ "धर्म" के प्रत्यय की सीमाओं का विशुद्ध वैदिक ब्रादेशों से परे विस्तार करती हुई प्रतीत होती हैं। मनुका ग्रंथ पूर्ग्निया देदों के सदर्भ पर आधारित होने के कारण, मनु को महानतम् स्मृतिकार माना जाता है, जो भी स्मृति मनु-स्मृति से विरोध में होती है वह ग्रमान्य समक्री जाती है। मनुकी परिमावानुसार "धर्में" वह है जिमका राग-द्वेप से रहित विद्वज्जन निस्य अनुसरण करते है. तथा जिसकी हृदय स्वीकृति देता है। "एक भ्रन्य स्थान में मनुकहते हैं कि 'धर्म' चार प्रकार का होता है, वैदिक ग्रादेशों का पालन, स्मृति के ग्रादेशों का पालन, साधु जना के ग्राचार का पालन, भीर ऐसे कार्यों का सपादन जो अनुष्ठानकर्ता को भानसिक सनीय (धान्मन

<sup>&</sup>lt;sup>९</sup> देखिए ''बीर मित्रोदयं' माग १, पृ० २८, २६ !

तथा प्रत्युपस्थितनिवमानाम् भावाराला हष्टार्थन्वाद् एव प्रामाभ्यम् प्रपास् तहागानि च परोपकाराय न धर्मीय इत्येवावगम्यते ।

<sup>-&</sup>quot;मीमांसा-सूत्र" पर "शवर-भाष्य" १, ३, २।

क्वासिप्रायकृत कर्म यांकिचिज्ज्ञानज्वजितम् कोडा-कर्मेव बालाना नत्सर्वं निष्प्र-योजनम् ।

<sup>-&#</sup>x27;'बीरमित्रोदय-परिभाषा-प्रकाशंपृ०११।

वेदार्थोपनिबन्धृत्वात् प्राधान्य हि मनो स्मृतम्
 मन्वर्थविपरीता नुया स्मृतिः सा न प्रशय्वते ।

<sup>-&</sup>quot;बीरमित्रोदय" मे बृहस्पति का उद्धरग्, बही, पृ० २७।

विद्वर्गम. मेवितः सद्भिनित्यम् भ्रष-द्वेशिमिः. हृदयेनाभ्यनुकानो यो वर्मस्त निवोधत ।

<sup>-&</sup>quot;मनु-सहिना," २, १

भागवत पुरासा ] [ ७

स्तुर्तिः) प्रवान करे। ' लेकिन टीकाकार ''यमं'' के सर्व एवं विषय का इस प्रकार का विस्तार स्वीकार करते के स्ति सनिष्कुक हैं। एक प्राचीनतम टीकाकार, मेथा-तिथि (श्वी शतास्त्री), में कहते हैं कि वैदिक सादेशों के पासन के रूप में ''यमं'' समादि (श्वी शतास्त्री), में कहते हैं कि वैदिक सादेशों के पासन के रूप में ''यमं'' समादि है, केवल वरों के विद्यान हो ''यमं'' के साता कहे जा सकते हैं, तथा यह ससम्मव है कि यही ''यमं'' के स्वक्ष्य को आप करने के प्रक्र साथन मी हैं। प्राचिक कृत्यों के नाम पर जो प्रप्त प्राचार, व्यवहार तथा जीवन के विकि-विधान प्रचलित हैं उन्हें दुक्तिर प्रमुखों ने प्रवृत्त किया है (मुर्क दुआंकि-पुरुष-प्रवृत्तिः) वे कुछ कालत तक प्रचलित रहते हैं और तत्यवस्त्रात उनका नास हो जाना है। ऐसे धार्मिक प्राचार प्राचः तोन के कारए। प्रप्तायों जाती हैं (नीभान् नम तनादिसु प्रवन्ति)। भे जानी और सीलवान केवल वे ही हैं जो वेदों के धारेशों ने जाता है, उनको नियम के प्रति प्रावर्त्ता के कारों में परिएत करते हैं धीर तोम प्रचवा देव से प्रेरित होकर प्रवृद्धिक कृत्यों को करने को पून नहीं करते। धीर, श्वीप भूग्य कपनी इत्तिय-सुन्ति के जिसे कई कारों के सून नहीं करते। धीर, श्वीप कृत्य कर्ती इत्तर करता के ज्यावस्त्रा के किये मन में सानाधित हो सकता है, उपिष हिन्द प्रवृत्ति के जिसे कर्त कारों की करने के लिये मन में सानाधित हो सकता है, उपिष हिन्द प्रवृत्ति के जिसे कर कारों की करने के लिये मन में सानाधित हो सकता है, उपिष हिन्द स्वता है। अपनी इस प्रकार की व्यावस्त्र तो विदक्त हत्यों के सनुप्रशान से ही प्राप्त हो सकता है। उपनी इस प्रकार की व्यावस्त्रा तो विदक्त हत्यों के समुष्टान से ही प्राप्त हो सकता है।

वेदोऽलिलो धर्म-मूल स्मृतिधीले च तद्विदाम्,
 ग्राचारण्वेव साधूनाम् ग्रात्मनस्तुष्टिए व च । —वही, २, ६।

मेशातिय वहते हैं कि शरीर पर विश्रृति लगाना, मानवी कोपड़ियां लिये फिरना, नगे पुमना या गेरुए वस्त्र पहनना झादि कार्य निकम्मे लोगो द्वारा जीविकोपार्जन के साधन के रूप में शपनाये जाते हैं।
 —वहीं, शस्त्राय २, १।

<sup>&</sup>quot;हपयेन प्रस्यनुक्ताल्" बाध्याक्ष मे "हुदय" बच्द की व्याक्या करते हुए मेधार्तिष कहते हैं कि "हुदय" का ध्यं "मन" हो सकता है (मनस्, धतहुँ दयवसीति सुद्ध-यादि तत्याति)। इस मान्यता के धनुसार वे यह कहेंगे कि मन का सतीच वैदिक कत्तं व्य-पच के पासन के ही प्राप्त हो सकता है। परन्तु इस अर्थ से प्रत्यक्तः प्रसन्पुष्ट होकर वे यह सांचते हैं कि "हुदय" का अर्थ वेदों की स्मरण की हुई सामग्री भी हो सकता है (हुदय वेदः, स स्पातों आवना-क्पेण हुदय-सिहतो हुदयम्)। इसका अर्थ यह हो बाता है कि वेदो का पिडत मानो सहजवृति से सहगुणी कार्यों में प्रवृत्त होता है कि स्वाक्त पपने प्राचान होता है कि वेदो का पिडत मानो सहजवृति से सहगुणी कार्यों में प्रवृत्त होता है। मतुष्य कार्यों में प्राप्त प्रमान कर में अपने वीदक सम्प्रयमन से निर्देशित होता है। मतुष्य कार्यों में प्राप्त प्रमान निर्णी प्रवृत्ति से, महापुरुषों के उदाहरण से, प्रयंवा वैदिक धादेशों से हो सकता है, किन्तु बहु चाहे किसी भी दग से इस प्रकार प्रेरित हो, उसके कार्य "पर्य" के अरुक्य तमी होने ववकि वे सततोगत्या वैदिक कर्यं व्य-पय के अरुक्य तमी होने ववकि वे सततोगत्या वैदिक कर्यं व्य-पय के अरुक्य तमी होने ववकि वे सततोगत्या वैदिक कर्यं व्य-पय के अरुक्य तमी होने ववकि वे सततोगत्या वैदिक कर्यं व्य-पय के अरुक्य तमी होने क्षा के उत्तर प्राप्त विदेश कर्यां व्य-प्रमुख्य के अर्थां के उत्तर प्रवित्त होता है।

से संवति रखते हुए मेधातिथि न केवल बौद्धों एव जैनों को सच्चे वैदिक धर्म से बाहर होने के कारण तिरस्कृत करते हैं बल्कि पंचरात्र के सनुवायियों (अर्थात् मागवतों) एवं पाश्चपतों को भी तिलाजंति देते हैं क्योंकि वे उक्त तत्रों के लेखकों के बाप्तस्य में तथा अपनी रुचि के देवताओं की महानता में विश्वास रखते थे। उनके मत में इनके उपदेश बेदों के झादेशों से स्पष्टतया विपरीत हैं : तथा उदाहरए। के तौर पर वे संकेत करते हैं कि मानवतों के मतानुसार सब प्रकार की जीव-हिंसा अधार्मिक है, धीर यह मत यज्ञ-विशेष में पश्चमों की बलि-सम्बन्धी वैदिक चादेश के स्पष्टत: विपरीत है। प्रास्तियों की हिंसा स्वतः ही प्रधार्मिक नहीं है : केवल वही हिंसा ग्रधार्मिक है जिसका बैदिक झादेशों द्वारा निवेध किया गया है। चतः उन सभी धर्म-तत्रों के झाचार एव कृत्य, जो वेदों के उपदेशो पर ग्राधारित नही हैं, "धर्म" के भनुकल न होने के कारण स्याज्य हैं। "स्मृति-शीने च तद्दविदाम" की व्याख्या करते हुए मेघातिथ कहते हैं कि "बील" बब्द (जिसको साधाररात्या "चरित्र" मे अनुदित किया जाता है) का बर्ष यहा उस एकाप्रता से है जो मन को वैदिक बादेशों के सही आवार्थ को स्मरशा करने में समर्थ बनाती है। " बाचार से मेधानिथि का तान्पर्य केवन उन्ही कमों से है जिनका वैदिक कर्तव्यो का यथावत अनुसरसा करने वाले लोगो द्वारा वर्तमान समय में पालन किया जाता है किन्तु जिनके सम्बन्ध में कोई वैदिक या स्मृति का मूल पाठ उपलब्ध नहीं है। उनकी मान्यता है कि वे गीरा विधान तथा धन्य कमंकाण्ड जिनका बैदिक परिमण्डल के लोगो द्वारा अनुष्ठान किया जाता है अतलागत्वा वैदिक आदेशो से ही आएम्म हुए है। इसी प्रकार देवों के अनुसार कार्य करने में अभ्यस्त लोगों के बात्म-संतोष की मावना ही "वर्ष" पथ की निर्देशक मानो जा सकती है। इसका सर्थ केवल यही हसा कि वेदों के सभी अनुयाधियों को सहय-प्रवृति पर यह सकेन करने का मरोसा किया जा सकता है जिन कार्यों की ब्रोर उनका मन प्रवृत्त हो वे वैदिक मादेशों के मनकल होने ही जाहिये और फनत "धर्म" के मनरूप होने ही चाहिये। किन्तु ग्रन्थ टीकाकार "शील", "ग्रात्मनन्तुष्टि" व "हृदयेश ग्रम्यनृज्ञात" शब्दों के ग्रर्थ पर अधिक उदार दृष्टिकोस्। अपनाते है। इस प्रकार गोविन्दराज अतिम वास्याण की व्याच्या ''सशय से रहित'' (ग्रत: करण-चिकत्सा-शन्य) के ग्रथं में करते हैं. ग्रीर नारायगा तो उतना तक कहते हैं यदि हृदय किसी कार्य की अनुमति न दे तो वह सत नहीं माना जा सकता : रामानन्द कहते हैं कि जब दो परस्पर विपरित मूलपाठा के सम्बन्ध में सशय हो तब एक व्यक्ति का वही कार्य करना चाहिये जिससे उनका मन सतुष्ट है। रामानन्द ने अपनी "मन्वर्थ चन्द्रिका" मे "शील" "चरित्र" (वस्त) के

समाधिः श्रीलम् उच्यते प्यच्चेतसां ऽत्यविषयध्याक्षेय परिहारेग् शास्त्रार्थं निरूपरा-प्रवराता तच्छीलम् उच्यते ।

<sup>--</sup> मेघातिथि की टीका, ग्रध्याय २, ६।

ष्टमं में की है प्रीर पोषिन्दराज ने राय एवं डेच के परित्याण के मर्च में 1 हारील हार दी वई "मील" की परित्याण का ममुद्रारण करते हुए कुल्कुक उनमें महिला, डेम-हीनता नमता, मैसी, कुमतात, वया, चानिक चादि नुष्टों का उत्तराईक करते हैं। व्यवहार में मात्स-संतुद्धि हारा "मर्म" का व्यवक्ष पद्ध्याना वा बक्ता है बेकिन केवल तमी जबकि उसे निम्मीरित करने के लिये कोई उक्लिलित मुलपाठ न हो। चल: नम्मीर्थ मान्य पर-वर्ती टीकाकार मेमातिथ के विनक स्थिक उदार है, तमानि ऐसा प्रतीत होता है कि ने सभी चमरिनदा एक मात्स-संतुद्धि या संत्यांवन की "म्बर्य" के समस्यक तत्यों के रूप में मनु हारा दिये वये योड़े के महत्व की व्यावसा, नुनाधिक मेमातिथि की परम्परा-नुनार, केवल मूर्ति के मारेकों के प्रति निच्छा के प्यर्थ में करते हैं।

यह निर्देश किया जा चुका है कि नेवातिथि ने निश्चय ही पंचरात्र व पाशुरत तेतों को विवर्षी कहकर वहिश्कृत किया थीर कततः उन्हें "वर्ष" के स्वरूप के प्रचर्तन के लिये प्रमान्य वहराया। किन्तु पत्वर्ती कात में वे भी वैदिक साक्षाघों के रूप में समान्य हो गये भीर कततः उनके सादेश ऐसे सान्तवस्त्र समस्रे जाने तमें कि उनको तार्किक सामार पर चुनीती नहीं दी जा सकती थी। "

किन्तु यह जानकर संतोष होता है कि कुछ परवर्ती स्मृतियों में "वर्म" के प्रत्यव का विस्तार सामान्य नैतिकता एव कित्यय प्रमुख सङ्गुणों के कर दिया गया था। जवाहराणों इहस्पति दया (धर्मातृ निम या बानु को सामान्य गीति क्यों के कर्तकन् मावना) क्षमा (धर्मातृ तर्न प्रकार को किताइवों में वृंगे) धनमुपा (हसरों के बस्-गुणों की प्रवसा नवा इसरों के दोषों के प्रति गर्महीनका के गुण), श्लोच (धर्मात् दुर्गुणों की प्रवसा नवा इसरों के दोषों के प्रति गर्महीनका के गुण), श्लोच (धर्मात् दुर्गुणों का परिहार, सायुजनों का साहबर्ग तथा प्रपत्ने जाति-कर्तव्यों का दावत एव सननु-मोदित कारों का निवारण), सकार्यव्य (शुद्ध सावनों के होते हुए मी नियमित सान) परमुहा (स्वय को जो बोड़ा मी प्रान्त हो उनसे स्वतोष, तथा इसरों को समृद्धि के प्रति

ण्डाहरणार्य "योगी-याजवत्व्य" में कहा है: सांक्य योग: पचरात्रं वेदा: पाशुपतं तथा मति-प्रमाखान्येतानि हेर्तुमिनं विरोधयेत ।

<sup>—&</sup>quot;वीरमित्रोदय" में पृ० २० पर उद्भृत लेकिन बम्बई से मुद्रित मुलपाठ में अनुपलब्ध ।

<sup>&</sup>quot;योगी-याजवस्त्रय" का "योग" पर लिखा हुमा बंब है तथा दूसरा ''स्त्रृति" पर लिखा हुमा मन्य है, भीर पहले का मूलपाठ ही मुद्रित हुमा है। वर्तमान लेखक को दूसरे मूलपाठ के कही भी प्रकाशित होने की कोई बानकारी नहीं है।

हेयहीनता) को समी के लिये सार्वरेशिक "वर्म" के धंग मानते हैं। विच्छु क्षमा, सत्य, वस्य, वास, दान, इनिस्त-वंयम, धहिला, गुरु सुल्या, दवा, धामंत्र, धमोजुलता, देवताओं एवं बाह्याओं की धारावना को सार्वरेशिक "वर्म" के तत्य मानते हैं। देवत वीच, इत्तर, उपल्ये के सार्व को सार्व की स

हन सार्वदेषिक "समीं" का विशिक्ष वर्ण-वर्मी व्यवता निक्त परिस्थितियों के घर्मों से अंतर है। इस प्रकार "भवनें" के प्रत्य के विकास में तीन वरल है-वैदिक पादेशों के पातन कभी कर्ताव्य के क्य में "मर्थ", महिंदा, सरथ, धारस-स्वयम धार्षि तैतिक सद्-पुर्लों के रूप में "मर्थ", "योग" के द्वारा आरस-आन के रूप से "स्वर्ध"।

किन्तु "सामवत" ''मंग' के प्रत्यक का एक नवीन पहलू ज्यस्थित करता है। "मामवन" के प्रत्यार "देवर की प्रतेतुकों और प्रश्नतिहरू मिक का नाम पर्म है, वह ज्यासना वो अवके अति व्यानुत्रा की प्रवृत्ति रखने वाले ज्या निर्मेश्यक प्रमुख्यों का स्वाद्ध । द्वर्य की पूर्ण वद्मावना के बाव की जाती है। इस ज्यासना में प्रात्या की पूजनी-या की प्रमुख्ति के स्वाभाविक परिखान के क्य में परस्तरत के ज्ञान का समावेश होता है तथा वह स्वभावतः वर्षोच्च सानन्य को उत्पन्न करती है। ' जिल सवरत्या का विवेषन किया वा रहा है उसमें "स्वर्ग" की परिचाया के एक लक्षण के रूप में

<sup>°</sup> वही, पृ० ३२-४।

<sup>&</sup>quot;विष्णुवर्मोत्तर" मे भी पचरात्र और पाषुपत का ब्रह्मजिज्ञासा के साधन के रूप मे उल्लेख आता है:

सास्यं योगः पंचरात्रं वेदाः पाशुपत

नया इतात-भिकां विद्वित्तहाराः परिसार्गले। बही पृ० २२। लेकिन मित्रमिक्ष उती पृष्ठ पर पाञ्चला के वैदिक धागम और प्रवेदिक सागम कमों में मेद स्थापित करते हैं। इसी प्रकार पंचरात्र के मी वैदिक और प्रवेदिक रूप में। बही पृ० २३।

भागवत पुरासा १, १, २ श्रीधर के प्रतिपादन के अनुसार व्याक्या ।

ईश्वर की आराधना का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया गया है, जैसाकि श्रीघर ने व्याख्या की है। "वर्ष" पूर्ण निरुद्धलता में निहित है-आत्मा से सर्व प्रयोजनो कृत्रिमताओं व सभी प्रकार के बाह्य साहबर्यों का निरोध होना चाहिये और यह मान लिया जाता है कि जब भारमा इस प्रकार की सभी बाह्य अकृद्धियों से मुक्त हो जाता है तब उसकी बह स्वाभाविक मनस्या ही उसका स्वामाविक "धमं" है। भतएव "धमं" कोई ऐसी वस्त नहीं है जो प्राप्त की जाय सथवा जिसे बाह्य वस्त की भांति प्रजित किया जाय. ग्रपित वह तो मनुष्य का ग्रपना स्वरूप है जो ग्रशुद्धियों का निराकरण होते ही स्वयं की अभिव्यक्त करता है। अतः धर्म की आधारभूत अवस्था स्वीकारात्मक न होकर नकारात्मक है जो बाह्य तत्वों के (केतव) के विच्छेद (प्रोज्कित) में निहित है। क्योंकि, ज्योंही बाह्य तत्वों का उत्मलन हो जाता है, बारमा अपने यद्यार्थ स्वरूप में प्रकट हो जाता है, और तब उसका परम सत्य व परम सम से सम्बन्ध स्वय-सिद्ध हो जाता है: इस प्रकार के सम्बन्ध की सामान्य उपलब्धि ही "धर्म" या ईश्वर की उपासना कहलाती है, अथवा जिसे श्रीघर ईश्वर के प्रति कोमल ग्राराधना की सज्ञा देने हैं। "धर्म" के स्वरूप की स्वय में वास्तविक उपलब्धि के लिये ग्रग्नसर होने के हेत् एक व्यक्ति में जिन प्रमुख योखताओं की अपेक्षा होती है वे यह हैं कि उसे दूसरों के प्रति ईर्ष्या नहीं रखनी चाहिये, तथा उसे सर्व प्राश्यियों के प्रति मैत्री की स्वामादिक मावना रखनी चाहिये । "भागवत" मे निरूपित "धर्म" के प्रत्यय द्वारा भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास में "धर्म" की धारण के विकास में नवीन दिशा-सकेत किया गया है और उसके लक्ष्यार्थों को स्पष्ट करने का प्रयत्न ग्रागामी परिच्छेदों में किया आवशा। इलोक १, २, ६ मे यह निश्चयपूर्वक कहा गया है कि सभी बाह्य तत्वों से इस विच्छेद का सततोगत्वा अर्थ है ईश्वर के प्रति ऐसी झहैत्की और स्वामाविक भक्ति का प्रवाह जिससे आत्मा सर्वोच्च सर्वाष्ट को प्राप्त होता है, तथा वही सर्वोच्च "धर्म" है : यदि ईश्वर की भक्ति को उत्पन्न न करने वाली किसी वस्त को "वमें" की सजा दी जा सकती है तो ऐसा "धर्म" निष्फल अम मात्र है। वैदिक ग्रादेशो द्वारा परिभाषित "धर्म" के फल तो केवल अस्थायी सुखमय परिलामों को उत्पन्न कर सकते हैं। सच्चा "धर्म" तो वही है जा ईहबर-मिक्त के माध्यम से भततोगत्वा आरम-ज्ञान को उत्पन्न करता है. श्रीर ऐसे "धर्म" की समरूपता कोरे लाम या इच्छाब्रा की पूर्ति से नहीं की जा सकती। इस प्रकार ईश्वर की सर्वोच्च मिक्त के मर्थ में घम वैदिक "धर्म" हे उत्कृष्ट है जो केवल नाना प्रकार की इन्द्रिय-तप्ति को ही उत्पन्न कर सकता है।

<sup>°</sup> कोमलम् ईव्यराराधन लक्षणो धर्मो निरूप्यते

<sup>-</sup>श्रीधर की उपयुंक्त भवतरस पर टीका।

वही, १, २, ७।

## ब्रह्मन्, परमात्मन्, भगवत् चौर परमेश्वर

"मानवत" के प्रारम्भिक स्त्रोक में परम स्वय की भाराधमा की गई है। कीलिन "पर" खब्द की ध्यास्था शीवर "परनेवदर" के अपने में करते हैं। परनेवदर का स्वयम्न स्त्रात् "वरणे परने परने हैं। परने परने परमे कर के अपने में किया गया है और यह वारणा की गई है कि इस परम तथा के कारणा सम्या सुध्ि भी सल्य प्रतीत होती है भीर इती धाववत स्वायी सत्ता के कारणा समया सामन्यवर्ष सत्य का स्वयम्भ प्रहुण करता है। विस्त प्रतार भागक सामान (वेसे रजत) यमार्च बत्तु (वेसे सुनित) प्रयाप प्रमा के धाव्यान के भारणा के प्रहुण करके प्रयाप प्रतीत होती है, उसी प्रकार इस जगदामाल में परनेवदर की धाव्यान-सत्ता के कारणा समी कुछ सत्य प्रतीत होता है। जनतु परनेवदर से अपन्य होता है, उसमें स्वित प्रहुण है सीर संततीयया उसी में स्त्र होता होता है, यह तथ्य एक प्रावस्तिक प्रतिभाव का स्थानववक विवत्य है की परनेवदर के वारणा करने प्रवास कि

परमेश्वर कई नामों से पुकारा जाता है-जैसे बह्मनू, परमात्मनू व मगवत्, पर वह किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाय उसका विशुद्ध सार शुद्ध बरूप चिदात्मा (सरूपस्य चिदारमनः) में निहित है। वह जगत् की सृष्टि धपनी त्रिगुणात्मक माया-शक्ति से करता है। वह माया की विविध सृष्टियों में भविष्ठान होकर एक-मात्र शाइवत सत्ता-सिद्धान्त के रूप में विद्यमान रहता है भीर उनको सत्यता का श्राभास प्रदान करता है। माया केवल उसकी बाह्य-शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है जिसके द्वारा वह स्वयं को अधिष्ठान बनाकर जगत की सुष्टि करता है। लेकिन उसके निजी यथार्थ स्वरूप में मात्रा गौरए हो जाती है बतएव वह शुद्ध चैतन्य के रूप मे अपनी विशुद्ध कैवल्यता में स्थित रहता है। श्रीधर अपने माध्य में निर्देश करते हैं कि परमेश्वर की "विद्याशक्ति" और "श्रविद्या-शक्ति" नामक दो शक्तियाँ होती हैं। प्रपनी "विद्या-शक्ति" से परमेश्वर शास्त्रत विशुद्ध भागन्द, व सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान रूप से अपने निजी ययार्थं स्वरूप में अपनी स्वयं की "माया-शक्ति" को नियंत्रित करता है। "जीव" भक्ति से उत्पन्न सम्यक् जान द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस स्थल पर श्रीवर अपने मत की परिपुष्टि का प्रयत्न विष्णु स्वामिन से उद्धरण देकर करते हैं जिनकी बारएगा में सच्चिदानन्द ईश्वर "ह्वादिनी सम्बत्" से ब्याप्त है, तथा माया उसके वशीभूत है और उसका जीवों से भन्तर इस तथ्य में निहित है कि वे "माया" के बशीभूत रहते हैं। जीव स्वयं भपने ही सज्जान में समाइत्त रहते हैं भ्रतएव सदा क्लेशों

भागवत-पुरास, प्रथम, ३, ३०।

से पीड़ित रहते हैं। " वरनेश्वर घपने युद्ध बैतन्य स्वरूप में "माया" और प्रकृति की सीमाओं से मतीत रहता है और खपनी झालगा में झारता से कैवन्य में स्वित रहता है, और यही परनेश्वर माना से मीहित जीवों को सद्युष्ट एवं हुएँ ए के कुमायुक्त फल प्रवान करता है। "भागववा" के कई यवतर हों में इस बात पर वस दिया पया है कि प्रपंत प्रयाद स्वत पर का दिया पया है कि प्रपंत प्रयाद स्वत पर का दिया पया है कि प्रपंत प्रयाद है। इस इंग्डिंग सुद्ध बैतन्य है और सर्व प्रवाद है। हम इंग्डिंग के वह वरन और सर्वात्त हों हैं। जीव मी प्रयुक्त रहते हैं और इस प्रवस्था में वब "मुख" वपने झायाक करता है जिसके कारण जीव सदा नाम और क्यों का धनुमक करने में प्रवस्त करता है किसके कारण जीव सदा नाम और क्यों का धनुमक करने में प्रवस्त होते हैं। इसित्य परनेश्वर प्रपर्न स्वरूप में पूर्णतया निराकार खुद्ध चैतन्य समक्ष जाना चाहिये; अपनी विष्ण्विक्त के द्वारा तो वह जीवों को स्वयं में बारण करता है और सप्ती विष्ण्विक्त के द्वारा तो वह जीवों को स्वयं में बारण करता है और स्वयं विष्ण्विक्त के द्वारा तो वह जीवों को स्वयं में बारण करता है और स्वयं में हेतु उनसे सम्बन्धित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परमेदबर की तीन जिक्र-जिक्र खाँकार्यों मानी गई है-क्षांतरिक खाँकि जिससे उवका सार-तत्व निर्मित है (संतरान-दक्कर-आर्थि), "माया" के रूप में बाह्य बाँकि (अहिरग-शाँकि) और वह खाँकि जिसके द्वारा जीवी की मिल्यार्थित होती है। यह प्रथमारणा कदाचित् पहले व्यास्था किये वाये उस मत के विरोध में प्रतीत हो सकती है जिसके सनुसार बहुम्म एक भेद-रहित चैतन्य है। लेकिन क्यास्था-कार इस कल्पना के साथार पर दोनों मतों का सामायस्य करते हैं कि स्वतिम इंटि-

ह्मादिन्या संविदाहिलच्ट : सि<del>न्य</del>दानंद ईश्वरः

स्वाविद्या-संहतो जीवः सक्तेश-निकराकरः तथा स ईको यद-वर्श माया स जीवो यस तथादितः, इत्यादि ।

तथा स इसा यद्-वश भाषा स जावा यर तथारतः, इत्याद । जीव इसी अवतरण को उड़त करते हैं और उसको "सर्वज्ञ-शुक्ति-पट्-सटमें" में स्थित मानते हैं, पु० १६१।

-बही, १, ७, २३, २४।

चिदचिच्छक्ति-युक्ताय तस्मै भगवते नमः -"मागवत" ७, ३, ३४।

वही, १, ७, ६ (श्रीघर की टीका)। तद् उक्तं विष्णु-स्वामिना

तम् प्राचः पुरुषः सालाद् ईष्टवरः प्रकृतेः परः मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्ये स्थित धारमित । स एव जीव-लोकस्य माया-मोहित-चेतसो । विषत्से स्वेन वीर्येण जेयो वर्माधि-सक्त्यम ।

अनन्तास्थक्त रूपेश येनेदम् शक्तिनं ततम् ।

बिन्द से "सक्ति" और "सक्तिमान" मे कोई भिन्नता या मेद नहीं है। सत्ता केवल एक ही है जो "शक्ति" झौर "शक्तिमान" दोनो रूपों में स्वय को अभिक्यक्त करती है। अब यह एक परम सत्ता "शक्तिमान" के रूप में देखी जाती है तब उसे परमेश्वर कहते हैं, लेकिन जब "शक्ति" पर बल दिया जाता है तब उसे महाशक्ति कहते हैं जिसका पौरारिएक हान्ट से "महालक्ष्मी" प्रतिनिधित्व करती है। इस प्रकार ब्रह्मन्, भगवत् और परमात्मन् पद प्रसगानुसार एक ही समरूप सत्ता के लिये प्रयुक्त होते हैं-जब उसके एकत्व या बभेदता पर बल दिया जाता है तब उसे "ब्रह्मन्" कहते हैं, उसे शक्तिमान के रूप में "भागवत" कहते हैं, घषवा अनुभवातीत पुरुष के रूप मे "परमात्मन्" कहते हैं। उसकी 'अनरंग" या स्वरूप-शक्ति में आनत्य (द्वादिनी), सत् (सिंघनी) और चित् (सेवित) इन शक्तियों का समावेश होता है, जिनमे पिछली दो शक्तियाँ प्रथम शक्ति (द्वादिनी शक्ति, या भानन्द) का विस्तरण, विकास या ग्रमिक्य क्ति मानी जाती है। यह त्रिगुरगात्मक शक्ति "चिच्छकित" या "भात्म-माया" (सारभूत-माया) मी कहलाती है, अतएव वह परमेश्वर की बाह्य माया-शक्ति (बहिरग-माया) से मिश्न है जिससे वह जगत् की सृष्टि करता है। उसकी अन्य शक्ति, जिसके द्वारा वह जीवो (जो उसके अश-मात्र हैं) को स्वय मे धारण करता है और फिर भी ऊपरी बाह्य माया-शक्ति के वश एवं प्रभाव में रखता है, पारिमायिक दृष्टि से "तटस्य शक्ति" कही जाती है। इस प्रकार जीय परमेश्वर के बाग होने के साथ ही उसकी विशेष शक्तियों में से एक (तटस्थ-शक्ति) की ब्राध-ब्यक्ति भी समभे जाने चाहिये। इस प्रकार जीव यद्यपि परमेश्वर की शक्ति के रूप में उसमें समाविष्ट रहते हैं नथापि वे किसी मौति उसके समरूप नही है बल्कि उसकी शक्तियों में से एक की अप्रिज्यक्ति के रूप में उसमें भिन्न बने रहते हैं। परम सत्ता का एकत्व (भ्रद्धय-तत्व) इन तथ्यों से निहित है कि वह बात्म-निर्मर, पूर्णतया स्वतंत्र भीर स्वावलम्बी है, तथा उसके सहश (यथा जीव) भथवा भसहश (जगत् की भाषात्री प्रकृति) भन्य कोई ऐसी सत्ता नहीं है जा उसके सम-तुल्य हो, क्योंकि. "प्रकृति" ग्रोर "जीव" दोनो परमेश्वर की अमिव्यक्तियाँ होने के नाते उस पर निर्भर करते है। परमेश्वर अपनी शक्तिया सहित अकेला स्थित है, और उसके बिना जगनु और जीव

प्रथ एकम् एव स्वरूप शक्तिस्वेन शक्तिमत्वेन च विराजित ।
"पद-सदमें" पृ० १८८ (श्यामलाल गोस्वामी का सस्करएा)

यस्य शक्तः स्वरूप-भूतस्य निरूपित तच्छितकास्य प्राथान्येन विराजमानम् भगवत्
 सज्ञाम् प्राप्नोति तच्य व्याख्यातम्; तद् एव च शक्तिस-प्राथान्येन विराजमान नक्ष्मी-सज्ञाम् प्राप्नोति ।

सम्मव नहीं हो सकते। ' उसकी सत्ता का त्वस्य इस तथ्य में निहित है कि वह परमानव रूप (परम-मुल-स्पल) है, सनी ब्ल्ह्यामों का चरम तक्य (परम पुरुवायंता) है, और निव्य है। यही परम नित्य सत्ता सर्व वेदान्तोपदेशों की अंतिवयय है। इस प्रकार "मायवत-पुरारा" निर्वेण करता है कि यही वह सत्ता है जो सभी की उत्पत्ति, स्वित और प्रकाय का कारण है, यही वह सत्ता है जो सुपुत्ति, स्वप्न और नाम को अवस्वायों में समस्य रहती है, यही वह सत्ता है जो शरीर, इन्द्रियों और मन को सवीवता प्रदान करती है और फिर मी स्वयं में किसी कारण से रहित है। वह न जन्म लेती है, न विकसित होती है, न ओरा होती है, न मरती है, फिर भी वह एक स्थिर तत्व के रूप में युद्ध चैतन्य के रूप में न्यवं परिवर्तनों की अध्यक्षता करती है, और मुपुत्ति में भी वबकि तमस्त इन्द्रियों का परिवासन रुक बाता है, उसका अपना एक रस प्रमुच्य समस्य बना रहती है।

इस सत्ता को कुछ लोग बहुन्त कहते हैं, कुछ मगवत् कहते हैं सौर प्रन्य परमात्तम् कहते हैं। जब विषुद्ध सानन्य स्वरूप सत्ता का परमहत्तां द्वारा धमनी सारमा से तारास्त्र का प्रमुत्त किया जाता है, सौर जब उनके मन उसके विविध् सत्तियों ते युक्त स्वरूप को प्रहल करने में सरामर्थ रहते हैं तथा जब उसमें भीर उनकी शक्तियों में भेद नहीं समभ्य जाता है, तब वह बहुन्त कही जाती है। इस प्रकार के सनुत्रमा में भेद सहता धमनी सपुर्यता में सामान्य कप से ही बहुल्य की जाती है। वे लंकिन जब यह सत्ता विविध्य शक्तियों में युक्त पर उनकी निम्न धमने ययार्थ स्वरूप के उपासकों द्वारा सिद्ध की जाती है, तब उसे 'मशबत्' नाम से युकारा जाता है। इन प्रमय में विशुद्ध मानन्द तो इम्म प्रथम विशेष्य होता है सौर सम्य समस्त शक्तियों उसकी विशेषण मान होती है, बतः जब सत्ता धपने जिल्ल स्वरूपों सहित सपनी पूर्णता में किएल की जाती है तब वह मशबत् कहलाती है: किन्तु जब बहु सपने विशेष सम्बन्धों के सिना व सपने समुक्त कर के कालता है। किन्तु जब बहु सपने विशेष सम्बन्धों के सिना व सपने समुक्त कर के कालता है। किन्तु जब बहु

भ्रद्वयत्व च भ्रस्य स्वयसिद्ध-ताहशाताह्य-तत्वातराभावात् स्वयक्त्येकसहायत्वात्, परमाध्यय त विना नासाम् भ्रसिद्धत्वाच् ।

<sup>-&</sup>quot;तत्व-सदर्भ" पृ० ३७।

तह एकम् एव घ्रखंडानग्द-क्यं तावः "परम-ह्साना साधनवज्ञात् तावास्थ्यम् धनुषपायं सत्याम् प्रमि तदीय स्वकर-वाक्तः वैचित्रया तद्ववृत्त साम्ब्यं चैतिस यथा सामाग्यती लखितं तथैव स्कृद्धः तद्व-बद् एव ध्रविविक्त-यक्ति-यक्तिमता-मेदतया प्रतियाध-मानं वा बद्धां ति शब्द्यते ।

<sup>--&</sup>quot;बर्-संदर्भ" पृ० ४६-५०।

ब्रह्मन् कहलाती है। वहाँ तक ब्रह्मन् और मगवत् के प्रत्ययों में इस अन्तर का सम्बन्ध है वह उपयुक्त है। नेकिन इस सम्प्रदाय में इस स्थान पर पूरामा शास्त्र का धतिकमण कर बाता है। पुरासों में पौराणिक हथ्टि से कृष्ण या मगवान "वैकृष्ठ" में मड़कीले वस्त्रों को धारए। किए धपने सहबरों से घिरे हुए धपने सिहासन पर विराजमान प्रदक्षित किये गये हैं। यह "बैकुष्ठ" दिक् और काल से रहित है, वह परमेश्वर की "स्वरूप शक्ति" की श्रामिक्यक्ति है अतएव वह "गूएों से निर्मित नहीं है जो दिक्-काल-मय जगत् के निर्माणकारी द्रव्य हैं। चुँकि "वैक्र्फ्ट" दिक्-काल से रहित है बतः यह कहना कि परमेश्वर "बैकुष्ठ में स्थित है उतना ही सत्य है जितना यह कहना कि परमेश्वर स्वयं "वैकृष्ठ" है। जो लोग धर्म की इस शासा में विश्वास रसते थे वे पौराखिक कथाओं और निरूपगों के महत्व से इतने प्रस्त हो गये थे कि वे परमेश्वर को विशिष्ट बाकृतियों, दस्त्रों, बागुवस्तों, सहचरों बादि से युक्त मानते थे। वे यह सोचने में धसफल रहे कि इन निक्पशों की पौराशिक, साध्यवसाविक धयवा कोई प्रन्य व्याख्या सम्मन है। वे इन प्रमाढ़ पुरुषविध वर्शनों को प्रक्षरशः सस्य मानते थे। लेकिन ऐसी स्वीकृतियों की यह धकाटय धालोचना हो सकती है कि हाथो, पैरों भौर बस्त्रों बाला परमेश्वर नाशवान होगा । इस झालोचना के परिहारार्थ उनका कथन या कि परमेश्वर की धाकृतियां, वास-स्थान खादि उसकी सभौतिक स्व-रूप-शक्ति के दिक-काल-रहित तस्वों से निमित होते हैं। किन्तु बाकृतियों में दिक की भारत्मा सन्तिहित है और दिक-शन्य भाकृतियों का अर्थ होगा दिकरहित दिक । इस मालोचना का उनके पास कोई उत्तर नहीं या. तथा उसके परिद्वार की एक-मात्र विधि जनकी यह दढ़ोक्ति थी कि परमेश्वर की शक्तियों का स्वरूप हमारे लिये प्रचित्य है, धतएव इस स्वरूप-शक्ति की ग्रमिव्यक्ति-रूप परमेश्वर की बाकतियों की तार्किक ग्राधार पर आलोचना नहीं की जा सकती, अपित "पुराखों" की प्रामाशिक साक्ष्य के बल पर वे सत्य मानी जानी चाहिये।

इस तर्कातीत, बुद्धि से समस्य या विचारातीत (स्विन्त्य) सत्ता की धारणा का यह सम्प्रदाय प्रपने मतो, सिद्धान्तों घीर विश्वतातों से सम्बन्धित समस्त कठिनाइयों की व्यास्था करने के लिये स्वव्यास्थतापूर्वक प्रयोग करता है। 'प्राविन्त्य' वह है जिसे प्रपरिहार्यत: त्रायों की व्यास्था के हेतु स्वीकार करना पड़ता है, परन्तु जो तर्क की संवीक्षा सहन नहीं कर सकती (जर्कासह यव्यास नात्रीयगानुपपति-प्रमाणकम्), तथा जो बुद्धि से समस्य सथवा सहास्यत समस्त्री जाने वाली बटनामों की व्यास्था कर सके

एव च झानन्द-मात्र विशेष्य समस्तः शक्तयः विशेषशानि विशिष्टो भगवान् इत्या-यातम् । तथा चैव विशिष्टये प्राप्ते पूर्णीविभावत्वेन झलंड तत्य-क्योऽसो भगवान् बहा त् स्फ्रटम् भप्रकटित-वैशिष्ट्या कारत्वेन तस्यैव झलस्यण् झाविजांवः ।

(वृषंट-सटकरवम्)। इस "सचिन्दय" की चारएए। द्वारा यह समक्षाने का प्रयत्न किया समा है कि निराकार बहुन्त केंसे उन तीन चिक्तमों से सम्बन्धित हो सकता है जिनके द्वारा वह स्वयं में घर्गरिवातित रहकर भी चपनी बाह्य "माया" चिक्त द्वारा जगत् की सृष्टि करता है, ध्वया घपनी सन्य चिक्त से की चारए करता है। परमेकर की बाह्य एकि तो है। परमेकर की बाह्य एकि की समित्र्य कि "मायान की "मायान की है। परमेकर वह परमक्ता से बाह्य की समित्र्य की "मायान की से परमेकर ने वह परमक्ता से माया कि से नी उसमें मासमान नहीं होती है, धर्मार "माया" वह है वो बह्यान के बिना कोई घर्मितर नहीं रक सकती घोर विस्का फिर भी बह्यान में कोई घर्मितर नहीं है। इस 'माया" के दो ब्यावार है-एक तो 'जीव-माया" विसके द्वारा वह वीवों को मोहित करती है तथा दूसरा "मुए-माया" विसके द्वारा जगत् के. क्यान्तरए। घटित होते हैं।

अपनी "सर्वो-संवादिनी" में जो "तत्व-सदमें" पर एक धाराप्रवाह टीका है, जीव गोस्वामी का तक है कि शकर के अनुयायी अदय, भेद-रहित, शद चैतन्य को परम सत्ता मानते हैं। उसके सहका सथवा ससहका कोई सन्य सत्ता सहितत्व नहीं रखती तथा इसी तथ्य मे उसकी ग्रसीमता एव उसकी सत्ता निहित है। उसके अनुसार ऐसी सत्ता में कोई प्रयक् शक्ति मथवा कोई ऐसी शक्ति भी नहीं हो सकती, जिसे उसका सार (स्वरूप-भत-शक्ति) माना जा सके। कारण यदि ऐसी शक्ति उस सत्ता से भिन्न हो तो वह उसका एक-रूप सार नहीं हो सकती भीर यदि वह उस सत्ता से क्रिन्न न हो तो वह उसकी शक्ति नहीं मानी जा सकती। यदि परम सत्ता से भिन्न कोई ऐसी सार भूत-शक्ति स्वीकार की जाय तो वह शक्ति उस सत्ता के समरूप ही होनी चाहिये (भर्यात् शुद्ध चैतन्य स्वरूप) भीर तब वैद्यावो द्वारा प्रमुख सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत की गई यह धारता। असम्भव हो जायनी कि यह शक्ति परमेश्वर की विविध सभि-व्यक्तियां, उसकी अनुभवातीत आकृतियो, निवास-स्थान आदि की उत्पत्ति में योगदान देती है। किन्तु शकर के अनुयायियों के मत के विरोध में कहा जा सकता है कि उनको भी यह मानना पडता है कि बहान की कोई शक्ति है जिसके द्वारा जगदामास मिन्यत होता है, यदि जगत सम्प्रगंत, माया की सब्दि है और बहान का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है तो उसका शस्तित्व मानने का कोई लाम नहीं है तथा "माया" सर्वे-

<sup>&</sup>quot; 'विष्णु-पुराण्" में इन तीन शक्तियां को 'परा." 'भविषां कर्म-सक्ता' भीर 'श्वेत्र-कारस्य" कहा गया है। वह 'परामाया' या 'स्वरूप शक्ति'' कसी-कसी 'योग-माया' भी कही जातो है।

<sup>\*</sup> ऋतेऽर्थ यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद् विद्याद भारमनो मायां यद्यासासो यदा तस: ।

सर्वी हो जायगी । यह क्रक्ति उसे बारए। करने वाली सत्ता के स्वरूप में मिन्न नही हो सकती भौर, चुंकि "प्रविद्या" 'श्रह्मन्" के बिना ग्रस्तित्व नहीं रख सकती, इसलिये यह एक ब्रतिरिक्त प्रमास है कि "ब्रविद्या" सी उसकी बक्तिओं में से एक है। किसी भी सत्ता को शक्ति अप्रकट रहने पर भी सदा स्वयं उसी में विद्यमान रहती, यदि यह युक्ति दी जाय कि बह्मन् तो स्वयं-प्रकाश है ब्रसएव उसे किसी शक्ति की ब्रावस्थकरा नहीं है तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि जिस कारण के बल पर वह स्वयं प्रकाश है उसी को उसकी शक्ति गिना जा सकता है। इस इग से जीव गोस्वामी रामानुज युक्ति के कुछ प्राधारभूत प्रकों का इस सिद्धान्त के पक्ष में अनुसरण करते हैं कि परम सत्ता, ब्रह्मन, निराकार एवं निर्मुं स नहीं है बल्कि ब्रपनी बक्तियों व गुर्सों को धारस किये हुए एक गुरग्-विशिष्ट सत्ता है। इस मत को सिद्ध करने के प्रयत्न में जीव रामा-नुज की प्रमुख युक्ति का सक्षेप में बनुसरए। करते हैं। किन्तु जीव यह विचार प्रस्ता-वित करते हैं कि परम सत्ता के गुर्गों व शक्तियों का सम्बन्ध तर्कातीत है, तार्किक प्राधार पर उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, ब्रतएव एक रहस्यमय दग से शक्तिया परम सत्ता से भिन्न होते हुए भी उससे एक-रूप हैं ? फनतः परम नता की मानवी झाकृतियो, वस्त्री मादि सहित स्यूल परमेश्वर के रूप मे अभिव्यक्ति होने पर भी वह उसी काल मे, बह्मन् के रूप में अपने अपरिवर्त्तनशील अस्तित्व में परिवर्तन-रहित रहती हैं।

बुद्धि से धराम्यता के इस रहस्यमय कार्मुले की प्रस्तावना से टम सम्प्रदाय के बैक्स्यूचों को घपने सिद्धान्तों एक मतो की तर्कवस्मत ब्यास्था करने के उत्तरदायित्व से बिमूर्ति प्राप्त हो जाती है धीर इस प्रकार स्वच्छदतापूर्वक वे तक्ते-बुद्धि के प्रमाव क्षेत्र से देव कथा-सास्त्रीय इस की "पौरास्त्रिक" श्रद्धा के अधिकार क्षेत्र में अवगेहस्स् करते हैं।

परमेदवर की विशेष यें ध्वताधों का वर्णन करते समय जीव यह मानने में रामामुज का धनुसरण करते हैं कि परदेवर में जमन में पाण जाने वाले कोई दुर्जुं मा ती हैं, बल्कि जिन में प्रणुं को हम करना कर सकते हैं उन तभी को वह धारण करना है,
है, बल्कि जिन में प्रणुं को हम करना कर सकते हैं उन तभी को वह धारण करना है
है। "ध्विचन्य" की धारणों के प्रणों ने विशेष उससे ध्वय उसके साथ उनका नादान्यर है।
"ध्विचन्य" की तकतिति धारणा का श्रीप्रणेश करने से बीव धीर उनके सम्प्रदाय के
सम्प्र "साववत" के टीकाकार ध्विक स्वच्यन्तगृर्थक भित्रमत्वेवस्थार (सामंबस्यादा)
का प्रतिपादन करने में समय होते हैं, जो सम्प्रया सम्प्रय नहीं होता धीर इसलिये बीव
यद्यि परम सत्ता को धनिक्षेष मानने में प्राप्तु का सनुसरण करते हैं, तथाणि एक
ही सांस में इत्तरा से यह कुसको हैं कि दरस सता निरक्षार एक निविष्ठेष है।
धतः वे कहते हैं कि यथाणि रामानुक के सनुधायी बहुत्तन को निविष्ठेष नहीं मानते हैं

तथापि सःविशेष की स्वीकृति में स्वमावतः निविशेष मी पूर्व-बूहीत है। परम सत्ता का "निविशेव", सविशेष (विधिष्ट) एवं अनेक के रूप में वर्शन करने वाले विभिन्न श्रति-पाठों का सामंजस्य करने के हेत तर्कातीत की घारला को प्रस्तावित करने के विचार का उदगम मध्व के दर्शन में "विशेष" की घारणा की प्रस्तावना (जिसका पिछले एक बध्याय में वर्शन किया जा चुका है) में मिल सकता है, जिसके द्वारा मध्य ने महैतवाद के प्रत्यय का बहतत्ववाद के प्रत्यय के साथ सामंजस्य करने का प्रयत्न किया था। चैतन्य द्वारा प्रारम्म की गई वैध्याववाद की बंगाली शास्ता मुख्यतया "भागवत पूराएा" पर भाषारित है, तथा इस शासा के भनेक लेखकों में से केवल दो ही दाशंनिक ग्रन्थों के लेखकों के रूप में प्रमुख ई-बलदेव विद्याभूषण और जीव गोस्वामी। इनमें से बलदेव ने बारम्बार मध्य के दर्शन के प्रति अपनी साखा की ऋराग्रस्तता तथा मध्व के वैध्याववादी शाखा के एक अनुयायी द्वारा चैतन्य की सन्यास में दीक्षा का उल्लेख किया है। यद्यपि वे जीव गोस्वामी के एक भवर समकालीन तथा उनके "तत्व-सदमं" के टीकाकार थे, तथापि वे झड्डैतवादी स्थित का विशिष्टाईत व बहुतत्ववाद के साथ सामजस्य करने के लिए बाय: मध्व के "विशेष" के सिद्धान्त की भीर परावन होते है। यदि वे जीव की तकतित (अविन्त्य) की बार सा पर हुद रहते तो "विशेष" के प्रत्यय सर्वथा सनावश्यक हो जाना । किन्तु बलदेव न केवल "विशेष" के प्रत्यय का प्रयोग करते हैं, बस्कि तकतिति के प्रत्यय का भी, भीर वे ''विशेष'' के प्रत्यय को नर्कातीत का प्रत्यय ही मानते हैं। अतः वे अपने "सिद्धान्त-रन्न" में कहते है कि चित्र, ग्रानन्द ग्रादि ग्रंग बहान के स्वरूप से मिन्न नहीं है और फिर भी ब्रह्मनुका "विशेष" के तर्कातीत व्यापारों के कारगा (म्रचिन्त्य-विशेष-महिमा) सगति-पूर्वक इन विभिन्न गुग्गों को घारए करने वाला भी कहते हैं। इस हडो कि में यह सिद्धान्त प्रत्नग्रंस्त नहीं है कि परम सत्ता एक हथ्टि-बिन्द से तो प्रपने गुरुगे के जिल्ला है तथा दूसरे दृष्टि-बिन्दु से उनसे एक-रूप है (न चैव भेदभेदो स्था-ताम्), और इस कठिनाई का एक-मात्र हल तर्कातीत के सिद्धान्त को मानने से ही हो सकता है (तस्माद अविधिन्त्यतीय शरराम्)। इस सम्बन्ध में बलदेव आये कहते हैं कि "विशेष" का सिद्धान्त इस रूप में स्वीकृत करना चाहिये कि वह भेद की अनुपस्थित में भी भेद के आभास की व्याच्या कर सके। किन्तु यह "विशेष" का प्रत्यय परम सत्ता की युगपत अनेकता और एकता का सामजस्य करने के लिये ही प्रयोजित किया जाना चाहिये। परन्तु जहाँ तक परम सत्ता और जीवों के सम्बन्ध का प्रश्न है उनका

<sup>े</sup> यदापि श्री-रामानुजीर्यनिविशेषं ब्रह्मा न मन्यते तथापि सविशेष मन्यमानैर विशेषा-तिरिक्तं मन्तव्यमैव ।

<sup>-</sup>जीव की ''सर्वसवादिनी'' पृ० ७४ (नित्यस्वरूप ब्रह्मचारी का संस्कररण)

<sup>&</sup>lt;sup>व</sup> सिद्धान्त रत्न पु. १७-२२ (बनारस, १६२४)।

भेद सर्व-विवित है, प्रतएव यहाँ "विशेष" के तिश्वान्त को तालू करना न्याय-संगत नहीं होगा। किन्तु "विशेष" का तिश्वान्त न केवल बहुत्त् के एकव का उसके गुर्णों व चित्रकों के प्रतेकत्व के साथ वासकस्य स्थापित करने के लिये प्रयोजित किया जाता है, विक्त उसके दिश्य सारीर, दिश्य वस्त्र, दिस्य निवास स्थान दरयादि के साथ सामंजस्य के हेतु भी उसे प्रमुक्त किया जाता है, मतः वे बहुत्त् से मिन्न प्रतीत होते हुए भी साथ ही उससे एक-स्प हैं।"

इसी विषय पर कथन करते हुए जीव मानते हैं कि विष्णु भगवान की चैतन्य शक्ति (चिच्छक्ति) का उसके स्वरूप के साथ तादारम्य है। जब उसका स्वरूप कार्योपत्ति की द्योर उन्मुख होता है, तब वह शक्ति कहलाता है (स्वरूपम् एव कार्यो-न्मूल गक्ति गब्देन उक्तम्)। परम सत्ताकी यह विशिष्ट भवस्था उससे भिन्न नहीं मानी जा सकती तथा उससे कोई पृथक अस्तित्व नही रक्ष सकती क्योंकि वह कभी भी परमसत्ता के स्वरूप से जिल्ल नहीं मानी जा सकती और चुंकि भेद स्वय किसी प्रकार भिन्न नहीं माना जा सकता, शक्ति और उसके धारएकर्ता का भेद ग्रविचारएरीय, मचिन्त्य व तर्कातीत है। यह मत रामानुज भीर उनके भनुयायियों का नहीं है जो वाक्ति को उसके धारए। कर्तों से मिल्ल मानते हैं, तथापि, चुंकि वे मी यह विश्वास करते हैं कि परमेश्वर की शक्तियाँ स्वरूपतः उसी में अतिनिहित हैं इसलिए रामानुक की शाला और वैष्णुवबाद की बंगाली शाला में यथेष्ठ समानता है। शकर के मनु-यायियों के विरुद्ध युक्ति देते हुए जीव कहते हैं कि शुद्ध चैतन्य और झानन्द सम्बन्धी उपनिषद के अवतरण में भी बहान (विज्ञानम् आनद बहा), चैतन्य और आनन्द मे तादातम्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि फिर दोनों शब्द पुनरुक्ति मात्र होंगे. वे मिश्न भी नहीं माने जा सकते क्योंकि फिर ब्रह्मन में दो विरोधी यूए ही आर्थें में। यदि दो शब्दों-"विकान" और "मानन्द" - का मर्यमान और दूस का निषेध है तो ये दो निषेष दो मिन्न सत्ताएँ होकर ब्रह्मन में सह बस्तित्व धारण करती हैं यदि दोनों निवेघों का अर्थ एक ही सता से है तो एक ही सत्ता मिन्न वस्तुओं का निवेघ कैसे हो सकती हैं ? यदि यह कहा जाय कि केवल सुखमय चैतन्य को ही बानन्द कहते हैं तो फिर सौक्य का गुए। एक पृथक गुए। के रूप मे दिखाई देता है। यदि इन शब्दों को सज्ञान एव दुख के निवेधों के रूप में समक्षा जाय तो ये भी विशिष्ट गूरा हो आएँगे, यदि यह अनुरोध किया जाय कि ये विशिष्ट गुरा नहीं है, बल्कि केवल ऐसी विशेष योग्यताएँ हैं जिसके कारण श्रज्ञान व दु:ख का निषेष होता है, तो फिर भी ये विशेष

तथा च विग्रहादेः स्वरूपानितरोकेऽपि विशेषाद एव भेदव्यवहारः ।
 —वही, पु० २६ ।

व सर्व-संवादिनी, पु० २६, ३०।

योध्यताएँ विशिष्ट गुणु ही मानी जाएँगी। इस प्रकार यह सिद्धान्त प्रसत्य है कि परम सत्ता निर्विशेष हैं। बह्यान् के गुणु उसको शक्तियों से एकरूप हैं भीर इन समी का उसकी भ्रात्मा के साथ तादास्य है।

जीव के स्वरूप के विषय में "जीव" गोस्वामी कहते हैं कि जीव शुद्ध जैतन्य नहीं हैं, किन्तु ऐसी सत्ताएँ हैं जो "शहम्" अथवा "में" के रूप में धारम-चेतनता के लक्षण से सम्पन्न हैं। जीवो को किसी भी श्रवस्था में परमात्मन से एकरूप नहीं मान सकते तथा प्रत्येक जीव अन्य प्रत्येक जीव से भिन्न है। ये जीव आशावीय आकार के हैं अतएव निरवयन हैं। आरावीय जीव हदय में स्थित रहता है जहाँ से वह अपने नेतनता के गुरा द्वारा सम्प्रशं शरीर में उसी प्रकार व्याप्त हो जाता है जैसे चन्दन अपनी मधूर गम द्वारा सम्पूर्ण पड़ोस में व्याप्त हो जाता है। इसी प्रकार जीव भाराबीय हैं किन्तू जिन करीरों में वे स्थित है उनमें अपनी बैतन्य शक्ति से परिव्याप्त हो जाते हैं। चैतन्य को जीव का गुरा कहा जाता है क्यों कि वह सदा उसी पर षाश्चित रहता है और उसके उद्देश्य को सम्पादित करता है (नित्य-तद-माश्चयत्व तच्छेपत्व-निबन्धनः) । फर, चैतन्य जीव पर इस प्रकार बाश्चित होने के कारण किसी समय में जिन-जिन भिन्न शरीरों में परिचालित होता है उनमें ज्याप्त होने के लिए विस्तृत होता है और आकु चित होता है। इस प्रकार परमेश्वर से मिन्न होने के कारण जीव मोक्ष में भी पथक व भिन्न रहते हैं। श्रतः वे परम श्रारमा (परमात्मन) से उत्पन्न होते हैं भौर सदा उसके पूर्ण नियत्रण में रहते हैं तथा उससे परिव्याप्त रहते हैं। इसी कारए परमेश्वर को जीवो (बात्मन) की भिन्नता में परमात्मन कहा जाता है। जीव परमात्मन से विकीर्श रिश्मयों के समान हैं अतरव सदा उस पर पूर्णतया माधित रहते हैं तथा उसके विना मस्तित्व नहीं रख सकते। 3 उनको परमात्मन् की ''तटस्य शक्ति'' भी मानते है, क्यों कि यद्यपि वे परमात्मन् की शक्ति हैं तथापि वे एक प्रकार से तटस्थ व उससे पृथक स्थित रहते हैं, ब्रतएव वे परमात्मन, की भ्रन्य शक्ति "माया" के विश्रम में रहते हैं, जो स्वय परमेश्वर पर कोई प्रभाव नहीं रखती, मतएव, यदापि जीव सजान (स्रविद्या) के बन्धन से पीडित रहते हैं, तथापि परम मारमन् (परमारमन्) पूर्णरूपेण उनसे मञ्जता रहता है। परमारमन् की शक्ति होने

<sup>&</sup>lt;sup>९</sup> तस्मात् प्रति क्षेत्र भिन्न एव जीवः।

<sup>-</sup>बही, पृ० ५७ ।

१ वही, प० ६४।

तदीय-रिष्म-स्थानीयत्वेऽपि नित्य-तद्-मात्रयित्वात्, तद् व्यतिरेकेल् व्यतिरेकात् ।
 -"वट-सदर्मे" पृ० २३३ ।

तदैवं शक्तित्वेऽपि अन्यत्वम् अस्य तटस्थत्वात्, तटस्थत्वं च माया शक्त्यतीतत्वात्, अस्य अविद्या पराभवादि-क्येशा दोवेशा परागत्वाने तोपाभावाच्च ।

<sup>-</sup>बही, पु० २३४।

ì.

के कारण कभी उससे एक-रूप कहते हैं और कभी उससे जिम्र मानते हैं। इन जीकों में से कुछ न तो स्वभाव से ही परशास्त्र के मक्त होते हैं तथा सन्य सम्बद्धा के क्षाधीभ्रत होते हैं भीर परभास्त्र में हित्र होते हैं, परवादुक्त जीव ही इस जगत के वासी होते हैं और पूर्वज्ञम नेते हैं।

बाह्य-क्षक्ति (बहिरग शक्ति) "माया" के दो व्यापार होते हैं, मृजनात्मक (निमित्त) भीर निष्किय (उपादान); इनमे से काल, दैव एवं कर्म पूर्वोक्त का प्रतिनिधित्व करते है भीर तीन "प्रव्चादुक्त" का । जीव "माया" के इन दोनों "भ्यापारों" के तत्वो का समाकल बजों के रूप में स्वय में अतिबिष्ट रखते हैं। "माया" के गुजनात्मक व्यापार के फिर दो प्रकार होते हैं जो या तो मनुष्य के बन्धन के लिए परिचालित होते हैं या मोक्ष के लिये। यह मुजनात्मक "माया" परमात्मन् के ब्रह्माण्डीय ज्ञान, उसकी इच्छा व उसकी मूजनात्मक किया की प्रारूप होती है। परमात्मन् का ज्ञान भी दो प्रकार का माना गया है-एक तो वह जो उसका धात्म-ज्ञान है तथा उसकी स्वरूप-शक्ति का भाग होता है और दूसरा वह जो जीवो के हितार्थ ब्रह्माण्डीय किया की धोर उन्मुख होता है। परमात्मन् का यह बह्याण्डीय ज्ञान ही उसकी "माया" शक्ति के सूजनात्मक व्यापार के अतर्गत स्नाता है। ब्रह्माण्डीय ज्ञान फिर दो प्रकार का होता है-एक तो वह जो परमात्मन् मे उसकी सर्वज्ञता, उसकी सृष्टि रचने की इच्छा, एव उसके सृष्टि करने के प्रयत्न (जिसे "काल" भी कहते हैं) के रूप में स्थित रहना है, भौर दूसरा वह जिसे परमात्मन् जीवो को उनकी भोग ग्रथवा "कर्म" से माक्ष प्राप्त करने की इच्छा बादि के रूप मे प्रदान कर देता है, यही फिर जीवों की "प्रविद्या" भीर "विद्या" माने जाते हैं। दस मत के अनुसार "माया" का अर्थ अविद्या नहीं है विलिक विविध सृष्टि-रचना की शक्ति है (मीयते विचित्र निर्मियत अनया इति विचित्रार्थ-कर-शाक्त-विचल्वमैव), ब्रतल्व जगत को परमात्मन् का परिस्लाम मानना चाहिये (परमात्म-परिसामैंब)। उपरमात्मन् की तकतिति शक्ति के कारसावह स्वयं में अपरिवर्तित रह कर भी जगत की अनेक सृष्टियों में रूपान्तरित (परिएगम) होता है। "जीव" के अनुसार "परिलाम" का अर्थ परमतत्व का परिलाम नहीं है (न तत्वस्य परिस्ताम), भवितु यथार्थ परिस्ताम है (तत्वतां परिस्तामः)। फिर भी भ्रपनी 'स्वरूप-शक्ति' के रूप मे परमात्मनु की धशिव्यक्ति तर्कातीत ''माया'' से

निमित्तांश-रूपया मायारव्ययैव प्रसिद्धा शक्तितित्रधा दृश्यते शानेच्छा-क्रिया-रूपत्वेन ।

<sup>-</sup>बही, पु० २४४।

वट्-संदर्भ, पृ० २४४।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> सर्व-संवादिनी, पृ० १२१।

उत्पन्न उसके जागतिक परिएगमों से सदा अखुति रहती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि परमात्मन के दो मिन्न रूप हैं, अपितु केवल यही है कि जो हमारी साधारए। तर्क-बुद्धि को विरोधग्रस्त प्रतीत होता है वही चनुमवातीत (परमाधिक) तथ्य हो सकता है तथा पारमाधिक स्तर पर यह मानने में कोई विरोध-प्रस्तता नही है कि परमात्मन् अपरिवर्तित होने के साथ ही अपनी दो भिन्न शक्तियों के परिवालन से परिवर्तित भी हो जाय । इस मत में "माया" अतात्विक अथवा मिथ्या नहीं है वरन् परमात्मन् की सृजनात्मक शक्ति है जिसमें उसकी सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता, "गुरगो" की सस्यिति व संयोजन के रूप में जगत् के सम्पूर्ण मौतिक द्रव्य, तथा समस्त विविध व्यक्तिगत ध्रमिव्यक्ति केन्द्रों में प्रकट बपनी सफलता में शुप्राशुप्र मानवी धनुभव का समावेश होता है। किन्तु सपनी तर्कातीत "माया-शक्ति" द्वारा उत्पन्न प्रपने इन समस्त परिस्तामो व अभिव्यक्तियो के अनन्तर भी परमात्मन् अपनी तर्कातीत स्वरूप-शक्ति की अभिव्यक्तियों में सम्पूर्णतया पूर्ण व अपरिवर्तित रहता है। एक ओर जो परमारमन् जगत के सुष्टा और धारएकर्त्ता के रूप में दिखाई देता है एव दूसरी ओर वह धार्मिक हिन्द से अपने उपासको के रहस्यमय झानन्द के विषय के रूप में प्रकट होता है। जगत परमारमन की "माया-मक्ति" से उत्पन्न हुआ है अतएव वह उससे एक-रूप नहीं स्यूल व अजुद्ध जीव तथा जगत, समस्त चेतन व जड पदार्थ, जीव का कारए। एवं सूक्ष्म विशुद्ध तत्व-ये कोई भी परमात्मन् से मिन्न नहीं हैं क्योंकि सूक्ष्म तो उसकी शक्ति के स्वरूप हैं, भीर स्थूल उसकी शक्ति के रूपान्तरसा या परिस्ताम हैं, भीर सर्वाप जगत परमात्मन से एक-रूप है तथापि जगत के दोष एव सश्क्रताएँ उसकी प्रभावित नहीं करते हैं, क्योंकि इन परिस्तामों के अनन्तर भी वह उनसे प्रखता है, यही उमकी शक्ति का तार्कातीत लक्षण है।<sup>३</sup>

"शीव" फिर यह प्रसीतत करने को समसर होते हैं कि स्त्रुत्त मौतिक जगत का, पत्र महामूर्तों व उनके विकारों का जरम प्रव्य परमारान् या परमेश्वर के स्नितिरिक्त इसरा कोई नहीं है। स्त्रुत मौतिक पदार्थों में स्वय ऐसा कोई तस्त नहीं है जिसके द्वारा ठोस इकाईयों के रूप में सगठन के उनके सामास की व्याक्या की जा सके। जिस सर्ष में हकों से वने वन तमाठित इकाईयों है उसी सर्थ में स्त्रुत मौतिक पदार्थ सगठित इकाईयों नहीं हो सकते, वास्तव में बनों को मंगठिन इकाईयों कहान उचित नहीं है, क्योंकि यदि एक इस को सीचा जाय तो मम्पूर्ण वन नहीं किस जाता है। किस्तु पदार्थ का जब एक छोर स्त्रीच जाता है। देवय वह पदार्थ जिस जाता है। यदि यह पुक्ति दो जाय कि असों से निम्न एक छंसी है तो उसका स्त्रां स्त्री

तत्वतोऽन्यया—भावः परिसाम इत्येव लक्षसा न तु तत्वस्य ।
 —सर्व-संवादिनी, पृ० १२१ ।

वही, पु० २४१।

सम्बन्ध बुद्धिगम्य नहीं रहेगा, क्योंकि उसका कभी शंकों से सर्वया मिल शनुभव नहीं किया जाता. यदि बंशी को प्रत्येक बंश से संबंधित माना जाय तो एक उंगली की भी सम्पर्श शरीर के रूप में अनुभृति होती चाहिये, यदि यह माना जाय कि अंशी केवल ग्रंशत: ग्रंपने मशों में स्थित है तो पुन: वही कठिनाई था खडी होगी और हम पुष्ट धनन्त में उसक जाएँगे। धतएव अंसों से मिल किसी भी ठोस अंशी का धस्तिस्व स्वीकत नहीं किया जा सकता और इसी कारण ग्रंशों के पथक स्थल ग्रस्तित्व की ग्रस्वीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार यदि श्रंशियों के ग्रस्तित्व का निषेध किया जाय तो ग्रंशों के ग्रस्तित्व का भी निवेध होना चाहिये. क्योंकि प्रत्यक्ष भनूमव तो केवल अभियो का ही होता है, तथा अभों का अस्तित्व भी केवल अंशियों की अनुभति म्याख्या करने के लिए स्वीकृत किया जाता है। अतः जो एक-मात्र मान्यता शेष रह जाती है वह यह है कि परमारमन ही परम इब्य है। "जीव" "मागवत पूराएा" के ३, ६, १-३ का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार यह प्रतीत होता है कि परमात्मन की शक्ति के विविक्त तत्वों से ही तेईस सांख्य पदार्थों का निर्माण होता है जो उस काल-तस्व के द्वारा मशियों के रूप में संगठित होते हैं जो परमारमन के मलीकिक प्रयास का ही दूसरा नाम है। इस स्थान पर प्रतिपादित यह विचित्र सिद्धान्त भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास में नवीन है, यश्चिप दुर्माम्यवश यहाँ उसका आगे विकास नहीं हो पाया है। इसकी वह संवारला प्रतीत होती है "माया के उपादानांश" के विविक्त तरव प्रपनी तारिवकता का धामास परमेदवर से प्राप्त करते हैं तथा परमेदवर के अतिरिक्त कोई अंशो न होने के कारण काल के रूप में परमेश्वर की "शक्ति" या "किया" द्वारा वे तत्व अभियो की सकल्पना को उत्पन्न करने के लिए एकत्र रक्से जाते हैं। काल किस प्रकार परमासुधी को असुधी में और ग्रसुधी को ग्रंशियों के रूप मे संगठित करने में उत्तरदायों है. इसकी कोई व्याख्या नहीं की गई है।

## भागवत-पुराण में कपिल दर्शन

"मागदत-पुराण" साल्य का जो विवरण देता है वह शास्त्रीय साल्य प्रत्यों में उपलब्ध विवरण से कुछ मित्र है। यह सारा अगत जिससे ब्याप्त होकर प्रकाशित होता है, वह पारमा ही दुरुव है। वह सनादि, निर्दुष्ण, प्रकृति से परे प्रतरूपण में स्कृतित होने वाला चौर स्वय प्रकाश है। यही वह दुष्क है जो स्वेच्छा से पपनी भीर प्रमिगमन करती हुई "प्रकृति" को सीला के लिए (जीनया) स्वीकार करता है,

श्रनादिरात्मा पुरुषो निर्मु गः प्रकृतेः परः
 प्रत्याधाम स्वय-ज्योतिविश्व केत समन्वतमः ।

<sup>-&</sup>quot;मानवत-पुरासा" तृतीय २६, ३।

सम्मवतः यही "पुरुष" इत्वर माना वाता है। किन्तु वह "प्रकृति" को स्वयं प्रपने सरबादि पुर्लों से विविध प्रकार की सृष्टियों को उत्पन्न करते हुए देखकर इस "प्रकृति" की भावरत्व बालने वाली भन्नान-शक्ति (ज्ञान-मूहवा) से स्वयं "विमूढ़" हो गया। " इस प्रकार अपने से मिश्र प्रकृति के अपने स्वरूप पर मिथ्या आरोपण के कारण "पुरुष" "प्रक्वति" के "पूर्णों" की स्वाभाविक गति से उत्पन्न परिवर्तनों में स्वयं को कर्ता के इन्य में संकल्पित कर बैठता है, भतएव वह स्वयं को जन्म व पूनर्जन्म का मागी बनाता है तथा "कमं" के नियमों में बेंच जाता है। वस्तुत: प्रकृति स्वयं ही घपने समस्त धारम-स्थित प्रभावों की कारए बीर कर्ता है, तथा "पुरुव" केवल सर्व मुख-दु:स का निष्क्रय भोक्ता है। पदार्थों के विकास के विवरण में हमारे सम्मुख पाँच स्थूल तस्य या "महाभूत," पाँच "तन्मात्रा" दस इन्द्रियाँ एवं "मनस्" "बुढि" "बहंकार" एव "वित्त" द्वारा निर्मित्त "प्रंतरात्मक" पाते हैं। इनके वितिरिक्त "काल" नामक विवीसकां पदार्थ है, जिसे कुछ विद्वान एक पृथक पदार्थ मानते हैं-"पुरुष" (ईववर के बर्थ में) के झलाँ किक प्रयास के रूप में न कि ''प्रकृति'' से विकसित पदार्थ के रूप में ।<sup>3</sup> ऐसा कहा जाता है कि ईववर घांतरिक इंब्टि से तो मनुष्य में उसके समस्त घनुभवों के नियंत्रक घतरात्मा के रूप में प्रभिष्यक्त होता है, तथा बाह्य टिंग्ट से बनुमव के विषयों में काल के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार यदि काल, जीवो एव ईव्वर को एक ही पदार्थ माना जाय तो पत्रीस पदार्थ होते हैं, यदि काल को पृथक माना जाय झौर ईश्वर एवं ''पुरुष'' को एक माना जाय तो खब्बीस पदार्थ होते हैं, बौर यदि तीनों को पृथक माना जाय तो सत्ताइस पदार्थ होते है। <sup>४</sup> ''पुरुष'' ही ''प्रकृति'' के प्रभाव में भाता है भौर वही

<sup>े</sup> अय ईश्वर इत्युच्यते । "सुबोधिनी" -भागवत पुरासा पर टीका ।

यहाँ ''लुवांचिनि'' निर्देश करती है कि ऐसी सवस्था विवर्षे ''पुरव'' स्वय को ''विमूह' बना नेता है वह ''जीव' कहनाता है । किन्तु विवय-ध्वजी हसे इस अर्थ में लिंके हैं कि समीकिक ''पुरव'' सपवा ''ईदवर'' वब ''मकृति'' को स्थीकत कर लेता है तब वह जीवो को उसके द्वारा विमूह बना देता है । श्रीयर कहते हैं कि ''पुरव'' दो प्रकार के होते हैं, ''ईववर'' एव ''जीव'' तथा झागे वे कहते हैं कि ''प्रकृति'' अपनी ''स्थावरण-चिक्त एव ''विद्येप-चिक्ति'' के झमुसार दो प्रकार की होती है और ''पुरव'' भी जीवो झववा ईस्वर के रूप में व्यवहार करता हुसा दो प्रकार का होता है।

अभव पुरुषं प्राहुः कालमेके यतोऽभयम् ।

<sup>-</sup>वही, ३, २६, १६।

इस गएना में "प्रकृति" का समावेश नहीं किया गया है, यदि ऐसा किया जाय तो मुद्राईस पदार्थ हो जायेंगे।

ईववर के रूप में अपनी असौकिक योग्यता द्वारा उससे मुक्त रहता है। "काल" के प्रमान से ही "प्रकृति" के "मुखों" की साम्यावस्था में विकास होता है तथा उनके स्वामाविक परिस्ताम उत्पन्न होते हैं. भीर ईश्वर द्वारा संवीक्षित "कर्म" के नियमों के निर्देश में "महत" का विकास होता है। यह विवित्र बात है कि यद्यपि 'महत्" को "प्रकृति" को विकास-कम की एक बावस्था बताया गया है तथापि उसे केवल एक श्वजनात्मक श्रवस्था (बृत्ति) या "प्रकृति" माना गया है, न कि एक प्रथक पदार्थ । "मागवत" के अन्य एक अवतरण में यह कहा गया है कि प्रारम्य में ईश्वर अपनी सुप्त शक्तियों सहित स्वयं ने प्रकेला या, तथा स्वयं को प्रतिबिन्तित करने एवं सपना भारम-लाभ प्राप्त करने में सहायक कोई भी वस्तु न पाकर उसने काल की किया एवं अपने स्वभाव (पुरुष) के माध्यम से अपनी "माया-शक्ति" की साम्यावस्था में विक्रोम उत्पन्न किया तथा उसे चैतन्य से संसिक्त किया, और इस प्रकार प्रकृति के परिशासन हारा सुष्टि-कम प्रारम्भ हमा। १ एक मन्य भवतरता में यह प्रवन उठाया गया है कि यदि ईएवर स्वय में मुक्त है तो फिर वह स्वय को "माया" के बन्धन में कैसे डाज सकता है, भीर उत्तर दिया जाता है कि वस्तृत: ईश्वर का कोई बचन नहीं होता, किन्तु जैसे स्वप्नों में एक मनुष्य अपने सिर को अपने धड़ से अलग देखे. अथवा लहरों के कारए। पानी में प्रपने प्रतिबिम्ब को हिलता हुआ देखे, उसी प्रकार केवल ईश्वर का प्रतिबिम्ब ही सांसारिक अनुभवों के वधन से पीड़ित जीवों के रूप मे मासित होता है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि इस दृष्टिकोश के सनुसार जीवों की सृष्टि मिथ्या है, और फलतः वे तथा उनके सांसारिक अनुभव असत्य होने चाहिये। उपय क अवतर्श के तुरन्त बाद में ग्राने वाले एक श्रन्थ श्रवतरता में यह निश्चित रूप से कहा गया है कि जगत् चैतन्य में केवल मासित होता है, किन्तु वस्तुत: उसका कोई अस्तित्व नही है। यह स्पष्ट है कि 'मागवत' के ये ब्रवतरण पिछले बनुभागों में "जीव" द्वारा दी गई उसके दर्शन की व्याख्या के स्पष्टत: विरोध में है, क्योंकि इनमें जीवो की तात्विकता तथा जगदामास की तात्विकता का निषेध किया गया है। 3 किन्तु यदि हम यह समरए। रक्लें कि "मागवत" एक व्यवस्थित सम्मुख्या न होकर विभिन्न काली में मिन्न-भिन्न लेखकों से प्राप्त सवर्षनों का एक सम्रह है तो हम ठीक ऐसी ही विरोधग्रस्तता की काशा कर सकते हैं। यदि २:५, ३:५, ३:७ और ३:२६ में विस्तित सास्य-सिद्धान्त

<sup>&</sup>lt;sup>व</sup> वही, भ्रष्याय २, ५, २२, २३।

र भागवत पुरासा ३:७, ६-१२।

अर्थामावं विनिद्दिन्तय प्रतीतस्यापि नात्मनः । वही ३:७, १८ । झनात्मनः प्रपंचस्य प्रतीतस्यापि अर्थामावमर्योऽत्र नास्ति किन्तु प्रनीति-मावयः ।

<sup>- &</sup>quot;भागवत" पर श्रीधर की टीका ३:७-१८।

की संवित्रपूर्ण व्याक्या की बाय तो यह निक्कां निकलता है कि ईस्वर और उसकी "माया" या प्रकृति-वे हो मूलपूर्ण पवार्ष हैं, ईस्वर प्रारता-साम करने की इच्छा से स्वयं को "म्कृति-वे हो जो उसी की बिक्त है। प्रतिविन्तिक करता है धौर प्रपनी हो सिक्त में प्रपने को वर्षाष्ट्र कर "म्कृति" के बन्यन से पीविट जीमों के रूप में मासित् होता है: पुन: उसके स्वयं का इस प्रकार नर्माचान करने के द्वारा ही "मकृति" के से समीबहोती है, और फिर काल नामक उसके पुजनात्मक प्रयास द्वारा "मकृति" के "मुल्ली" से साम्यावस्था का विकास होता है, मकृति में परिखामवादी गति उत्सन्त होती है तथा पदार्थों का विकास होता है।

पांचवें ब्रध्याय (x:१२, ६-६) के एक ब्रवतरण में निश्चय रूप से समुख्ययों (अंशियों) के अस्तित्व को मिथ्या बताया गया है। निरवयव परमासुओं के अतिरिक्त कोई सत्ताएँ नहीं हैं तथा ये परमास्तु भी काल्पनिक रचनाएँ हैं जिनके बिना समुख्ययों की संकल्पना सम्भव नहीं हो सकेगी। बाह्य जगत् सम्बन्धी हमारी समस्त संकल्पनाएँ परमाशासो से प्रारम्म होती हैं तथा जो कुछ भी हम देखते सचवा सनुमव करते हैं वह शनै: शनै: श्रेगीबद्ध संवर्षनी से विकसित होते हैं। संवर्षनी का विकास कोई वास्तविक विकास नहीं होता बल्कि काल-मावना का विनियोग मात्र है। श्रतः काल जगत का सह व्यापी है। परमास्त्र की संकल्पना लच्तम आसा की संकल्पना मात्र है, और परमालुओं के समुच्ययों के इयलुकों, स्यूलतर कलो इत्यादि में विकसित होने की सकल्पना विकासोन्मूल कालिक रचना तथा काल-क्षणों के संवर्धनशील सग्रह के स्रतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इन समस्त परिवर्तनों में समिष्ठान रूप में स्थित परम सता एक सर्व-व्यापी अपरिवर्तनशील समुख्या है, जो काल की किया के द्वारा क्रांसी भीर उनके सबर्धनों के रूप में भासित होते हैं (परमासूर्धों तथा उनके समहो के अनुरूप) । काल इस प्रकार "प्रकृति" की उपज नहीं है बल्कि ईश्वर की अलौकिक किया है जिसके द्वारा भ्रव्यक्त "प्रकृति" का स्थल जगत में परिएामन होता है, तथा समस्त विविक्त सत्ताएँ सम्बन्धयों के रूप में मासित होती हैं। देश्वर में यह काल उसकी अर्तानहित किया-शक्ति के रूप में अस्तित्व रखता है। पिछले परिच्छेद में यह

¹ वही, ३:११, १-**५**।

काल के सम्बन्ध में यह दिष्टकोल 'श्लोव'' के दिष्टकोल से मिन्न है जिसके अनुसार काल अरणों के रूप का है (वेंसी कि विज्ञान मिन्नु ने प्रपने ''योगवासिक'' ३:४१ में व्यास्था की है)। वहाँ एक अरण का एक ''गुलु'' करा की अपने ही परिमाप के प्रवकाश में पति के रूप में वर्लुन किया गया है तथा काल की साहबता का निक्ष्य रूप से निषेप किया गया है। उस दृष्टिकोल के प्रनुसार काल विविक्त अरणों के रूप का ही हो सकता है।

बता विया यया है कि कैसे ''बीव'' काल की ''माया'' का सक्रिय तत्व मानते वे और ''शुरुों'' को निष्क्रिय तत्व ।

"प्रकृति" से विकसित होने बाला प्रथम पदार्थ "महत्" है, जिसमें समस्त सह्याण्ड के बीज शंतिवध्ट होते हैं, वह विशुद्ध पारदर्शी 'सत्व' होता है (मायवत सम्प्रदाय की शब्दावली के अनुसार उसे "वित्त" और "वासुदेव भी कहते हैं)। "महत्" से तीन प्रकार का "बहंकार," यवा "वैकारिक, "तैजस्" एव "तामस," उत्पन्न हुन्ना। मागवत सम्प्रदाय की शब्दावली में इस "शहंकार" को "संकर्षसा" कहा जाता है। समस्त किया-कलाप, उपकरशात्व, व कार्य के रूप में परिशामन का श्रेय "ग्रहंकार" ही को दिया जाना चाहिये। "वनस्" की उत्पत्ति वैकारिक "महकार" से होती है तथा वह मागवत-सम्प्रदाय की सन्दावली में "म्रानिरुद्ध" कहा जाता है। यहाँ पर बिंगुत मागवत सम्प्रदाय "वामदेव" "सकर्षमा" एवं "धनिरुख" नामक तीन व्यूही में विश्वास करता वा, शतएव यहाँ प्रद्युष्त-व्यूह' की उत्पत्ति का कोई उल्लेख नहीं है। इस इंप्टि से "प्रदुम्न" इच्छा (काम) का प्रतिनिधित्व करता है, इच्छाएँ "मनस्" के व्यापार मात्र हैं, न कि कोई पृथक पदार्थ। " "तैजस-महकार" से "बुद्धि" पदार्थ का विकास होता है। इसी पदार्थ के व्यापारों से ज्ञानेन्द्रियो की कियाओं, विषयों के संज्ञान, सक्यों, त्रुटियों, निश्चयात्मकता, स्मृति एवं निद्रा की अ्यास्या की जानी चाहिये। कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों ''तैजस-महकार'' से उत्पन्न होती हैं। "तामस-महकार" से "सब्द-तन्मात्र" उत्पन्न होती है और "शब्द-तम्मात्र" से "बाकाश" महाभूत उत्पन्न होता है। "बाकाश" महाभूत से "रूप-तन्मात्र" उत्पन्न होती है तथा "रूप-तन्मात्र" से "तेज" महाभूत उत्पन्न होता है इत्यादि ।

"पुरुष" "प्रकृति" में निमन्त्रित रहता है, किन्तु फिर भी ग्रंपरिवर्त्तनशीत, ग्रुपु-रिहत व पूर्णेत: निक्तिक होने के कारण वह "प्रकृति" के पुणो से किसी प्रकार भी प्रमायित नहीं होता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि "प्रकृति" के प्रतिवर्ष्ट करित ही तीमित रहता है तथा 'प्रकृति" के प्रतिवर्ष्ट कर ही तीमित रहता है तथा 'प्रकृति" के प्रतिवर्ष्ट कर ही "पुरुष" के प्रतिवर्ष्ट कर ही तीमित रहता है तथा 'प्रकृति" के प्रतिवर्ष्ट कर हो "पुरुष" के प्रतिवर्ष्ट कर की ती के प्रतिवर्ष्ट कर हो स्वर्ष्ट कर कर हो स्वर्ष्ट कर होते हैं तथा स्वर्ष को साम कर हो होते हैं तथा स्वर्ष कर होते रहते हैं स्वर्ष कर होते स्वर्ष कर होते रहते हैं स्वर्ण कर होते होते हैं तथा स्वर्ष कर होते रहते हैं स्वर्ण कर होते होते हैं तथा स्वर्ण कर होते हैं स्वर्ण है स्वर्ण कर होते हैं स्वर्ण है स्वर्ण कर होते हैं स्वर्ण है स्वर्ण

वही, ३:२६-२७ यस्य मनतः संकल्य-विकल्याच्या कामसम्भवौ वर्ततः इति काम-रूपा इत्तिकस्यार्थन उक्ता न तु प्रयु नव्युहोत्पत्तिः तस्य सकत्यादि कार्यत्वाभावात् । (उपरोक्त निश्चित पर श्रीयर की टीका) ।

<sup>&</sup>lt;sup>व</sup> चार "ब्यूहो" में विश्वास करने वासे इसे "प्रखूमन-ब्यूह" कहते हैं।

अतः जो मुक्त होने की अभिलावा रखते हैं उन्हें सांसारिक सुसों के प्रति विरक्ति एवं गहरी मस्ति का द्वतापूर्वक अभ्यास करना चाहिये। उन्हें आत्म-संयम का पथ अपनाना चाहिये, अपने मन को सर्व प्राशियों के प्रति बैर-भाव से मुक्त करना चाहिये, समानता, ब्रह्मचर्य एवं मौन का अभ्यास करना चाहिये, जो कुछ सहज में प्राप्त हो जाय उससे सतुष्ट रहना चाहिये, और ईश्वर के प्रति हड़ मिक्त रखनी चाहिये। जब ने अपने मिथ्या स्वार्थ प्रेम एव बहकार को छोड़ देते हैं तथा "प्रकृति" एवं "प्रुच" के विषय में इस सस्य का अनुमव कर लेते हैं कि जिस प्रकार एक ही सुर्य जल में अनेक प्रतिबिम्बों का भ्रम उत्पन्न करता है उसी प्रकार "पूरुष" ही सबकी निरुपाधिक एवं बाबिच्छान-सत्ता है, जब ने यह समझ लेते हैं कि यथार्थ बात्मा, एवं परंग सत्ता, सदा उस अधिष्ठान सत्ता के रूप में अनुभूत होती है जो हमारे जैविक, ऐन्द्रिय एवं मानसिक व्यक्तित्व या बहुंता को अभिन्यक्त करती है, तथा इस परम सत्ता की प्राप्ति सुधूप्ति श्रवस्था में की जानी है (जबकि श्रहंता श्रस्थायी रूप से विलीन हो जाती है), तब वे धपनी वास्तविक मुक्ति को उपलब्ध करते हैं। पंतजिल द्वारा उल्लिखित ब्राहिसा, सत्य, घस्तेय, निर्वाह-मात्र के लिये जीवन की बावश्यकताओं से संतोष, शीच, स्वाध्याय, वैये. इन्द्रिय निग्नह, ग्रादि नपरिचित "योग" के उपांगो को और ग्रास्म विकास के लिये ग्रावब्यक तैयारी के रूप में स्वीकार किया गया है। "ग्रासन", "प्रास्तायाम" तथा ध्यान के विशेष विषयों पर मन को स्थिरतापूर्वक धारए। करने के सम्यास की भी मन को शुद्ध करने की प्रसालियों के रूप में सलाह दी गई है। जब मन इस प्रकार शुद्ध हो जाता है तथा ध्यान का ग्रम्थास कर लिया जाता है. तब व्यक्ति को ईश्वर एव उसके महान् गुरगो का चितन करना चाहिये। इश्वर-मिक्त को परम सला के एकस्व भीर "प्रकृति" एव भ्रामक जीवों के सम्बन्ध के सम्बक्त ज्ञान एव प्रज्ञान की प्राप्ति का दितीय साधन माना गया है। अत: यह कहा गया है कि जब कोई व्यक्ति हरि की मन्दर, धलौकिक एव दैदीप्यमान बार्कात का चितन करता है तथा उसके प्रेम में मदमस्त हो जाता है, तब उसका हृदय भक्ति से द्रवित हो उठता है, भावातिरेक से उसके रोगटे लड़े हो जाते हैं और वह ईश्वर के प्रति उत्कंठा से भानन्दातिरेक के श्रश्रमों में प्लावित हो जाता है, इस प्रकार मनस रूपी कांटा जिन इन्द्रिय विषयों में सलम्न होता है, उनसे वियुक्त भी हो जाता है। 3 जब ऐसे भावातिरेक से किसी ब्यक्ति

भागवत पुरासा, ३.२७।

३ वही, ३:२८।

गृबं हरी भगवति प्रति सभ्यभावो भक्त्या द्ववर्-हृदय उत्पुलकः प्रभोदात् ग्रीत्कण्ट्य-वाष्य-कलया मुहुरद्वयभानस् तवापि विस्तविष्यं शनकर विद्यंक्ते ।

का मन अन्य सभी विषयों से विरक्त हो जाता है तथा इस प्रकार चितन का कोई विषय शेव नहीं रह जाता, तब बुमाई गई ली के सहश मन का विनाश हो जाता है, भीर गुर्लों के परिसामन के कारण स्वयं पर भारीपित उपाधियों से निहुत होकर भारमन् अलौकिक एवं परमभारमन् के साथ में अपने तादारम्य की प्राप्ति करता है। मिक चार प्रकार की कही गई है-"साल्विक" "राजस" "तामस" भीर "निग्रा"। जो अपित अपनी व्यक्तिगत ईच्या, गर्व अथवा शत्रता को संतुष्ट करने के लिये ईश्वर का अनुबह बाहते हैं तथा उसकी अक्ति करते हैं वे "तामस" कहनाते हैं, जो शक्ति, यश बादि की प्राप्ति के लिये उसकी खोज करते हैं वे "राजस" कहलाते हैं बौर जो वामिक कर्लव्य की भावना से प्रवदा प्रथमे पापों को बोने के लिये उसकी मिक्त करते हैं अथवा अपने सर्व कर्मों एवं उनके फलों को उसके अपित कर देते हैं वे "सात्विक" कहलाते हैं। किन्तु जो गहरी बासिक के ब्रतिरिक्त बन्य किसी हेतु के बिना नैसर्गिक रूप से उसकी स्रोर प्रवल होते हैं तथा जो उसकी सौर उसके सेवकों की सेवा करने के मानन्द के सिवा किसी वस्तु की माकांक्षा नहीं रखते वे ही "निगूँ स्" भक्त कहे जा सकते हैं। किन्तु यह "निर्मुं स" मिक्त ईश्वर के सर्व-व्यापकत्व की अनुभृति के रूप में ब्रिमिव्यक्त होनी चाहिये: इस प्रकार के मक्त सब प्राणियों को बपने मित्र समभते हैं और उनकी टब्टि में एक मित्र एव एक सत्र में कोई भेद नहीं होता। केवल ईस्वर की बाह्य उपासनाओं के बाबार पर कोई भी व्यक्ति इस प्रकार की उच्च मिल का दावा नहीं कर सकता, उसे चाहिये कि वह समस्त मानवता की मित्र एवं बंधू की मौति सेवा करे। इस प्रकार सात्म-सुद्धि एवं ईश्वर एवं उसके खेष्टतम गुरा। पर मन को केन्द्रित करने की "योग" प्रशासियों के द्वारा अथवा ईश्वर के प्रति नैसर्गिक प्रेम के द्वारा कोई व्यक्ति इस चरम प्रजान की प्राप्ति कर सकता है कि एक-मात्र परम सत्ता ईश्वर ही है और जीव एव उनके धनुमव "प्रकृति" एव उसके परिग्रमनो में प्रतिविस्य मात्र हैं।

मुक्ताश्रयं यम् निविषयं विरक्तम् निर्वाराम् ऋच्छति मनः सहसा ययाऽचिः भारतानत्रपुरुषोऽव्यवधानमेकम् भन्योक्तते प्रति-निवृत्तं मुरुप्रवाहः ।

<sup>-</sup>बही, ३:२८, ३४।

यो मां सर्वेषु भूतेषु शान्तमात्मानमोध्वरम् हित्वाऽचौ मजते मौढ्याद् मस्मन्येव बुहोति सः महमुखा वर्चेर् ह्रव्यैः क्रिययोत्पन्नपाऽनये नेव तृष्येऽचितोऽचीयां भृत-मामादमानिनः ।

<sup>-</sup>बही, ३:२६, २२-२४।

किन्तु यह निर्देश दिया वा सकता है कि "योग" की प्रथम प्रशासी भी एक प्रकार की "विक्ति" से सम्बद्ध है, क्वॉकि उसमें देश्वर-प्रशिक्षान एवं उससे सम्बद्ध सानव के माय का समायेश होता है। "योग" स्वन्द का प्रयोग द्वार प्रसंग में संतर्भित हारा दिये गये गारिसाधिक कर्ष ('युव्द समायो' यातु से) में नहीं किया गया है, स्वित्त योगे" का अर्थ है "संतोजन") में किया गया है। यचि इस प्रशासी में मन की शुद्धि एवं ध्यान की तैयारी के लिये "योग" के सी वर्षायों जा समायेश हुआ है, तथापि उसका चरम उद्देश्य प्राथमिक जीव की इंस्टर के साथ एकना की उपमित्त करता है, वो पंतर्जांक के "योग" से सर्वया मिन्न है। स्वतः चुक्ति यह "योग" मुख्यतया देश्वर का चितन करते उसके साथ एकिकरण का सब्द स्वता है, त्ये एक प्रकार का "मितन्योग" मी कहा जा सकता है जिसमें देश्वर के प्रति मानातिर के के डारा "योग" प्रशिक्षण के समी उद्देश्यों को प्रति हो जाती है।"

कपिल का वर्शन ईश्वर के एक अवतार के रूप में किया गया है, तथा "मागवत" में उन्हें जिस दर्शन के लिये उत्तरदायी बताया है वही उसमें अंतर्विष्ट प्रधान दर्शक है। "भागवत" में बाद्योपान्त कपिल द्वारा विशास सेक्बर सांस्थ-दर्शन की विविध प्रवतरकों एव विविध प्रसगों में बारम्बार पूनराहति की गई है। उसके ईव्वर-कृष्ण द्वारा ग्रथवा पतजिल एवं व्यास द्वारा जिस चिर-परिचित सास्य की व्यास्या की गई है उससे अतर इतना स्वन्ट है कि विस्तार से उसके स्वव्दीकरण को कोई आवश्यकता नही है। "मागवत" ११:२२ में सांस्य की उन विभिन्न शासाओं का उल्लेख किया गया है जो चरम पदायों की सस्था, तीन, चार, पाँच, छः, सात, नौ, न्यारह, तेरह, पन्द्रह, सोलह, सत्रह, पश्चीस एवं अन्बीस मानती हैं, तथा यह पूछा गया है कि मत की इन भिश्रताओं का सामजस्य कैसे किया जा सकता है। उत्तर में कहा गया है कि ये मिश्रताएँ सांस्य विचारधारा में कोई वास्तविक भेद को ग्रमिब्यक्त नहीं करती. भेद तो कुछ पदार्थों का कुछ ग्रन्य पदार्थों में समावेश कर लेने के कारण उत्पन्न हो गया है (परस्परानुप्रवेद्यात तत्वानाम्), उदाहरल के लिये, कुछ कार्य-तस्व कुछ कारल तस्वों में समाविष्ट कर लिये गये हैं, श्रमवा कुछ तस्वों का अभिनिर्धारण कुछ विशेष श्रमिप्राय से किया गया है। इस प्रकार, जब हम यह सोच लेते हैं कि "पुरुष" अनादि अविद्या से प्रमावित होने के कारण (अनावविद्यायुक्तस्य) स्वयं परम सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने में श्रसमर्थ हैं, तब उससे मिश्न एक पूरुवोत्तम के श्रस्तित्व की संकल्पना करना ग्रावरयक हो जाता है जो उसे उक्त ज्ञान प्रदान कर सके, इस दृष्टिकोएा से छव्बीस

यतः संघार्यमानां योगिनो मक्ति लक्ष्णः

तत्व होंगे । किन्तु, जब हम सोच लेते हैं कि "पुरुव" (प्रचवा जीव) और ईश्वर में तिनक भी बन्तर नहीं है, तब ईश्वर की पूरुव से मिल संकल्पना नितान्त अनावस्थक हो जाती है। पून: वो विद्वान् नौ तत्व मानते हैं वे "पूरुव", "प्रकृति," "महत्", "महंकार" एवं पांच "तत्मात्र" को गिनकर ऐसा करते हैं। इस इच्टि से "ज्ञान" "युर्णो" का एक परिसामन माना जाता है, और (चुँ के "प्रकृति" मुर्गों की साम्या-बस्था के ब्रतिरिक्त कुछ भी नहीं है बतः) ज्ञान को "प्रकृति" से एक-रूप माना जा सकता है, इसी प्रकार कियाएँ केवल "रजस्" के परिख्यन मानी जानी चाहिये और धज्ञान "तमस्" का परिशासन । "काल" यहाँ एक पृथक तत्व नहीं भाना नया है बल्कि "गुएों" की सहकारी गांत का कारए समका गया है, बौर "स्वभाव" को "महतत्व" से एक-रूप माना गया है। ज्ञानेन्द्रियों को वहाँ "सत्व" के ज्ञानात्मक इन्य में समाविष्ट किया गया है, कर्मेन्द्रियों को "रजस्" में तथा स्पर्श, गंच बादि के संज्ञान प्रयक्तरव न माने जाकर ज्ञानेन्द्रियों की समिन्यक्तियों के क्षेत्र माने गये हैं। बारह तत्व मानने वाले विद्वान ज्ञानेन्द्रियो एव कर्मेन्द्रियों को दो अतिरिक्त तत्व मानते हैं भीर स्पर्श, गंध बादि सबेदनाओं को जानेन्द्रियों की अभिव्यक्तियाँ मानकर स्वामाविकतमा उनके तत्व होने के दावे की भवहेलना करते है। एक भ्रत्य दृष्टि से "प्रकृति" जो कि "पुरुष" के प्रभाव से किया में प्रकृत की जाती है, उससे भिन्न समभी जाती है, भीर इस प्रकार दो तत्व तो "पुरुष" एव "प्रकृति" हो जाते हैं, फिर पांच तन्मात्राएँ, धलौकिक इच्टा एवं प्रापंचिक जीव हो जाते हैं, बतएव कुल मिलाकर नौ तरव हो जाते हैं। छ: तस्व मानने वाले मत के अनुसार केवल पाँच महाभूत एव भलौकिक "पुरुष" ही स्वीकृत किये जाते है। जो विद्वान केवल चार ही तत्वों को मानते हैं वे तेजस, ब्राप, एवं पृथ्वी इन तीन तत्वो को स्वीकृत करते है, तथा अलीकिक पुरुष को चौथा तत्व मानते हैं। जो सत्रह तत्व मानते है वे पाच "तन्मात्र," पच महाभूत एव पाच ज्ञानेन्द्रियो, मनस् तथा 'पुरुष'' को स्वीकृत करते है। जो सोलह तरव मानते है वे 'मनस्' को पुरुष से एक रूप मान लेते है। जो तेरह तस्वो को मानते है वे पत्र महाभूत (जिनको "तन्मात्र" से एक-रूप कर लिया गया है), यांच शानेन्द्रियो, मनस्, बलौकिक एव प्रापंचिक पुरुषों को स्वीकृत करते है। जो केवल ग्यारह तस्य मानते हैं वे केवल पत्र महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रियो और पुरुष को स्वीकार करते हैं। पुनः वे विद्वान् भी है जो आठ "प्रकृतियो" और "पुरुष" को स्वीकार करते है और इस प्रकार वे तत्वों की सक्यानों कर देते है। "मागवत" की सामजस्यवादी मावना ने सांस्य-तत्वो के विरोध-ग्रस्त विवरशो का भेदों की ग्रसताय-जनक व्याख्या द्वारा सामंजस्य करने का प्रयास किया है, किन्तु एक निष्पक्ष प्रक्षक को कभी-कभी ये भेद मूल-भूत प्रतीत होते हैं, तथा कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि ये सभी भिन्न-भिन्न विचार धाराएँ किसी अर्थ में "सास्य" नाम से पुकारी जा सकती है.

तवापि वे एक यपेण्ट स्वतंत्र विचारणा के वस्तित्व की सूचक हैं, जिसके वास्तविक सूच्य का, इन दाखाओं की छविस्तार एवं यवार्य जानकारी के अमाव में, निर्धारण नहीं किया जा सकता।

भागवत सम्प्रदाय के सांस्य का सास्त्रीय सांस्य से मूल भेद यह है कि वह एक ही "पुरुष" को वास्तविक सर्व-व्यापी झात्मा के रूप में स्वीकृत करता है, जो हमारे समस्त अनुमवीं का यथार्थ द्रष्टा हैं तथा इस जगत की निखिल वस्तुओं में अधिष्ठान रूप में मलभत सामान्य सत्ता है। विशेष प्रापंचिक जीव सामान्य "पुरुष" के "प्रकृति" के परिशामनो के साथ भामक अविवेक तथा उसके फल-स्वरूप "प्रकृति" की गतियों एवं उपकरताों के इस सामान्य "पूरुव" में धारोपरा के कारता सत्य मासित होते हैं। इस मिच्या घारोपण के कारण से ही मिच्या विशेष जीवों का उदय होता है तथा इस प्रकार जन्म व पूनर्जन्म का घात्रास उत्पन्न होता है, यद्यपि "प्रकृति" का सामान्य "पुरुष" के साथ कोई साहवर्य नहीं होता है। हमारे समस्त जागतिक अनुभव स्वप्नों के सदृश मिथ्या है तथा मन की भान्त-वारणाओं के कारण उत्पन्न होते हैं। उपयुक्त वर्गित कपिल के सांख्य दर्शन से सम्बन्धित अवतर्गों की अपेक्षा "भागवत" के ११:२२ में पाये जाने वाले अवतरलों में जगत के मिच्यात्व पर अधिक बल दिया गया है, भीर यद्यपि दोनो प्रतिपादनों को मलत: मिश्र नहीं कहा जा सकता तथापि जागतिक धनमवों को मिथ्या मानने वाली एकतत्ववादी प्रवृत्ति पर ऐसा विशिष्ट बल दिया गया है कि उसके द्वारा उस यथार्थवादी प्रवृत्ति का लगभग विनाश हो जाता है जो सांस्य-मतवादी विचारको का एक विशिष्ट लक्षरण है"।\*

?१:१३ में यह एकतत्ववादी व्याख्या अथवा सांस्य का यह एकतत्ववादी क्यान्तीरं प्रयमे चरम बिन्दु पर पहुँच जाता है, वहाँ यह सबसारएणा स्थापित की गई है कि परम सला एक है तथा सर्व भेद केवल नाम-रूप के भेद हैं। जो कुछ भी झानेन्द्रियों

प्रस्तवाय के "बुद्ध-वरित" में तांक्य के एक विवरता में "प्रकृति" और "विकार" को गणना की गई है। इनमें से "प्रकृति" बाठ तत्वों से बनी है-पंच महामूत "सहंकार" "बुद्धि" एवं "बम्मक" बीर "विकार" त्रमुद्ध तत्वों से निमित्र है-पांच सानेन्द्रियों एवं पांच कमें जिया, ननत् बुद्धि व पांच प्रकृत रच्या सेवान-जन्म सान । इसके मृतिरिक्त "श्रीमाड" या "बारसम" नामक तत्व भी है।

यथा मनोरष-धियो विषयानुमनो मृथा स्वप्न-दृष्टाध्व दाशाई तथा संसार श्रास्तनः श्रमें हा विश्वमानेऽपि संसूतिनं निवर्तते ध्यायनो विश्वयानस्य स्वप्नेऽनर्थाममो वथा ।

से प्रत्यक्ष हो सकता 🖁 सब्दों द्वारा कथित किया वा सकता है, प्रथवा विचार से संकल्पित किया वा सकता है वह एक परम मत्ता बहा ही है। "गुरा" मनस् की उपज है तथा मनस् "गुलों" की उपज है, और वे दो मिथ्या सत्ताएँ ही व्यक्ति का निर्माण करती हैं, किन्तु हमें यह समझना चाहिये कि ये दोनों भयवार्य हैं तथा एक-मात्र तत्व ब्रह्मन् है जिस पर उन दोनों का आरोपल होता है। जाव्रत चनुमव, स्वप्न एवं सुषुष्ति सभी मनस् के व्यापार हैं, यवार्य बास्य तो विशुद्ध "साक्षिन्" है, जो उनसे नितान्त मिन्न है। जब तक "नानात्व" की संकल्पना दार्शनिक तक से निर्मूल नहीं हो जाती, तब तक बजानी व्यक्ति अपनी जावतावस्था में स्वयन-मात्र देखता है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक व्यक्ति अपने स्वप्नों में स्वयं को जाग्रत समस्ता है। चूं कि आत्मन् के मतिरिक्त भन्य कुछ भी नहीं है, तथा भन्य सभी कुछ स्वप्नों के सददा भ्रम भाव है, श्रत: सर्व जागतिक नियम, उद्देश्य, लक्ष्य एवं कार्य अनिवार्यत: उनके समान ही मिथ्या है। हमें यह प्रेक्षरण करना चाहिये कि हममें अपने जाग्रत एवं स्वप्नानुमवों में तथा अपने सुयुप्ति के अनुभवों में आत्मन् के तादातम्य की संकल्पना विद्यमान है, और हमें इस बात से सहमत होना चाहिये कि जीवन की इन तीनो श्रवस्थाओं के ये सभी अनुभव वास्तव में ब्रस्तित्व नही रखते, वे सब परम सत्ता, ब्रह्मन् पर "माया" की ब्रमिव्यक्तियां मात्र हैं, और इस प्रकार के तकों एवं विचारों से हमें भपनी समस्त आसक्तियों का निष्कासन कर देना चाहिये तथा ज्ञान की तलवार द्वारा अपने सर्व बन्धनों को काट फॅकना चाहिये। हमें समस्त जगत् एव उसके अनुमवों को मन की कल्पना-मात्र सममना चाहिये-एक बामास मात्र जो प्रकट होता है बीर तिरोहित हो जाता है, सब **बनुसव "माया" मात्र हैं तथा एक मात्र अधिष्ठान मत्ता शुद्ध चैतन्य है। अतः सम्यक्** ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है, बद्यपि शरीर तब तक रह सकता है जब तक कि सुस्तमय एवं दु: समय धनुमवों के भोग से "कर्म" के फल समाप्त नहीं हो जाते। इसी को सांख्य भौर योग का गुप्त सत्व कहा गया है। "भागवत" मे इस प्रकार का श्वतिक्षय प्रध्यात्मवादी एकतत्ववाद देखकर हमे सामारराग्या ब्राहचर्य-सा लगेगा, किन्तू ऐसे अनेक अवतरण हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि "भागवत" की एक प्रमुख विचार-धारा के रूप में एक तीव्र बच्यात्मवाद की बार-बार पूनरावृत्ति होती है।

"मागवत" का सबसे महत्वपूर्ण बवतरल कदाचित् उनका प्रथम भगताचरण का स्तोक ही है। इस धवतरल तक में बहु कहा गया है (उनकी एक प्रमुख व प्रत्यक्र व्याख्या के प्रमुखार) कि "गुलो" द्वारा को गई गृंधि प्रिया है और तिर भी उनसे कपिष्ठात कर में स्थित परम सत्ता के कारण वह यवार्ष प्रतीत होती है, जगत की उत्पत्ति, स्थिति प्रीर प्रतय परम सत्ता बहुत्त्व निष्णक होते हैं तथा इस परम सत्ता

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> वही, ११:१३ ।

की ज्योति से सर्वे घर्षकार तिरोहित हो जाता है। ' ६, ४, २६–३२ में एक झम्य धवतरण में कहा गया है कि बहानू 'मुण्डों' से प्रतीत हे तथा जगड़ में घनवा जगत् के इस्प में श्री भी उत्पन्न होता है उसका स्रीक्टान एवं कारण बहान् ही है भीर केवल बही सल्य है, धीर निरीक्ष्य सांस्थ तथा सेक्ष्य योग उसी को परम सत्ता मानने में सहस्त हैं।

एक पिछले परिच्छेद में यह निर्देश किया गया वा कि "जीव" के अनुसार "माया" के निमित्तात्मक एवं उपादानात्मक 'दो भाग होते हैं, तथा पश्चादुक्त को "प्रकृति" या "गूलो" से एक-रूप माना गया है। किन्तू यह "माया" ईश्वर की बाह्य शक्ति मानी गई थी जो उसकी स्वरूप-शक्ति से मिस्र है। पर "विष्णु-पुरागु" द्वारा ऐसा कोई भेद स्थापित किया गया प्रतीत नहीं होता, उसका कथन है कि ईश्वर अपनी कीड़ारमक किया के द्वारा "प्रकृति," "पुरुष" नानात्मक जगत् एवं काल के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करता है, किन्तु फिर भी वह "प्रकृति" एव "पूरुष" को ईश्वर के स्वरूप से भिन्न मानता है, तथा काल को ऐसी सत्ता मानता है जो इन दोनों को सान्निष्य में रखकर इन्हे सृष्टि-रचना की कोर प्रवृत्त करता है। इस प्रकार चु कि काल "प्रकृति" एव 'पुरुष'' मे सम्बन्ध स्थापित करने वाला कारए। है, इमलिये महाप्रलय के समय निस्तिल सृष्टि-रूपों के प्रकृति में फिर से लय होने के पहवात भी वह अपना अस्तित्व बनाये रखता है। जब "गुरा" साम्यावस्था में होते हैं तब "प्रकृति" एवं "पुरुष" ग्रसम्बन्धित रहते है और तत्पश्चात् काल-तत्व ईश्वर से निकल कर दोनों में सम्बन्ध स्थापित करता है। किन्तु 'प्रकृति का अपने अध्यक्त एवं व्यक्त अववा ''संकोच'' एव "विकास" (सकोच-विकासाम्याम् की दोनो दक्षाच्चों में ईश्वर के स्वरूप की संश होती है, "प्रकृति" की साम्यावस्था को अनुष्य करने में ईश्वर स्वयं अपने स्वरूपको

जनमाश्चस्य यतोऽन्वयाद् इतरतक्वार्षेष्य श्रमितः स्वराट्; तेने बह्य हृदा य झादि-कवये मुखन्ति यत् सूरयः, तेजो-वारि-मृदां यथा विनिययो यत्र त्रिसर्गोऽमृथा, थाम्ना स्वैन सदा निरस्त कृष्ठक सत्य परं धीमहि।

<sup>-</sup>मागवत, १:१, १।

व्यक्तं विध्युस्तथाव्यकः पुरुषः कानेव च ।
 क्रीइतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय ।

विष्णोः स्वरूपान् परतो हि तेऽन्ये रूपे प्रधान पुरुषश्व विप्रास्तस्येव तेऽन्येन युते वियुक्त रूपादि यत् तद् द्विज कालसंब्रम् ।

<sup>-&</sup>quot;विष्णु-पुरासा" १:२, १८, २४।

गुरा-साम्ये ततस्तस्मिन् पृथक् पु सि व्यवस्थिते काल-स्वरूप-रूपं तद् विष्णार् मैत्रेय वर्तते ।

<sup>-</sup>बही, २७।

विश्वक्व करता है (स एव ज्ञोमको बह्मन् ज्ञोम्यश्व पुरुवोत्तमः), तथा वह ऐसा काल के माध्यम से करता है। वह अपनी इच्छा-शक्ति के द्वारा "प्रकृति" एवं "पुरुव" में प्रवेश कर जाता है, तथा "प्रकृति" के सूजनात्मक कार्य को प्रारम्म करता है, यद्यपि इस इच्छा-शक्ति की किया में साथारए। मौतिक किया की सकल्पना का कोई समावेश नहीं होता । इस प्रकार काल ईश्वर का ऐसा बाज्यात्मिक प्रभाव माना जाता है जिसके द्वारा ईश्वर स्वयं में बचल रह कर भी "प्रकृति" को चलायमान करता है। "प्रकृति" से विशिष्टीकरण की किया तथा विश्वस्थता के विकास द्वारा "महतु" का त्रिविध विकास होता है (सात्विक, राजस एवं तामस)। इसी किया के द्वारा महत का "बैकारिक" तेजस एवं "भूतादि" से विशिष्टीकरण होता है जो "महत्" में संगठित रहते हैं भौर महत् "प्रकृति" में संगठित रहता है। इसी प्रकार "महत्" के बन्तर्गत संगठित रहकर "भूतादि" का "तन्मात्रिक" बबस्या में विशिष्टीकरण होता है तथा वह शब्द तन्मात्र उत्पन्न करता है। "शब्द-तन्मात्र" से "धाकाश" तत्व उत्पन्न हथा, यह शब्द-तन्मात्र एवं "प्राकाश भूतादि" मे बागे बौर सगठित हुए तथा इस सगठित व्यवस्था में "बाकाश" तत्व ने स्वयं को "स्पर्ध-तत्मात्र" मे रूपान्तरित कर लिया, इस "स्पर्ध-तन्मात्र" से उसके रूपान्तरण द्वारा वायु की उत्पत्ति हुई (भुतादि द्वारा भ्रमिन्द्र होकर)। फिर "बाकाश" तत्व एवं "सब्द-तन्मात्र" के एकीकरण का "स्पर्श-तन्मात्र" से सयोजन करके वायु-तत्व ने "भूतादि" के माध्यम में "रूप-तन्मात्र" को उत्पन्न किया, तथा "भूतादि" से मनिरुद्धि पाकर "रूप-तन्मात्र" से "तेज" तस्य उत्पन्न हमा। पूनः "स्पर्ध-तन्मात्र," "वायु-तस्व" एवं "रूप-तन्मात्र" के एकीकरण से संयोजित होकर तेज-तत्व ने "भूतादि" के माध्यम में स्वय को "रस-तन्मात्र" में रूपान्तरित कर लिया तथा उसी ढग से "भूतादि" से अभिष्टद्धि पाकर "आप" तत्व उत्पन्न हथा। फिर "रस-तन्मात्र" ''रूप-तन्मात्र" एवं "म्राप" तत्व के एकीकरण से "भृतादि" के माध्यम मे "बाप-तत्व" के रूपान्तरस्य द्वारा 'शन्य-तन्मात्र" उत्पन्न हुन्ना बौर "भूतादि" से प्रमि-बृद्धि पाकर 'गंध-तन्मात्र" के "रस-तन्मात्र" 'रूप-नन्मात्र" एवं 'श्राप-तस्व" के साथ एकीकरण द्वारा "पृथ्वी-तत्व" जल्पन हमा । "तेवस-महकार" से दस कर्मोन्द्रिया एवं ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई तथा "मनस" 'वैकारिक-घहंकार' से उत्पन्न हमा। पाव

प्रधानं पुरुषं चापि प्रविश्यात्मे च्छ्रया हरिः
 क्षोमयामास सम्प्राप्ते सर्ग-कालेब्ययाव्ययौ ।

<sup>⊸</sup>वही, २६।

तीन प्रकार के सहत् के विकास का यह मत "विष्णु-पुराग्।" की विशेषता है जो शास्त्रीय सांक्य-मत से मिल्न है।

मह दितीय प्रवस्या पंतनास के "योग-सूत्र" २:१६ की "क्यास-माप्य" में की गई व्याक्या के अनुसार सांक्य-सिद्धान्त से सहस्त है।

मागवत पुरासः ] [ ३७

"सन्मानाएँ" "अविशेष" रूपान्तरण कही जाती है, तथा इन्द्रियाँ एवं स्थल तस्य "विशेष" रूपान्तरण जाने वाते हैं।"

उपरोक्त बितरण से तथा इस कृति के प्रथम बच में कपिल एवं पातंत्रल सांस्थ-सम्प्रदाय विषयक श्रष्ट्याय में जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि सांस्थ-दर्शन विमिन्न कालों में कई लेखकों के हाथों में पड़कर कई प्रकार से परिवर्तित हो चुका था। किन्तु यह अनुमान लगाना कठिन है कि इनमें से कौनसा अत यथार्थ में कपिल का मत है। किसी विपरीत प्रभाग की अनुपस्थिति में यह माना जा सकता है कि "भागवत" में कपिल को जिस सांस्थ-मत के लिये श्रेय दिया गया है वह साबारएतया सत्य है। किन्तु ईस्वर कृष्ण ने भी अपनी "सांख्य-कारिका" में शास्त्रीय सांख्य मत का विवरण दिया है, जिसका उनके अनुसार सब प्रथम कपिल ने आसूरि को. उपदेश दिया और धासूरि ने पचिशल को, तथा उनके द्वारा दिया गया सांस्य-मत का विवरण "षष्टि तंत्र" (उसके विवाद-ग्रस्त मार्गी एवं ग्राक्यानों को छोड़कर) का सारांश है, तथा दे स्वय बास्रि से गुरु-निध्य की पीढ़ियों द्वारा प्राप्त परम्परागत सांख्य-मत में उपदिष्ट हुए । किन्तु "मागवत" मे दिया गया कपिल-सांस्य का विवरता "सास्यकारिका" द्वारा दिये गये सांस्य-मत से महत्वपूर्ण अंशों में मिन्न है, क्योंक जहाँ पूर्वोक्त निश्चय रूप से ईश्वरवादी है वहाँ पश्चाद्क्त कम से कम मौन रूप से निरीश्वर-बादी है क्योंकि वह ईश्वर के सम्बन्ध में पूर्णतया मौन है, स्पष्ट है कि इस मत में ईएवर को कोई स्थान नही है। किन्तु "मागवत" में विश्वत ईएवरवादी सांस्थ, जो कि पतंजलि एव "अ्यास-भाष्य" के ईश्वरवादी सांस्य, जो कि पतजलि एवं "ज्यास-माध्य" के ईश्वरवादी सांस्य से सर्वधा भिन्न है, कोई एक ऐसा एकांकी उदाहरए। नहीं है जिसकी सरलता से उपेक्षा की जा सके क्योंकि जिन "पूराएगों" के पीछे बैच्एाव परम्परा है उनमें से अधिकांश "पुरारग" "मागवत" मे दिये गये कपिल-सांख्य के ईश्वर-बादी तत्व से सब ग्रनिवार्य सक्षणा में साधारणतया सहमत है, तथा कुछ महत्वपूर्ण पचरात्र "स्नागम" भी कुछ सशों में उसका समयंन करते हैं। इस प्रकार "झहिर्बु ध्नय-सहिता" सांस्थ-मत का विवरण देते हए कहती है कि सांस्थ सांस्थ "प्रकृति" को अनेकात्मक जगत का कारण मानता है, तथा यह "प्रकृति" विष्णु मगवान की इच्छा-शक्ति से प्रेरित काल के प्रभाव द्वारा सूजनात्मक रूपान्तरणों में प्रवृत्त होती है। "पुरुष" केवल एक ही है जो सब "पुरुषों" का पूर्ण योग है तथा पूर्णत: झपरिवर्त्तनशील (फुटस्य) है, "प्रकृति" तीन "गुर्हा" की साम्यावस्था से निर्मित है, "काल" तस्य के

<sup>&</sup>quot;(विष्णु-पुराण्" १:२ देखिये-इस घवतरण की पी० सी० राव की ग्रंथ २, ६०-५ में दी हुई बा० सर बी० एन० सील द्वारा की गई व्याख्या। सांक्य-तरवों के विकास के बारे में यही इलोक 'पथ-पुराण्" (स्वयं खंड) में हैं।

हारा ईश्वर की संकल्प शक्ति (विष्णु-संकल्प-चोदितात्) ''प्रकृति'' भीर ''पुरुष'' को सम्बन्धित करती है जिसके फल-स्वरूप "प्रकृति" की सृजनात्मक किया प्रारम्म होती है। "पुरुष" "प्रकृति" एवं "काल" विष्णु नगवान की विशिष्ट अभिन्यक्ति मात्र हैं। "ग्रहिर्दुग्न्य-संहिता" के बनुसार स्थून तत्वो का विकास सी ग्रपनी-अपनी "तन्मात्राग्रों" से सीघा होता है। उसका यह भी विश्वास है कि ईश्वर की शक्तियाँ तकातीत (मिचन्त्य) है, चतएव उनका प्रतिरोध तर्क-बुढि के विशुढ माकारगत सिद्धान्तों प्रथवा तकं-सास्त्र के विरोध-नियम के प्राधार पर नही किया जा सकता। किन्तु वह इस विसक्षरण यत को अपनाती है कि "काल" से "सत्व-गुर्ग" उत्पन्न होता है, तथा "सत्व" से "रजस्" एवं "रजस्" से तमस" "उत्पन्न होता है, भीर वह "व्यूह" सिद्धान्त की मिन्न व्यास्था करता है-लेकिन पंचरात्र-दर्शन नामक प्रव्याय में इन बातों का हम विवेचन कर चुके हैं कि "ब्रहिबुँ ब्ल्य" इस सांस्थ-मन का श्रेय कपिल को देती है (जो "विष्णु" के भवतार कहे जाते हैं) जिन्होंने "विष्ट-तंत्र" लिखा, तथा वह इस क्वति के बच्यायो "तंत्रों" का परिनरणन मी करती है। ै यह क्वति दो पुस्तकों में विभक्त हैं, प्रथम पुस्तक में एक बध्याय (तंत्र) ब्रह्मन् पर है, एक 'पुरुष'' पर, तीन "बक्ति" पर, एक "बक्षर" पर, एक "प्रारा" पर तथा एक "कर्नु" पर, एक ईव्वर पर, पौच "संज्ञान" पर, पौच कियाचों पर. पौच तन्मात्राक्षो पर खौर पौच गंथ महाभूतों पर हैं, इस प्रकार प्रथम पुस्तक में कुल मिलाकर बतीस बन्याय हैं। द्वितीय पुस्तक में महाईस मध्याय हैं-पाँच कत्तंव्यों पर, एक मनुभव पर, एक चरित्र पर, पाँच क्लेक्सों पर, तीन "प्रमाएो" पर, एक अमों पर, एक "धर्म" पर, एक वैराग्य पर, अतिप्राकृति व्यक्तियो पर, एक "मुरा" पर, एक "लिंग" पर, एक प्रत्यक्षीकररा पर, एक वैदिक ब्रमुष्ठानों पर, एक श्रोक पर, एक चरम लब्बि पर, एक वासनाओं के निवारल पर, एक रीति-रिवाकों पर, तथा एक मोक्ष पर। इस प्रकार हमारे सम्मुख सांरूप का एक तो ईश्वरवादी विवरता है, श्रीर एक निरीश्वरवादी, जो दोनो "षष्टि-नंत्र" पर माघारित होने का दावा करते हैं, दोनों कपिल-दर्शन के रूप में विंग्त किये गये है,

-"ब्रहिबुंध्न्य-सहिता" ६.८।

--बही, ७:१६ ।

पुरुषक्षेत्र कालव्य मुग्राव्येति तिघोच्यते
 भूतिः गुढेतरा विष्णोः

सांस्थरूपेश सकल्यो बैच्छावः कपिसाद् ऋषेः उदितो यादशः पूर्व तादश श्रृत्यु भेऽन्तिसम् यध्टिमेदं स्मृतं तंत्रं सांस्थं नाम महामृते प्राकृत बैकृतं वेति मध्यते हे समासतः ।

³ वही, ७:२०-३० I

धीर दोनों प्रामाशिक प्राचीन मुल-पाठों से प्राप्त किये वये हैं । केवल "मागवन" ही कपिल का ईश्वर के श्रवतार के रूप में उल्लेख नहीं करती, बल्कि कई पंचरात्र के मूल-मी उनका मगवान विष्णु के भवतार के रूप में उल्लेख करते हैं, "महामारत" उनका मगवान हरि भीर मगवान विष्णु के रूप में विवरण देता है (३:४७:१६), उनको बासदेव (३:१०७:३१) व कृष्ण कहता है, तथा उनका एक महर्षि के रूप में वर्शन करता है जिन्होंने अपने कोच द्वारा सागर के पुत्रों को मस्मसात कर दिया था। "अगवद गीता" में कृष्ण कहते हैं कि वे सिद्धों में कपिल मूनि हैं (१०:२६), किन्सू "महामारत" (३:२२०,२१) में उनको "चतुर्य ग्रन्ति" से एक-रूप माना है। "व्वेताव्वेतर उपनिवद्" (४:७२) में भी एक कपिल मुनि का उल्लेख बाता है बीर शंकर अपने "बहा-सूत्र" - माध्य में कहते हैं कि यह कपिल उन कपिल से मिल्न होने वाहिये जिन्होंने सागर के पूत्रों को मस्म कर दिया था, तथा सांस्थ-वर्शन लिखने वाले कपिल का निविचत रूप से पता नहीं लगाया जा सकता। इस प्रकार कम से कम तीन कपिल हो चुके हैं, वे कपिल जिन्होंने सागर के पूत्रों को मस्म कर दिया तथा जो "महामारत" के अनुसार विष्ण, हरि या कृष्ण के अवतार माने जाते हैं, वे कपिल जो "ग्राप्ति" के अवतार माने जाते हैं. और उपनिषदीय मनि कपिल जो वहाँ प्रकान में परिपक्त माने जाते हैं। प्रयम दो कपिल निश्चित रूप से सांख्य-दर्शन के लेखकों के रूप में विरुपात हैं, तथा "महामारत" के टीकाकार नीलकष्ठ का कथन है कि "ग्रस्नि" के ब्रवतार कपिल ही निरीश्वरवादी सांख्य के लेखक हैं। "महाभारत" (१२:३४०.४) में कहा गया है कि कपिल मृति ने अपना साख्य-दर्शन इस सिद्धान्त पर आधारित किया कि एक ही "पुरुष" महानारायण है, जो स्वय में पूर्णतः निंगूरा एवं सर्व सासारिक ग्रवस्थाओं में प्रखता है भौर फिर मी वही सुरुम एवं स्थुल शरीरों से सम्बन्धित जीवों का ग्रधिक्षक है, तथा उनके द्वारा मोगे गये समस्त ज्ञानात्मक एव इन्द्रियजन्य अनुभवों का परम ग्राधार है. वही ग्रारमगत एवं विषयगत जगत के रूप में भासित होने वाली पूर्ण एव परम सत्ता है, और फिर भी वासुदेव, सक्वंग्, ग्रनिरुद्ध एव प्रद्यम्न के रूप में अपने चतुर्म सी व्यक्तित्व के द्वारा ब्रह्माण्ड के सच्टा एव नियन्ता की मौति व्यवहार करता है। "महामारत मे पाये गये साख्य के प्रन्य विवर्शों का परीक्षण करने से पूर्व यह बना देना उचित है कि पचित्रस शैशवाबस्था में कपिला नामक स्त्री के स्तनों का पान करने के काररण न केवल कपिलेय कहे जाते थे, बल्कि वे 'परम ऋषि' कपिल मी कहे जाते थे।<sup>3</sup> यह तो लगमग निश्चत-सा है कि सांस्य के सर्वेश्वरवादी, ईश्वर-

¹ 'महामार'' ३:२२०, २१ पर नीलकष्ठ की टीका।

<sup>&</sup>lt;sup>व</sup> देखिये "महाभारत" १२:३५१ उस पर नीलकष्ठ की टीका भी देखिये।

अयमहुः कापिलं सांख्यं परम ऋषि प्रजापति । —वही, १२:२१८, १ । इस पंचशिक्त को "पंच-रात्र-विचारद" भी कहा गया है ।

बादी और निरीवनरवादी भादि भनेक प्रकार हो चुके हैं। चूँकि "महिबुँ ज्य-संहिता" "बष्टि-तंत्र" के अध्यायों के नाम बताती है, अतः यह लगमग निश्चित है कि उसके लेखक ने यह कृति देखी होगी, तथा उसके द्वारा बॉंग्सत सांख्य उस कृति से सहमत है। परिगिएत विषयों की तालिका बताती है कि उस इति में बह्मन्, "पुरुष" "शक्ति" "नियति" एवं "काल" पर ब्रघ्याय थे, तथा यही तत्व "धहिबुं ब्ल्य" द्वारा दिये गये सांस्य के विवरण में भी भाते हैं। भतएव यह बहुत सम्भव है कि "म्रहिर्बु ध्न्य" द्वारा विये गये साख्य का विवरता अधिकांशत: "षष्टि-तंत्र" के प्रति निष्ठावान है। हमें विदित है कि कपिल के सांस्थ-दर्शन ने कुछ महत्वपूर्ण लक्षरा। मे अपना स्वरूप बदलना भारम्म कर दिया था, तथा यह विल्कुल सम्भव है कि जब तक वह परस्परा से ईश्वर-कृष्णातक पहुंचातव तक वह काफी बदल चुका था। अत: "विध्टतत्र" से बहुत मिन्न होने पर भी वह दर्शन उसके महत्वपूर्ण उपदेशों से पूर्ण समक्षा जाता रहा होगा, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि ईश्वर-कृष्ण को मौलिक "वष्ट-तंत्र" पढ़ने का श्रवसर मिला होगा, तथा यह मानना युक्ति-युक्त है कि उसका एक बाद का सस्करता ही उन्हें उपलब्ध हुमा या मथना उस पर माधारित कोई सशोधित संग्रह ही उन्हें प्राप्त हुमा। यह भी हो सकता है "थब्ट-तंत्र" एक प्राचीन ग्रंथ होने के कारए। ऐसी जवीली भाषा में लिखा गया होगा कि बादरायण के ''ब्रह्म-सूत्र'' की मौति उसकी भी विभिन्न व्याख्याएँ सम्मव थी, प्रथवा ऐसा भी हो कि "विष्ट-तत्र" दो वे।1

देशवर कृष्ण की 'शास्त्र-कारिका'' पर निल्ली गई माठरालां की 'माठर-दित्त'' में कहा गया है कि 'पण्टि तक'' का यह है एक ऐसा 'एक'' या यथ जिससे साठ विषयों का सर्णन हो, ते कि बाठ सध्यायों साला यथ (तम्यने खुराहात रोवा कि ति तमें) । ये साठ विषय हैं 'शांच 'विषयंवं'' सुद्राहेत रोव (प्रशक्ति), ती निम्मा सतीय (तुर्णि), साठ 'शिंदिवां'' कुल निलाकर प्रवास विषय (कारिका) ४७-सम्प दस विषय हैं पांच लिंकों डारा सिंद्ध 'शकृति'' का स्वित्तर ('शांदिवां'' का तत्त्व), उत्तका 'एक्टल', ''कुकां'' से उत्तक प्रयोजनात्मक सम्बन्ध (धर्मवत्त्व व पाराम्यं), पुषयों का धर्मवत्त्व (खुद्वा), जोवन-पुक्ति के पश्चा मी सारीर की 'मिम्मिति'', 'शकृति'' सोर 'पुठव'' का सम्यत्व, 'शकृति'' की 'निवृत्ति''। भाठर पश्चा सुक्त दिवां का परिसान कर्मक स्वत्त्व व स्वत्ति स्वत्त्व के परिसान सम्बन्ध स्वत्ति हैं से स्वत्त्व स्वत्त्व सुक्ति स्वत्त्व, स्वत्त्वम्, प्रवत्त्वम्, प्रवत्त्वम्, प्रवत्त्वम्, प्रवत्त्वम्, प्रवत्त्वम्, प्रवत्त्वम्, प्रवत्त्वम्, प्रवित्त्वम्, प्रवित्त्वम्, प्रवित्त्वम्, प्रवित्त्वम्, प्रवित्त्वम्, प्रवित्त्वम्, प्रवित्त्वम्, प्रवित्त्वम्, प्रवित्त्वम्, प्रवित्तः स्वित्तः स्वत्त्वम्, प्रवित्तः स्वित्तः स्वत्तः प्रवित्तः स्वतिः स्वत्तः प्रवित्तः स्वतिः स्वतः प्रवादः स्वितः ।

<sup>-&</sup>quot;माठर-बृत्ति" ७२ ।

यह परिगराना सर्वेषा मनमानी प्रतीत होती है तथा यह बताने के लिये कुछ भी नहीं कहा गया है कि "थप्टि-तत्र" दन साठ विषयों की क्यास्था करने के काररण इस नाम से पुकारा गया था।

'बहिबुं ज्य-संहिता' की व्याक्या के अनुसार ईश्वर सबसे परे है, और तत्पश्यात् कृष्टस्य ब्रह्मन् ('पूरुवों' की समब्दि से निमित) तीन 'गुरुवों' की साम्यावस्था के रूप में 'प्रकृति' तथा 'काल' भाते हैं-जैसा कि पहले बताया जा चुका है।" 'काल' एक ऐसा तत्व माना गया है जो 'प्रकृति' भौर 'पुरुषों' का संयोजन करता है। यह कहा गया है कि ईश्वर (सुदर्शन) की सकल्य-शक्ति के कारण तत्वों के विकास द्वारा 'प्रकृति' 'पुरुप' एव 'काल' धनेकात्मक जगत् को उत्पन्न करने के लिये अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार एक कुटस्य 'पुरुष' झनेक जीवों प्रथवा भगवान विष्णु या ईश्वर के बशो के रूप मे भासित होता है। व ईश्वर की इच्छा-शक्ति जिसे 'सुदर्शन' या 'संकल्प' कहते हैं-जो एक 'परिस्पन्दित' विचार-क्रिया (ज्ञान-मूल-क्रियारम) मानी जाती है-'प्रकृति' के तत्वों (महत् धादि) में विशिष्टीकरण की सक्रिय कारण है। 'काल' को इस जिक्त से एक-रूप न मानकर एक प्रथक सत्ता माना गया है, एक ऐसा यंत्र जिसके द्वारा वह शक्ति कार्य करती है। फिर भी यह 'काल' अलौकिक स्वरूप का माना जाना चाहिये। इसका 'पुरुप' भीर 'प्रकृति' से सह-श्रस्तित्व है, तथा वह क्षिणो प्रथवा उनके समुदाय से निर्मित 'काल' से मिन्न है क्यांकि यह 'काल' तो 'महत्' तत्व का 'तमस्' पक्ष माना गया है। 'महत्' का 'सत्व' पक्ष निश्चवारमक बुद्धि (बुद्धिश्रंध्यवसायिनी) के रूप मे अभिव्यक्त होता है, और 'रजस्' पक्ष 'प्रारा' के रूप मे। 'बुद्धि' रूपी 'महत्' का 'सत्व' पक्ष धर्म, प्रज्ञान सिद्धियो एव 'वैराग्य' के रूप में प्रभित्यक्त होता है भीर 'तमस्' पक्ष अधर्म, सन्नान, राग एव दौर्वस्य के रूप ग्रभिव्यक्त होता है। 'महत्' तस्व मे सामान्य इन्द्रिय शक्ति सम्पन्न होती है

भन्युनानितिरक्त यह गुरा साम्य तमोमय तत् सार्स्ययंगता भूत यकृतिवर्षति कथ्यते । कमावतीशाँ यस्तत्र बतुर्वनुतुगः दुमान् समस्टिः पुरशं योतिः स कृष्टस्य इतीयते यत् तत् काससयं तत्यं वगतः सम्यकालन स तयोः कार्ममास्थाम सयोजक-विभावक ।

<sup>-&</sup>quot;ग्रहिर्बु ध्न्य-संहिता" ७:१-३।

मृत्यिण्डीभूतम्मैतन्तु कालादि-वितय मुने विष्णोः सुदर्शनेनैन एवस्य-कार्य-प्रवोदितं महदादि-पृधिव्यत-तत्व-वर्गोपवादकम् ।

<sup>-</sup>वही, ४।

कृटस्यो यः पुराप्रोक्तः पुमान् ब्योम्न. पराद् दवः मानवो देवताद्याश्य तद्-ब्यष्ट्य इतीरिताः । जीव-भेदा मृने सर्वे विष्या-भृत्यांश-कास्मताः ।

<sup>-</sup>बही, ५८

विसके द्वारा विषयों को जानारमक वृत्तियों के रूप में जात किया जाता है. महत में 'महंकार' भी उत्पन्न होता है, जिसमें एक ज्ञाता एवं मोक्ता के रूप में व्यक्ति के समस्त क्रमध्यों के संगठन की संकल्पना का समावेश होता है (अभिमान)। इसका आश्रय यह प्रतीत होता है कि 'महत्' तत्व स्वयं को इन्द्रिय-शक्तियों एवं ज्ञाता की भाँति स्पवहार करने वाले व्यक्ति के रूप में अभिव्यक्त करता है, क्योंकि यही वे प्रकार हैं जिनके माध्यम से बुद्धि अपने स्वरूप की अनुभूति करने में समर्थ होती है। 'आहंकार' का 'सारिवक' पक्ष 'वैकारिक' कहा जाता है, 'राजस' पक्ष तिजस' तथा 'सामस' पक्ष 'भूतादि' कहलाता है। यहाँ यह संकेत करना उचित होगा कि सांख्य का यह विवरण शास्त्रीय सांस्य से बहुत अन्तर रखता है, क्यों कि इसमें इन्द्रिय-शक्ति 'अहंकार' से पूर्व जल्पन्न होती है न कि 'बहुंकार' से, तथा जबकि 'बहुंकार' का विकास ईश्वर की विचार-प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न एक प्रचक तत्व का विकास माना जाता है, तब इन्द्रिय-शक्ति 'बुद्धि' या 'महत' का प्रकार ही मानी जाती है न कि प्रथक तस्त । ईश्वर की विचार-प्रक्रिया द्वारा 'ग्रहंकार' से विकसित होने वाली एक-मात्र 'इन्द्रिय-शक्ति' 'मनस' या चितनात्मक इन्द्रिय है (चितनात्मक झहंकारिकम् इन्द्रियम्) । 'भतादि' क्ष्म 'बहंकार' के तमस् पक्ष से 'शब्द-तन्मात्र' उत्पन्न होती है, बौर उससे 'ब्राकाश' सस्य की उत्पत्ति होती है। 'धाकाश' यहाँ दो प्रकार का माना गया है, एक तो शब्द को बारण करने वाला, और दूसरा अवकाश को अभिष्यक्त करने वाला (अवकाश प्रदायि) । 'वैकारिक झहंकार' से ईश्वर की विचार-प्रक्रिया द्वारा श्रवस भीर वाक् इन्द्रियाँ तत्वों के रूप में उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार 'मुतादि' से 'स्पर्श-तन्मात्र' उत्पन्न होती है और फिर इससे वायू उत्पन्न होती है जो सुलाती है, नोदन करती है. हिलाती है एवं संपिण्डन करती है, पुन:, ईश्वर की विचार-प्रक्रिया द्वारा स्पर्शेन्द्रिय एवं इस्तेन्द्रिय उत्पन्न होती है, तथा इसी ढग से 'भतादि' से 'रूप-तन्मात्र' उत्पन्न होती है. भीर उससे 'तेज' तत्व उत्पन्न होता है, 'वैकारिक' से भी चुच्चेन्द्रिय एवं पदैन्द्रिय उत्पन्न होती हैं, 'भूताबि' से 'रस-मात्र' उत्पन्न होती है और उससे बाप तत्व उत्पन्न होता है, तथा 'बैकारिक' से भी हब्येन्द्रिय एवं पदेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं, 'मृतादि' से 'रस-मात्र' उत्पन्न होती है और उससे माप तत्व उत्पन्न होता है, तथा 'वैकारिक महकार' से रसेन्द्रिय व जननेन्द्रिय उत्पन्न होती है, 'भूतादि' से 'गन्य-मात्र' उत्पन्न होती हैं। संकल्प-शक्ति. ऊर्जा धौर पांच प्रकार के 'प्रारा,' 'मनस', 'श्रहंकार' एवं 'वृद्धि' से संयुक्त रूप में उत्पन्न होते हैं। हरि, विष्णुया ईश्वर की 'शक्ति' एक है, किन्तु वह मौतिक शक्ति नही है जिसमें यांत्रिक किया समाविष्ट होती है, किन्तु वह एक धर्ष में ईरवर के समांग है, तथा विश्वद्ध झारम-निर्धारित विचार के स्वरूप की है (स्वच्छत्द-चिन्मय), लेकिन वह साधारण विचार के स्वरूप की नहीं है-जिसमें विशेष सामग्री एवं विषय होते हैं-बल्कि वह सब्यक्त विचार है, ऐसा विचार जो ज्ञान-मुलक किया में (ज्ञान-मूल-कियारम) व्यक्त होकर ज्ञाता-जेय के रूपों में विकसित होने वाला है।

यही ज्ञात-मुलक किया धारणा-विच्छेद द्वारा वो क्यों में विश्वक होती है (द्विधा-मावय्-ध्वच्छित)—'मावक,' इंदवर के थांकार' के क्या में तथा 'आक्य,' 'महति' के क्य में । 'मावक' के द्वारा ही 'माव्य' का विकास होता है, तथा उसका विविध्व तथां में विखिच्दीकरल होता है। इंदवर के विचार की प्रकमित किया का तारायं केवत उसके निर्वोध स्वच्य से है, वह स्वच्य जो बिना किसी बाचा के सम्यक ध्वस्था से स्वक्त स्ववस्था में क्यांतरित हो बाता है। इंदवर की विचार-खोक का यह निर्वाध प्रवाह ही उसका संकल्प, प्रत्यय या विचार (बुदधंनता) कहा जाता है।' इस प्रकार 'महति' मी इंप्वर के विचार की विच्यता या सामग्री को सूचित करती है भीर उसे एक स्वरंग मीतिक तत्व के रूप में ध्यवहार करने का तमी ध्वस्यर मिलता है जब इंप्यर की शक्ति के शाल्य-विच्छेर के कारण विचार-खोक को ऐसे विचय की प्राय-व्यवका होती है जिसके माध्यम से वह प्रपत्ना प्रारम-नाम कर सने।

'अहिंदु प्य-संहिता' के एक अन्य अध्याय में कहा गया है कि यह सक्ति अपनी मीतिक स्रवस्था में सुद्ध नीलता (स्वीयत्यक्य) अथवा सुद्ध सुन्यता (सुन्यत्य-स्पिएी) के रूप में तकत्य्वत की जा सकती है तथा वह स्थपने सव्याजीय उन्नेय के ही स्वयं को गित्यील बनाती है। " यही उन्मेय को आप ही आप में से उत्याय होता है एवं आप अपना है, इंस्वर के विचार समया उचकी आदम-विक्केष्ट की किया, या एक से अनेक होने को इच्छा के रूप में विद्यात किया बता है। समस्त मुख्य इसी आत्य-स्कृति से अपनय होती है, वृद्ध-रचना कोई ऐसी बटना नहीं है जो एक विशेष उत्याय में पिटत हुई हो बदन वह इंस्वर की इस सिक्त का आव्यत उन्मेय है जो स्वय को शास्त्रत कुई हो क्या के रूप में अधिकारक करता है, एक आवस्त्र एवं सत्त आत्मिक्यांकि है। किया 'वीयें 'तेजन्' अथवा 'वन' या 'ईस्वर' इसी शक्ति के विभिन्न पहलू हैं। इंस्वर का 'वन' इस त्या में निहित है कि यह अपने सावस्त्र एवं सत्तन सृष्ट-रचना के रूप में कमी थकता नहीं है, उत्याप इस कारण उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। " उसका ती कमी बक्ता करती है, तथानि इस कारण उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। " उसका तिज्ञ होता के स्था में किया करती है, तथानि इस कारण उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। " उसका तिज्ञ होता में किसी

भव्याधातस्तु यतस्य सा सुदर्शनता मुने
 ज्ञान-मूल-कियारमासो स्वच्छः स्वच्छन्द-चिन्मयः।

<sup>-</sup>महिन् ज्य-संहिता, ७:६७।

<sup>ै</sup> स्वातंत्र्याद एव कस्माधित् कवित् सोन्मेषम् ऋष्यति । -वही, ५:४।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> सततं कूर्वतो जगत ।

<sup>-</sup>बही, २:५६।

तस्योपात्रान-माबेऽपि विकार-विरहो हि यः वीर्यनाम गुणः सोऽयमच्युतस्वापराञ्चवम् ।

<sup>-</sup>बही, २:६०।

प्रकार से बंब की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता' ग्रीर इस शक्ति की भारम-स्कृति ही जगत् की सुष्टा 'कल्' त्व' शक्ति मानी जाती है। इंश्वर का वर्शन शुद्ध-चैतन्य स्वरूप एवं शक्ति-स्वरूप दोनों प्रकार से किया गया है। ईश्वर की सर्वज्ञता उसके बैतन्य की सर्व-व्यापकता में निहित है, और जब वह सर्वज्ञता की नीखता तथा भेद-रहित शुन्यता के रूप में धारम-पूर्ण स्थिर चैतन्य धपना विच्छेद करता है धीर सजनात्मक कार्य में प्रवृत्त होता है, तब वह उसकी 'शक्ति' कहा जाता है। इसी कारण इंदवर की शक्ति विचार-प्रकिया रूपिणी (ज्ञान-मूल-कियात्मक) मानी जाती है। यह शक्ति या चैतन्य ईश्वर का बंश मानी जा सकती है, अतएव उससे एक-रूप मानी जा सकती है, तथा उसका विशिष्ट लक्षण या गूल मानी जा सकती है, यही शक्ति स्वयं को चेतनता व उसके विषय (चेत्य-चेतन), काल एवं उससे मापी जाने बाजी सर्व वस्तुचो (कास्य-काल), व्यक्त एवं ग्रव्यक्त (व्यक्ताव्यक्त) मोक्ता एवं भोग्य (मोक्ता-मोग्य), देह एव देहिन के रूप में विभक्त करती है। " मधु-मिन्सयों का छता जिस प्रकार कोषो की एक बस्ती होता है उसी प्रकार 'पूरुष' भी जीवा के सगठन से निर्मित एक बस्ती या संगठन के रूप में सर्काल्यत किया गया प्रतीत होता है।3 'पुरुष' स्वय में धपरिवर्त्तनशील (कूटस्य) माने जाते हैं, किन्तु फिर भी वे ब्रनादि बासनाम्रो की प्रबुद्धताम्रो से कृष्ठित होने के कारण स्वय में विशुद्ध होने पर भी प्रशुद्ध माने जाते हैं। व स्वय में सर्व क्लेशों से पूर्णतः अप्रमावित है और ईश्वर के स्वरूप के ग्रश होने के कारण सर्वज्ञ एव नित्य मुक्त होते है। किन्तु 'पुरुष' ईश्वर की सकल्प-शक्ति भयवा उसकी शक्ति की सजनात्मक किया से उत्पन्न 'नियति' के कारश 'घविद्या' से प्रमावित हो जाते हैं और धनेक क्लेशों से पीडिल होते है, तथा उसके फलस्वरूप उनका स्वरूप उन्हीं से छिप जाता है और वे सर्व, प्रकार के सूल-दुल:मय पुण्य एव पाप के अनुमवों का मांग करते हुए प्रतीत होते हैं, और इस प्रकार प्रभावित होकर वे सर्व प्रथम तो ईश्वर की सूजनात्मक 'शक्ति' से सम्बन्धित होते हैं, तथा फिर जब यह शक्ति अपना विकास 'नियति' रूपी 'काल'-तत्व के रूप में करती है, तब वे उस 'नियति' से सम्बन्धित होते हैं, और फिर जब सर्वग्राही 'काल' तत्व के रूप में तीसरी प्रक्रिया होती है तब वे 'काल' तत्व से सम्बन्धित होते है, तथा फिर जब 'काल' से धीरे-धीरे 'सत्व', 'गूग्' विकसित होते हैं, 'रजस्', 'गूग्,', 'सत्व' से तथा 'तमस्

वही, ५:६-१२।

-बही, २:६१।

-वही, ६:३३।

सहकार्यनपेक्षा या तत् तेजः समुदाहृतम् ।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> सर्वात्मनां समस्तियां कोषो मधु-कृतिमव ।

शुद्धवाशुद्धिमयो मावो भूतैः स पुरुषः स्मृतः सनादि-वासना-रेश्-कुष्ठितैग्रत्मिमिष्टिचतः ।

<sup>-</sup>वही, ७:३४।

गूरा' 'रजस्' से विकसित होते हैं, तब 'पुरुषो' की बस्ती पहले 'सत्व' से, फिर 'रजस' से व फिर 'तमस्' से सम्बन्धित होती है। जब वे 'मुएा' विकसित होते हैं तब यद्यपि तीनों 'गुरा' मुजनात्मक कार्य के लिये विश्व वहाते हैं तथापि वे अपने सभी अशो में विभुव्य नहीं होते हैं, 'गुर्गों' के सम्मिश्रम् के कुछ प्रश्न साम्यावस्था में बने रहते हैं तथा गुर्गो की इस साम्यावस्था को 'प्रकृति' कहा जाता है।" ईश्वर की मुजनात्मक शक्ति से लेकर 'प्रकृति' तक विभिन्न तत्वों के विकास का विवरण 'महिबु ज्य' के सातवें श्रध्याय मे नहीं दिया गया है, जिसका निष्टिचत रूप से कपिल के सांख्य-दर्शन के रूप में वर्णन किया गया है, यह तो केवल सांख्य के उस विवरण के पूरक के रूप में दिया गया पचरात्र का विवरता है, जो 'गृराों' की साम्यावस्था 'प्रकृति' से तत्वों के विकास के कथन से प्रारम्भ होता है। 'ग्रहिबुं ज्य-संहिता' के पंचरात्र के विवरण के ग्रनुसार 'पुरुषां' की बस्ती या मण्डल एक प्रधान तत्व है जो ईश्वर की स्वविकसित शक्ति से प्रारम्भ से ही सम्बन्धित होता है, 'प्रकृति' के विकसित होने से पूर्व सभी तत्वों से उसका सम्बन्ध प्रत्येक चरण पर बना रहता है, और तत्पक्वात् 'प्रकृति' से विकसित होने वाले ब्रन्य सभी तत्वों से भी वह सम्बन्धित रहता है। 'ब्रहिब्र्ं ब्न्य-सहिता' में पाये गये कांपल-सांस्य के विवरण के अनुसार 'पुरुषा' का यह सगठन एक अपरिवर्त्तन-सील तत्व माना गया है जो तत्वों के विकास-कम से प्रारम्भ से ही सम्बन्धित रहता है और उनके विकास की कमानुगन धवस्थाची में से उत्तरोत्तर गुजरता हुआ पूर्ण मानव अवस्था तक पहुँचता है जहाँ विभिन्न इत्द्रियो एवं स्थूल तत्वों का विकास होता है। जहाँ शास्त्रीय साल्य प्रत्यों में 'पुरुषो' को वासनाझों एव क्लेशो से सर्वथा झछूता माना जाता है, जहां 'ग्रहिब्र्ंध्न्य-सहिता' के श्रनुसार (जैन मत के समान ही) 'पूरुप' स्वय में सृद्ध होने पर भी वासनान्नो एव क्लेकों की अगुद्धतान्नों से आञ्छादित माने जाते हैं, पुन- जहाँ शास्त्रीय सास्य यह मानता है कि जन्म एवं पुनंजन्म की अनन्त भू लला मे 'कर्म' के माध्यम मे 'वासनाएँ' मनादि रूप से उत्पन्न होती हैं, जहाँ 'पचरात्र' के विभिन्न 'पूरुष' ईश्वर की इच्छा के अनुसार विभिन्न 'वासनाद्यो' से मूलतः सम्बद्ध रहते है। शास्त्रीय सांस्थ के विवरण के विपरीत (जहाँ 'वासनाम्रो' को 'बृद्धि' या 'चित्त' के रूप में 'प्रकृति' का ग्रग माना जाता है) यहाँ वासनाम्नो को 'पृथ्यां' की मूल बाह्य प्रशुद्धता माना गया है। किन्तु यह सम्भव है कि वासनाध्रों तथा ईश्वर की संकल्प-शक्ति के द्वारा 'पुरुषों' के साथ उनके मूल साहचर्य का यह विवरण कपिल के 'षष्टितत्र' का माग नहीं या, लेकिन 'ग्रहिर्बुब्ज्य' के लेखक द्वारा एक पूरक सिद्धान्त के रूप मे जोड़ दिया गया है, क्योंकि इसका 'अहिबूं ब्ल्य' के सातवें

चोधमानेऽपि सृष्ट्यार्थम् पूर्णं गुरा युनं तदा
 मंत्रतः साम्यमायाति विष्णु-संकल्प-चोदितम् ।

सम्बास में बहु सांस्थ-स्थेत का निरूपण किया वता है, कोई उस्लेख नहीं है। 'पीला' में वाये समे सांस्थ-सत की ब्यास्था नहीं मान इति के दितीय सन्य में दी यह है, तथा इससे स्पट हो बादगा कि यहारि 'गीला' का विवरण सध्यवस्थित एवं सर्पष्ट है सौत उसमें महत्वपूर्ण वालें कुट वर्ड है, तथापि वह प्रधानतः ईश्वरवादी है तथा 'सांहित्रुं क्या' में दिये गये किसन-तास्थ से गहरा सन्यन्व रखता है, स्रतएव 'संस्थ-कारिका' से बाहनी सांस्थ-कारिका' से बाहनी सांस्थ-कारिका' से बाहनी सांस्थ-कारिका' से बाहनीय सांस्थ-कारिका' से बाहनीय सांस्थ-कारिका' से बाहनीय सांस्थ-कार्यक से मुनतः निष्ठ है।

'मागवत' के ग्यारवें खण्ड के बाईसवें प्रध्याय में सांच्य की विभिन्न शासाओं का उल्लेख भाषा है जो तत्वों की संख्या भिन्न-भिन्न मानती है। इस प्रकार कुछ सांस्यवादी नौ तत्व मानते हैं, कुछ ग्यारह, कुछ पांच, कुछ छन्वीस, कुछ पञ्चीस, कुछ सात, कुछ छः, कुछ चार, कुछ सत्रह, कुछ सीलह और कुछ तेरह । उद्धव ने मगवान इप्ला को इन विमिन्न विपरीत मतों का सामजस्य करने की प्रार्थना की । उत्तर में भगवान कृष्णुने कहा कि तत्वों की यह विभिन्न ग्रामा निस्नतर तत्वों के उच्चतर तत्यों को सूप्त कर देने से उत्पन्न हुई है-जैसे कुछ कार्य-तत्वों की उपेक्षा कर दी जाती है (क्योंकि वे पहले ही से कारण में समाविष्ट हैं) अथवा कुछ कमिक कारण-तत्वो की उपेक्षा कर दी जाती है (क्योंकि वे कार्य में विद्यमान हैं)। इस प्रकार ऐसी सांस्य शास्ताएँ हो सकती हैं जिनमे तन्मात्राओं की गराना नहीं की जाती है धयना जिनमें स्थुल महाभूतो की तत्वों में गए। नहीं की जाती है। इन सभी उदाहरएों के बाधार में यह सिद्धान्त है कि कुछ विचारक 'तन्नात्राम्रों' की गरगना इसलिये करना नहीं चाहते में कि वे स्थूल महाभूतों ने पहले ही समाविष्ट हैं (घटे मृद्वत), तथा बन्य विचारकों ने स्थूल महाभूतो की गए। नहीं की क्यों कि वे 'तन्मात्राद्यों' में समाविष्ट विकास तस्व है (मृदि घटवत्)। किन्तु मतभेद न केवल 'प्रकृति' से विकसित तत्वों के सम्बन्ध में है, बल्कि 'पूरुवो' और ईश्वर के सम्बन्ध मे भी है। इस तरह 'प्रकृति' सहित जीबीस तत्व हैं, 'पृष्व' को प्रवीसवां तत्व गिना जाता है.

कित तत्वानि विश्वेश सास्त्रातान्य् ऋषिमः प्रभो नव-एकादश एच त्रीव्यथा त्वम् इह सुत्रुप कैचित् वङ्गिसर्ति प्राहुप्रैपरे पंचविश्वति सर्त्तके नव-वट केविश्वत्वार्येकादशावरे

केचित् सप्तदश प्राहुः वोडशैके त्रयोदश । - इलोक १, २ ।

अनुप्रवेशं दशंयति एकस्मिन्नपीति पूर्वस्मिन् कारलामूते तत्वे सूक्ष्म-क्षेण प्रविष्टानि मृदि षटवत् । अपरस्मिन् कार्य-तत्वे कारल-तत्वानि अनुगतत्वेन प्रविष्टानि बटे मृद्वत् ।

<sup>- &#</sup>x27;श्लोक' द पर श्रीधर की टीका।

मार्गवत पुराख ] [ ४७

सथा ईश्वरवादी सांस्य के अनुसार ईश्वर को छम्बीसवां तस्य गिना जाता है। यह बापित उठाई जा सकती है कि तत्वों की विभिन्न गराना के सामंत्रस्य का उपयुक्त सिद्धान्त (कार्य-तत्वो का कारण में उपनय अथवा कार्य-तत्वों की उपेक्षा) यहाँ लागू नहीं किया जा सकता । ईरवरवादी सांस्य ईरवर को इस बाबार पर स्वीकार करता है कि 'पूरवों' को आत्म-ज्ञान प्रदान करने वाली कोई सत्ता होनी चाहिये क्योंकि वे स्वतः उसे प्राप्त नहीं कर सकते । यदि इस मतानुसार छुव्बीस तत्वों को सत्य समभा थाय, तब पबीस तत्वों को मानने वाले ग्रन्य मत से इसका सामंजस्य नहीं किया जा सकता । इस बापत्ति का यह उत्तर है कि 'पुरुष' एवं ईश्वर के स्वरूप में कोई बांतरिक भेद नहीं है, स्योकि वे दोनों बुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं। यह बापित्त उठाना कि इस मान्यता के अनुसार ईश्वर द्वारा प्रदल बात्म-ज्ञान एक पृथक तत्व गिना जाना चाहिये त्रटिपुर्श है, बयोकि झारम-कान कान होने के नाते 'प्रकृति' के 'सरव गूरा' की पराकाच्टा मात्र है बतः वह प्रकृति में ही समाविष्ट हो जाता है। ज्ञान 'पृष्व' की विशेषता नहीं है बर्रिक 'प्रकृति' की विशेषता है। साम्य की वह प्रवस्था जिसमें 'गुएों' की विशिष्टता अभी अभिव्यक्त नहीं हो पाई है 'प्रकृति' कहलाती है। साम्यावस्था के विक्षोभ से 'गुलो' की अभिव्यक्ति होती है, सतएव 'गुलो' को 'प्रकृति' के विशेषण मानना चाहिये। 'पुरुष' कर्त्ता न होने के कारण ज्ञान की ग्रपनी विशेषता नहीं बना सकता । श्रतः समस्त किया रजस से उत्पन्न होने के कारण तया समस्त अज्ञान तमस से उत्पन्न होने के कारण, किया एवं बज्ञान भी 'प्रकृति' के श्रम माने जाने चाहिये क्योंकि ईश्वर के कर्तत्व से ही 'गुलों' का सम्मिश्रण होता है, वह गुराो के मिश्ररण का काररण माना जाता है। जो मत 'काल' को 'गुराों' के मिश्रण का कारण मानता है वह इसी तच्य पर आधारित है तथा इसी कारण से श्रुतियों में 'काल' को इंदवर का नाम माना गया है। 'महतू' तत्व से समी का विकास होने के कारण, वह स्वय 'स्वमाव' कहा जाता है। इस प्रकार 'काल' ग्रीर 'स्वभाव' को जगत के मूल कारण मानने वाले परस्पर विरोधी मनों का उपरोक्त व्याल्या के बनसार सांस्य से सामजस्य किया जा सकता है।

 भीर देश्वर को स्वीकार करते हैं, तथा इस प्रकार तेरह तत्व मानते हैं। सन्य पौच इंद्रिय-विषयों, पौच झानेदियों तथा इंद्रिय को मिलाकर स्थारह तत्व मानते हैं। स्वाति 'महति', 'महत्', 'सहंकार,' पौच 'तन्मात्राएं' तथा 'पुरुष'-ये नी तत्व भागते हैं।

सेद है कि साल्य की उपयु क शांकाओ तथा उनके सामजस्य के हेतु किए प्रयत्नों के सम्बन्ध में 'भागवत' में पाये गये उल्लेख के मतिरिक्त इन सिद्धान्तों के मौलिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सके हैं जो आयवत के लेखन-काल से बहुत पहले विद्यमान रहे होंगे। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, 'भागवत' की सेश्वर साख्य-मत में ही अभिरुचि है, तथा वह साख्य की विपरीत शासाधी का एक ही विचार-शासा के रूप में सामंजस्य करने का प्रयत्न करता है। उसकी आगे यह धारणा है कि 'प्रकृति' एव उसकी अभिव्यक्तियाँ ईरवर की विविध 'माया' शक्ति की किया से उत्पन्न होती है। 'प्रलय' काल में ईक्वर स्वय से पूर्ण तादात्म्य बनाये रखता है, तथा 'गूर्ण' जो उसकी 'माया' काक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं, साम्यावस्था में रहते है-ऐसी अवस्था जिसमे उसकी समस्त शक्तियाँ मानो सुप्त रहती हैं। अपनी अतर्निहित शक्ति के द्वारा वह अपनी स्प्त शक्ति की साम्यावस्था को विकाय करता है तथा स्वय को सच्टि-रचना-'प्रकृति' व उसके विकास तत्वों की रचना मे लगाता है भीर इस प्रकार उनका अपने वश-रूप 'जीवो' से साहचर्य स्थापित करता है, जो जगत के दैतानुभव से भ्रमित होते है, उसका उपभोग करते हैं व उसके लिये पीडित होते हैं और वह उनको वेदों के द्वारा उपदेश देकर उन्हें सम्यक् मार्ग प्रदक्षित केरता है। श्री अत्मा अपने अनुभवातीत स्वरूप मे विगुद्ध अनुभव है बतएव किसी प्रकार की वस्तुगत आकृति से रहित है एव उससे पूर्णतः प्रखुता है । उसकी वस्तुगतता तथा विषय-सामग्री से साहचर्य स्वप्त-मृद्धि की भौति मिथ्या है, और उन्हें 'माया' से उत्पन्न समभाना चाहिये।

भ स वे किलाय पुरुष: पुरावनो य एक प्रासीद् प्रदिवाच प्रारमि प्रधे गुण्डेमा वनद्द-मारमनीश्वरे तमोसितात्मम् निश्चि मुप्त-शक्तियु स एव भूयो निव-वीर्य-वीरित स्व-नीव-माचा प्रकृति सिन्छलीम् प्रताम-क्यारमित क्य-नामनी विभित्तमानीऽनुसत्तार सारवकृत् ।

<sup>-&#</sup>x27;भागवत' १:१०, २१, २२।

भारमा-मायाम् ऋते राजन् परस्यानुभवात्मनः
 न घटेतार्थसम्बन्धः स्वप्नदृष्टुर् इवाञ्जता ।

<sup>-</sup>बही, २:६:१।

'अनुमन-स्वरूप' सत्ता के रूप में 'पुरव' का विजेदीकरण किया जाना चाहिए तथा 'आन्वय-व्यन्तिरेक' विधि के द्वारा उसे जावत, स्वप्न एवं सुद्रुप्ति अवस्थाओं की सामधी के रूप में पाई जाने वाली जवल मानसिक अवस्थाओं से निम्न चीन्हा जाना चाहिये। कारण यह है कि मानसिक धवस्थाओं में क्षाविष्ट, विधि भ्रेपों की अनुमब-सामग्री में जो मुक्ता-माला में विध्यमान सुन्न के बहल स्थिर बना रहता है, वह विश्वद्ध अनुवय-कर्ती है, 'पुरुव' है। अत्तर्थ पुरुव' को मानसिक अवस्थाओं की उस सामधी से निम्न सममना चाहिये जिसे वह अकाश्वत करता है।'

#### मरखोत्तर अवस्था-सम्बन्धी सिद्धान्त

'मागवन पुराए" के ३:३२ में यह मत प्रविध्य किया गया है कि जो व्यक्ति यह का प्रमुख्यान करते हैं तथा देवताओं एवं पितरों को मेंट बढ़ाते हैं वे मुख्य के उपरान्त बन्द्रस्तीक में वाते हैं, वहां से वे पृथ्वी पर पून: नौट बाद है, किया जो स्मित्त करते हैं, मन एवं हुदय से घुढ़ और सामारिक बस्तुकों से धनावक रहते हैं, वे मुख्य के उपरान्त पूर्य: नोक में जाते हैं और वहां से वे जगत के कारए। कथ 'सार्थभीम तत्व' में जाकर मिल जाते हैं। परन्तु जो व्यक्ति देत की धारणा से प्रवित्त रहते हैं वे सुख्य के उपरान्त मारण होते हैं और तरास्थान धारणे कर्मानुसार जवान में पूर्वजम्म लेते हैं। जो व्यक्ति इच्छाओं से पूर्ण साधारणा जोवन व्यतित करते हैं तथा धपने पितरों को मेंट व्यति हैं के प्रवृत्त साधारणा जोवन व्यतित करते हैं तथा धपने पितरों को मेंट व्यति हैं उने प्रवृत्त साधारणा जोवन व्यतित करते हैं तथा धपने पितरों को मेंट प्रवृत्त हो इन्हें प्रवृत्त नो क्षामण दिवाल मार्ग ने पितरों के नोक में जाना पड़ता है, और फिर वे प्रपनी सनाम की व्यत्तर-परारा में पून: जन्म नेते हैं।

किन्तु ११:२२, ३० मे हमे घषिक युक्तिसगत मत मिसता है। यहाँ यह कहा गया है कि मनुष्यों का 'मनस्' उनके कमों एव उनके कारणों से प्रशिक्याप्त हो जाता है तथा यह मनस् ही एक बारीर से दूसरे बारीर में प्रवेश करता है। 'भारसन्' इस मनस् का प्रनुसरण करता है। 'भागवत पुरास्' के सुपरिचित टीकाकार श्रीधर यहाँ

भ्रम या 'माया' की परिभाषा यह दी जाती है कि माया वह है जो मसत् विषयों को भ्रभिव्यक्त करनी है, किन्तुस्वयं भ्रभिव्यक्त नहीं होती।

ऋतेऽयँ यस्त्रतीयेत न प्रतीयेत चारमनि

तद् विद्यदात्मनो मायां यथाभासो तथा तमः । वही, २:६:३३ ।

भ्रत्वय-व्यतिरेकेग् विवेकेन सतात्मना

सर्ग-स्यान-समाम्नागैर विमृश्नद्भिर्सस्वरैः

बुषेर जागरणं स्वय्नः सुबुष्तिरिति वृत्तयः

ता यैनेवानुभूयन्ते सोऽज्यकाः पुरुषः परः । -बही, ७:७, २४, २४ ।

'मनस्' का सर्च 'लिंग-सरीर' से लेते हैं और यह मत अपनाते हैं कि 'आत्मन्' अहंकार से पीड़ित 'मनस्' का अनुसरण करता है। 'मायवत पुराग्त' का आगे यह मत है कि 'कमें' की भवितव्यता के द्वारा मनस् देखी व सुनी गई वस्तुओं का चितन करता है तथा कमक्ष: उनके सम्बन्ध में अपनी स्मृति को सो बैठता है। अन्य शरीर में प्रविष्ट होता हुया यह 'मनस' इस प्रकार पूर्व शरीरों के धनुमवों को विस्मृत कर देता है, श्रतएव मृत्यु की परिमावा पूर्ण विस्मृति के रूप में दी जा सकती है (मृत्युरत्यंत-विस्मृतिः ११:२२, ३६) । जन्म का सर्व है नवीन सनुमवों की स्वीकृति । श्रीधर बताते हैं कि पुराने शरीरों के सम्बन्ध में बहुंकार की किया के समाप्त होने तथा नवीन शरीर के सम्बन्ध में बहंकार की किया के विस्तरण से जन्म चटित होता है। जैसे व्यक्ति अपने स्वप्नों को स्मरल नहीं कर सकता वैसे ही वह अपने पुराने अनुमवों को विस्मृत कर देता है, तथा यह स्थिति मृत्यु के अनुकृत्तित हो जाती है। जन्म के समय, सदा अस्तित्व रक्षने बाला झारमन् नवीन जन्म बहुगा करता-सा प्रतीत होता है। धारमन् का शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित करके व्यक्ति अपने अनुभवों को आंतरिक एवं बाह्य मागी में विभक्त करता है। वस्तुतः शरीर सतत नष्ट होता रहता है एवं उत्पन्न होता रहता है, किन्तु ऐसे परिवर्त्तन सुक्ष्म होने के कारण ध्यान में नहीं आते। जिस प्रकार दो क्षाणों में एक ही ली भस्तिस्व नहीं रख सकती अथवा दो मिन्न क्षाणों में एक ही बहती सरिता विद्यमान नहीं हो सकती, उसी प्रकार शरीर भी दो विभिन्न क्षराों में मिन्न होता है, यद्यपि अपने अज्ञान के कारए। हम मान लेते हैं कि एक ही शरीर विविध स्थितियों व अवस्थाओं से गुजरता है। किन्तु यथार्थ मे कोई भी 'कमं' के द्वारा न तो जन्म लेता है और न मरता है। यह सब भ्रमों की चित्रायली मात्र है, जैंसे श्रीन ताप के रूप में बाहर प्रस्तित्व रखकर भी लकड़ी के लट्टों के साथ जलती हई प्रतीत होती है। शरीर की विभिन्न सबस्थाओं के रूप में जन्म, शैशव, यौवन, जरायुव मृत्यु के प्रतिभास मनोराज्य मात्र हैं। वे केवल मूल पुद्गल, 'प्रकृति' की श्रवस्थाएँ हैं जो भ्रम के कारण हमारे जीवन की अवस्थाएँ मान ली जाती हैं। एक व्यक्ति अपने पिता की मृत्यु तथा अपने पुत्र के जन्म को देखकर शरीरों के विनाश एवं उत्पत्ति की चर्चा कर सकता है, किन्तु कोई यह अनुभव नहीं करता कि अनुभवकर्ता स्वय जन्म एव मृत्यू का मागी होता है। आत्मन इस प्रकार शरीर से सबंबा भिन्न है। दोना में सम्यक विमेद स्थापित करने की अयोग्यता के कारण ही एक व्यक्ति इन्द्रिय विषयों मे आसक्त होता है भीर जन्म-मरण के चक में भ्रमण करता हुआ प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को नृत्य करते श्रववा गाते हुए देखकर उसके कार्यों का चनुकरण करने लगता है, उसी प्रकार 'पुरुष' स्वय की गति न रखते हुए भी गतियों के क्यापार में 'बुढि' के गुलों का बनुकरल करता हुआ प्रतीत होता है। पुन: जिस प्रकार कोई बहते हुए जल में इसों के प्रतिबिम्बों को देखता है तब बुझ स्वय धनेक प्रतीत होने लगते हैं, उसी प्रकार भारमन् स्वयं को 'प्रकृति' की गतियों में फंसा हुआ मानता

है। इसी के फलस्वरूप हमें वयन् के बनुषव तथा बन्य-गरण के वकों का प्रनुषव उपलब्ध होता है, यदि इसमें वे बस्तुक: किसी का प्रतिस्त नहीं है। घर हा हम देखते हैं कि बन्य और नृष्यु के सन्वरूप में 'बाववत पुराख' समान्य सांक्य एमें प्रवेशन्त पत के सहस्त है। वह नित्तन्तेह उपनिष्यों के साधारण नता को स्वीकार करता है कि मानव मूंप के सहस्त एक साथ ही धन्य सरीर को बहुल किमे विमा एक सरीर का स्वाम नहीं करता (भागवत पुराख, १०:१, १०-४४), किन्तु वह साथ ही बहु मत मी मानता है कि ऐसा बन्य एपं पुनर्जन्म सपने स्वयं के स्नाम सपना 'साम' के कारख होता है।

#### अध्याव १५

# मध्व भौर 'उनका सम्प्रदाय

#### मध्य का जीवन

भण्डारकर अपने ग्रन्थ 'Vaisnavism Saivism and Minor Religious Systems' में कहते हैं कि 'महामारत तात्पर्य-निर्णय' में मध्व ने अपनी जन्म-तिथि 'कलि' ४३०० दी है। इस प्रकार मध्य की जन्म-सिथि सन् ११६६ अथवा शक ११२९ होगी। भण्डारकर कहते हैं कि चैंकि कोई तो तिथि देते समय चालु वर्ष का उल्लेख करते हैं और कोई उसके पूर्व के वर्ष का, इसलिये शक ११२१ को शक १११६ माना जा सकता है। किन्तु वर्त्तमान लेखक 'महाभारत तात्पर्य-निर्णय' के एकमात्र मुद्रित सस्करण में इस तिथि को नहीं ढंढ सका है (शक १८३३ में टी॰ बार॰ कृष्णानार्य द्वारा प्रकाशित संस्करण)। लेकिन मण्डारकर इस समस्या की ओर एक अन्य मार्ग से भी अग्रसर होते हैं। उनका कथन है कि कई मठो में परिरक्षित सूची मध्य की तिथि शक १११६ देती है धीर चैंकि मध्य ७६ वर्ष तक जीवित रहे थे, ग्रनः उनकी जन्म-तिथि शक १०४० थी। किन्तुभण्डारकर मठ की सुवी मे दी गई निथि शक १९१६ को मध्य की जन्म तिथि मानते हैं, न कि देहावसान तिथि । वे कहते है कि श्रीकृर्म-स्थित कूर्मेश्वर मंदिर मे प्राप्त झालेल गजम जिले के एक तालुक मे है जहाँ भरहरि-तीर्थं ने एक मदिर बनवाकर उसमें शक १२०३ में नरसिंह की मृति स्थापित की बताते हैं (Epigraphica India भाग ४, पु॰ २६०)। उस शिलालेख में उल्लिखित प्रथम व्यक्ति पृष्ठवोत्तमतीर्थ है जो अच्यतप्रेक्ष ही है, फिर उनका शिष्य आनन्द तीर्थ है, फिर मानन्द तीर्थ का शिष्य नरहरि तीर्थ है। सम्भवतः नरहरि तीर्थ नर्रीसह ही थे जिन्होंने शक १११६ से १२२४ तक उपरोक्त तालुक का शासन किया। उनका उल्लेख शक १२१५ के श्रीकृषंनुस्थित शिलालेखों में भाया है, जो सम्राट के शासन का झठारहवां वर्ष बताया जाता है। यह सम्राट नरसिंह द्वितीय ये जिनकी 'एकावली' में प्रशस्ति की गई थी। बन्य शिलालेखों से प्राप्त नरहरि की तिथि शक ११८६ और १२१२ के बीच में बाती है। ये ग्राभिलेख इस परम्परा की पुष्टि करते हैं कि नरहरि-तीर्थं का सिक्रिय काल शक ११८६ से १२१५ तक प्रसारित था। उनके गुरु मध्य का देहावसान शक १११६ में धर्यात सडसठ वर्ष पूर्व, नहीं हो सकता था। सतः मण्डारकर मठ की सुची में उल्लिखित शक १११६ को मध्य की जन्म-तिथि मानते हैं न कि बेहानसान की तिथि। मध्य की यह जम्म तिथि सक-१११६ स्रयसा सन् ११६७-स्थिपसेन श्रीर क्रम्पस्वामी गृथ्यर द्वारा स्वीकृत की नई है तथा भवतक जस पर कोई आपत्ति नहीं उठाई गई है।

मध्य के जीवन के सम्बन्ध में कोई प्रामाशिक जानकारी नहीं है। उनके सम्बन्ध में हम जो कुछ जानते हैं उसे मध्य के वास्तविक शिष्य त्रिविकम के पूत्र नारायणा मट्ट बारा रचित 'मध्य-विजय' और 'मिरा-मंजरी' नामक मध्य के मास्यानात्मक व मर्थ-पौराशिक जीवन-चरित्रों से प्राप्त करना पडता है। कुछ जानकारी त्रिविकम पंडित के बज़ोगान से भी प्राप्त की जा सकती है। सब्ब शंकर के जन्मजात शत्र प्रतीत होते हैं। 'मिर्गु-मंजरी' में नारायण मट्ट मिर्गुमत नामक एक राक्षस की क्योल-कल्पित की कहानी प्रस्तुत करते हैं। मिर्गुमत किसी विधवा की वर्ग-संकर सतान था. श्रताव वह शकर कहा जाता था. शिव में धनुषह से वह सीराष्ट में 'शास्त्रों' में सिद्धहस्त हो गया. उसने 'सर्व-मार्ग' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया तथा उसका नीति-भारत स्वमाव के व्यक्तियो द्वारा ग्रमिनन्दन किया जाता था । उसने वेदान्त की धाड में वस्तुत: बौद्ध-दर्शन का प्रतिपादन किया । वह ब्रह्म को सब से एक-रूप मानता था । उसने अपने बाह्याल पोयक की पत्नी को छल निया, तथा वह अपने जादई चमत्कारो से लोगो का मत-परिवर्त्तन करता था। जब उसकी मृत्यू हुई तब उसने अपने शिष्यों का वंदान्त के सच्चे पडित सरयप्रश की हत्या करने का आदेश दिया, शंकर के अनुयायी ग्रत्याचारी लांग थे जो मठो को जलाते थे, मवेशियों को मार देते थे, धीर स्त्रियों व बच्चां की हत्या करते थे। उन्होंने अपने प्रमुख विरोधी प्रज्ञातीर्थं का बलपूर्वक मत-परिवर्तन किया। किन्तु प्रज्ञातीयं के शिष्य गुप्त रूप से सच्चे वेदान्त-मत के समयंक बने रहे, और उन्होंने अपने एक क्षिष्य को वैदिक शास्त्रों में पूर्ण पहित बना दिया। मध्य के गृह अच्यूतप्रेक्ष शकर के समकालीन सच्चे वैदिक गृह सत्यप्रज्ञ की शिष्य-परम्परा में उत्पन्न ऐसे ही यथार्थ गुरु के शिष्य थे।

मध्य बायु के प्रवतार थे। उनके धवनार का उद्देश्य या शकर के भूठे सिद्धान्तों को नष्ट करना, स्पौकि वे सिद्धान्त लोकायनो, जैनीं एवं पाशुपतों के सिद्धान्तों से प्रांषक समानता रखते थे, तथा उनसे भी प्रांषिक केंद्रदे व द्वानिकारक थे।

मध्य लध्यनेह मुट्ट के पुत्र वे जो भू गेरि से लगमग ४० मील पहिचम में स्थित उदिंपि के निकट रजतपीठ नगर में रहते थे। भू गेरि मे संकर का सुप्रसिद्ध मठ था। उदिंपि धव भी दक्षिणी कतारा में मध्य-मत का प्रमुख केन्द्र है। जिल प्रदेख में भ्रव धारवाड़, उत्तरी व दक्षिणी कनारा, धौर मैलूर राज्य के परिचमी भाग का समावेश होगा है, उसका प्राचीन नाम तुमुख (धायुनिक तुन) था, जहाँ ध्रिक्टिय मध्यों का निवास है। सन् १९१४ में लिसते हुए विधर्तन कहते हैं कि इस प्रदेख में लगभग ७०,००० मध्य रहते हैं। अस्म स्थानों पर वे स्विक हैं। परन्तु ग्रह ध्यान में रसना

वाहिये कि हैदराबाद के दक्षिए से लगाकर मंगलोर तक, सर्वात, सम्पूर्ण उत्तरी व दक्षिशी कनारा, बीर-बीब-मत का भी सबसे महत्वपूर्श केन्द्र माना जा सकता है-बीर-श्रीय-मत का निरूपण वर्तमान कृति के पांचवें सण्ड में किया जायमा । रजतपीठ ग्राम जहां मध्य ने जन्म लिया या सम्मवतः बाधनिक कल्यारापुर ही या । वे धन्युतप्रेक्ष के शिष्य थे, और दीक्षा के समय उन्हें पूर्णप्रक्र नाम प्राप्त हुया तथा तत्पश्चात् धानस्द-तीर्थ नाम मिला, वे इन दोनों नामों से प्रसिद्ध हैं। पहले तो उन्होंने शंकर के मत का ग्रध्ययनिकया किन्तु शीझ ही भपना स्वयं का विचार-संत्र विकसित किया जो संकर के मत का स्पष्ट विरोधी था। उन्होंने अपने पूर्व केशाचार्यों द्वारा लिखित इनकीस 'माध्यों' का खंडन किया, और नारायस भट्ट की 'मध्य विजय' के टीकाकार खसारि-नसिंहाचार्य के शिष्य श्रेष 'बह्मसुत्र' के इन टीकाकारों के नाम निम्नलिखित बताते हैं, मारती-विजय, संविदानन्द, बहुमोब, शतानन्द, बाग्मट्र, विजय, रूद्रमट्ट, वामन, यादवप्रकाश, रामानुज, मतु प्रपंत्र, द्रविड, ब्रह्मदत्त, मास्कर, पिशात्र, इतिकार, विजयमद्र, विष्णु-कान्त, वादीन्द्र, माधवदेशक, शंकर । रजतपीठपुर तक में उन्होंने एक बार अपने गृद अञ्चलक्षेक्ष से मिलने के हेत आये हए खंकर-मत के एक महान पंडित को हराया । फिर वे अच्युतप्रेक्ष के साथ दक्षिए। में गये और विष्णु-नगल नगर में पहुँचे । यहाँ से वे दक्षिण दिक्षा को गये और अनस्तपूर (आधुनिक त्रिवेन्द्रम) पहुँचे । यहाँ उनका श्रु गेरि मठ के शंकरानुयायियों से लम्बा शास्त्रार्थ हुन्ना। वहाँ से वे बनुष्कोटि एव रामेश्वरम गये. तथा विष्णु की उपासना की। उन्होने राह में कई विरोधियों को परास्त किया तथा रामेश्वरम में बार माह तक रहे, तत्पश्चात उदिपि लौट ग्राये। इस प्रकार दक्षिण में स्वयं को नवीन मत के नेता के रूप में स्थापित करके मध्य ने उत्तरी भारत का पयर्टन प्रारम्भ किया, और गंगा की पार करके हरिद्वार गये, तथा वहाँ से बदरिका गए, जहाँ उनकी ब्यास से मेट हई । व्यास ने उन्हें शकर के मिथ्या 'भाष्य' के लण्डनायं 'बहासत्र' पर एक बाध्य लिखने का घादेश दिया । फिर वे राह में कई शकरानुयायियो जैसे; गोदावरी के तीर पर निवास करने वाले शोभन मट्ट व अन्य लोगों का मत परिवर्तन करते हुए उदिपि लौट आए। अन्त मे उन्होंने अच्युतप्रेक्ष को अपने सिद्धान्तों के पक्ष में परिवर्तित कर लिया । 'मध्य-विजय' के स्वारहवे और तेरहवें बध्याय में हम श्रु गेरि यठ के अध्यक्ष महमतीयं द्वारा मध्य के उत्पीड़न की कहानी पढते है, जिसने मध्य द्वारा ब्रेरित नवीन मत की प्रगति में रोड़े भटकाने का भरकस प्रयस्त किया तथा मध्य के भन्यो तक को चुरा लिया। किन्तु जो विष्णामगल के स्वानीय राजकुमार की मध्यस्थता के द्वारा उनको लौटा दिए गए इस मत का प्रचार होता गया, और 'मिला-मंजरी' व 'मध्य-विजय' के लेखक नारायरा भट

मध्य विजय प्रध्याय ५:३०।

वही, भ०११, १७।

के पिता विविद्य पढित तथा सन्य कई सहत्वपूर्ण व्यक्ति मध्य मत के पक्ष में परिवर्तित हो गए। जीवन के संतिम वर्षों में मध्य ने दुन: उत्तर की तीर्थयात्रा की सीर वहां के स्वास से फिर मिले बताते हैं, सौर सभी तक उन्हों के साथ ठहरे हुए बताते हैं। वे उम्पासी वर्ष तक-वीवित रहे बताते हैं सौर सम्प्रवतः सक ११८८ समया तम् १२७६ में परलोकवासी हुए। वे पूर्णप्रक्ष, सानन्य-तीर्थ, नन्तीनीर्थ व बासुदेव स्नारि कई नामों से विक्यात वे।

मध्य-दर्यन का निम्नलिखित निरूपण सन् १८३० में लिखा गया था, प्रतएव वर्त्तमान लेखक को कुछ समय पूर्व प्रकाशित थी शर्मा की उत्तम कृति में दुबकी लगाने का ध्यवस्प नहीं मिल सका, बयोकि उस समय वर्तमान कृति मुद्रस्य के लिए तैयार थी। पर्मानामपुर के 'सध्य-सिद्धान्त-सार' में मध्य के सिद्धान्तों का सक्रियन निरूपण क्या गया है। मध्य ने मैतीस अन्य सिक्षे। उनकी गराना नीव को गई है।

<sup>&</sup>lt;sup>9</sup> मध्य पर अंग्रेजी में कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हए हैं। सबसे पूर्व का विवररण 'Account of the Madhva Gooroos' में मिलता है जिसे मेजर मैकेंजी ने २४ धनस्त १८०० में लिखा धीर जो 'Asiatic Annual Register' के सन १८०४ (लदन, १८०६) के श्रक में पु० ३३ पर 'Character' शीर्षक के अन्तर्गत छपा; एक एक विल्सन का लेख 'Sketch of the religious seats of the Hindus' जो Asiatic Rescarches लन्दन, १८६१ के खण्ड २५ व २७ के पु० १३६ से फिर छापा गया: कृष्णस्वामी एस्यर का 'Sri Madhva and Madhvaism सद्वास: चारः जीः अण्डारकर का Vaisnavism, Saivicism and Minor Religious Systems' खण्ड २२, 'Dharvar' बम्बई, १८६४; जी० बेन्कोवा राव का 'A sketch of the History of the Madhya Acharyas a) 'Indian Antiquary के बण्ड (१६१४) में खपना प्रारम्म होना है, तथा सी० एम० पदमनाभचार्य का 'Life of Madhvacharya' एस॰ सुब्बाराव के पास श्री मध्वा-वार्य के 'बहासत्र' प्राच्य का सम्प्रशं धनुवाद है, यथा श्री मध्वाचार्य के 'भाष्य' के सनुसार टीका के सहित 'मगबद्गीता' का ममेजी भनुवाद है। इस 'मगबद्गीता' के प्राक्कश्यन में परम्परानिष्ठ दृष्टि से मध्य का जीवन-क्लात दिया गया है। पी० रामचन्द्र रूप का "The Brahma Sutras' भी है जिसमें श्री मध्याचार्य के माध्य का ग्रक्षरत: ग्रनुवाद किया गया है (संस्कृत, कुम्बकोनम् १६०२); जी० ए० पियमीन का मध्य पर 'Encyclopacdia of Religion and Ethics' खण्ड द में बहुत रुचिपुर्ण लेख है: श्री नागराज कर्मा ने मध्व-दर्शन पर हाल ही में एक गम्भीर नेख प्रकाशित किया है।

दे ०-हेल्मश वॉन ग्लासनैप का 'Philosophic des Vishnu Glanbens', पृ० १३।

(१) 'ब्हारबाध्य' बो क्लंबर के बार १:१-४० पर टीका है, (२) 'कम-निर्हाय' वे 'रं, १-४' ऐतरेल-बारख्यक' बार ४:१ तथा उनमें उद्युत वैविक क्ष्याधों के तम्यक ज्वाराज एकं कम के तम्यक में विवेचन करता है, (३) 'दितरेल उपनिषद् माध्य,' (६) 'दित्तरेल उपनिषद् माध्य,' (६) 'दित्तरेल उपनिषद् माध्य,' (१) 'क्षात्वर-उपनिषद्-माध्य,' (१) 'क्षात्वर-व्यनिषद-माध्य,' (१) 'क्षात्वर-व्यनिषद-माध्य,' (१) 'क्षात्वर-व्यनिषद-माध्य,' (१) 'क्षात्वर-व्यनिषद-माध्य,' (१) 'क्षात्वर-व्यनिषद-माध्य,' (१०) 'क्षात्वर-व्यनिषद-माध्य,' (१०) 'क्षात्व-वार्य-निर्हाय,' (१०) 'क्षात्व-वार-वार्य-निर्हाय,' (१०) 'क्षात्व-वार्य-निर्हाय,' (१०) 'क्षात्व-वार-वार्य-निर्हाय,' (१०) 'क्षात्व-वार-वार्य-निर्हाय,' (१०) 'क्षात्

जयतीर्थं के 'पान्य-मिलका-स्तोज' में 'बह्य-मुत्रानु-व्याख्यान-निर्णृनं के स्थान पर 'सम्यास पद्धित' दिया गया है। घान्नेट के 'The Calalogus Catalogus un' में घार० जी० प्रण्डारकर द्वारा की गई सन् १८८२-६ में बम्बई प्रदेश में महत्त पार्चु लिएयो की लोज के विवरत्ण का उल्लेख घाया है, तथा उसमें कई सन्य पर्यो की स्थाल की गई है जो 'प्राप्य-मिलका-स्तोज' में नहीं गिनायं यथे है। वे निम्नांत्यित है-

'क्षारमहाल-प्रदेश-टीका,' 'खारापेदेश टीका,' 'आर्य-तांत,' 'उपदेश-सहस्र-टीका,' 'व्यक्तिपद्द-प्रध्यान,' 'ऐत्ररोयोपियद्द-माध्य-टिप्पण्णी, 'कांठकोपितप्द-माध्य-टिप्पण्णी, 'कांठकोपितप्द-माध्य-टिप्पण्णी, 'कींविविव्यक्तप्रस्तित्व साध्य-टिप्पण्णी,' 'कींविव्यक्तप्रस्तित्व साध्य-टिप्पण्णी,' 'कींविव्यक्तप्रस्तित्व साध्य-टिप्पण्णी,' 'वींक्ररोयोपितपद्द-माध्य-टिप्पण्णी,' 'वींक्ररोयोपितपद्द-माध्य-टिप्पण्णी,' 'वींक्रराण्-प्रक्रिया,' 'वाप्ति-साध्य-टिप्पण्णी,' 'वींक्रराण्-प्रक्रिया,' 'वाप्ति-साध्य-टिप्पण्णी,' 'वाप्ति-व्यक्तर्य, 'वाप्ति-द्रस्ताच्य-टिप्पण्णी,' 'व्याय-विवर्त,' 'वींकरण्ण-टिप्पण्णी,' 'व्याय-विवर्त,' 'विवर्त्तिक्त्य,' 'व्यक्ति-द्रस्ताच्य-टिप्पण्णी,' 'व्याय-विवर्त,' 'व्यक्ति-टिप्पण्णी,' 'व्याय-टिप्पण्णी,' 'व्याय-टिप्पण्णी,' 'व्याय-टिप्पण्णी,' 'व्याय-टिप्पण्णी,' 'व्याय-टिप्पण्णी,' 'व्याय-टिप्पण्णी,' 'व्याय-दिप्पण्णी,' 'व्याय-दिपण्णी,' 'व्याय-दिप्पण्णी,' 'व्याय-दिप्पण्णी,' 'व्याय-विवर्त,' 'व्यक्त-प्रवाय-चिप्त,' 'व्याय-विवर्त,' 'व्यक्त-प्रवाय-चिप्त,' 'व्याय-विवर्त,' 'व्याय-वर्त,' 'व

### मध्व गुरुओं की उत्तराधिकार-सूची

भण्डारकर सन् १८८२-३ में सस्कृत पाण्डुलिपियों की लोज में गुरुक्षों की मरण-तिथियों सहित उनके नाम देते हैं। इस प्रकार धानन्द तीर्थ या मध्य के उत्तरा-धिकारी शक ११२६ में पदमनाम तीर्थ बने, तथा पदमनाम तीर्थ के पदचात शक ११३४ में नरहरि तीर्थ बने, माध्य तीर्थ ११४२, बस्तोम्य तीर्थ ११६६, जय तीर्थ ११६०, विधा-धिराज तीर्थ १२४४, कवीन्द्र तीर्थ १२६१, कागीश तीर्थ १२६४, रामचन्द्र तीर्थ १२६८, विद्यानिधि तीयं १३०६, रचुनाच तीयं १३६४, रचुवयं तीयं १४१६, रघुतम तीयं १४५७, बेटब्यास तीर्थ १४८१, विद्याचीश तीर्थ १४६३ बेदनिधि तीर्थ १४६७, सस्यवत तीर्थ १५६०, सत्यनिषि तीर्थ १५६२, सत्यनाच तीर्थ १५१५, सत्याभिवन तीर्थ १६२६, सत्यपूर्ण तीर्थ १६४८, सत्यविजय तीर्थ १६६१, सत्यबीष तीर्थ १७०४, सत्यसिष्ठधान तीर्थ १७१६. सत्यवर तीर्थ १७१६, सत्यवाम तीर्थ १७६२, सत्यसार तीर्थ १७६३, सत्यपरायमा तीर्थ १७८४, सत्यकाम तीर्थ १७१३, सत्येष्टि तीर्थ १७१४, सत्यप्रियपरायमा तीयं १८०१: सत्यवित तीयं १८८२ में जब 'Search for Sanskrit Mss.' (संस्कृत पाण्डुलिपियां की स्रोज) ग्रन्थ लिसा जा रहा था, जीवित थे। इस प्रकार मध्व (शक ११६८) से लेकर सत्यवित तीर्थ (जो शक १८०४ ग्रथवा सन १८८२ में जीवित थे) तक पैतीस गुरुकों की सची हमारे सम्मुख उपस्थित है। यह सची बेलगाँव भीर पुना में प्राप्त दो सुचियों के अनुसार बनाई गई थी। यह सुची बलदेव द्वारा रिवत 'बह्म सूत्र' भाष्य के प्राक्तथन में दी गई सची से मिल्र है। बलदेव निम्नलिखित सुची में देते हैं :

मध्य, पद्मनाम, नृहरि, माषय, झक्षांस्य, वयतीर्थ, ज्ञानसिंह, दयानिर्थ, विकानिर्थ, राजेन्त्र, वयपमं, पुरुषोत्तमतीर्थ, ब्रह्माञ्चतीर्थ, ब्रह्माञ्चतीर्थ, ब्रह्माञ्चतीर्थ, ब्रह्माञ्चतीर्थ, ब्रह्माञ्चतीर्थ, क्यासतीर्थ, लक्ष्मीपति, माधवेन्द्र, ईरवर । इंदर पुरुषोत्त के गृह सु देखते हैं कि वलदेव झारा दी गई सूची वेतनीय एव पूना के मध्य-मठाँ ते प्राप्त दो सूचियों से पूर्णतः ससंगत है। इन परिस्थितियों में हम बतदेव झारा दी गई गुरुषोत्त स्वाचार है। इन परिस्थितियों में हम बतदेव झारा दी गई गुरुषोत्त के स्वाचार करने में स्वसमये हैं—उसमें कई मन्य समगतियों भी हैं जिनके विस्तार में जाने की यहाँ कोई सावस्थकता मती है।

## मध्य की महत्वपूर्ण कृतियाँ

'महामारत-तारार्थ-निश्ंव': मध्य की यह रचना बत्तीत ब्रध्यायों की है तथा ब्रन्चम्ब है। प्रथम घथ्याय में मध्य धयने मत के व्यति स्तिष्य सारोव से प्रारम्भ होते है। उसमें नचका कथन है कि चार बेद, 'पंचराज,' 'महाचारत' 'जीतिक रामावस' व 'बहुसूत्र' ही केवल प्रामास्थिक भूति कुल-राठ हैं, तथा जो कुछ भी उनके विरोध में है वह ग्रसत्य माना जाना चाहिये । 'वैष्णव पुराख' मुख्यतः 'पंचरात्र' के स्पष्टीकरण ' भात्र होने के कारल सस्य शास्त्र माने जाने चाहिये। मनुतथा धन्य लोगों द्वारा रिचत 'स्मृति'-साहित्य उसी सीमा तक सत्य है जहाँ तक वह वेदों, 'महामारत' 'पंचरात्र' तथा 'विष्यु पुराख' के उपदेशों के विरोध में न हो । वीद दर्शन जैसे झन्य शास्त्र विष्णु ने असुरों को भ्रान्ति में डालने के हेतु से रचे, तथा शिव ने भी विष्णु के बादेश से 'शैव शास्त्र' की रचना इसी हेतु से की । वे सब शास्त्र जो इस जीवन में श्रयवा मुक्ति के समय भारमन् भीर बह्यन् के तादात्म्य का कथन करते हैं भसत्य हैं। विध्यु ही सच्चे भगवान हैं। जगत् का प्रवाह यथाये है, भीर वह जीव एवं ईश्वर, जीव एव जीव, जड़ एवं ईश्वर, जड़ एव जड, तथा जड एवं जीव के पंचमेदों से समन्वित है। केवल देवता गए। भौर बेष्ठ मानव ज्ञान एव ईश्वरानुष्रह के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं, साधारण मानव जन्म एव पूनर्जन्म के चक्र मे भटकते रहते हैं, भीर निकृष्ट लोग नक से अभिशापित होते हैं। दानवो को तथा नित्य मुक्त जीवा को जन्म एव पूनजंन्म के चक्र में ग्रावागमन नहीं करना पडता। दानव किसी भी परिस्थिति में मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकते। बतः शादवत ब्रमिशाप का सिद्धान्त केवल मध्य ने ही प्रतिपादित किया है, अन्य किमी मारतीय दर्शन-तत्र से नहीं। मानव जब ईष्वर को सर्व श्रुम गुरुगो से सम्पन्न तथा ग्रानन्दमय एवं सर्वज्ञ मानकर उसकी उपासना करता है तब वह मोक्ष की प्राप्त कर सकता है। मोक्ष की धवस्था में भी जीवो मे परस्पर व्यक्तिगत भेद विद्यमान रहते हैं तथा ईश्वर की पूर्ण एवं निष्काम मिक्त ही मुक्ति का एकमात्र साधन है। 'मिक्त' के द्वारा ही मोक्ष सन्भव है, मुक्त जीव भी भक्ति के द्वारा मुख के चिरन्तन प्रवाह का उपमीय करते हैं, मित्त को यहा

मनिरुद्ध तु यत् तु भस्य प्रमाण तच नान्यथा एतद्-विरुद्धं यत् तु स्यान् न तन् मान कथचन वैध्एवानि पुराणानि पांचरात्रात्मकत्वतः

–वही, १:३१–३२ ।

प्रमाणान्येवम् मान्वाचाः स्मृतयोध्यनुकूततः । व जगतः प्रवाहः सत्योध्य पंच-वेद-स्वान्वतः अविकायोर् भिद्याः पंच-वेत-मिदः परस्यरम् जवेवयोर् जवानां च जव-जीव-मिदा त्वायाः च भेदा इसे नित्याः सर्वोक्स्यासु नित्यकः मुक्तानां च न हीयन्ते तारतस्य च सर्वदा ।

-बही, য়० १:६६-७१।

ऋग-भादयश्चत्वारः पचरात्र च भारतं
 मूल-रामायसा ब्रह्म-सूत्रम् मान स्वतः स्मृतम् ।

<sup>-</sup>महाभारत-तात्पर्य-निरगंय, १३०।

बहु परिभाषा दी गई है कि वह उपासना के विषय की महानता की पूर्ण पेतना से मुक्क भावना है। तथा उसे बार्यनीम समायान माना जाता है। समस्त पार्मिक कर्त्तेव्यों का पालन भी एक व्यक्ति को नर्क से नहीं बचा सकता, किन्तु 'मिक्कं एक मनुष्य को निकृष्ट पाप करने पर भी बचा सकती है। 'मिक्कं के बिना येख वार्मिक करूप भी पाप में परिस्ता हो जाते हैं, किन्तु मिक्कं निकृष्ट पाप भी एक मनुष्य को प्रमावित नहीं करते। ईसद केवल 'मिक्कं से प्रकास होता है किन्ती धन्य बात से नहीं, तथा केवल वही मोक्ष प्रवान कर सकता है।

द्वितीय अध्याय में मध्य कहते हैं कि 'महामारत-तार्प्य-निर्हाप' में उन्होंने 'महामारत' के मुख्य उपदेशों का साराय देने का प्रपत्न किया है, और 'महामारत' का मुख्य त्यदेशों का साराय देने का प्रपत्न किया है, और 'महामारत' के क्षा मुख्य कर पहुँचना और मी स्थिक कित है ही, लेकिन इन दूपित मुख्य-पाठों के कारहा उक्के मुख्य कर पहुँचना और मी स्थिक कित हो गया है। उनका भागे कथन है कि सही मुख्याठ को प्राप्त करने के लिए उन्होंने 'महामारत' के मुख्य का देशों ते उपदेशों के भहुक्य 'महामारत' के सुक्य अपना कर है कि सही मुख्य होते हैं उन्होंने भाग माम महामारत' के प्रमुख्य उपदेशों का निक्पण करने का प्रयत्न किया है। ' मध्य के भ्रमुख्य 'महामारत' के प्रमुख्य 'महामारत' के मुख्य कर करते का प्रयत्न किया है। ' मध्य के भ्रमुख्य 'महामारत' के प्रदेश के उपदेशों का निक्पण करने का प्रयत्न किया है। ' मध्य के भ्रमुख्य प्रदेश करते हैं जह से स्थानात्र माम 'महामारत' करा निक्पण करते हैं, तथा 'पुराणों' एवं 'रामायल' से हारों करते हैं कह संयोगात्र कथा को अंग को अंग को 'प्रमान क्या का माम स्था कि निक्पण में भी वे भीम एवं स्थान क्या मानकर प्रस्तृत करते हैं। इस प्रकार वे 'रामायल' के सारों करवा 'सामवत पुराण' में री मई क्या का स्था भागकर करते हैं। सा प्रकार के प्राप्त क्या का प्रवार करते हैं। सा स्थार का प्रयाद कर स्था 'मामवत पुराण' में री मई क्या भी के भीम एवं स्थान कर स्था कर स्था 'मामवत वुराण में दी से कि

भध्य की इस कृति पर कई टीकाएँ की वर्ड है, झर्थान् जनार्दन अट्टू हारा लिखी गई 'पदार्थ-दीपिका,' बरदराज हारा जिल्लिक 'सहा-मुलोषिली' झवला 'अकाल,' वादिराज स्त्रामी की टीका, बिठ्लाचार्य सुनु की टीका, ब्यास दीर्थ की टीका, सरपामिनव यति हारा जिल्ला दुर्थटार्थ-ककालिका, 'सहामारत-नारप्य-निर्होच व्याक्या' (जिल्ले 'पदार्थ-

भक्त्यर्थान्यिक्षलान्येव मक्तिर् मोक्षाया केवला मुक्तानाम् घपि मक्तिर् हि नित्यानद्द-स्व-स्पिणी भान-पूर्व-पर-स्नेहो नित्ये भक्तिर् इतीयंते ।

<sup>-</sup>महामारत-तारपर्य-निर्ह्मय, १, १०६-७।

शास्त्रान्तराणि सजानन् वेदाश्वास्य प्रसादतः
 देशेदेने तथा श्रन्यान् दृष्ट्वा चैव नृथन्वियान् । —वही, श्रष्ट्याय २:७ ।

बीपिका' भी कहते हैं), बीनिवास की 'शहामारत-तारपर्य-निर्यंग-व्यास्था' (बिसे 'माव-चेंद्रिका' भी कहते हैं), और 'शहामारत-तारपर्य-निर्यंशनुक्रमणिका' जो पद्य में सामान्य सारांबा देने वाली एक खोटी सी रचना है। बन्य टीकाएँ कृष्णाचार्यं, लक्ष्मणविह राषा अपकृष्टितरिक क्वारा सिजी गई हैं।

'भागवत-तात्पर्य-निर्ण्य' में मज्य 'सायवत पुराल्य' के बारह 'स्कन्यों' से कुछ महत्वपूर्ण हत्ती को का प्रयत्त करते हैं, बीर प्रायेक 'स्कन्य' के चुने हुए प्राध्यायों में से चुने हुए सलोको की टिप्पण्यियों को बोड़ देते हैं। इनमें नैरितये निर्णं के गए हैं कि सक्याय पूर्णतः छोड़ दिए तथ हैं, वे सिकार जो हैं, तथा इस इंग से रख्के गए हैं कि सब्ब का द्वीतवादों नत 'सायवत' की सत्य खास्थ्या प्रतीत हो। वे कमी-कमी धपने मत की पुष्टि धन्य पुराल्यों के निरंधन द्वारा करते हैं, बीर धन्त में 'आगवत' की सत्य खास्थ्या प्रतीत हो। वे कभी-कमी धपने मत की पुष्टि धन्य पुराल्यों के निरंधन द्वारा करते हैं, धीर धन्त में 'भागवत' के सल्ये मत के कथा में प्रमण्य नत का संक्षित्य सारां हैं हैं। 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य' पर विमिन्न से केक्य में सपने मत का संक्षित्य सारां हैं हैं। 'भागवत-तात्पर्य-निर्ण्य-ध्याख्या-द्वाराय्य-निर्ण्य-ध्याख्या-द्वाराय्य-निर्ण्य-ध्याख्या-द्वाराय्य-निर्ण्य-ध्याख्या-प्रकाणिनी, 'भागवत-तात्पर्य-निर्ण्य-ध्याख्या-प्रकाण (भी निवास मिलत गण में एक छोटी रचन।), तथा जडुपति, चलारि धौर वेश-पर्याव्या-प्रकाण की 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य-ध्याख्या-प्रकाण (भी निवास मिलत गण में एक छोटी रचन।), तथा जडुपति, चलारि धौर वेश-पर्याव्याच्या की 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य-ध्याचा' को 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य-ध्याच्या' को 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य-ध्याचा' के प्रतिवाद की 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य-ध्याचा' की 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य-ध्याचा' की 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य-विष्याचा' की 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य-धाचा' की 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य-धाचा'), तथा जडुपति, चलारि धौर वेश-पर्याव्याच्याचा' की 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य-धाचा' की 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य-धाचा' की 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य-धाचा' को 'सायवत-तात्पर्य-निर्ण्य-धाचा' को 'सायवत' का

सध्य की 'पीता-तात्पर्य' गद्य एव पद्य में लिखी गई रचना है, जिसमें मध्य के मत के मतुतार 'पीता' का सार-तल दिया गया है। यह 'पीता' के घटारह प्रध्यायों का क्रिमक सारांग है। इस सारांग में प्राय: 'पीता' से बलोक उद्युव्त किये गये हैं जिनके बीच बीच में कम-बद्धता लाने के लिए लयु गद्य मुख-गाठ दिये गये हैं, जो कही तो व्यावधात्मक है, कही प्रध्य की व्यावधा की पुष्टि में दिये गये 'पीरास्त्रिक' तथा धन्य मुलपाठों का निर्देश करते हैं, धीर कहीं 'पीता' के ब्योक्तवादी व्यावधा के विरोध में यह में विवेचन का उपक्रम भी करते हैं। 'तात्य' लगभग १४४० 'युन्यो' की रचना है, जिस पर प्रसिद्ध मध्य लेखक ज्यतीर्थ ने टीका लिखी है, इस टीका का नाम 'युनवद्गीता-तात्यर-निर्याय-व्यावधा' प्रधवना 'याध-सीपिका' है। इस त्याव-सीपिका' पर 'तास्त्रय-पीका-व्यावधा माया-यीप-किराधादनी' नामक टीका विज्ञ-सुन्वभिनिवासायां प्रधवना तास्त्रपर्धी-भीनिवासाचार्य ने लिखी। 'युगवद्गीता-तात्य' पर कम से कम दो सम्य टीकाएं भी दिख्यी यह-पद्मनासर्वीखं द्वारा 'वात्य' निरात माध्य' नामक रचना मी लिखी विद्य में महत्वपुर्ख' 'व्योक' घ्याया-कम से लीता-नाम्य' नामक रचना मी लिखी विद्य में महत्वपुर्ख' 'व्योक' घ्याया-कम से लीता-नाम्य' नामक रचना मी लिखी विद्य में महत्वपुर्ख' 'व्योक' घ्याया-कम से लीती-नाम्य' नामक रचना मी लिखी विद्य के विवादास्पद महस्वपूर्ण समस्याको की विवेचना करते हैं। इस प्रकार कुमारिल का अनुसरस करते हुए वे कहते हैं कि 'बास्त्र' 'अपरिक्रेय' (अनुभवातीत उद्गम के) होने के कारण पूर्णत: सस्य हैं। 'कमों' के अनुष्ठान के सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'कम' फल की इच्छा किये बिना इसलिए करते हैं कि 'सास्त्र' ऐसा करने का मादेश देते हैं। केवल अधिकाधिक ज्ञान और बढती हुई 'मिक्त' की इच्छाएँ ही ऐसी इच्छाएँ हैं जिनका परिस्थाय नहीं करना चाहिये. यदि 'कर्मों' से किसी फल की उत्पत्ति न हो तो भी कम से कम उनसे ईस्वर को संतोष होगा क्योंकि 'शास्त्री' के बादेशों का पालन करके व्यक्ति ने डेववर के आदेशों का पालन किया है। वे शकर के अद्वेतमत का मी अण्डन करते हैं तथा कहते हैं कि यदि ईश्वर मानव में प्रतिबिध्वित हो तो इस आधार पर प्रतिबन्ध को मूल ईश्वर से एक रूप नहीं माना जा सकता । तथाकथित 'उपाधि' के कारण ब्रह्मन और जीव में भेद बना रहता है। यह कहना भी मही नहीं है कि जिस प्रकार जल का जल में सिश्चरण हो जाता है उसी प्रकार सोक्षा के समय जीव का इंदवर में लय हो जाता है, क्योंकि जब जल का जल मे मिश्रण होता है तब भेद उत्पन्न हो जाता है-इसी भेद के द्वारा हम जल के अधिक सचयन की व्यास्था कर सकते हैं। ग्रतः मोक्ष की ग्रवस्था में जीव केवल ईश्वर के निकट का जाता है, किन्तु कमी अपने व्यक्तित्व को नहीं स्रोता। 'मोक्ष' की ग्रवस्था सबसे वास्त्रीय श्रवस्था है क्योंकि उसमें व्यक्ति समस्त बोक-गुर्श अनुमवों से मुक्त हो जाता है, तथा उसमें कोई इच्छा क्षेत्र नहीं रहती। मोक्ष की भवस्था विभिन्न जीवों के व्यक्तिस्व के भनुसार मिन्न-भिन्न होती है। मोक्ष की अवस्था में सामान्य तत्व यह है कि किसी भी मूक्त व्यक्ति को कोई दुःलमय अनुभव नहीं भोगना पड़ता। मध्व यह सिद्ध करने के लिये भी बहुत परिश्रम करते हैं कि 'नारायए।' अथवा 'विष्णु' महानतम या उच्चतम ईश्वर है। नीसरे घट्याय का निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि इस धनादि जगत में एक कर्म भी धनेक जन्मों को उत्पन्न कर सकता है, तथा 'कमों' का सचित अण्डार किसी अपिक को कभी भी अपने पूर्ण फल प्रदान नहीं कर पाता, अतः यदि कोई व्यक्ति 'धमं' करे तो भी अपने पूर्व 'कर्मी' के कारण माग्य में लिखे फलों से नहीं बच सकता, फलस्वरूप 'कमं' के परित्याग से कोई लाग नहीं हो सकता। हेत अथवा डच्छा से रहित 'कमं' ही जान से सम्बन्ध स्थापित करता है, तथा मोक्ष की ब्रोर ले जाता है, ब्रत: 'कर्म' के न करने मात्र से भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। अध्व इस धाररणा का खण्डन करते है कि तीर्थ-स्थानों में मरने से मोक्ष की प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि यह तो ब्रह्म-ज्ञान द्वारा ही सम्भव हो सकता है। एक व्यक्ति को अपने 'सस्कारों' के बल से 'कर्म' करने पड़ते हैं। इत: अधिक विस्तार से यह बताना बावस्थक नहीं है कि इस दग से मध्य 'गीता' की अ्थाक्या अपने मत की पृष्टि के लिये करते हैं और दे प्राय: यह प्रदक्षित करने का भी प्रयत्न करते हैं कि उनके द्वारा प्रतिपादित मत ग्रन्थ 'पूरार्गों' एवं उपनिषदों के उपदेशों के अनुक्ष्य हैं। सध्य की 'गीता' की व्याक्या पर अनेक रवनाएँ हैं, राववेन्द्र की 'गीतायं-सबह' राववेन्द्र गीत की 'गीता-विद्वत्ति' विद्याघिराज मद्रोपाध्याय की 'गीता-विष्टत्ति,' तथा जयतीयं की 'प्रमेय-दीपिका' जिस पर 'माव-प्रकाश' नामक एक ग्रत्य टीका है। मध्य ने 'अहासत्र' पर 'बहासत्र-माध्य' नामक एक अन्य टीका लिखी। यह लगभग २५०० अन्यों की एक छोटी रचना है, तथा टीका सक्षिप्त एव सकेतात्मक है। " उन्होंने 'श्रनुमाध्य' नामक एक ग्रन्य रचना भी लिखी जो 'बद्धसूत्र' के प्रमुख विषयों एव समिप्राय का सक्षिप्त सारांश है। इस पर भी जयतीयं, बनन्त भट्ट, चलारि-नसिंह, राषवेन्द्रतीयं भीर शेषाचायं ने टीकाएँ लिखी है। म्रानन्दतीर्थं के 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' पर 'तत्व प्रकाशिका' नामक जयतीर्थ द्वारा निली गई एक टीका है। इस पर भी अनेक टीकाएँ हैं: रघुत्तम यति की 'तात्पर्य-प्रकाशिका-भाव-बोध' व 'तात्पर्य-प्रकाशिका गत-न्याय-विवर्खा,' राधवेन्द्र यति की 'भाव-दीपिका,' अ्यासतीर्थ की 'तात्पर्य-चिन्द्रका' जिस पर टीकाएँ हुई, ग्रजीत केशव यति की 'तात्पर्य-चन्द्रिका-प्रकाश, तिम्मनाचार्य (सथवा तिम्मपूर-रघुनाथाचार्य) की 'तात्पर्य-चद्रिका-न्याय-विवरण,' भौर 'तात्पर्य-चित्रकोदाहरण-व्याय-विवरण । इसके प्रतिरिक्त 'नत्व-प्रकाशिका' पर अन्य टीकाएँ लिखी गई. सत्यनाथ यति की 'अभिनव चहिका,' श्रीनिवाम की 'तत्व-प्रकाशिका-व्याक्यार्थ-मजरी' तथा 'वाक्यार्थ-मत्तावली' । 'तःत्पर्य-चद्रिका' पर गृहराज ने बन्य टीका लिम्बी तथा 'तत्व-प्रकाशिका' पर 'तत्र-दीपिका' लिखी गई। मध्य के 'भाष्य' पर जगन्नाय यति (भाष्य-दीपिका), विठलमृत-श्रीनिवास ('भाष्य-टिप्पणी-प्रमेय-मुक्तावली') वादिराज (गुर्वच-दीपिका), ताम्रपर्गी श्रीनिवास भीर समतीन्द्र-तीयं द्वारा टीकाएँ लिखी गई। 'ब्रह्मसत्र-भाष्यायं-सग्रह' नथा ब्रह्मसूत्रार्थं नामक दो अन्य टीकाएँ भी है। मध्य के अनुभाष्यं पर नृसिह, जयतीर्थ, अनन्न सट्ट, चलारि नृसिष्ट, राधवेन्द्रतीर्थ और शेषाचार्य ने टीकाएँ लिखी। सध्य ने 'बह्मसूत्र' पर 'धनुक्याख्यान' नामक एक धौर रचना निन्दी । इस पर जयतीर्थ ने अपनी 'पाजका' व 'न्याय-सुषा' में टोका की, तथा जदपनि और श्रीनिवास ने भी टीकाएँ लिखो । इस पर 'बह्मसत्रानुव्यास्थान-न्याय-सम्बन्ध-दीपिका' नामक एक अन्य टीका भी है। इनमें से जयतीर्थं की 'न्याय-मुघा' बहुत उत्तम, ग्रति विद्वतापूर्ण रचना है। 'अनुष्यास्थान' पर रघुत्तम ने अपने 'न्याय-सुत्र-प्रदीप' और 'अनुस्थास्थान-टीका' मे टीका को है। 'न्याय-मूख' पर भी कई लेखको ने टीकाएँ लिखी। ये टीकाएँ श्रीनिवासतीयं, जदपति, विठलमतानन्दतीयं, केशव भट ('शेष व्याच्याथं-चद्रिका') रामचन्द्रतीथं, कुण्डलर्गिरसूरि, विद्याधीक तिम्मकार्यं, वादिराज और राधवेन्द्र यनि द्वारा लिखी गई । श्रीपदराज ने 'न्यायसुषीपन्यास' नामक टीका लिखी 'ग्रनुव्यास्थान' छोटी सी पद्य-बद्ध रचना है जिसमें 'ब्रह्मसुत्र' की मुख्य ताकिक स्थिति का श्रध्याय-कम से मनुसरम्म किया गया है। सच्च का कवन है कि अपनी व्याख्या में उन्होंने देदों के

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> बनीस अक्षरों का छद एक 'ग्रन्थ' कहलाता है।

विश्वसनीय श्रृति-पाठों एवं तार्किक युक्तियों का अनुसरए। किया है। वे प्रावक्तपन में काने कहते हैं कि यद्यपि वे 'ब्रह्मसूत्र' पर माध्य लिखे जा चुके हैं तथापि अपने मत को उचित रूप से स्पष्ट करने के हेत् से वे 'धनुव्याख्यान' लिख रहे हैं। प्रथम भ्रष्याय में बे कहते हैं कि ब्रह्मन को निर्दिष्ट करने वाला 'ओमकार' जो गायत्री का ग्रामिप्राय है बही सब देदों का ग्रमिप्राय है, तथा हमें उसे ज्ञात करना चाहिये। जो बहान को जानने का प्रयत्न करते है वे अपने इस प्रयास से ईश्वर का प्रसन्न कर लेते हैं, और उसके धनुग्रह से मुक्त हो जाते हैं। समस्त वस्तुओं, कियाओ, काल, चरित्र धीर जीवों का श्रस्तित्व ईश्वर पर श्रवलाग्वत है. तथा उसकी इच्छा से उनका श्रस्तित्व मिट सकता है। ईश्वर समानी को जान प्रदान करता है तथा जानी को मोक्ष प्रदान करता है। मुक्त व्यक्ति के सर्व झानन्द का उद्देशम स्वय ईश्वर ही है। सर्व बन्धन यथार्थ है क्योंकि उसका यथार्थ प्रत्यक्ष किया जाता है, कोई ऐसा साधन नही है जिसके द्वारा बंधन को मिथ्या सिद्ध किया जा सके क्योंकि यदि उसके मिथ्यास्य के पक्ष में कोई प्रमागा सम्मव है तो उनका ग्रस्तिस्य होना चाहिये और उनके ग्रस्तिस्य से ग्रहैत-मन नध्द हो जायगा । केवल एक सत्ता स्वयं को प्रमाग्य एवं प्रमाग्य के विषय में विमक्त नहीं कर सकती । अतः समस्त अनुभवों को यथार्थ मानना चाहिये । जो वस्तु व्यवहार के अनुरूप हो, उसे यथार्थ मानना चाहिये। अर्द्धतवादी कहते है कि सत्ता तीन प्रकार की होती है, किन्तु वे उसके निये कोई प्रमास नहीं दे सकते । यदि जगत वास्तव मे असन् होता नो वह किसी के हितो को हानि कैसे पहुँचाता ? हम बहान को ही एक-मात्र शुद्ध 'सत्ता' नही मान सकते, तथा जगनाभाम को मिथ्या नही मान सकते, क्यांकि उसका श्रमुभव में कभी निषेध नहीं किया जा सकता । यदि इस जगत की विश्व धसन् अथवा धनस्तित्व से भिन्न जानना चाहिये, तो 'धसत' को भी ज्ञात करना पढेगा, किन्तू 'असत्' का एक उदाहरण है, अर्थात अम एक वस्तू का ऐसा आमास है जो वह स्वय में नही है। किन्त इसका तात्वयं यह होगा कि आसास एक ऐसी सत्ता का होता है जिसका ग्रस्तित्व नहीं है तथा जिसकी परिभाषा देना भी सम्भव नहीं है। किन्तु ऐसी स्थिति 'दृष्ट अनन्त' को उत्पन्न करनी है, क्योंकि अनेक सत्ताओं के अस्तित्व को एक ग्रन्य सत्ता पर निर्मर करना पडता है, तथा इस सत्ता को किसी ग्रन्य पर निर्मर करना पडेगा, इत्यादि । किसी वस्तु का अस्तित्व उस पर निर्मर करता है जिसका निषेध न हो, और उसके निषेध का न होना किसी धन्य धनुभव एर निर्मर करता है, इत्यादि । साथ ही, यदि खुद्ध मेद-रहित सत्ता स्वय प्रकाश है, तो वह 'श्रज्ञान' से कैसे आइस हो सकती है ? फिर जब तक 'अज्ञान' के अस्तित्व को सिद्ध करना सम्भव नहीं है, तब तक मिथ्यात्व के अस्तिस्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

आत्म-वाक्यतया तेन श्रृति-मूलतया तथा
 युक्ति-मूलतया चैव प्रामाण्य विविधं महन ।

किन्तु 'अमुख्यास्थान' के सम्पूर्ण तर्कको देना यहाँ धावस्थक नहीं है, स्वॉकि उसका सम्य स्पों में तब विवेचन किया जायगा जब 'बहुँग-सिद्धि' के विरोध में व्यासतीय द्वारा 'स्याय-मंजरी' में दी गई युक्तियों का उल्लेख धायगा।

मध्य ने 'प्रमाण-लक्षण,' 'कथा-लक्षण,' मिथ्यात्वानुमान-लंडन,' 'उपाधि-लंडन,' 'मायाबाद खंडन,' 'तत्व सस्यान,' 'तत्वोद्योत,' 'तत्व विवेक,' विष्णू-तत्व-निर्णय,' 'कर्म-निर्णय' की भी रचना की ।" 'प्रमाशु-लक्षश्' पर कई टीकाएँ लिखी गई हैं: जयतीर्थ द्वारा 'न्याय-कल्प-लता,' केशवतीर्थ, पाण्ड्ररंग, पदमरामतीर्थ ग्रीर चण्डकेशव द्वारा 'सन्नास-दीपिका' व बन्य टीकाएँ । अयतीयं की 'न्याय कल्य-लता' १४५० 'प्रन्यों' की रचना है, उस पर दो धन्य लेखकों द्वारा 'न्याय-कल्प-लता-व्याख्या' नामक एक टीका लिखी गई है। उनमें से एक तो विद्याधीश यति के शिष्य हैं, किन्तु दूसरी टीका का लेखक बजात है। चण्डकेशवाचार्य द्वारा 'प्रबोधिनी' भीर 'न्याय-मंजरी' दो भन्य टीकाएँ भी हैं। मध्य तक से सम्बन्धित क्रम्य रचनाएँ हैं-राधवेन्द्र यति की 'न्याय-मुक्ताबली,' विजयीन्द्र की 'न्याय-मौक्तिका-माला' और वादिराज की 'न्याय-रत्नावली' । -स्वय जयतीर्थ ने 'प्रमारा-पद्धति' नामक रचना लिखी जिस पर धनेक टीकाएँ लिखी गई (मानन्द मट्ट, वेदेश मिख, विजयीन्द्र, विठल मट्ट, सत्यनाय यति, नृसिहतीर्थ, रामवेन्द्रतीर्थ, नारायस भट्ट, जनार्दन भट्ट हारा तथा 'भाव-दीपिका' व 'पदार्थ-चद्रिका' को भन्य सज्ञात लेखकों द्वारा) । मध्य के 'कथा लक्षण' पर पदमनामतीयं, केशय महारक भीर जबतीयं द्वारा टीकाएँ लिखी गई। मध्य के 'मिध्यात्वानुमान-सडन' पर जयतीयं द्वारा कम से कम चार टीकाएँ रची गई, जिनमें से चौदी 'मन्दार-मजरी' है। 'उपाधि-सदन' पर कम से कम तीन टीकाएँ जयतीयं, भनन्त भट और श्रीनिवासतीयं द्वारा लिखी गई । श्रीनिवासतीयं एव पदमनामतीयं दोनो ने जयतीयं की 'उपाधि खडन-स्यास्था-विवर्श' नामक टीका पर टीकाएँ लिखी। सध्य के 'मायाबाद-खडन' पर अयतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, केशविमश्र अनन्त अर और पदमनामतीर्थ द्वारा टीकाएँ लिखी गई। मध्य के 'तत्व संस्थान' पर जयतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, झनन्त भट्ट, वेकटाद्रिसूरि, सस्यप्रश्नयति, सत्यप्रश्नतीयं, मौद्गल-नमिहाचार्यं, तिम्मन्नाचार्यं, गुरुराज और यदपति द्वारा टीकाएँ लिखी गई । जयतीर्थ की टीका 'तत्व-संख्यान-विवरण' पर सत्यधर्म-यति द्वारा टीका लिसी गई (सस्य वर्म-टिप्पन)। मध्य के 'तत्वोद्योत' पर जयतीर्थ, यदपति, बेदेगसिक, पदमनामतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, नरपण्डित, राघवेन्द्रतीर्थ, विजयीन्द्र, गुरुराज (ग्रथवा केशव मट्टारक) द्वारा टीकाएँ लिखी गई। मध्व के 'तत्व-विवेक' पर जयतीर्थं, धनन्त मट्ट झौर श्रीनिवासनीर्थं द्वारा टीकाएँ लिखी गई ।

भ मध्य की ये दस रचनाएँ 'दश-प्रकरल' कहलाती हैं। किन्तु कमी-कमी मिध्यात्वा-नुमान के स्थान पर 'ऋग्वेद-ब्रह्म-पिकका' की गलाना की जाती है।

'क्या-सक्तगु' में बम्ब विजित्र प्रकार के सुसवाद ('वाद') के स्वरूप का पूत्यांकन देते हैं तथा कुतंवाद (वितवा) से उनका मनत स्थाट करते हैं। 'बाद' एक ऐसा
संवाद है जो विभिन्न समस्याधों के स्थाटीकरए के तिये वृद्ध भीर शिक्ष के मध्य किया
बाता है, यपवा तक डारा सत्य की कोज में मांचितिय रखने तो दो या प्रिक
स्विद्यों के मध्य किया जाता है, किन्तु जब यह सवाद खहंकार खबवा प्रतिस्थवों की
मावना से विवाद में विजय प्राप्त करने के निये मथना प्रसिद्ध प्राप्त करने के निये
किया जाता है, तब वह 'जल्य' कहलाता है। कुसंवाद मधना 'वितंदा' में सप्य मतों
की स्विद्यस्तरीयता सिद्ध करने के उद्देश्य से स्वत्युग्त क्या का प्रयोग किया नाता
है। एक सवाद में एक या स्विक समस्ति ('प्रितेनक') हो सकते हैं, किन्तु देखे
व्यक्ति प्रथवा व्यक्तियों को पूर्यंतः प्रक्षपात-रहित होना चाहिये। सभी संवाद श्वतिपाठों पर सम्यक् रूप से सावारित होने वाहिये तथा उन पाठों की खलपूर्ण युक्ति डारा
व्याख्या नहीं की जानी चाहिये।' मध्य की 'क्या सक्तश्च' 'बहुतक' नामक रचना
पर धाथारित प्रतित होती है। 'याव्य दर्शन के अनुसार 'वाद', 'जल्य' सीर 'वित्वष्टा'
के स्वरूप का निक्त्या इस हते के प्रयूपा भा में किया जा कुता है। '

'तत्व सस्यान' म्यारह प्लोको की एक लच्च पुस्तिको है जिसमें मध्य मत के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धारतो का विवरण दिया गया है। इस प्रकार उसका कथन है कि दो तत्व है-विवर्ग मीर परतंत्र केवल विच्लु हो स्वत है। परतंत्र तत्व दे प्रकार के है-नाव भीर प्रमाव। प्रमाव सप्या त्विष्ठ तीन प्रकार का होता है-उत्पन्न होने के पूर्व भागव (प्राथमाव), विध्वस के द्वारा धमाव (विष्यसायाव), तया सार्वभीन भ्रमाव (प्राथमायाव)। फिर्ण मान्यत्व चेतन और बढ़ होते हैं। चेतन स्वारार्षे पुत्रः दो प्रकार को होती हैं, चेत के सम्पर्क में हैं हैं पुत्रः दो प्रकार की होती हैं, प्रवाह को सम्पर्क में हैं हैं पुत्रः दो प्रकार की होती हैं, प्रवाह को सम्पर्क में हैं वे पुत्रः दो प्रकार की होती हैं, प्रवाह को को मोक के थोया है, तथा जो प्रकार की हैं वे प्रकार की होती हैं, प्रवाह के बो मोक के थोया है, तथा जो मोश के योव्य नहीं हैं। प्रत्य चेतन सताएँ ऐसी हैं जो किसी भी काल में मोल के योव्य नहीं होते। हनके दो प्रकार होते हैं स्ववाह के जो प्रवाह की होती। जान स्वति होती। जान में मोल के योव्य नहीं होते। इनके दो प्रकार होते हैं सव्वाह के जो प्रसार प्रवाह के भाग होते। हैं जह स्वताएं पुत्रः तीन प्रकार को होती है,

<sup>े</sup> श्री नागराज समी ने अपने 'Reign of reactism' में टीकाकार जयतीचे, राचवेन्द्र स्थामी भौर वेदेशतीचे द्वारा दी गई सामग्री की सहायता लेकर 'कथालसत्ता' की विषय-वस्तु का सारांख दिया है।

<sup>ै &#</sup>x27;कथा' के स्वरूप एव जास्त्राचें की प्रवस्थाओं मुम्बन्धी विषय पर देखिये 'खण्डन-खण्ड-खाळ' पु० २०, बनारस १६१४।

नित्स, स्रनित्य तथा सथतः नित्य एव संवतः स्रित्यः। केवन वो हो नित्य है। 
पुराखों का पवित्र साहित्य काल सौर 'मक्रीत' नित्य एवं स्रित्यः दोनों हैं, क्योंकि 
क्ष्मण्य में 'पुराख' काल व 'मक्रीत' नित्य हैं क्ष्मण्य विकास की सक्त्या में वे सनित्य 
है। स्रित्य सताएँ पुतः दो प्रकार की होती है-जिनकी लृष्टि हुई है (संवित्यः) एव 
जिवकी शृष्टि नहीं हुई है (स्रवित्यः) 'मस्तित्यः' सताएँ हैं 'महत्' 'पहम्' 'बुढि' 
'मनत्' इत्यितं, तन्यात्राएं मोर पंचमूतियां। वयत तथा वयत की सत्यतः वस्तुष्ट 
संस्तियः सताएँ हैं। युष्टि-रचना का सर्थ है क्ष्मायों में मेरित होना, सतएव 
'सस्तियः सताएँ के स्यवस्थामों में से निकनती हैं: ईश्वर हो समस्त बस्तुष्टां 
भीर सर्थ परिवर्तनों का मार्तिष्ठ संचालक है। मध्य को लख-विकशं 'तव-संच्यान' 
के समान लच्च एचना है जो केवल एक दर्वन 'प्वन्यों की है तथा मुन्तांविक उसी विषय 
का निक्षण्य करती हैं: सक्तः उसकी विषय-मुची का सार्याज वेना मात्रस्यक है।

परन्तु 'तत्वोद्योत' पद्य एवं गद्य में लिखी हुई कूछ बड़ी रचना है। वह इस प्रदन को लेकर भारम्य होती है कि मुक्त भारमाभी में नेद है अथवा नहीं, तथा मध्य कहते हैं कि मूक्त भारमाएँ इंश्वर से मिन्न हैं क्योंकि वे एक काल विशेष में मुक्त हुई थी। उनका इंश्वर से भेद और अभेद नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानना अर्थहीन होगा। वेदान्तियो द्वारा दी गई 'म्रनिवर्चनीय' की संकल्पना किमी उदाहरए। पर भाषारित नहीं है। मध्व 'अनिवर्चनीय' के सिद्धान्त को श्रृति-पाठों की सहायता से स्वंदित करने में श्रम लगाते हैं, और कहते है कि शंकर मतवादियों का तथाकियत मिथ्यात्व का सिद्धान्त प्रत्यक्ष, अनुमान अववा अर्थापत्ति से सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह मानने का कोई कारए। नहीं है कि जगत के झामासों का निषेध (बाधक) नहीं किया जा सकता। वे आगे कहते हैं कि यदि जगत में सब कुछ मिथ्या होता तो यह मारोप भी मिथ्या होगा कि जगत धनुभव मे बाध्य हो जायगा। यदि जगत की बाध्यता मिथ्या है तो इसका तात्पर्य यह है कि जगतानुमन कभी बाध्य नही होता। यदि यह कहा जाय कि जगतामास सन् से मिन्न है, तथा सन् विषेय का तास्पर्य 'मन्' के जाती-प्रत्यय से है तो फिर सत्तामों के भनेकत्व को स्वीकार करना पड़ेगा क्यों कि उनके बिना सत् का जाति-प्रत्यय सम्भव नही है। किन्तु यदि 'सत्' विधेय का प्रथं श्रुद्ध सत् है तो चुकि श्रुद्ध 'सत्' केवल ब्रह्मन् ही है अतः उसका जगत से बन्तर बृद्धि-गम्य होगा भौर जगत की तथाकथित 'मनिवंचनीयता' सिद्ध नही होगी। यह कहा जाता है कि मिथ्यात्व वह है जो सन् एवं असन् दोनों से विलक्षाण है, किन्तु इसका तात्पयं यह होगा कि जो ग्रविनक्षण है वही नत्य है। किन्तु इस मान्यता के श्राधार

सद्विलक्षण्टलं असद्विलक्षण्टलं च जिच्या
 इत्यविलक्षण्मेव सर्यं स्थात् ।
 —वही, पृ० २४२ (घ) ।

पर कारलों प्रथवा कार्यों के घनेकरव घथवा धनुमान से मान्या-वाक्यों की विविधता को मिल्या कहकर त्याग देना एडेगा, उवा झान भी मिल्या हो नात्या। झान से विविधता का समावेश होता है, झाता, झान घीर हेय एक ही नहीं हो सकते। पुन: यह मानना गनन है कि झझान झान के विवय धवता झहमू पर प्रामित रहता है क्यों कि ध्वझान ख्या झान पर प्रामित रहता है। यदि झान के घवसर पर यह माना जाय कि विवयों पर प्रामित प्रझान हुर हो गया है, तो एक व्यक्ति के झान हारा विवय में निर्दित प्रझान दूर हो जाने के कारला समी व्यक्ति उत्त विवय के मान्य हो। जोने वाहियों। यदि वट को झान करने का स्वयं है घट में निहित प्रझान का निराकरण होना, तो इस प्रझान के निराकरण में बढ़े का झान उन व्यक्ति प्रझान की निराकरण होना, तो इस प्रझान के निराकरण में बढ़े का झान उन व्यक्तियों को भी हो जाना वाहिये थे यहाँ उपस्थित नहीं है। पुन: यदि किसी विवय के झान हारा किसी प्रमा विषय में निहित झान का निराकरण होता है, तो घट के झान हारा स्वयं विषयों का प्रझान हुए हो जाता।

गित्रं ज्ञान-क्रेययोऍकाकारता निह मजस्य घटाययस्य ब्रह्माथयस्य वा मस्ति पुगतमंत्र हि तमोज्ञानेन निवनंते, विवेपाययस्य मजान निवनंते तिह एकेन ज्ञातस्य घटस्य भन्येमजातन्त्रं न स्यातः।

कास एवं दिक् से सीमित हैं वे मिण्या है, क्यों कि कास और 'प्रकृति' दिक्-काल से सीमित नहीं है, सतएस उनकी सिण्या नहीं माना सा सकता, जैकाकि स्मादैत सा साहते हैं। (किर यह दुक्ति प्रांट ठीक नहीं है कि वो बस्तुएँ कात एवं दिक् से सीमित हैं वे सिण्या है, स्वांक्ति काल चौर 'प्रकृति' दिल्-काल से सीमित नहीं है, सतएस उनको मिण्या नहीं माना वा सकता, जैसा कि साईतवादी चाहते हैं।) किर यह दुक्ति यदि ठीक भी मान ती जाय तो वे बस्तुएँ को सपने स्वस्था एवं लक्षण से सीमित है, फलत: सिण्या हो वाएँगी। इस प्रकार भारताई सिण्या सिंद हो जाएंगी, क्योंकि वे सपने स्वस्थाों में एक दूसरे से मिण हैं।

भव्य का सामें यह मत है कि 'बहा-मूत्र' भाग २ मे न केवल विभिन्न प्रत्य सामंतिक मतों का खंटन किया गया है, बल्कि महेतवादि मिहान्त का जी खंटन किया गया है। बौद्ध-धत का खंटन वस्तुत: महैतवादियों का भी खंटन है, वो नास्त्य में प्रच्छत्र वीदों के सानिरिक्त कुछ भी नहीं है।" 'शूच्यादों बौद यह मानते हैं कि सत्य दो प्रकार का हांता है, वह वो साम्हतः यथवा सीमित सप्या व्यावहारिक महत्व का है, तथा यह जो 'परामव' स्थवा परम सत्य है। यदि कोई वस्तुमों के स्वरूप का सम्मक् विवेषन करे तो उनमें कोई सारवा नहीं मिनेशी तथा जो सत्य के रूप में प्रत्यक्ष किया जाता है वह केवल प्राथात है। 'पारमाविक' सत्ता का मर्थ है तव सामास की

न च निविशेष ब्रह्मवादिनः सूत्यात् कश्चिद् विशेषः, तस्य निविशेषं स्वयं-सूर्वानलॅमरामरं शत्यं तस्यं विशेषं मनोवामोचरमः।

<sup>-</sup>तस्बोद्योत, पृ० २४३ (भ) ।

निर्दात्तः। ' निर्मुण बह्य कीर बौद्धों के 'जून्य' में कोई अन्तर नहीं है। निर्मुण बह्यन् स्वयं-प्रकाश व नित्य है, बौढ़ों का 'शून्य' मन ग्रीर वाली से ग्रविक्रेय है, नथा निर्विशय, स्वयं-प्रकाश व नित्य है। वह जडत्व, ब्यावहारिकता, पीडा व दुःख समाप्ति व बंधन के दोवों का विरोधी है। वह वास्तव में कोई सत्-मावारमक सत्ता नहीं है, यदापि बहु सर्व भावात्मक माभासो का माधार है, भीर शद्यपि वह स्वयं में नित्य है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से वह अनेक लक्ष्मणों में वासित होता है। वह न सत् है न प्रसत्, न शुम है न प्रशुम । वह कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे कोई स्थाग सके प्रथवा ग्रहण कर सके, क्योंकि वह बक्षय जून्य है।<sup>3</sup> इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि श्रद्वेतवादी भी सत् एव श्रसन् नामक लक्षणां की सत्ता में विश्वास नहीं रखते, क्योंकि उनके प्रमुसार बह्मन सर्व लक्ष्मा व गुरा। से रहित है। बीद्धों के शून्य की मौति वह अनिवंचनीय है, यद्यपि समस्त ज्ञान उसकी और सकेत करता है। न तो शंकर-मता-बसंबी घौर न शून्यवादी सर् भयवा मावात्मकता रूपी लक्षरणो की नकल्पना में विश्वास रखते हैं। शून्यवादी 'जून्य' को एक लक्षरण नहीं मानता। श्रतः शंकर के धनुयायियों का मत लक्षणो एव गुणो से सम्पन्न मगुण ईश्वर की बारणा से सर्वथा भिन्न है (समस्त प्रामालिक श्रृति-पाठो का सामान्य बाशय सनुरा ईश्वर ही है) । ब्रह्वेतवादियों के मत में ब्रह्मन् निरपेक्ष, भेद-रहित है, ब्रतः वे अपने मत के पक्ष मे कोई युक्ति नहीं दे सकते, क्योंकि समस्त युक्तियों में सापेक्षता एवं भेद का पूर्व-ब्रह्मा होता है। किसी सम्बक् युक्ति के श्रमाव में, तथा जगत की सत्यता के व्यावहारिक श्रमुमव के समक्ष, वस्तुत: भद्वैतवादी मन को स्थापित करने का कोई साधन नहीं है। जगत के मिथ्यास्य की सिद्ध करने याली सर्व दृत्तियाँ जगताभास के अन्तगत ही आएंगी, तथा स्वयं भिष्या हो जाग्गी। यदि समस्त बात्माएँ एकरूप होती तो मुक्त बीर बमुक्त आत्माओं में कोई

–वही, पृ०२४३ (ग्र)।

सत्य च द्विविधं प्रोक्त सम्द्रतम् वारमाधिकः संद्रतं अवदार्थं स्थान् निर्देत वारमाधिकः विभारमामेन सत्यचाणि प्रतीयये यस्य महत ज्ञान व्यवहारणादाच यत्।
 —वही, ९० २४३ (प्र)।

<sup>ि</sup>विधेष स्वय भूत निलंपमनरामर भून्य तत्वमविक्रय मनोवाचाम् ममोचर जाइय-संइत-दु-वान्त-पूर्व-दीव-विरोधि यत् नित्य-भावनया मुन्त तद्व भावं योणिनां नवेन् भावायं-प्रतियोगित्वं वा न तत्वत विद्याकारांचं सम्बन्ध्य यस्य तत् पर ग्रजायम् ।

नास्य सत्वमसत्वं वा न दोषो गुण एव वा हेयोपादेय-रहित तञ्कूल्य पद्म ग्रक्षयम् ।

<sup>–</sup>बही, पृ० २४३ ।

भेद नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि सर्व भेद अज्ञान के कारण हैं तो ईश्वर भ्रज्ञान-रहित होने के कारए। समस्त जीवो से अपने तादारम्य का प्रत्यक्ष करेगा भीर इस प्रकार धनेक द: लों का मागी बन जायगा, किन्तु 'गीता' का श्रृतिपाठ निश्चय-पूर्वक यह बताता है कि ईश्वर स्वय को साधारए। जीवो से भिन्न प्रत्यक्ष करता है। द:स की बनुभूति 'उपाधि' जन्य सीमाधी से उत्पन्न नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उपाधियाँ की विविधता के होने पर भी अनुभवकर्ता एक-रूप बना रहता है। इसके अतिरिक्त इंदवर सब उपाधियों से रहित होने के कारण सब प्राणियों के दःव को बंटाने की हण्टि से उनके साथ अपनी समानता का प्रत्यक्षीकरण करने मे उपाधि-भेद द्वारा वाधित नहीं हो सकता। जो यह मानते हैं, कि जीव एक ही है तथा सर्व आमक धारएगएँ उसके कारए। हैं वे गलत है, क्योंकि उसकी मृत्यु होने पर समस्त भेदों की निवृत्ति हो जानी चाहिये। इस मत के पक्ष में भी कोई प्रमारण नहीं है कि भेद एवं जगत के बाभान की सकल्पना एक ही जीव की भामक भारता के कारता उत्पन्न हुई है। भवः शकर-मताबलस्वियों द्वारा माने गये भद्रैतवादी मत के पक्ष मे कोई प्रमाण नहीं दिये जा सकते । इसलिये अब समय आ गया है कि 'भाया'-सिद्धान्त के समर्थक भाग साहे हो, क्योंकि सर्वज्ञ इंडवर छलपुर्ण युक्तियां व श्रांत पाठों की असत्य व्याल्या रूपी अधकार को विदीसंकरने के लिये बारहा है।"

सम्ब के कर्म-निर्हाय में कर्म प्रथम द्वारा स्विधा के स्थम्प का निक्यम किया है, जो 'पूर्व-मीमांता का विषय हैं। 'पूर्व-मीमांता' इंत्यन के प्रास्तरक की न केवल नमम उपेशा करता है, किन्नु उसका निवेध भी करता है। मध्य स्वय सुग्ध देवल के स्वार्य सम्बन्ध के प्रता है। मध्य स्वय सुग्ध देवल के स्वार्य सम्बन्ध के प्रता है। मध्य स्वय सुग्ध देवल के प्रया करता बहुत वं। उनके मत से रक्त प्रांत मादि विभिन्न देवला विष्णु प्रथम नारायण का प्रतिनिध्य करते हैं। 'पूर्व-मीमांता तो समस्त के मत से वरण उद्देश्य के प्या स्वयं की स्वयान करके मतुष्ट हो गया था, पर मध्य के मत से वरण उद्देश्य का सम्बन्ध सात तथा दिवस के प्रता करके मतुष्ट होग सोध की प्रतिन। वे इन विश्वा का नायमन्त करते के कि सारायण वाहिये, तथा वे इन वारणा पर वत देते वे कि उद्दों का धनुष्टान विभा किमी हेतु के करना चाहिये, तथा वे इन वारणा पर वत देते वे कि उद्दों का धनुष्टान विभा किमी हेतु के करना वाहिये, तथा के उद्देश में किया जाना चाहिये। उनका प्रांत का स्वाराय दिवस होने के निक्त स्वाराय प्रता हो के स्वर्ण का प्रता का स्वराण पानन हो में देवसानुग्र की प्रार्ण का प्रार्ण वाल का स्वराण करना है। धनगृत यहां का निल्लाम सम्पादन एक प्रकार ने प्रता न प्रता कुढ़ किया वा सकना है। धनगृत यहां का तिल्लाम सम्पादन एक प्रकार ने प्रतान गढ़ इंदरानुष्ट की प्रार्णन का प्रार्णनक चरणा करना प्राप्त का प्रार्णनक चरणा करना है। स्वराण वा प्रताम करना है।

पलायध्व पलायध्वं त्वरया माथि दानव.
 सर्वज्ञां हरिर्धायानि तर्कागम-दरारिभिद्।

धत: सदा की माँति मध्व अद्वैनवादियों की धनन्त गुए।सम्पन्न ईश्वर की विरोधी एव मेद-रहित ब्रह्मन की समयंक युक्ति का खंडन करने का प्रयत्न करते हैं। उनका मागे कथन है कि 'सत्यम् ज्ञानम् धनन्तम् बह्या' जैसे खृति-पाठ जो हमें निर्मु स बह्य की क्योर ब्रेरित करते हैं उन श्रति-पाठों से गौरा माने जाने बाहिये जो वैतवादी स्वरूप के हैं। अनुमान के आधार पर अवसर होते हुए वे कहते हैं कि जगत कार्य रूप है अत: उसका कोई बृद्धिमान कारण अथवा निर्माता होना चाहिये. और यह निर्माता ईश्वर है। जगत का यह निर्माता भनिवार्यत: सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता सम्पन्न होना चाहिए। मध्व 'सगुरा' बहा के पक्ष में 'मागवत पुरारा' की साक्ष देते हैं। जहाँ श्रति-पाठ बहा को निगुं ए। कहते हैं वहाँ भाषाय यह है कि बहा दर्ग सों से रहित है। बहान सब विशेषां ने रहित नहीं हो सकता, 'विशेष' का निषेध करना स्वयं एक 'विशेष' है धताव ग्रहतवादी उसका निषेध करेंगे, किन्त वह उनको ग्रानिवार्यत: विशेष की स्वीकृति पर ही ले जायगा । फिर मध्व 'माया', 'मिथ्या' व 'झनिवंचनीय' के विरोध में अपनी परानी यक्तियाँ देते हैं. तथा यह संकेत करते हैं कि मध्व-निषेध नियम के धनसार ऐसा कोई नस्य सम्भव नहीं है जो न 'सत' हो धीर न 'झसत' हो । वस्तत: तथा कथित 'स्निवंचनीय' का कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता । कभी-कभी ऐसे भ्रम को, जो बाधित हो चुका है, 'मनिवंचनीय' के उदाहरए। के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, किन्न यह नवंशा त्रटिपणं है, क्योंकि अस की स्थिति में इन्द्रियों द्वारा कोई बस्त वास्तव में द्रव्येन्द्रिय के सम्पर्क में थी तथा जब भ्रम का व्याचात होता है तब व्याचात का ग्रंथ है यह पना लगाना कि वह वस्तु जो वहाँ उपस्थित समस्ती गई थीं वहां नहीं है। जिस वस्त को-उदाहरण के लिये सर्प को गलती से प्रत्यक्ष किया गया. यह एक यथार्थ बस्त थी. लेकिन उसका अस्तित्व वहीं नही था जहाँ उसे सोचा गया था। यह कहना कि भ्रम 'मिय्या' है केवल इतना ही अर्थ रक्षता है कि भ्रम-पूर्वक प्रत्यक्ष की गई वस्तु का वहाँ अस्तित्व नहीं है। केवल इस तथ्य का कि एक वस्त भम-पूर्वक प्रत्यक्ष की गई थी-यह अर्थ नहीं हो सकता कि वह वस्त वास्तव में सत थी. श्रीर फिर उसकी असला का व्याघात हो गया था, अतएव वह न सनु थी स्रीर न बसत् थी । एकमात्र युक्ति-नगत दृष्टिकोगा तो यह है कि अम-पूर्वक प्रत्यक्ष की गई वस्तु का प्रत्यक्षीकरण की दिशा में अस्तित्व नहीं रखती थी, अर्थात वह 'असत्' थी। जो रज्ज 'सपं' के रूप में प्रत्यक्ष की गई थी, बाद में जब सपं का प्रत्यक्षीकरण जुप्त हो जाता है. तब उसका व्याधात हो जाता है. किन्तु स्वयं जगत कभी भी लप्त होता हुआ। नहीं पाया गया है। इस प्रकार जगत के प्रत्यक्षी करण में तथा भ्रमक सर्प के प्रत्यक्षी-करण में कोई समानता नहीं है। इसके खितरिक्त 'अनिवंचनीय' उसे कहते हैं जिसका विसक्षरासा के कारण वर्णन करना कठिन होता है, परन्त इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह एक ऐसा तत्व है जो न सन है चौर न चमत । यद्यपि उसका यथेष्ट विवरसा दिया जा सकता है. तथापि हम उसके विवरण को समाप्त नहीं कर सकते । एक घट एक कपड़े से जिम्न होता है तथा केवल काल्यनिक सम्बन्धं से नी निम्न होता है, अर्थात्, एक घट एक सन् कपड़े से तथा एक असन् सम्बन्धं से जिम्न होता है, पर इससे घट 'अपनिवंपनीप' प्रथम निस्था नहीं वन जाता। जैसाकि अपन बताया जा चुका है घट 'सरस्य-जिलकार' है, किन्तु इस कारण से यह घटनुनहीं हो जाता।

फिर, 'तरसद्-वितक्षस्' वाक्यांस का प्रथं बहुन सन्पष्ट है। प्रथमतः यदि उसका मार्च है 'भेद' का प्रत्यक्त, तो यह प्रथं प्रसंगत है। प्रदेतवादी मानते हैं कि केवल बहुगद्द हो का प्रस्तित्व है, तो तर का भी प्रदान के भेद का भी प्रतित्व है तो तित्वाद प्रतिक्रित्व है तो है ति वाद प्रतिक्रित्व है तो है ति वाद प्रतिक्रित्व है तो है कि दौतवाद प्रतिक्रित्व हो वास्था। किन्तु उत्तर में यह कहा वास्पर्य एक ऐसे प्रदार्थ से सम्भव है। परन्तु इस स्वय् का प्रयं स्पष्ट नहीं है। उसका तार्थ्य एक ऐसे प्रदार्थ से नहीं ही सकता को सत् प्रीर प्रसन्द दोनों से प्रित्व हो, स्पर्धिक ऐसा प्रदार्थ तार्किक हाँच्ट से स्वरत्य है। यदि उसका धर्म सोपाधिक सत्ता से है, तो फिर उच्चतम सता की संकल्पना मी मानवी ज्ञान से प्रतिक्रियत होने के कारण सोपाधिक (अ्यावहारिक) होनी चाहिये, तथा इस यद को केवल भामक प्रथक्तिकरण स्वयदा सामान्य प्रश्विक करता से सुष्टी प्रसन्द वानकान्य प्रविक्रित्व स्वयद्ध सामान्य प्रश्विक करता पर सामू करना मदेहपूर्ण होगा। दितीयन. 'खदसद्दिनकलन्य' पद का प्रयं बहुग सीर कान्तु का तादारम्य भी नहीं हो सकता, स्वांकि ऐसे नादान्य का अवाचात हो सकता है। प्रदेतवादी न नो भेद की सना का धर्मियवन दे नकते हैं धौर न ज्यन और क्षान के पूर्ण नादान्य की नता का ।

भद्दैतवादियों का बहु मन कि सत्ता के विनिन्न स्तर होते है तथा उनमें स्वक्यतः तावारस्य व भागत की होण्ट से मेर है, नवतक स्थापित नहीं किया जा सकता जब-तक कि सत्ता के स्तरों की सरका को स्थापित नहीं का जा ता सकता जब-तक कि सत्ता के स्तरों की सरका को स्थापित नहीं कर दिश जाता। वे मानते हैं कि जगत (जो निम्म स्तर की सत्ता है) कहानू पर अध्यारोंपित है, अध्या रहानू ने स्वय को जनते के रूप से अस्ति स्तर है कि सुन्तु ऐना कथन मृदिपूर्ण है यदि जगत एव बहुत्तू का पूर्यत तास्तर्य है। किर तो 'युन्तं तास्तरम्य 'वाश्याक केवल एक समानार्यक पर हो जायांग, तथा इस कर में वित्त भूति-पाठों को अध्यास्त्र को गई है वे में मानवार्यक रही जायांग, तथा इस कर में वित्त भूति-पाठों को अध्यास्त्र को गई है वे में मानवार्यक रही हो अध्यास केवल एक समानार्यक पर हो जायांग जनके हारा जनके विशेषवायक परो का अपवर्धन हो जाता है। बहुत्त्व को 'परव' 'गब 'शान' करही का स्वय है कि कहान् 'प्रसर्द्ध' एवं 'शान' 'अधान' करही के विशेषवायक परो का अपवर्धन हो जाता है। कहान्त्र को परव' गुन्त 'शान' करही का स्वय है कि कहान्य स्तर परवार पर्वार 'प्रसान' विशेष के स्वय एक हो सार्यक्ता (धर्षात्त विशुद्ध भेद-रहित बत्ता का कथन) नहीं होती भ्रतियु उनके हारा भ्रत्य मुख्त का निवेष मी किया जा सकता है, तथा ऐसी स्थित में इस मत का व्याधात हो जाता है कि सब भूत-वरों की प्रतिन सार्थकता मेर-रहित कहान्य के कथन में निवित्त है। चुन, जबत को 'खानिवंवित्तरों की प्रतिन सार्थकता मेर-राहत कहान्य के कथन में निवित्त है। चुन, जबत को 'खानिवंवित्तरों को प्रतिन सार्थकता के स्थानिवंवित्तरों का करन में निवित्त है। चुन, जबत को 'खानिवंवित्तरों को प्रतिन सार्थकता मेर-राहत कहान्य के कथन में निवित्त है। चुन, जबत को 'खानेवंवित्तरों को प्रतिन सार्थकता मेर-राहत कहान्य के कथन में निवित्त है। चुन, जबत को 'खानेवंवित्तरों का प्रतिन सर्वार का करना में निवित्त सर्वार का स्वत्त को स्वत्त का स्वत्त का

विश्लेषसा पर बाबारित है. बतएव यह कवन कि ब्रह्मन की मेदरहितता जगत की भ्रामकता पर निर्मर करती है, बढ़ैतवादियों द्वारा किसी सम्यक् मुक्ति द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता । अद्वेतवादियो द्वारा जगताभास एवं ब्रह्मन् का भेद चरम सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस दशा में 'भेद' का प्रत्यय बह्यान के साथ सह-प्रस्तित्व रखने वाली सत्ता बन जायगा । सिर, सत् और असत् के मध्य भेद के प्रत्यय का वर्गीकरण करना भावस्थक है, तथा अब तक यह नहीं किया जाय तब तक इस कथन मात्र में कोई वर्ष नहीं होगा कि जगताभास का बहानू से वभेद भी है वीर भेद भी है। जो असत से भेद रखता है उसे सत कहा जाता है, और जो सत से भेद रखता है वह असत् अथवा काल्पनिक कहलाता है। असत् का कोई गुरा नहीं होता, क्योंकि उसे किसी भी साधन से जात नहीं किया जा सकता, बतएव उसका सत से भेद जात नहीं किया जा सकता, क्योंकि किन्ही दो सत्ताओं के मेद को जात करने के लिये हमें उन दोनो सत्ताकों का पूर्ण ज्ञान होना वाहिये। कोई इस सम्बन्ध में तक नहीं कर सकता कि शशस्य का एक इक्ष से भेद है अथवा अभेद । पून: यदि 'सत्' का तात्पयं भेद-रहित परमसत्ता से है तो चूँकि ऐसे सत् एवं किसी झन्य वस्तु के मध्य के भेद में कोई गुरा नहीं होता, अतः उस भेद का प्रत्यय बनाना सम्भव नहीं है। इस प्रकार हम किसी ऐसी बस्त का प्रत्यय नहीं बना सकते जो सत् एवं बसत् दोनों से भेद रखती है, यदि जगत असत से भेद रखता है तो वह सत् होना चाहिये और यदि जगत् सत् से भेद रखता है तो वह सत् होना चाहिये और यदि जगत सत् से भेद रखता है वह तो शशशंग होना चाहिये । मध्य-निषेच के नियम के अनुसार भी ऐसी कोई सत्ता नहीं हो सकती जो न सत् हो भीर न भसन्, विरोधी निर्णयों के एक ग्रुग्म में से एक निर्णय सत्य होना बाहिये । इस प्रकार बहान एक ऐसी सत्ता है जो सर्वगुरा-सम्पन्न है, तथा जगत के लब्दा और नियन्ता के रूप में उसका निवेध नहीं किया जा सकता।

पान फिर प्रमाकरों से विवाद करते हैं, जिनके मत में वैदिक-नाक्यों का जरम प्रावय किसी कमें का प्रमुख्य होना चाहिय । ऐसी दवा में वैदिक वाक्यों का प्रावय कहान की सत्ता की बीर सकेत करना कमी नहीं होगा, क्योंकि बहुम्य मानवी कमें का विवय नहीं वन सकता। मध्य के मत में सर्व वैदिक पाठों का उद्देश प्रवर्श वयोगान करना है तथा यह बताना है कि वो कुछ सदीए मानवी की क्रिया हारा उत्पक्ष किया बाता है वह घसीम इंकर में पूर्व-स्थापत है। वर्ष कमी में प्रस्थान परिवाद कर केती में प्रस्थान करना है तथा प्रतिकृत होती है, न कि केवस किया। मतुष्य हारा कोई ऐसा कार्य सम्माय ही किया वायमा वो उसके किये सम्पटत हो किया कार्य कार्य कार्य क्यों का प्रवाद कार्य कार्य क्यों का प्रवाद कार्य कार्य

ह्वारा मोक्ष की प्राप्ति करना है। बतः यह ब्रावस्थक है कि सर्वे यक्ष-कर्ण मस्ति-माव से सम्पन्न किये जायं, क्योंकि वक्तिमय उपासना से ही ईस्वर के बनुषह को प्राप्त किया जा सकता है। 'कर्म-निर्सूय' ४०० 'बन्यों' की एक छोटी सी रचना है।

'विष्णु-तत्व-निर्ण्य' में जो लगभग ६०० 'ग्रन्थों' की रचना की है-मध्व धनेक महत्वपूर्ण समस्याभ्रों का विवेचन करते हैं। वे यह घोषरणा करते हैं कि बेद, 'महा-भारत, 'पंचरात्र,' 'रामायस्त्,' 'विष्सा पूरास्त नवा उनका अनुकरस् करने वाले सर्व धर्म-साहित्य प्रामाशिक बास्त्र (सद्द-बागम) माने जाने चाहिये । अन्य समी मुलपाठ को उनके विरोध में जाते हैं वे अञ्चन शास्त्र (दूर-आगम) माने जाने चाहिये. तथा उनका अनुसर्ग करके ईश्वर के सत्य स्वरूप को ज्ञात नहीं किया जा सकता । ईश्वर न तो प्रत्यक्ष और न धनमान द्वारा जात किया जा सकता है, केवल बेदों की सहायता से ही ईइवर के स्वरूप को जात किया जा सकता है। वेदों की रचना किसी मानव के द्वारा नहीं की गई वी (घपौरुषेय) जब तक वेदों के घलौकिक उद्देगम को स्वीकार नहीं कर लिया जाता तब तक वार्मिक कर्तव्यो की निरपेक्ष प्रामाशिकता स्थिति नहीं की जा सकती सब नैतिक एव धार्मिक कर्त्तव्य सापेक्ष बने रहेंगे। कोई भी मानवी बादेश अज्ञान की अनुपस्थिति बथवा बसस्य ज्ञान की बनुपस्थित के सम्बन्ध में धादवा-सन नहीं दे सकते, न यह माना जा सकता है कि यह आदेश किसी सर्वन्न सत्ता के भग्रसर होते हैं क्योंकि एक सर्वन्न सता के अस्तित्व को श्रतियों के बिना जात नहीं किया जा सकता । यह मान लेना भी युक्ति-संगत नहीं है कि ऐसी सर्वज्ञ सना हमें प्रांखा देने मे अभिरुचिन रखती हो। पर यदि इसरी छोर वेदों को किसी पुरुष से उत्पन्न मही माना जाता है तो हमें किसी मन्य मान्यता स्वीकार करने को बाध्य नहीं होना पहला. बेदों का 'ध्रपौरुषेय' उद्गम स्वयं-सिद्ध है क्योंकि हम किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानते जिसने उन्हें लिखा हो। उनकी उक्तियाँ साधारण उक्तियों से भिन्न है, क्योंकि हम परचादक्त के रचियताओं को जानते हैं। वेद अपने स्वरूप में स्थित हैं तथा केवल महर्षियों के सम्मुख प्रकट किये गये हैं, तथा उनकी मत्यता किसी ध्रम्य वस्त पर निर्भर नहीं करती, क्योंकि यदि हम ऐसा न माने तो हमारे पास सत्यता की कोई निरपेक्ष कसौटी क्षेत्र नहीं रह जाती. तथा श्रनवस्था दोष उत्पन्न हो जायगा । उनकी सत्यता किसी तकं पर निर्मर नहीं करती, क्योंकि अच्छा तकं केवल यही बता सकता है कि विचार प्रक्रिया में कोई तार्किक दोष नहीं है, तथा स्वय किसी वस्त की सत्यना स्थापित नहीं कर सकता। चंकि वेद अपौरूषेय हैं अत: उनमे तार्किक दोषों की अनपस्थिति का प्रदन उठता ही नही । समस्त सत्यता स्वय-सिद्ध होती है, केवल श्रसत्यता ही बाद के अनुमव से सिद्ध की जा सकती है। न हम यह कह सकते हैं कि वैदिक उक्तियों के एक-स्वरात्मक शब्द उच्चारण-काल में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि उस दशा में उनकी पहले ज्ञात किये हए बब्दों के रूप में पहिचान सम्भव होगी। ऐसी पहिचान समानता के

काररग उत्पन्न नहीं हो सकती. क्योंकि उस दशा में समस्त ग्रमिज्ञानों को समानता के उदाहरण मानना पडेगा, भीर हम बौद्ध-मत के समर्थक हो जाएँगे, भ्रमिज्ञानों को फिर भागक मानना पढेगा। वेदो की स्वत:-प्रामासम्बता को ही समस्त महत्वपूर्स समस्यामों का निरपेक्ष निर्णायक स्वीकार करना पहेगा।" वेद मुलत: इंहवर द्वारा प्रस्पक्ष किये गये थे. उसने उन्हें ऋषियों को प्रदान किया. जो प्रत्येक सध्ट के प्रारम्भ में धपने पूर्व-जन्म के उपदेशों को स्मरण रखते थे। अक्षर और शब्द भी नित्य हैं क्योंकि वे नित्य इंदवर के मनस में सदा उपस्थित रहते हैं. अतः यद्यपि शब्द-स्वर 'आकाश' में प्रकट होते हैं भीर बेद उनके संगटन से निर्मित है. तथापि वे नित्य हैं। मीमांसा का यह मत कि शब्दों की उपलब्धि किया पर निर्मर करती है गलत है : क्योंकि शब्द धीर उनके अर्थ पहले से ही निश्चित रूप से निर्धारित हैं, तथा केवल भौतिक सकेतों के माध्यम से व्यक्तियो द्वारा ग्रंथों की उपलब्धि की जाती है। जब एक वाक्य ग्रंथ की घोर सकेत कर देता है तब उसका प्रयोजन समाप्त हो जाता है. तथा उस बास्य की सत्यता उसके धर्य की उपलब्धि ही में निहित है। जब एक व्यक्ति उस धर्य से परिचित हो जाता है तथा यह समक्ष लेता है कि उसमें सम्निहित निर्देश फलहायी होगा. तब वह उसके अनुसार कियाशील होता है, किन्तु जब वह उस निर्देश को हानिकारक समक्षता है तब वह किया से विमुख हो जाता है। समस्त ब्याकरण एवं शब्दकोष शब्दों भीर उनके भ्रयों के पूर्व स्थापित सम्बन्ध पर आधारित होते हैं, तथा उसमें किसी प्रकार की किया का समावेश नहीं होता है।

समस्त श्रृतियाँ नारायण को सर्वज्ञ एव सब वस्तुओं का सुष्टा मानती हैं। यह मानना मृटिपूर्ण है कि श्रृतियाँ जीवा के ईश्वर के साथ तादारम्य को घोषित करती हैं, क्योंकि इस प्रकार के कथन का कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता।

ईश्वर के मिलाल को मनुमान द्वारा विद्व नहीं किया जा सकता, क्यों कि ईश्वर के म्रानील्य के मने वैद्या ही सबल सनुमान उपस्थित किया जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि वात एक कार्य है तथा उक्तका उद्यों प्रकार एक मुख्य प्रवाद निर्माला होना वाहिये जिस करार पट का निर्माला कुन्यकार होता है, तब उत्तर में यह कहा जा सकता है कि समस्त निर्माला में के वारीर होते हैं, भौर चूंकि ईश्वर प्रतिर रित है यदः ईश्वर प्रतिर निर्माला में के वारीर होते हैं, भौर चूंकि ईश्वर प्रतिर रित है यदः ईश्वर प्रतिर नहीं हो अकता । इव प्रकार ईश्वर युतियों के मानुस्तका है ति सा प्रवाद जीनों से जिस है। यदि किसी युतियार के द्वारा ईश्वर भीर जीव ध्यादा ईश्वर भीर जनत के तादास्य का

विजय परम बहा जापिका परमा श्रुतिः सनादि-नित्या सा तत्व विना तां न च सम्यते ।

<sup>-</sup>विष्णु-तत्व विनिर्णय, पृ० २०६।

संकेत मिलता प्रतीत होता है तो इस बात का प्रत्यक्ष बनुभव तथा बनुमान द्वारा व्याचात हो जाता है, अतएव इन पाठों की बर्द्धतवादी व्याक्या असस्य हो जायगी। श्रृतियौ किसी ऐसी बात का निर्देश नहीं कर सकती जिसका अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष व्याधात हो जाय, क्योंकि यदि धनुमव को बसत्य माना जाय तो श्रुतियों की सत्यता का भनुभव धसत्य हो जायगा। श्रृतियों का उपदेख मन्य 'प्रमालों' से मनुकूल होने पर श्रतिरिक्त बल प्राप्त कर लेता है, और चूँकि सभी 'प्रमाश' मेद की सत्यता की श्रोर संकेत करते हैं प्रतः श्रृति-पाठों की प्रद्वतवादी व्याख्या को सत्य नहीं माना जा सकता। जब किसी अनुमव-विशेष का अनेक अन्य 'प्रमाशों' के द्वारा व्याधात हो, तब वह भनुमव प्रसत्य सिद्ध हो जाता है। इसी विधि से चुक्ति-रजत का मिच्यात्व सिद्ध किया जाता है। जो वस्सु दूर से रजत के रूप में प्रत्यक्ष की गई थी उसका निकट निरीक्षण तथा हाय के स्पर्ध द्वारा बोध हो जाता है और इसी कारण से दूर से प्रस्थक्ष की गई शुक्ति-रजत को बसत्य माना जाता है। जो बनुमव बनेक बन्य प्रमाशों द्वारा बाधित होता है, उसे उसी कारण से दोष-युक्त मानना चाहिये।" किसी प्रमाण का तुलनारमक मूल्य उसके परिलाम ग्रयवा गुरा से गांका जा सकता है। व गुरात्मक प्रमारा दो प्रकार के होते हैं, धर्मात् सापेक्ष (उपजीवक) तथा स्वतंत्र (उपजीव्य), इनमें से पश्या-कुक्त को अधिक सबल मानना चाहिये। प्रत्यक्ष तथा अनुमान स्वतंत्र प्रमारा हैं, अतएव इनको 'उपजीव्य' माना जा सकता है, पर श्रृति-पाठ प्रत्यक्ष एव अनुमान पर माश्रित हैं धतएव 'उपजीवक' माने जाने चाहिये । सत्य प्रत्यक्ष धनुमान से पहले झाता है भौर उससे श्रेष्ठ है क्योंकि बनुमान को प्रत्यक्ष पर ब्राश्चित रहना पड़ता है, ब्रतः यदि श्रुति-पाठो एव प्रत्यक्ष में स्पष्ट विरोध हो तो श्रृति-पाठों की व्याख्या इस दग से की जानी बाहिये कि इस प्रकार का कोई विरोध उत्पन्न न हो। प्रपने स्वरूप से सबं प्रमाराो का शाधार होने के नाते प्रत्यक्ष प्रथवा प्रत्यक्ष बनुभव 'उपजीव्य' है, तथा इस कारण से सत्यता का इड़तर अधिकारी है ।3 अद्वैतवादी तथा द्वेतवादी अृति-पाठो में से पश्चादक्त को प्रत्यक्ष

ब्रदुष्टमिन्द्रियं त्वज्ञ तकोंड्युष्टम् तथानुमा ब्रागमोड्युष्टवास्यं च ताहक् चानुमवः स्मृतः बलवत्-प्रमाणतक्ष्वैव क्षेया दोषा न चान्यया ।

बहु-प्रमागु-विस्दानां दोषजन्यत्व-निवमात्, दोष-जन्यत्व च बलव-प्रमागु-विरोधाद् एव झायते ।

<sup>-</sup>वही, पृ० ४६२ (४)। -वही।

द्वि-विषम् बसवस्वञ्च बहुत्वाच्च स्वमावतः ।

मध्य यहाँ 'ऋग्नतक' के धनुसार विभिन्न 'प्रमालों' का उल्लेख करते हैं। 'प्रमालों' का विवरता एक धन्य माथ में विया गया है।

प्रमाल का समर्थन प्राप्त है। यदि यह कहा जाय कि युति-पाठों का उद्देश्य प्रत्यवादी परे जाता है तथा विश्वुद्ध तला की प्रत्यक्ष हांग ही समुप्ति की जा सकती है, तो यह बात फिलत होती है कि डैतवादी पाठ साधारण प्रत्यक्ष के विरोध में होने के नाते इसी साधार पर स्विक प्रामाणिक माने जाने जाहिये कि वे प्रत्यक है परे जाते हैं। यतः किसी मी हिष्टिकोल से देवने पर ईतवादी पाठों की अंध्वता को सम्बोहत नहीं किया जा सकता । इसके अतिरिक्त जब एक तथ्य विशेष को कई प्रमाणों द्वारा समर्थन प्राप्त होता है तो इससे उसते तथ्य की सत्यवा सकती हो जाती है। यह तथ्य की सत्यवा सकती हो जाती है। यह तथ्य की इत्यव प्राप्त होता है वह सम्बाग समर्थन प्रत्यक्त का स्वत्य होता है यत्य स्वत्य का स्वत्य के स्वत्य की स्वत्य का स्वत्य होता है यत्य स्वत्य की स्वत्य के स्वत्य की स्वत्य स्वत्

कोई क्यांकि किसी ऐसी वस्तु के प्रति झासक नहीं हो सकता जिससे वह अपने तादात्म्य का प्रतुन्त्र करता है। एक सम्राट् मपने प्रतिपक्षी को प्रेम नहीं करता, प्राप्तु वह उस पर धावमण् करके उसे पराजित करने का प्रयत्न करेगा, किन्तु वहीं सम्राट् उस व्यक्ति को प्रपत्ता स्त्र कुछ दे देशा जो उत्तरी असता करे। घषिकांश यृति-पाठ ईवर को निवंब विवेषणों एवं सक्तियों से सम्पन्न बनाते हैं जिनकी धर्मदेवाच के सामार पर व्यवस्था नहीं की जा सकती। अतः मध्य कहते हैं कि सर्व 'यूति' एवं 'स्मृति' पाठो का चरम उद्देश्य परमेश्यर विष्णु की सनुत्तमता क कपन करता है।

किन्तुभाष्य के प्रतिपक्षी यह पुक्ति देते हैं कि परमसत्ता में विशेषणों का प्रतिक्षापन भेद के प्रत्यय पर निमंद करता है, तथा येद का प्रत्यय विशेषण और विशेषण की पुषक-पुषक सत्ता पर निमंद करता है। दो सत्ताओं के भ्रमाव में येद का प्रत्यय नहीं वन सकता, तथा भेद के प्रत्यय के भ्रमाव में पुषक-पुषक सत्ताओं का प्रत्यय नहीं वन सकता, इस प्रकार ये दोनो प्रत्यय परस्पर भन्योन्याधिन प्रत्यय हैं धतएव तार्किक दृष्टि से प्रमान्य है। उत्तर में मध्य कहते हैं कि उपयूक्त पूक्ति भ्रमात्य है क्योंकि सत्तुर्ण स्वय मेद-स्वक्यों हैं। यह कहता प्रक्तिमात नहीं है कि मेद निर्देष हैं स्वीक्ति प्रकार प्रमुद्ध का

न च विशेषश्—विशेष्यतवा मेद-सिद्धिः, विशेवश्-विशेष्य-माषश्च मेदापेक्षः वर्षि-प्रतियोग्यपेक्षया मेद-सिद्धिर्मेदापेक्षं च व्यामप्रतियोगित्वस्थियन्योग्यात्रयतया मेदस्या-युक्तिः। —विष्णु-तत्व-विनिर्शाद, 9० २६४।

स्वतंत्र अर्थ है उसी प्रकार मेद की धनुभृति भी स्वतः हो जाती है। यह सोचना गलत है कि पहले तो हमें विभिन्न वस्तुओं का उनकी अभेदता में ज्ञान होता है भीर उसके पश्चात मेदों की अनुभूति होती है, अपितु वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करना ही भेद का प्रत्यक्षीकरण करना है। अभेद भी उतना ही सरल एवं विश्लेषण-गम्य है जितना अभेद । अभेद का प्रत्यय भी सरल है फिर भी तादात्म्य के सम्बन्ध के रूप में उसकी समिव्यक्ति की जा सकती है-यवा बहान एव जीव के तादात्म्य के रूप में, जैसा कि बढ़ैतवादी कहते हैं। उसके समान ही भेद का प्रत्यय सरल है, यद्यपि उसकी ग्रमिन्यक्ति दो सत्ताओं के सम्बन्ध के रूप में की जाती है। यह सत्य है कि सशय एवं अम की स्थिति में हमें भेद के प्रत्यय को स्थगित करना पढता है, किन्तु वैसी स्थिति में हमें अभेद के प्रस्थय को भी स्थिमित करना पडता है। किसी बस्त का प्रत्यक्षीकरण करने का अर्थ उसके अभेद अथवा तादातम्य का प्रत्यक्षीकरता करना नहीं है, वस्तुओं का प्रत्यक्षी-करण करना, तथा इस विसक्षणना ही में भेद का स्वरूप मिहित है। ' 'उसका भेह' यह कथन वस्तु के स्वरूप को लक्षित करता है, क्योंकि यदि ऐसा न होना तो उस वस्तु के प्रत्यक्षीकरण से हमे बन्य बस्तुको से उसकी प्रयक्ता एव भेद की बनुभृति नहीं हो पाती । यदि वस्तू के प्रत्यक्षीकरस्तु के साथ ही ऐसे भेद की अनुभृति नहीं होती तो एक व्यक्ति स्वय को घट अथवा वस्त्र से सम्भात कर देना, किन्तु ऐसी सम्भाति कभी नहीं होती क्योंकि ज्योंहि वट का प्रत्यक्षीकरसा होता है त्योही उसको ग्रन्य सभी वस्तुओं से मिन्न भी प्रत्यक्ष किया जाता है। अतः भेद प्रत्यक्ष की गई वस्तुओं के स्वरूप के रूप में भनुभूत किया जाता है, सशय केवल उन्हीं स्थितियों में उत्पन्न होता है जिनमें कुछ समानता हो, किन्तु ग्रन्थ ग्रांचकाश स्थितियों में एक सना के ग्रन्थ सत्तामों से भेद की अनुभृति उस मत्ता के प्रत्यक्षीकरण के याथ ही हो जाती है। जिस प्रकार भनेक बित्यों को एक दृष्टि से देखने पर उनका एक सामान्य ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार भेद का ज्ञान भी सामान्यतः हो जाता है बैद्यपि उस वस्तु का ग्रस्य वस्तु-विशेष से विशेष मेद प्रत्यक्षोकरण के नुरन्त साथ ही जान नहीं हो पाता। जब अनेक बस्तुम्रो का प्रत्यक्षीकरण किया जाना है तब हम यह प्रत्यक्षीकरण भी करते है कि प्रत्येक वस्तु भिन्न है, यद्यपि प्रत्येक वस्तु का ग्रन्थ वस्तु से भेद तत्काल ग्रनभूत नहीं हा पाता । अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भेद का प्रत्यक्षीकरम्। इकाइयो की श्रे स्ती के रूप में अनेकता के पूर्व प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर करता है जिस पर भेद का प्रत्यय श्रध्यारोपित रहना है। वेदान्ती श्रववा श्रहेनवादी भी जो प्रत्येक मना को व्रह्मन से

पदार्थ-स्व-रूपस्थान् भेदस्य न च धिम-प्रतियांम्ययेसया भेदस्य स्वरूपस्यीयवत्-स्वरूपस्यीय नयावत्, स्व-रूप-मिद्धा वै तदसिद्धित्र बोवेश्वर्रस्य बदतः सिद्धेष, भेदस्नु स्व-रूप-दर्गन एव सिद्धि, प्रायः मवंनो विनक्षागृ हि पदार्थ-स्व-रूप दृश्यते ।

भिन्न मानते हैं इस बात का निवेध नहीं कर सकते कि प्रत्येक सत्ता के प्रत्यक्षीकरए। में उसके विशेष स्वरूप एवं विसक्षरणता का प्रत्यक्ष किया जाता है। इस प्रकार महैतवादी भेट के प्रत्यक्षीकरता को जिस बन्योन्याश्चित तक से सम्बन्धित करते हैं वह दोषमय है तथा धमान्य है यदि एक वस्तु अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के साय-साथ अपना भेद-विशेष एव विलक्षसाता की अभिव्यक्ति नहीं करेगी तो समस्त वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरस् एकरूप हो जायगा । इसके अतिरिक्त प्रत्येक भेद का अपना विलक्ष शस्त्ररूप होता है, एक घट से भेद एक वस्त्र से भेद के समान नहीं होता । इस प्रकार भेद का प्रत्यक्षी-करण भवैध नहीं माना जा सकता, यह कहना कि जिस वस्तू का प्रत्यक्ष वैध रीति से हमा है वह मिथ्या है सनभव को चनौती देना है, तथा समान्य है। शक्ति-रजत के भामक प्रत्यक्षीकरण को मिच्या इसलिये माना जाता है कि उसका एक प्रविक सबस प्रस्पक्ष प्रत्यव द्वारा व्याचात होता है। कोई हेरवनुमानिक तर्क वैष प्रश्यक्षानुभव की सस्यता को चुनौती देने की क्षमता नहीं रखता । कोई भी दुन्द्वारमक तक प्रत्यक्ष, ग्रापरोक्ष ग्रनुभव की ग्रविधना सिद्ध नहीं कर सकता। इस तर्क के ग्रनुसार वस्तुमों के भेदों का निषेध करने वाली समस्त यक्तियों का श्र ति-पाठो, प्रत्यक्ष तथा अन्य यक्तियों द्वारा व्याघात हो जाता है, जो भेद की सत्यता को चूनौती देते हैं उनकी युक्तियाँ स्वरूपतः सर्वथा छलपूर्ण हैं। यह कहना निरर्थक है कि बद्यपि हमारे व्यावहारिक अन्भव में भेद की अनुभृति होती है तथापि पारमाधिक सत्ता में कोई भेद नहीं है। यह पहले ही प्रदर्शित कर दिया गया है कि मिध्यास्य की सन एवं बसत दोनों से भिन्न बताकर परिभाषा देना अर्थहीन है। असत को अनभव के लिये मुख्यहीन बताना और उसका निषेध करने का प्रयत्न करना अर्थहीन है, क्योंकि चाहे उसका अनमब हो ग्रथवा न हो. उसका निषेध करने की कोई ग्रावक्यकता नही है। किसी वस्तु का असन् से भंद असन् के ज्ञान के बिना ज्ञात नहीं किया जा सकता। शुक्ति में रजत के ग्रामास को सत और धमन से मिल्ल नहीं कहा जा सकता, क्यों कि रजत के ग्रामास का शक्ति मे अनस्तित्व माना जाता है यहाँ यह यक्ति नहीं दी जा सकती कि रजत के धामास की धनभति हुई यी धत: उसका धनस्तित्व नही हो सकता। असत का सत के रूप में प्रत्यक्षीकरण करने का ग्रयं है एक वस्तू का दूसरी वस्तु में प्रत्यक्षीकरण। यही भ्रम का स्वरूप है। यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अईतबादियों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि वास्तविक ग्रस्तिव न रखते हुए भी 'ग्रानिवंचनीय' का प्रत्यक्षी-करण किया जा सकता है। यह भी नहीं माना जा सकता कि ऐसा प्रत्यक्षीकरण स्वयं 'अनिवंचनीय' होता है, क्योंकि उस अवस्था में 'दष्ट अनन्त' का दोष उत्पन्न हो जायगा-पहला 'म्रनिवंचनीय' दूसरे पर निर्भर करेगा तथा दूसरा तीसरे पर, इत्यादि । यदि रजत का झामास अपने स्वरूप से ही 'अनिवंशनीय' होता तो उसका उस रूप में प्रत्यक्षीकरण हो जाता तथा भ्रम का निराकरण हो जाता, क्योंकि यदि प्रत्यक्षीकरण के समय रजतामास को 'धानवंचनीय' के रूप में जान किया जाता तो प्रत्येक व्यक्ति की

यह धनुभूति हो जाती कि वह भ्रम का धनुषव कर रहा है। 'निष्या' सन्द का सर्थं 'स्रिम्बंचनीय' नहीं होता, उसका सर्थं होना चाहिये सनिस्तद्ध । ऐसी कोई बस्तु नहीं हो सकती जो न सत् है भ्रमीर न सबत् है, प्रत्येक स्थित सह प्रत्यक्षीकरण करता है कि बस्तुर पा तो सत् है भ्रमीर न सबत् हैं, प्रत्येक ने में ऐसी बस्तु का प्रत्यक्षीकरण नहीं किया है जो न तो सत् है भ्रमीर न सस्तु है। इस प्रत्यत्व त्याक्षीय 'स्त्रिमंत्र की मान्यता तथा भ्रमत् का प्रत्यक्षीकरण दोनों समान कर से स्थान्य हैं, नेद का प्रत्यक्षी-करण मान्य है, तथा सद्वैत्वादों मत क्षित्रत हो बाता है।

श्रुति भी जीवों भीर बह्मन् के भेद को स्वीकार करती है, यदि श्रुति-याठ भी मसस्य है तो फिर श्रुति के बाधार पर बर्द्धतवाद का उपदेश देना निर्धक है। श्रुतियों के बाधार पर हमें मानना पड़ता है कि बह्मन महानतम भीर उज्जतम है, क्योंकि समस्त मान्य श्रुतियों का धाशय इसी हढोक्ति की स्थापना करना है-कोई भी एक आग्र के लिये यह नहीं सोच सकता कि वह ब्रह्मन् से एकरूप हैं, कोई यह बनुभव नहीं करता कि 'मैं सर्वज्ञ है, मैं सर्वशक्तिमान है, मैं समस्त दृ:खों व दोवों से रहित हैं' इसके विपरीत हमारा सामान्य अनुभव इसके ठीक विरोध में है, तथा वह अनुभव असत्य नहीं हो सकता क्योंकि उसकी बसत्यता का कोई प्रमाण नही है। अतियाँ स्वयं कमी भारमा भीर बह्मन् के तादातम्य की घोषस्था नही करती, तथाकथित तादातम्य-सूचक पाठ (तत् त्वम् असि-'वह तू है') ऐसे उदाहरको सहित उद्योधित किया गया है जिन सबका सकेत बैतवादी मत की मोर ही है। प्रत्येक तादात्म्य-सूचक पाठ के प्रसग में दिया गया उदाहरण उसका यथार्थ बाशय प्रदक्षित करता है, बर्थात् वह बह्मान् ग्रीर जीवो के भेद को स्वीकार करता है। जब यह कहा जाता है कि एक के जान लेने पर सभी का ज्ञान हो जाता है, तब तात्पर्ययह है कि ज्ञान का प्रमुख विषय एक ही है, प्रथवा एक ही सबका कारए। है, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि धन्य सभी वस्तुएँ मिध्या है। क्यांकि, यदि एक ही सत्य होता और ग्रम्य सभी वस्तुएँ मिच्या होती तो हम यह ग्राशा करते कि सत्य के ज्ञान से सर्व मिथ्यात्व का ज्ञान फलित होगा-ऐसी बात शसम्मव है (नहि सत्यक्रानेन मिथ्याक्रानम् मवति)। यह नही कहा जा सकता कि शुक्ति के क्रान द्वारा रजत के ज्ञान की प्राप्ति होती है, क्यों कि यह दोनों ज्ञान मिन्न हैं। एक व्यक्ति यह ज्ञान कर लेने पर ही कि 'यह रजत नहीं है,' शुक्ति को ज्ञात कर पाता है, जब तक बह रजत (जो मिथ्या है) को जात करता है, तब तक वह शुक्ति (जो सत्य है) को क्षात नहीं कर पाता। किसी वस्तु को ज्ञात करने से उस वस्तु के निषेध का ज्ञान नहीं होता । एक वस्तु के अनस्तित्व के ज्ञान से पूर्व किसी अन्य स्थान पर उसके अस्तित्व का ज्ञान होना भावदयक है। लोगों में यह कहने की प्रथा है कि जब सबसे महत्वपूर्ण एव सबसे बावब्यक वस्तु ज्ञात करली जाती है तब बन्य सभी वस्तुक्रों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उदाहरण के लिये जब कोई गाँव को जान लिया है। जब कोई पिता

को जान सेता है तब वह कह सकता है कि वह पुत्र को भी जान गया है, 'म्रोह! में उसे जानता हैं, वह अमुक व्यक्ति का पुत्र है, मेरा उससे परिचय है,' किसी व्यक्ति को झात कर सेने पर हुम उसके सदय अन्य व्यक्तियों को आत करने का दावा कर सकते हैं, एक स्त्री को जान लेने पर कोई कह सकता है 'बोह ! मैं स्त्रियों को जानता है।' श्वति-पाठ ऐसे ही उदाहरणों के भाषार पर यह बोबगा करते हैं कि एक को ज्ञात कर लेने पर सभी का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह कहने का कोई कारए। नहीं है कि इस प्रकार की उक्तियाँ ब्रह्मन् के प्रतिरिक्त सभी वस्तुओं के मिष्यात्व की घोषणा करती हैं। जब श्रृतिपाठ यह घोषएा करते हैं कि मिट्टी के एक पिण्ड को ज्ञात कर लेने पर हम समस्त मिट्टी के बतेंनो को ज्ञात कर लेते हैं, तब उनका बाशय केवल समानता से है, क्यों कि ऐसा तो नहीं हो सकता कि सभी मिट्टी के बर्तन एक ही मृत्तिका पिण्ड से 'निर्मित' होते हैं, सूति-पाठ यह नहीं कहता है कि मृत्तिका को ज्ञात कर लेने पर हम समस्त मिट्टी के बर्तनो को जात कर लेते हैं, उसका यह कथन है कि मृत्तिका-पिण्ड को ज्ञात कर लेने पर हम समस्त मिट्टी के बर्तनों को ज्ञात कर लेते हैं। एक मृत्तिका-पिण्ड तथा मन्य समस्त मिट्टी के बर्तनों की समानता ही उक्त श्रृति-पाठ को न्यायोजित सिद्ध करती है। 'बाचारम्मराम' शब्दों से उत्पन्न मिच्यात्व नहीं है, क्योंकि विद ऐसा होता तो 'नामधेय' शब्द अप्रयोज्य होता। अतः हमारा यह निष्कर्ष है कि श्रृतियाँ कहीं भी जगत के मिथ्यात्व की घोषगा नहीं करती, इसके विपरीत, वे जगत को मिथ्या मानने वाले मत की निन्दा से झोत-प्रोत हैं।

परम-शासन् या ब्रह्मन् सर्वतन, सर्वज, सर्वशिक्षमन् एव धानन्दमय है, जबिक जीजासन् स्वष्मय मे यहिष उससे समान है तथापि सदा उसके निषंत्रण में रहता है, सन्यत्र एव स्वर सांक्रमान है। यह मानना पत्तत है कि सांस्मर् एक है किन्दु निष्या (वर्षापि के ना सांक्रमान है। यह सानना पत्तत है कि सांस्मर् को किन्दु निष्या सांस्मर् को चूटि से धनास्मन् के रूप मे सक्तियत किया जा सकता है। चनकार के झारा यवार्ष बस्तुधों के धनुकरण में मिध्या धामास की तथाकवित सृष्टि यथार्थ वस्तुधों के धनुकरण होते है। स्वष्म भी वसार्थ सत्तुधों के धावार पर परित ही सिष्या अम मासित होते है। स्वष्म भी वसार्थ सत्तुधों के धावार पर परित होते हैं। स्वष्या भी मासित व्यक्ति में स्वाप्त पर परित होते हैं तथा उनका धनुकरण करते हैं। स्वष्म- मृत्या स्वर्णन व्यक्ति माने के का स्वर्णन विकार होते हैं कि कभी

भसत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्
 भपरस्परं-सम्भूत किमयत् काम-हैतुकम्
 एतां दृष्टिमवष्टम्य नष्टाश्यानोऽस्य-बृद्धयः ।

<sup>-&#</sup>x27;नीता' १६:८-१, मध्य द्वारा उद्धृत ।

बाधित न होने वाला एवं वस्तुतः धनुमूत होने वाला जगत् स्वप्न सृष्टियो के समान मिथ्या है। इसके प्रतिरिक्त परमेश्वर सर्वन्न एव स्वयं-प्रकाश है, तथा यह सम्भव नहीं है कि वह मजान से माच्छादित हो जाय। यदि यह यक्ति दी जाय कि एक महान् 'स्पाधि' द्वारा अनेक रूपों में मासित होता है तथा वह जन्म पूनर्जन्म के चक में असण करता है, तो चूंकि जन्म-पुनर्जन्म के चक अनन्त हैं अतः बह्मन् कभी भी उनसे मुक्त नहीं हो पाएगा भीर उसका 'उपाधि' से सम्पर्क न्यायी होने के कारण वह कभी मोक्ष की प्राप्त न कर सकेगा। यह कहने से बचाव नहीं होगा कि विशुद्ध-ब्रह्मन् उपाधियो के द्वारा बन्धन में नहीं पढ सकता, जो पहले से ही 'उपाधि' से सम्बन्धित है उसे उससे सम्बन्धित करने के लिए एक धन्य उपाधि की आवश्यकता नहीं हो मकती, क्यों कि इस प्रकार धनवस्था दोव उत्पन्न हो जायगा । फिर, मिथ्या 'उपाधि' की मान्यता को तमी सिद्ध किया जा सकता है जबकि बजान की सत्ता को सिद्ध करने के लिए यूक्ति दी जाय, यदि बजान की सत्ता नहीं रख सकता बतः यहाँ बन्योन्याध्य का दोष उत्पन्न हो जायगा। परिकल्पना के अनुसार सर्वजना उसी में हो सकती है जो मिथ्या 'उपाधि' से असम्बन्धित हो, अत. यदि विशृद्ध ब्रह्मन् स्वय श्रज्ञान मे सम्बन्धित है तो मोक्ष कदापि सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि उम दशा मे ब्रज्ञान ब्रह्मन् का स्वरूप बन जायगाजिससे वह प्रथक नहीं हो सकता। इसके श्रतिरिक्त श्रज्ञान का ऐसा स्थायी ग्रस्तित्व स्वभावतः ब्रह्मन् भीर शज्ञान के ईतवाद को उत्पन्न कर देगा। यदि यह माना जाय कि 'जीव' के 'सजान' के फलस्वरूप जगन का ग्रामास सम्भव होता है, ता यह सकेत किया जा सकता है कि यहाँ भी अन्यान्याश्रय का दाव उत्पन्न होता है, क्यों कि 'ग्रजान' के पूर्व ग्रस्तित्व के बिना 'जीव' नहीं हो सकता, धीर 'जीव' के 'बना 'मजान' नहीं हो सकता, 'मजान' के बिना 'उपाधि' नहीं हो सकती, और 'उपाधि' के विना 'श्रज्ञान' नहीं हो सकता । न यह माना जा नकता है कि विश्वद ब्रह्मण ही अम के कारण प्रजानी प्रतीत होता है, क्यों क जब तक 'बज़ान' की स्थापना नहीं हा जाती तब तक भ्रम नहीं हो सकता, और जब तक भ्रम नहीं होता तब नक 'श्रजान' नहीं हो सकता, और जब तक अम नहीं होता तब तक 'अज्ञान' नहीं हो मकता। एक अन्य इष्टिकोस से भी यह कहा जा सकता है कि जब अद्वेतवादी यह कहते है कि समस्त जीवों की मुक्ति होने पर ब्रह्मन का भी मोक्ष हो जायना तब वे एक असम्भव नर्फ-वाक्य का समर्थन करते हैं, क्यों कि जीव परमारणुखा से भी बहत अधिक संख्या में होते है. एक परमारण की नोक पर लाखो जीव स्थित हो सकते हैं, तथा यह सकस्पना करना असम्भव है कि ब्रह्म-जान की प्राप्ति के द्वारा वे सब मोक्ष प्राप्त कर लेगे। यह भी मही कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व की तार्किक सत्यता पर आध्वयं नहीं होना चाहिये, क्योंकि हमारे प्रतिपक्षी के विरोध में एक प्रवन युक्ति यही है कि वह प्रपरोक्ष एवं प्रत्यक्ष ज्ञात की जाने वासी समस्त वस्तुओं का मिध्यात्व सिद्ध नहीं कर सकता. भीर जब तक ऐसे प्रमाए। उपलब्ध नहीं हो जाते तब तक प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ज्ञात की गई बस्तुओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती । हम सभी यह जानते हैं कि हम धपने श्रदुमन में सदा जगद के विषयों का उपभोग करते रहते हैं, तथा इस तथ्य के होते हुए हम कैसे कह सकते हैं कि धनुभव भीर धनुभुत पदार्थ में कोई भेद नहीं है ? जब हम भोजन का प्रत्यक्षीकरण करते हैं तब हम यह कैंसे कह सकते हैं कि मोजन की सत्ता नही है ? किसी प्रत्यक्षीकरण के ब्रनुभव को हम तभी बहिष्कृत कर सकते हैं जब हमें यह ज्ञात हो कि उसकी अवस्थाएँ ऐसी थी जिनके कारए। उसकी सत्यता दूषित हो गई। हम दूरी से एक वस्तु का प्रत्यक्षीकरए। करते हैं, हम कूछ बातों मे उस पर प्रविश्वास कर सकते हैं क्यों कि हम जानते हैं कि जब हम दूरी पर किसी वस्तु को देखते हैं तब बहु छोटी एव धुंघली प्रतीत होती हैं, किन्तु जब तक इस प्रकार की विक्षेष उत्पन्न करने वाली झबस्थाओं को सिद्ध नहीं कर दिया जाय तब तक कोई भी प्रत्यक्ष असत्य नहीं माना जा सकता। इसके प्रतिरिक्त एक प्रत्यक्षीकरण के दोवों को किसी प्रत्य परिपन्त प्रश्यक्षीकरता की सहायता से भी ढूंडा जा सकता है। किसी भी गुक्ति द्वारा कभी भी जगत के मिध्यात्व को सिद्ध नहीं किया जा सका है। साथ ही ज्ञान, बजान, मूल एव दृ:ल के धनुमव बाधित नहीं किये जा सकते, झत: यह मानना पड़ता है कि जगत् का अनुभव सत्य है, धौर मत्य होने के कारण उसका निवेध नहीं किया जा सकता, अत्रत्व प्रदेतवादियो द्वारा इच्छित मोक्ष समस्यव है। यदि प्रत्यक्ष प्रनुभव की गई वस्तु ग्रांथक सबल ग्रनुभव से रहित छलपूर्ण युक्तियो द्वारा निषेध हो सकता है तो भारमन् का प्रत्यक्ष भनुभव भी मिथ्या माना जा सकता है। भारमन् के भ्रस्तित्व के सम्बन्ध मे खलपूर्ण युक्तियों की कोई कमी नहीं है, क्यों कि कोई भी यह युक्ति दे मकता है कि सब कुछ मिथ्या है ब्रतः ब्रात्मनुकी बन्भुति भी मिथ्या है, तथा कोई काररण नहीं है कि हम अन्य वस्तुओं के अस्तित्व एवं आत्मन के अस्तित्व में मेद न्थापित करें, क्योंकि अनुसव के रूप में दानो एक ही स्तर के हैं। यह मान्यता निराधार है कि बात्मन एक भिन्न स्तर की सत्ता है बनः उसके मिथ्यात्व की घोषणा नहीं की जा सकती। न यह कहना सम्मव है कि समस्त अस बात्यानमय के बाधार पर घटित होते है, क्यों कि ऐसा कहने के लिये पहले यह सिद्ध किया जाना चाहिये कि मात्मन् का मन्भव मिथ्या नहीं है जबकि भन्य सभी भनुभव मिथ्या है-मध्वानुयायी इसी बात पर मानत्ति उठाते है। यदि यह कहा जाय कि बताकिकना किसी मन्भव का मिथ्यात्व ही प्रदक्षित करती है, तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि वस्तुगत भनुभव के साहचर्य के बात्मानुसव की बताकिकता श्रद्या श्रव्याख्यात्मकता बात्मानुसव के मिथ्यात्व को ही सिद्ध करती है नथा भीर कुछ भी स्थापित नहीं करती, क्योंकि महैतवादी कहते है कि सर्व अनुभव 'अविद्या' से उत्पन्न होने के कारण आस्मानुभव के भागास मात्र हो सकते हैं। 'अविद्या' को भी अव्याख्यात्मक माना जाता है, तथा सर्वसत्ता प्रनुभव पर नहीं बल्कि तार्किक युक्तियो पर श्रावारित मानी जाती है, उस दशा में यह भी कहा जा सकता है कि वस्तूएँ यथावंद्रष्टा है और झात्मनू दृश्य है।

कोई यह भी कह सकता है कि स्था के बिना भी मिथ्या भागास हो सकते हैं, इस बात की अज़िकिनता धवना धव्याक्शात्मक ता से हमें हिवकना नहीं वाहिये क्योंकि "मावा" मी बतानिक एवं प्रध्याक्शात्मक हैं, यत: यह बताना सम्मव नहीं है कि 'मावा" कित इंग से सम्भानित उत्पन्न करेगी। भागित को उत्पन्न करना 'मावा' का एक-मान व्यापार है, यतएवं हम यह कह सकते हैं कि या तो इय्टा के बिना ही स्थाई, धर्मिकान के बिना ही अम है, प्रधान क्युएँ मी तवाकथित उप्टा है भीर आत्मम् या तथाकपित इय्टा यदार्थ में एक बस्तु हो है।

पुन: यदि सर्वे नेदों को 'ज्यांकि' से उत्तक्ष किया धावास साथ साथ स्थान स्यान स्थान स्यान स्थान स

पुनः, यह प्रस्त उठता है कि 'उचाधि' सम्पूर्ण बह्यन् को प्राध्यादित करती है सबदा उदाके एक सदा को । बह्यन् सबदयों से निमित कल्दिन नहीं किया जा सकता, यदि 'उपाधि' का सहस्यं स्थाय उचाबि के कारण माना जाय तो सनस्या दीय उदाधि के तारण माना जाय तो सनस्या दीय उदाश हो ताया। 'फर, चूँकि बह्यन् सर्व-साची है, उच्च 'उचाधि' के द्वारा कोई मेद नहीं हो ककता, तथा बह्यन् के एक सबदय की संकल्पना सम्भव नहीं है, 'उचाधि' के कल उन्हीं वस्तुष्पों के लिए सम्भव है वो दिक् व काल से सीमित हों। पुनः इसी कारण से विमिन्न 'उचाधियों' द्वारा उत्तव सनुमव एक ही बह्यन् के सनुमव होने चाहिये, तथा उदा दशा में जैसे एक व्यक्ति है विमिन्न सरीरों के द्वारा एक ही स्थान्त वा एक ही स्थानिक स्थानिक स्थानिक हों। सुनः हमें साहिये, तथा उदा दशा में जैसे एक व्यक्ति है वेदी विमिन्न सरीरों के द्वारा एक ही समुनक की न्यतित होनी चाहिये।

पुतः, विशुद्ध बहान् जन्म एवं पुतर्जन के चका में भ्रमित नहीं हो सकता क्योंकि बहु हुत होती है। तो किर बहैतवादियों के ब्रत्नुसार जन्म, पुतर्जन्म एवं बस्पन प्याधि एवं बन्यन 'द्याधि' एवं 'यादा' हे सम्बन्धित बहान् में पाए जाने चाहिये। बद प्रस्त यह है: क्या 'याया' से सम्बन्धित बहान् विषुद्ध बहान् से जिस है स्थाया

चससे एक-रूप है ? यदि वह विशुद्ध बह्मन् से एक-रूप है तो वह बन्धन से पीड़ित नहीं हो सकता। यदि वह उससे एक-रूप नही है तो प्रश्न यह है कि वह नित्य है प्रथवा सनिस्य, यदि वह निस्य नहीं है तो वह नष्ट हो जायगा और उसका मोक्ष नहीं होगा, यदि वह नित्य है, तो यह मानना पडता है कि 'माया' बौर 'ब्रह्मन्' नित्य सम्पर्क में रहते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि परम सत्ताएं दो हैं। यदि यह कहा जाय कि बहा शुद्ध स्वरूप में एक ही है, यद्यपि वह 'उपाबि' के सम्पर्क से अनेक मासित होता है, तो सीथा उत्तर यह है कि यदि शुद्ध स्वरूप 'उपाधि' के सम्पर्क में आ सकता है तो वह स्वयं गुद्ध नहीं माना जा सकता । यह कहना कि 'उपाधि' मिष्या है अर्थहीन है, क्योंकि मिथ्यात्व और 'उपाचि' के प्रत्यय बन्योन्याश्रित हैं। न यह कहा जा सकता है कि 'उपाधि' मनादि 'कर्म' के कारल है, क्यों कि जब तक 'उपाधि' की मनेकता सिद्ध नहीं की जा सकती तब तक 'कमें' की धनेकता सिद्ध नही की जा सकती, चूँ कि दोनों प्रत्यय ग्रन्योन्याश्रित हैं। श्रतः श्रद्धैतवादी मत हमारे सर्व प्रमाएगों से बाधित हो जाता है, भीर समस्त मूल अतियाँ द्वैतवादी मत का समर्थन करते हैं। ब्रद्धैतवादी मत के भाधार पर 'माया' भीर ब्रह्मन् दोनों का वर्णन नहीं किया जा सकता, यह मनुभूति करना भी कठिन है कि ब्रह्मन् अथवा ग्रह्मती स्वय की अभिध्यक्ति कैसे कर सकता है, क्योंकि यदि वह एक है तथा किया-रहित है तो वह स्वय की समिस्यक्ति करने मे ग्रसमर्थ होना चाहिये। यदि वह ग्रन्य व्यक्तियो के प्रति, जिनका ग्रस्तित्व नहीं है, अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर सकता, तो वह स्वयं को स्वयं के प्रति भी अभि-व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि स्वित्रया असम्भव है (न च स्वेनापि बेयस्वं तैर्ज्ञ्यते कर्नु-कर्म-विरोधात्)। जाता के विना कोई ज्ञान सम्भव नही है। ज्ञाता और जेय से र्राहत ज्ञान रीता और शून्य है, क्योंकि किसी ने भी ऐसे ज्ञान की अनुभूति नहीं की है जहाँ ज्ञान भीर ज्ञाता न हो।

मध्य के 'विष्णु-तत्व-निर्ण्य' पर वयतीयं द्वारा 'विष्णु-तत्व-निर्ण्य-दीका,' केवावस्वामिन् द्वारा 'विष्णु-तत्व-निर्ण्य-दीका-दिष्पण्णी,' श्रीनिवास एवं पद्मनामतीयं द्वारा 'विष्णु-तत्व-निर्ण्य-दिष्पण्णी,' रचूतम द्वारा 'वक्त-वीय' नामक टीकाएं सिक्षी गई, उस पर 'विष्णु तत्व-निर्ण्य-दीकोपन्यास' नामक एक मन्य टीका भी सिक्षी गई। इनके प्रतिरक्त 'विष्णु तत्व-निर्ण्य-व्याख्यायं' और वनमासी मिश्र को 'विष्णु-तत्व- प्रदान मिश्र को 'विष्णु-तत्व-निर्ण्य की मृत्वामी कही वा सकती हैं।'

भतो ज्ञातु-ज्ञेयाभावात् ज्ञानमपि शून्यत्वैव, अतः शून्य-वादान् न किवद् विदेशयः, न च ज्ञातु-ज्ञेय-रहितं ज्ञानं किवद् दृष्टम् ।

<sup>-</sup>बही, पृ० २७४ (१७)।

मध्य की 'न्याय-विवरता' छ: सौ से अधिक प्रन्यों की रचना है जिसमें 'ब्रह्म-सूत्र' के विभिन्न बच्यायों के तार्किक सम्बन्ध का विवरण दिया गया है। उस पर विद्रल-सुतानन्दतीयं, मुद्गलतीयं ग्रीर रमूतम द्वारा ग्रनेक टीकाए लिखी गईं, जयतीयं ने भी उस पर 'न्याय-विवरगा-पजिका' लिखी। मध्य के 'न्याय-विवरगा' की दिशा में राघबेन्द्र, विजयीन्द्र व वादिराज ने कमशः 'न्याय-मुक्तावली,' 'न्याय-मौक्तिकमाला' भौर 'न्याय-मुक्तावली' लिखी । मध्व ने जपने 'भाष्य,' 'धनुभाष्य' व 'धनुष्याख्यान' को समाप्त करने के पश्चात 'न्याय-विवररा' की रचना की थी। इस रचना का विस्तार से अनुसरण करना आवश्यक नहीं है, किन्त हम सक्षेप में मध्व की विवेचन-पद्धति की ब्रोर सकेत करेंगे। वे कहते हैं कि 'बहा-सूत्र' की रखना उपनिषदों की झहैतवादी व्याख्या का खण्डन करने के लिए की गई थी। एक ब्रद्धैतवादी के अनुसार ब्रह्म स्वय-प्रकाश होने के कारण जिज्ञासा का विषय नहीं बन सकता, इस मत के विरोध में 'इहा-सुन इस मान्यता से प्रारम्भ होता है कि बढ़ा के मर्व-प्रशा-सम्पन्न परम पुरुष होने के कारण सीमित मनस उसका अवधारण कठिनाई से कर सकता है। फिर परम पृथ्य की महानता के विस्तार के सम्बन्ध में स्वामायिक जिज्ञासा व्यक्त की गई है तथा द्वितीय सत्र' में यह प्रदक्षित किया गया है कि ब्रह्म जीवां से एक-रूप नहीं हो सकता क्योंकि वह जगत की उत्पत्ति का उद्गम स्थान है, तथा वही जगत का पालन-कर्सा भी है। त्तीत 'स्त्र' में हमको ज्ञात होता है कि जगन का बह्य कारणत्व धानियों के माध्यम के ब्रतिरिक्त नहीं माना जा सकता, चतुर्य सुत्र में हम पढते हैं कि जिन श्रतियों द्वारा हम बह्य को जान सकते है वे उपनिषद के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकती। इस प्रकार, अपने समस्त प्रथम बाध्याय मे मध्य यह प्रदक्षित करने का प्रयत्न करते है कि बंदि हम सदिग्ध श्रृति-पाठों की स्पष्ट एव निश्चित अर्थ वाने श्रति-पाठों के बाधार पर ज्यास्या करे तो हम पाएंगे कि वे भी परमेहबर की थेण्डता एव प्रनुप्रवातीतता की घोषणा करने है। प्रथम साग मे घेष प्रध्यायो में भो जीवो की तुलना में परमेश्वर की अनुभवातीनता की घारणा के साथ श्रति-पाठो के सामजस्य विधान का कम बना रहता है। चतुर्थ माग का विवर्श देते समय मध्व अपने उस मनानीत मत का विवेचन करते हैं जिसके अनुसार सभी व्यक्तियों को मोक्ष नहीं मिल सकता, क्योंकि केवल कुछ व्यक्ति ही मुक्ति के योग्य होते है। वे ग्रामे कहते है कि प्रतिदिन ईश्वर के श्रेष्ठ गुर्गा का निरन्तर की संन करके उसकी उपासना करनी चाहिये। शास्त्रीय कर्त्तव्यों के साथ-साथ ध्यान ग्रीर उसके उपागों के बिना परमेश्वर का अपरोक्ष अनुभव नहीं हो सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान का उदय होने पर सर्व 'कर्मों' का नाश हो जाना है ग्रीर मोक्ष स्वतः

-वही।

महा-फलत्वात् सर्वेपामशक्त्यैव उपपन्नत्वात्, ग्रन्यवा
 सर्व-पृष्ठपाशक्यस्यैव साधनतया सर्वेषाम मोक्षापसेः ।

<sup>ै</sup> ध्यान विना अपरोक्ष-ज्ञानारूय-विशेष-कार्यानुषपत्तेः । -वही ।

प्राप्त हो बाता है, क्योंकि झान तो केवल 'ध्यारक्य' कमों को मिटा सकता है। पृत्त है। इस प्रकार मध्य 'कमों' का कत तो उनकी समापित होने तक मोगना ही पढ़ता है। इस प्रकार मध्य 'कमों' का कत तो उनकी समापित होने तक मोगना ही पढ़ता है। इस प्रकार मध्य 'कमों' को मिटा देता है, तथापित कत परमेवर ही है। जब मनुष्य में सम्बक्-झान उदित होता है तब परमेवर प्रमाप हो जाता है और 'प्रपारक्य कमों' का नाम कर देता है। मृत्यु-काल' में सर्व झानो व्यक्ति भिन की घोर ध्यसर होते हैं और वही है 'प्रमुच कोर को प्रकार के होते हैं की देता है, क्यों के 'बाद की कोर के बात के स्वार्त के क्या ते स्वार्त के अपने मंत्र के स्वर्त के प्रमुच में से जमन करते हैं, नया का व्यक्त प्रमुच पान के कारण निम्नतम लोक में पतित होते हैं। मोश की ध्यस्या में मी मुक्त प्राणी विशुद्ध धानन्द के रूप में मिल का उपनोष करते हैं।

मध्य की 'तक-सार-सवह' कर्म-काष्ट पर बार सध्यायों की एक रचना है जिसके 'मजो' के प्रयोग से बिच्छा की उपासना-विधि बताई गई है तथा कर्मकाण्डीय उपासना के विभिन्न उपक्रम दिये गये हैं। उस पर चलारि नृत्तिहाबायें, बलारि सेवाबायं, रचुनाययति भीर श्रीनिवासाबायं झारा टीकाएँ जिल्ली गई हैं। ज्यतीयं ने 'तक-मारांक-पुलाविधि' नामक लगु रचना पढ़ में विल्ली, उस पद्धिन से श्रीनिवासाबायं ने 'तक-सार-कांग्रावार' नामक एक छोटी कृति जिल्ली।

मध्य ने 'सदाबार-सृति' नामक एक धन्य नयु रचना भी निक्षी जो चालीस स्पाको मे हैं। गह रचना भी कर्म-काण्ड पर है जिसमें एक घच्छे 'वैष्णव' के कर्तस्था का वर्णन किया गया है। इस पर द्रोशाचार्य ने 'मदाबार-स्कृति-व्याक्या' नामक टीका निक्षी।

सध्य ने 'कृष्णामृत-महास्तंत्रं नामक एक धीर छांटी कृति निस्त्री। मुक्ते उस पर काई टीका नही मिली। उसमें दो सी बयातीस स्त्रीक है जो विष्णु की उपासना की विषयों का वर्षान करते हैं तथा परदेश्वर के प्रति-श्रेष्ठ स्वरूप के सत्त ध्यान व उपासना पर बल देते हैं। उनमें पार्थ के निवारत्त्व के जिए पच्चाताए पद देशवर-नाम के ध्यान के साधनों का उत्तरेत्त किया गया है। मध्य प्रांग कहते हैं कि वर्तमान कर्ति-कान मे देशवर की 'मिक्त ही मोक्ष का एकसाझ साधन है। देशवर का ध्यान क्रांत स्त्री के विषे कोई सीच

कर्माणि क्षपयेद् विष्णुरप्रारच्यानि विद्यया
 प्रारक्ष्मानि तुमोगेन क्षपयन् स्वयं पदं नवैत ।

<sup>-</sup>वही, १६।

<sup>&</sup>lt;sup>३</sup> स्मरणादेव कृष्णस्य पापसंघट्ट पंजरः

शतमा भेदमायाति गिरिवं आहतो यथा । - 'कृष्णामृत-महार्णव,' क्लोक, ४६ ।

एवं किसी बन्याय की बावश्यकता नहीं है। ईस्वर-नाम ही पामों को दूर करने का एकमाम सामन है। इस प्रकार समूखें 'कुम्यामुद्द-महार्खन' ईस्वर' की महिसा का क्योंन करती है, उसकी उपासना की विधियों का विवरण देती है तथा महस्वपूर्ण तिषियों पर मच्चे बैट्यावों के कर्तन्यों का उत्तरेख करती है।

सध्य ने लयनगएक सी तीस स्लोकों की 'दादकस्तोत्र' नासक एक अस्य लघु रचना मी लिखी। इस युस्तक के लेखक को उस पर कोई टीका उपलब्ध नहीं हुई है।

उन्होंने दो बनकों में 'वर्रासह-नक्त-स्तोन' नामक एक सन्य मित लघु रचना तथा इस्याती स्लोको की 'यमक-मारत' क्रांति सिल्ली। 'यमक-मारत' पर बहुपित एवं विस्मयण महने टीकाएं सिल्ली, स्रीर हनमें मध्य क्रम्तु की कथा का विषरए। देते हैं विसमें इन्दावन की बटनाम्नो तथा पाण्डवों के तथा हस्तिनापुर की बटनाम्नों का समावेश किया गया है।

उन्होंने 'ऋग्वेद' की कुछ चुनी हुई ऋचाक्यों की टीका के रूप में 'ऋग्वेद-भाष्य' मी लिखी जिस पर जयतीयं, श्रीनिवासतीयं, वेंकट, चलारिन्सिहाचार्यं, राथवेन्द्र, केशवाचार्य, लक्ष्मीनारायसाव सत्यनाथ यति ने टीकाएँ लिली। इस लेखक को दो भन्य बजात लेखको की ऐसी कृतियो की जानकारी है जो 'ऋखेद-भाष्य' की पद्धति के धनसार लिखी गई हैं, वे हैं 'ऋगर्थ-चडामरिंग' और 'ऋगर्थोद्वार'। राघवेन्द्रयति ने मी 'ऋगर्थ मंजरी' नामक रचना उसी पद्धति पर लिखी । 'ईशोपनिषद' पर मध्य द्वारा लिखे गये भाष्य पर जयतीर्थ, श्रीनिवासतीर्थ, रघूनाययित, नृसिंहाचार्य ग्रीर सत्यप्रक्रयति ने टीकाएँ लिखी तथा राष्येन्द्रतीर्थ ने 'ईश,' 'केन,' 'कठ,' 'प्रधन,' मुण्डक, धौर 'माण्डक्य' उपनिषदो पर एक पृथक रचना लिखी जो मध्य द्वारा की गई इन उपनिषदो की व्याख्या-पद्धति का अनुसरख करती है। मध्य द्वारा 'ऐतरेयोपनिषद' पर लिसे गये भाष्य पर ताम्रपासी श्रीनिवास, जयतीयं, विश्वेश्वरतीयं व नारायस-तीर्थ ने टीकाएँ लिखी और नरसिंह यति ने छिनरेयोपनियद-खण्डार्थ नामक प्रथक प्रथ लिला जिस पर श्रीनिवास ती है ने 'कहा है-प्रकाल' टीका जिली। सब्द के 'करो-पनिषदमाध्य' पर वेदेश ने टीका निस्ती । व्यास तीर्थ ने मध्य के 'केनोपनियद-भाष्य' पर ग्रपनी 'केनोपनिपद-भाष्य-टीका' लिखी, जबकि राष्ट्रवेन्द्र तीर्थ ने एक प्रथक रखना 'केनापनिषद-लण्डायं' लिखी । मध्व के 'खादोग्योपनिषद-भाष्य' पर व्यास तीर्य द्वारा टीका लिखी गई, बेदेश और राधवेन्द्र तीयं ने 'खांदोग्योपानधद-सण्डायं' नामक एक प्रथक ग्रन्थ लिखा । मध्य के 'तलवकार-भाष्य' पर निम्नलिखित टीकाएँ लिखी गई-• व्यास तीर्थद्वारा 'तलवकार-भाष्य-टीका' भीर वेदेश भिक्क द्वारा 'तलबवार-टिप्पर्सी' भीर नसिंह मिक्ष ने 'तलवकार-खण्डायं-प्रकाशिका' लिखी । मध्व के 'प्रक्रतोपनिषट. माध्य पर जयतीर्थं द्वारा 'प्रक्नोपनिषद-भाष्य-टीका' लिखी गई जिस पर श्री निवास तीर्थ में 'त्रक्तोपनिषद-माध्य-टीका-टिप्पल्' नामक वो टीकाएँ कीं । मध्य के 'कृहता-एक्बक-माध्य' रर रचुतम, क्याद तीर्थ व श्रीनिवास तीर्थ डारा टीकाएँ (कृहताय्यक-माध्य-टीका) निव्यं नर्ष तथा रचतम यति ने उत्त पर 'वृहदारध्यक-माब-दीर्थ' नामक पृषक् रचना तिश्वी । 'श्याब के 'याध्यूक्योपनिषद-माध्य' पर क्याव तीर्थ व क्रम्याचार्य डारा वो टीकाएँ निव्यं गई मीर राषकेट मांत ने उत्त पर पृषक् से 'माध्यूक्य-वच्चार्य' नामक रचना निव्यं । स्थाब के 'युक्कोपनिषद-माध्य' पर निम्नांत्रसित टीकाएँ हैं— क्यात तीर्थ मीर नारायस्त तीर्थ डारा 'युक्कोपनिषद-माध्य-टीका-टिप्पस्ती' मीर नृषिष्ट् मिल् डारा 'युक्कोपनिषद-माध्य व्याक्या' ।

## मध्य-सम्प्रदाय के आचार्य और लेखक

मध्यों के सम्मन्य में ऐतिहासिक शोध का श्रीमण्णेय क्याचित् इध्युश्यामी प्रम्मद द्वारा निश्चित एक प्रतिक्ष में किया गया जिसमें उन्होंने मध्य नी धायु के प्रस्त को हत करने का प्रयास किया, ' किन्तु से एक इच्छा शास्त्री की सांति पुरायस्य सम्बद्धी सामग्री का उपयोग करने की स्थित में नहीं थे। ' जिन निकक्षों नर से नुष्टें के कुछ बातों में मध्य मठों के ध्रमिलेकों के विरोध में थे तथा तिक्यति में प्रतिवर्ष होंने वाती 'मध्य-सिद्धाना उष्पाहिनी सम्मा' ने उनके सकत्यों के दिरोध में मध्यीर धार्यात्मा उठाई। भध्य के 'गीता-मध्य' के धपने धनुसादक के प्राविक्षन में सुम्बाराव ने कुछा शास्त्री की उनके परस्परायन मुकाब के लिये कही धालोचना की और यह धारोप नगया कि वे तस्त-बन्धी तथ्यों हे धनिक्ष हैं। बाद में सी० एम॰ पद्यनग-भाषार्थ ने भी धाधिक क्य हे पुरलेख सम्बद्धी सामग्री की सहायदा लेकर मध्य के वियय ने निक्षने का प्रशास किया,' उनकी पुरतक से परस्परायत विवरणों के धनुष्टम मध्य के जीवन के प्रसुष्ट तथ्या, व्यक्षि किया नया है।

हम मान्न के जीवन की रूप-रेजा पहले ही है कुके हैं। बहिकायम से दक्षिण मारत की भोर जाते समय कम्ब को स्थय तीय से मेंट हुई थी तथा उन्होंने उनके साथ बन एवं किना प्रदेशों की शाका भी थी। तेनुसु प्रदेश में मध्य को जोगन मह नामक एक प्रसिद्ध महीती हारा चुनौती की नई भी जो पराजित हुआ और सम्ब-मत में परिवर्तित

सी० एम० कृष्णुस्वामी ग्रन्थर एम० एम० द्वारा रचित "मध्याचार्य ए कोर्ट हिस्टोरीकल स्केच"।

<sup>&</sup>lt;sup>व</sup> इपीग्राफिकल इण्डिका खण्ड ६, पु० २६०-८ पर उनका प्रालेख देखिये।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> देखिये मिनवा प्रेस, मद्रास में मुद्रित सुन्वाराव एम० ए० गी ता"

र सी॰ एम॰ पद्मनाभाषार्थं हारा लिखित व प्रोडेसिव प्रेस, महास में सुद्रित ''दी लाइट धाफ मध्याचार्य''।

कर लिया गया । यही शोमन मट फिर पदमनाम तीर्थ के रूप में प्रस्थात हुआ। मध्व का शास्त्रार्थ एक अन्य विद्वान से भी हुआ जो कॉलग प्रदेश का प्रधान मंत्री था; उसका भी मध्य द्वारा मत-परिवर्तन कर लिया गया और उसे नरहरि तीर्थ नाम दिया गया । इस बीच कर्लिंग-सम्राट् का देहावसान हो गया भीर नरहरि तीर्थ को सम्राट के शिश पुत्र की देख-रेख करने तथा उसके नाम पर राज्य का शासन करने का घादेश मिला। मध्य की प्राज्ञा से नरहरि ने बारह वर्ष तक राजपता चलाई भीर कर्लिंग साम्राज्य के कोष में सगहित राम और सीता की मृत्तियाँ निकाल कर उन्हें मेंट कीं। एक बार मध्व का उस स्थान में रहने वाले पद्म तीर्थ नामक प्रमुख शहैती से प्रखर विवाद के फलस्वरूप अगडा हो गया और वह पराजित होने पर मध्व का पुस्तकालय लेकर भाग खडा हमा, किन्तु अयसिंह नामक एक स्थानीय मुखिया की मध्यस्थता से मध्य को पूनः पूस्तके प्राप्त हो गई । उसके पहचात् मध्य ने त्रिविकम पहित नामक एक अन्य भड़ैती को पराजित किया जो मध्य-मन में परिवर्तित हो गया ग्रीर 'मध्य-विजय' का लेखक बना। मध्व के देहाबसान के पदचान पदानाभ तीर्थ गद्दी पर बैठे ग्रीर उनके उत्तराधिकारी नरहरि तीर्थं बने । हमने आचार्यों की उत्तराधिकार सुची पहले ही दे दी है तथा दक्षिए। के मध्य मठों से उपलब्ध मध्य-गुरूश्रो की मूची से प्राप्त उनकी तिथियाँ भी देदी हैं। जी० बेन्कोबा राव ने मध्वाचार्यों के इनिहास विषयक एक लेख में मध्य के जीवन के प्रमुख तथ्यों का निम्नलिखित काल-क्रम प्रस्तृत [किया है. मध्य का जन्म शक ११≜६, प्रवज्या-ब्रह्मण शक ११२६, दक्षिमा को यात्रा, बदरी का नीर्थाटन, शोभन भट्ट. श्याम शास्त्री व गोविन्द भट्ट का मत-पारवर्तन, यदरी की इसरी बार तीर्थ-यात्रा, नरहरिकी राजपता का प्रारम्भ सक ११८६, नरहरि राजपना का सन्त जक ११६७, मध्याचार्य वा देहावसान एव पदमनाम आगेहला श्रवः ११६७, पदमनाभ नीपी का देहावसान शक १२०४ एव नरहरि का बाचायंत्य काल १२०४-४।

एम्हाइक्लंपीटिया धाफ रिलीज्यन एट एप्यंक्स (भाग ७) में 'मध्न-नांग्न' वर स्थापने लेख में प्रियमेन का विचार है कि मध्य-मन पर ईसाई मत का प्रभाव नत्तर स्थापने हैं, उनका क्यन है कि मध्य का व्यापने स्थापने कर साथ साथ मान नगर में प्रभाव उसके निकट था। करवारणुद्रा भारत में एक सक्या प्रशाव के स्थापने उपनिवंद के रूप में प्रकाश के स्थापने प्रशाव है वे ईसाई 'मेस्टोरियन' थे। किर नारायक्ष की 'प्यव्य-निवंद्राय' में विचार प्रस्थात रहा है ये ईसाई 'मेस्टोरियन' थे। किर नारायक्ष की 'प्यव्य-निवंद्राय' में विचार प्रस्थात रहा है वे ईसाई 'मेस्टोरियन' थे। किर नारायक्ष की मध्यक्ष अन्तान्त्र के मानुख अन्तिवंदर की बाल प्रस्थान में में एक साव्यान के प्रमुद्धार एक ब्राह्मा के मानुख अन्तिवंदर की बाल मान्य प्रवर्शन कर्म का मानु के हैं। बालक मच्य अपने माता-पिता द्वारा एक जात्म में से के लाया जा रहा वा तब दुध्ट प्रेतो द्वारा उनकी राह में विच्य उत्पन्न कियो प्रमेश हो है। बालक मच्य अपने माता-पिता द्वारा एक जात्म में से के लाया जा रहा वा तब दुध्ट प्रेतो द्वारा उनकी राह में विच्य उत्पन्न कियो प्रमेश के प्रमुद्धार प्रस्था के प्रमुद्धार प्रस्था के प्रमुद्धार कर मानु में स्था में स्था माना-पिता से विच्य नाया वा वा दिखती विचों का प्रयंदन करते मान्य की उपासना का उपवेद्य वेते प्रपूता वा वा दिखती विचों का प्रयंदन करते मान्य

मध्व ने अपने अनुगामियों की भावश्यकताओं की पूर्ति के लिये मोजन के मण्डार की श्राभवदि की बताले हैं। अपनी उत्तर की यात्रा में वे अपने पाँव गीले किये जिना पानी पर बले तथा एक धन्य बबसर पर उन्होंने प्रथनी कठोर हृष्टि से कोशित समद्र को शांत कर दिया। मध्य के सम्बन्ध में इन चमत्कारों से और इन तथ्यों से कि मध्य के मिक्त-सिद्धान्त एवं ईसाइयों के मिक्तवाद में बहुत साम्य है तथा मध्य एक ऐसे स्थान में समृद्धि-सम्पन्न हुए जहाँ ईसाइयों का निवास था । श्रियसन इस निष्कवं पर पहेंचते हैं कि मध्ववाद में ईसाई प्रमाव का तत्व था। इस तथ्य की क्याक्या भी उपयुक्त मान्यता के पक्ष में की गई है कि मध्य के अनुसार मोक केवल 'बाय' देव की मध्यस्थता से प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु मेरे विचार में इन वृक्तियों में मध्व पर ईसाई प्रभाव को क्षोजने का यथेष्ट प्राचार नहीं मिल सकता। अक्ति-सिद्धान्त बहुत प्राचीन हैं तथा उनका यथेप्ट विकसित रूप कुछ वैदिक एव उपनिवदिक श्लोकों में, 'शीता', 'महाभारत' व प्रारम्भिक 'पुरासो' में उपलब्ध हा जाता है। कल्यासपुरा में कुछ ईसाई रहे होगे किन्तु ऐसा कोई प्रमास नहीं है कि वे इतने महत्वपूर्ण थे कि मध्य के परस्परागत मत को प्रभावित कर पाते । वे बन्य आचार्यों की मौति बारस्वार यह कहते हैं कि उनके सिद्धान्त वेदो, 'गीता', 'पचरात्र', और 'महाभारत' पर झाधारित हैं। हमें मध्य और ईसाइयों के बीच किसी विवाद का विवरण भी उपलब्ध नहीं होता है तथा उनके बहुभाषी होने का ईसाई-साहित्य से परिचित होने का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता । यद्यपि प्रायः 'वाय' का मध्यस्य के रूप मे स्वीकार किया गया है तथापि प्रमुख बल ईश्वर-ज्ञान पर आधारित ईश्वरानुग्रह पर विया गया है, मध्व-मत में कहीं भी 'दिनिटी-सिद्धान्त' की खाप नहीं मिलती ' बतः सम्भाव्य ईसाई यत के प्रभाव का मुभाव बहुत अस्वाभाविक प्रतीत होता है। किन्तु बनेंस अपने लेख "दी इण्डियन मान्टीक्वेरी'' (१८७३-७४) में म्रियसंन का समर्थन करते हैं: पर गार्बे यह सम्भव मानते हैं कि कल्यासपुरा एक अन्य कल्यास हो सकता है; जो बस्बई के उत्तर में है, जबकि ग्रियसंत के विचार में वह उदिपि स्थित कल्यारण ही होना चाहिये जो मलाबार के निकट है।

वर्गेन फिर यह निर्देश करते हैं कि नवी शताब्दी के झारफा से पूर्व कुछ पारसी मानियाम में बस गये से तथा के खाने यह सुम्माब देते हैं कि ये पारसी 'मंगीवियन' से । किन्तु वर्गेल के मत का कांतिन्स ने सफतापूर्वक सब्दन किया है। यद्यपि वे इस समावना को झस्बीकार नहीं कर तके कि 'मीनिया' (मिंग) अर्थात् में तारमा शब्द से निकता है। पियसंग वर्गेल के विचार का सम्बंग करते हैं जिसने शकर के रूप में जन्म जिया बताते हैं भीर जिसका करोलकास्थत विचरण नारायण की 'मिश्रमंवरी' में दिया गया है। यह सस्बीकृत नहीं किया जा सकता कि मिश्रमंत का सास्थान विचित्र है स्थीक मिश्रमंत पित्रम है।

सेसा है, किन्तु शंकर के दर्शन समया मर्भ-दर्शन में डैतवाद जैसी कोई विचारधारा नहीं है जिसमें प्रकास (ईश्वर) और सन्यकार नामक दो सिद्धान्तों को माना गया हो।

सन् ११६७ में पद्मनाम तीर्य बाचार्यत्व में मध्य के उत्तराधिकारी बने और सन् १२०४ में उनका देहाबसान हो गया । उन्होंने 'बनुव्यास्थान' पर 'बष्न्याय-रत्नावली' नामक टीका लिखी । नरहरि तीवं, जो मध्व के व्यक्तिगत शिष्य रहे बताते हैं. सन् १२०४ से १२१३ तक बाचार्यत्व की नहीं पर विराजमान रहे, उन्होंने मध्य के 'ब्रह्म-सूत्र-माध्य' पर एक 'टिप्पर्णी' लिली। हमें बागामी बाधार्य मध्व तीर्थ (सन् १२१३-३०) द्वारा रचित किसी ग्रन्थ की जानकारी नहीं है। सन १२३० से १२४७ तक अक्षेत्रय तीर्व आचार्य रहे और फिर जय तीर्य सन् १२४७ से १२६= तक रहे। ऐसा माना जाता है कि जयतीय न केवन अक्षोध्य तीर्थ के शिष्य ये बल्कि पधानाम तीर्य के भी शिष्य थे। व मध्य काला के सबसे पारगत लेखक थे तथा उन्होंने कई गम्भीर विद्वतापूर्णं टीकाएँ लिखी; उदाहरलार्थं, मध्व के 'ऋग्भाष्य' पर 'ऋग्भाष्य-टीका' 'ईकोपनिषद-माध्य' पर 'ज्यास्थान विवररा' 'प्रश्नोपनिषद-भाष्य-टीका', 'गीता-भाष्य' पर 'प्रमेव-दीपिका', 'गीता-तात्पर्य-निर्णय' पर 'न्याय-दीपिका' और 'अह्म-सूत्र-भगय' पर 'तत्व-प्रकाशिका' पर उनकी सबसे पाडित्यपूर्ण एवं तीक्ष्ण रचना 'न्याय-सूघा' है, जो मध्य के 'धनव्यास्थान' पर एक टीका है। यह एक महान कृति है। वे उसके प्रारम्भ में बताते हैं कि अक्षेम्य तीर्थ उनके गृह थे। मध्य-शासा के अधिकाश नेसकों का वह प्रमुख आधार ग्रंथ है, उस पर 'न्याय-सूचा-परिमल' नामक ग्रंथ में राधवेन्द्र यति द्वारा टीका लिखी गई। सी० एम० पद्मनामाचार्य 'न्याय-सुघा' के सम्बन्ध में कहते हैं कि सम्पूर्ण सस्कृत साहित्य में इससे अधिक अधिकारपुर्ण टीका उपलब्ध नहीं है।

## रामानुज और मध्य

हमें जात है कि मध्य का दर्शन-तन इंतवाद एव घनेकतर बदाद का प्रांतरक्षक होने के नाते बंकर व उनके धनुवासियों को घरना प्रमुख धनु मानता था, एतएव उन्हीं को घरनी प्रवत्तम धातीबाना का तक्ष्य बनाया। यध्य का धार्विमांत देरहुवी सदी में हुमा था तथा उस सम्य तक बावस्पति, प्रकाशास्त्रम्, सुरेक्वर व धम्य धहुँवदा के प्रमुख ध्याव्याता एकर के धहुँतवादी दर्शन के सम्बद्ध में पाधिकतपूर्ण धन्य निस्त चुके

नरहरि के जीवन की प्रगति एवं तिथि के सम्बन्ध में विवेषन के लिये देखिये Epigraphica Indica भाग ६, गृ० २०६, इत्यादि ।

हैस्सव बॉन ग्लेसेनेपक का "Madhva's philosophica des Vishum Glanbens", १६२३, पू० ५२।

दे। यथ्य और वयदीयं और व्यासतीयं व उनके सन्य सनुयायियों ने जबत के निम्प्रान्य के पक्ष में दी गई सदिवायी | दुक्तियों का संकन करने का मरस्क प्रयत्न किया तथा जनत की तरवाया एवं सनेकता, धारनन्य न कहुए के येद एवं बहुएन के सनुयत्न कर प्रयुत्तर किया जवा जनत की तरवाया एवं सनेकता, धारन्य न कहुए के येद एवं बहुएन के सनुयत्न के सनुयत्न के सम्प्रान्य किया चित्रा प्रवाद कर के सेक्कों हारा फिर से साक्रमण किया गया और फलतः इन दो महत्वपूर्ण विचार-वाखाओं के सदस्यों के परस्पर धाक्रमण एवं प्रयाक्षमण का एक नम्बा इतिहास बन गया । किन्तु पाठकमण स्वमायतः यह जानने के इच्छुक होते कि मध्य और रामानुक के सम्प्रयायों का सम्बन्ध कराय । या स्वस्य पर्योग के सिन्दान में प्रयाद प्राप्त के सम्प्रयायों का सम्बन्ध कराय । या स्वस्य पर्योग के सम्प्रयायों के सम्प्रयायों स्वयं मा श्री कर पर्या मा मा स्वस्य कर के सा सम्प्रयाय मा स्वस्य कर की धालाधों के सनुयायियों में यम्भीर धालायं होने का प्रमाण मिलता है; उदाहरणायं, तीलहुवी तथी में परकाल-यति ने 'विवयीन्द्र-परावय' नामक प्रन्य निका विवस स्थटतः मध्य-दर्शन के प्रमुलतम सिद्धांतों का बंदन किया गया है। इस सन्य का यहां सावित विवस्त है। वस सम्बन्ध मा हो सावित विवस्त है। वस सम्बन्ध मा हो सावित विवस्त है। वस प्रमुत्त प्रमुत्त का मा स्वत्त किया निवस है। इस सम्बन्ध मा हो सावित विवस्त है। विवस्त है एवं पाण्डुतिपि में ही उपलब्ध है।

परकाल यति प्रपने विचारों को बेंकट के 'तत्व-मुक्ताकलाय' से बहुता करते हैं तथा प्रपने मत के समर्थन में उसमें से इस्ताकों को बहुता उद्देश करते हैं। उनका झाक्रमण मध्य के उस सिद्धांत पर किया गया है वो रामानुव के पदार्थ-विद्याग ('दृष्य' मीर 'सादस्य') का परित्यान करता है तथा उस मत पर वो मुखी को द्रष्य के सम मानता है, यही 'विवयीन्द्र-परावय' के प्रथम दो मानों की विषय-समस्वी है।

इच्य एवं पुर्शों के भेद के सन्बन्ध में मध्य की स्थिति का वर्शोंन करते हुए सेखक कहता है कि मध्यों के विचार में "यट मीला हैं बाक्य इस तथ्य से न्यायंगत बनता है कि भीतात्व' घट के 'यवेच्ट विवरण' में समाविष्ट होता है तथा उससे मिस्र असिता है। इसता प्रति के प्रमुख्य प्रति हैं। इसता प्रति के सुरुष्ठ के सुष्य कर के प्रयुक्त एक है तथा किसी विशेष करण में उसमें प्रविच्छ होते हैं। इसता घट के प्रत्य में उससे प्रति क्या के कोई पृषक अस्तित्व नहीं रखते, सर्याद वे बट से 'प्रपुष्प-सित्व' हैं। परकास यति निर्देश करते हैं कि पूर्ण कहा है हिस हमें झात है कि प्रुष्ण स्था करता है। यद नीमा रंग घट से भिष्र माना था सर उस्मा के कारण मीला रग बहुण करता है, बितः नीला रंग घट से भिष्र माना था सकता है। 'रग धादि पुष्णों का इस्प धायहान है तथा वे धवस्थानुतार उसमें प्रयोहत होते हैं अथवा नहीं होते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि पुण्णों के प्रवाह

षटे पाकेन नैस्यतोत्पन्नम् इत्यक्षन्यथा-सिद्ध-प्रत्यक्षं च तत्र प्रमाशं किंच रूपादि स्वाधिकरशादुऽमिन्नं स्वाजेय स्फारे घरच प्रागमोपाधि-वर्गस्वान् ।

विजयीन्द्र-पराजय, पृ० ३ (पाण्ड्रलिपि)।

को निविचत करने वाली धवस्या द्रव्य का स्वक्त हो है जिससे गुण प्रपृथक् हैं क्योंकि द्रव्य सौर गुलों के सपृथक्त्य की सम्मादना स्वयं विवाद-सस्त है सौर उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वके सर्तिरक्त एक 'उपाधि' का स्नास्त्रत्व तसी प्रासंगिक हो सकता है वब क्स्तुर्दे मिल हो सौर हितुं एव 'साम्य' का बाहवर्य कुछ परिस्पितियों में ही सल्य हो, उस दसा में वे परिस्थितियों साहवर्य को निविचत करने वाली स्वस्था (उपाधि) कहो बाली हैं।

किन्तु यदि सध्य-गण सह युक्ति दे कि रामानुब-गण भी हष्य धीर गुणी के समुद्रक स्वस्थ को स्वीकार करते हैं तो इसका उत्तर होगा कि रामानुब के समुद्रकार अध्यक्ष कर स्वीकार करते हैं तो इसका उत्तर होगा कि रामानुब के समुद्रकार अध्यक्ष कर स्वार्ध है कि हष्य धीर गुण के समुद्रक होने पर उनके तत्व युक्त होते किये वा सकते । के किया क्या मान पर पर की कियी क्यांतिक सुक्त प्रत्य के विना भी भीतावर पर मंद के तावारम्य का झामाल देता है। यह निष्क्रक नहीं निकत्त जाता कि भीतां तथा भर्द में वस्तुत: तरू पता विषयमा है। वस्त क्या-गण सी नीतावल धीर पटल को एक ही नहीं मानते, पता उनको यह स्वीकार करना पहना है कि नीतावल धीर पटल को एक ही नहीं मानते, पता उनको यह स्वीकार करना पहना है कि नीतावल धीर पटल को एक ही नहीं नहीं नहीं निकार करना पहना है कि नीतावल धीर पटल को एक ही नहीं नहीं नहीं निकार निकार के स्वीकृति के स्वय उनका मिद्रात वादन हो निवार गां भीद भीता से स्वार्थ को स्वीकृति के स्वय उनका मिद्रात वादन हो यह सम्ब स्वीक्त किया जात का सम्ब एक ही पर्य स्वया नाम र विवेचलार का धीर हथारासक प्रत्यो किया जात तब ये एक ही बस्तु को सूचिन करते हैं, यह कोई युक्त-समत नर्क नहीं है। यदि उनके निव्य सर्व समाने ताय ना एक हो स्वार्ध साथ हो होगा और दूसरा इस्त सही हो हो।

बस्तुतः हमारा प्रश्वकीकरण का अनुभव समस्त द्रव्यो एव गुणां कं सविशेष स्वरूप को प्रीवस्थक करणा है। उपनिषदी का कोई भी तच्या अनुगामी यह पारणा नहीं रच सकता कि प्रश्वकीकरण सता के विश्वद्ध निविशेष स्वरूप को प्रीमध्यक्त करणा है। यदि पुणां और ब्यां में कोई सेर स्वापित नहीं किया जा सके ता एक

<sup>ै</sup>न चेह अप्रुषक्-सिद्धत्वम् उपाधिस्तस्य साध्यरूपत्वे साधन-अ्यापकत्वाद् भेद-घटितो हि अ्याप्य-व्यापक-भाव. । —विजयोन्द्र-गराजय ।

रूपादेमंदीयमपुषक् सिद्धत्व ससकत पटे झन्यत्र नेतुमशक्यत्वमैव । तच्च तद्रूपभवेऽपि
 रूपान्तरेश वर्मसत्त्रया प्रविरोधितया न पृष्विसद्धत्वेन विक्रव्यते ।

<sup>–</sup>वही।

तस्य त्वयाऽपि स्रवण्डार्थत्वानभ्युपगमात् विशिष्टार्थत्वे त्वदिभमत—सिद्धेः ।

 वही, पु० ४

इब्स का दूसरे से धन्तर ज्ञात करना सम्भव नहीं होगा, क्यों कि एक डब्स की दूसरे से प्रिम्नता उनके गुर्हों के धाषार पर ही ज्ञात की जा सकती है।

इसके सरितरिक्त प्रव्या एवं गुणों का येद सम्य 'प्रमाणों' से सी स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार एक संघा व्यक्ति किती वस्तु के स्पर्धानुसम के संबंध में विवाद कर सकता है। कितु वह उसके रंग के सर्वेथ में ऐसा नहीं कर सकता। सत: रग एवं स्पर्ध का सनुस्य उस वस्तु के सिक माना जाना चाहिये। साथ ही, हम एक घट की रग से युक्त होने की चर्चा करते हैं, पर ऐसा कमी नहीं कहते कि घट रंग है। इसियो यह स्वीकार करना पदेगा कि पदार्थों के 'प्रव्या एवं "स्प्रद्या" में वर्गीकरण का मध्यों के निवंध किया है यह तर्क-संयत नहीं है। यह मानना पढ़ेगा कि 'सप्रद्र्या' या मध्या' 'प्रव्या के सर्वेथा मिन्न है, तथापि उसके साहच्ये में रहता है तथा गुण्य के नक्यणों के क्य में उसके स्वच्य की समिक्यिक करता है। परकाल यदि किर भी उपनिषदों के काई स्ववररणों की सहायता से यह प्रदीवत करने का प्रयत्न करते हैं कि यदि गुणों स्थार द्रस्थों के भेद को स्वीकार नहीं किया वाय तो स्राधकांच श्रृति-पाठ प्रमान्य हां वाएंगे।

कुछ मध्यानुयायी यह मानते है कि भेद धौर धभेद दोनो सत्य हैं तथा सावधान निरीक्षण के द्वारा भी 'द्रथ्य' एव 'ब्रद्रथ्य' का भेद विविक्त नहीं किया जा सकता, ब्रतएव 'द्रव्य' एव 'प्रद्रव्य' में कोई मेद स्थापित करना ग्रसभव है जैसाकि रामानुजानुयायी कहते हैं। इसका उत्तर देते हुए परकाल यति कहते हैं कि किसी वस्तु की मत्यता को निश्चित करने वाला नियम श्रवाधित एव ग्रन्थशा-सिद्धत्व के सिद्धातों पर ग्राधारित होना चाहिये। ' 'नीला-घट' के पद में 'घटन्व' एव 'नीलस्व' में तादारम्य प्रतीत होता है, किन्तु यह पद-व्यजना धन्य समान रूप ने सत्य पद-व्यजनाको; जैसे 'घट मे नीलत्व,' नीले रगका घट, से बाधित हा जाती है और इस प्रकार 'नीला' व 'घट' के नादात्म्य का ग्रामास देने वाली पद-व्याजना 'नीला-घट' ही सत्यता को निष्टिचत करने में ग्रसमर्थ रहेगी। घट की सविदोपता से यह प्रदक्षित होता है कि जिस गुरा स वह सविशिष्ट है उससे वह मिन्न है। न यह कहा जा सकता है कि चूँ कि एक रग-विशेष का किसी द्रव्य से सदा साहचयं होता है, अत: वह रग एव द्रव्य एक ही है, क्यों कि क्वेत रग से साहचर्य रखते हुए भी शक्ति कभी-कभी पीत-वर्ण की प्रतीक हो सकती है। इसके अतिरिक्त, जब एक ही इच्य अनेक गुरा। से सम्पन्न हो तब यह नहीं माना जा सकता कि उसका उन समस्त अनेक पूर्णों से एक साथ तादातम्य होता है। यदि गुलो की मौति द्रव्यों के घर्म-विशेष स्वय स्वमावतः भिन्न हो तो गुलो के

यस्तु ग्रवाधितो नान्यया सिद्धश्च प्रत्ययः स एवार्थं व्यवस्थापयित । -वही, पृ० ३० ।

किंच परस्पर-मिन्नैगुं-शुँएंकस्य गुल्तिनः धमेदोऽपि न घटते इति तदभेदोपजीवनेन इत्युक्तिरिप झयुक्तर····ः।
—वही, पृ० ३३ ।

साबार पर हम्मों के बेद मी पृष्टिपूर्ण हो बाएने। 'यदि एक वस्तु एक साथ कई पुष्टों से तासास्य हो तो हमें बेनों के 'खन्तकंती' यत को स्वीकार करना एकेगा। इस प्रकार किसी मी टिप्टकोश से 'प्रस्य' एवं 'सहस्य' के वर्गीकरण हारा कम्बित करने के प्रयास का परीकाण करने पर यह सोवपूर्ण एवं सत्तरन सिद्ध हो जाता है।

जित महत्वपूर्ण सिद्धांतों में मध्य का मध्य तोगों से मतगेद है उनमें से एक यह है कि मोस को समुप्रति वस्तर संतों घषवा मुक्त व्यक्तिमों में एक समान नहीं होती। इस मत का समर्थन कुछ पुराएगों डागर किया गया है तथा शिव सामा के बैच्छावों में भी उसे माना है, किन्तु रामानुबानुवायी भीर खंडरानुवायी दोगों इस मत के प्रवस्त विरोध में से, भत्रएव रामानुबानुवायियों में इस बात पर मध्य की कही झालोबना की। मतः श्रीनिवास सम्माये ने 'सानन्द-रारतम्य-बंडन' नामक एक पृथक 'शकरए' संघ निक्का। पर इस किया में एक सिक्क विस्तापुर्ण एवं स्रविक सालोबनात्मक प्रयास परकास यति ने प्रपत्नी 'विजयीन-पराज्य' के बतुष्ट स्वयाय में किया। यह बौनों रकनाएं पाण्डलिप में विस्थान है।

'ह्रा-पूत्र' के बहुई जाप के बीचे अध्याय में इस प्रस्त का विवेचन किया गया है कि युक्त व्यक्ति मोश के प्रस्ताद अपने प्रमुक्त का उपयोग कीन करते हैं। वहां मह कहा गया है कि एरमेडबर के स्वक्ष में प्रवेश करके मुक्त प्राणी अपने 'सकत्य' मात्र के धानस्थम अनुभवों के माणे बनते हैं। किन्तु अपने लोगों का नत हैं कि मुक्त प्राणी धानस्थमय अनुभवों के माणे अपने हुं किन्तु अपने लोगों का नत हैं कि मुक्त प्राणी धानस्थमय अनुभवों को उपयोग अपने प्रवल्ती के अनुनार स्वय अगते यारियों के माध्यम के करते हैं। पूर्ति मुक्त अवस्था ने एक अपित तर्व में प्रकार के धानस्यात होते हैं। किन्तु मुक्त व्यक्ति उन सभी धानस्थाती अनुमवों को प्राप्त नहीं कर सकता जो परसेश्वर में विवासन होते हैं प्रत्येक जीव अपने अविकारों एवं बोध्यतायों से सीमित होता है और उन सीमायों के अन्तर्यंत हो उसकी इच्छाएँ कतीभूत हो सकती हैं। स्व प्रकार प्रत्येक मुक्त व्यक्ति अपनी योध्यता एवं प्रविकारों की सीमायों में कुछ विवेध प्रकार के धानद का स्विकारों होता है।

पुनः, 'बह्य-मूच के तृतीय बाव के तीसरे सम्याय में विभिन्न नोगो के लिये विभिन्न प्रकार की उपासताओं को निष्यत किया गया है तवा उपासता के इस मेद का ताल्पयं सनिवार्यतः यही होना चाहिंदे कि उनकी एक त्यांच भी निमन्न निमन्न होती है। सदः यह स्वीकार करना पड़ेवा कि मोक की सबस्था में विभिन्न स्तर के मुक्त व्यक्तियों द्वारा विभिन्न खेलों के मानव्य का सबुवय किया जाता है।

गुरागत मेव व्यवहारो निर्मिनवन्धनश्च स्यात् यदि गुराग्वत् गुराग्वमं-विशेषः स्वतेव स्यात्।

रामानुज के अनुयायियों द्वारा इस यत को चुनौती दी गई है तथ वे इस प्रसंग में उपनिषद-पाठो को उद्दूत करते हैं। 'तै तिरीय-उपनिषद्' की 'ब्रग्रानन्दवल्ती' में जो मानवों, 'गन्धवों' व धन्य प्राशियों के लिये मिश-भिन्न प्रकार के प्रानन्द का उल्लेख किया गया है उसका वर्ष यह नहीं समजना चाहिये कि विभिन्न प्रकार के मुक्त प्राणियों हारा विभिन्न प्रकार के धानन्द का उपयोग किया जाता है। रामानूज-मत के बनुसार बचन की अवस्था में जीव परमेश्वर के पूर्ण नियंत्रण में रहते हैं। किन्तू मुक्त धवस्था में जब वे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं तब वे परमेश्वर के सामंजस्य में रहते हैं तथा उसके समस्त सुखो के भागी बनते हैं, वे उसके अंश हैं। मूक्त व्यक्ति उस बच्छी पत्नी के समान होता है जो बपने पति से प्रथक कोई संकल्प नहीं रखती और अपने पति की समस्त कियाओ एव मावनाओं के अनुसार पति के अनुरूप आनन्द का उपभोग करती है। 🖺 बतः मुक्त बात्माएँ परमेश्वर से पूर्ण सम्पर्क में होने के कारण उसके सर्व सूखो का उपभोग करती हैं और उनकी भागीदार बनती हैं तथा विभिन्न मुक्त व्यक्तियों में धानन्द की श्रेणियाँ नहीं हो सकती । उस शबस्था में इन्द्रिय-सुख सम्मव नहीं होता । मोक्ष की धवस्था में ब्रह्मानद का धनुमव ब्रह्मन् के स्वरूप का होना चाहिये तथा स्वयं ब्रह्मन् का अनुभव आत्म-लाभ का अनुभव होता है, अत: बह्यानन्द का धनुमद बह्यान के धारम-लाम के धनुमद के रूप का होने के कारए। विभिन्न श्रेशियो अथवा स्तरी का नहीं हो सकता। साधारण मानवो का सुझ इन्द्रियस्वरूप होने के कारण उनकी बुद्धि के सकुचन एव विस्तार पर निर्मर करता है, भन्त उसमें उच्चतर व निम्नतर, बड़ी व छोटी श्रेणियों के उपमोग के विमेद हो सकते है। मध्य के अनुयायी सोचते हैं कि मोक्ष की अवस्था में विविध प्रकार के अनुभव होते है, और फलतः सत की योग्यता के अनुसार उस अनुभव में आनन्द की श्रीगुर्या प्रथवा स्तर होते हैं, किन्तु समस्त श्रति-पाठ यह बताते हैं कि मोक्ष के समय शहान के स्वरूप का अनुभव होता है, और यदि यह भान लिया जाय तो सम्भवतः मोक्ष में श्रेतिएयाँ स्थावा स्तर नहीं हो सकते ।

पांचरे सध्याय में इस विवेचन को जारी रखते हुए परकाल यति कहते हैं कि मोक्ष में प्राप्त सानन्द में कोई विभेद इस सामार पर नहीं होते कि विशिष्ठ व्यक्ति परमेदवर को प्राप्त करने के तिये मिन्न-मिन्न विश्वियाँ अपनाते हैं. क्यों कि ये विश्वयाँ

१ पारतंत्र्यं परे पु सि प्राप्य निगंतबन्धनः स्वातंत्र्यमत्ता प्राप्य तेनव सह मोदते

हति मुक्ताः स्वदेहारयये कर्मनाशाच्य स्वतंत्रशेयस्वेन शारीरतया मोननुबंहारावे हम्बाम तृष्ट्यः स्वादुर्वाणस-तृष्य-मोग-स्वस-तद्द-साव्येवी अकरण-सृताः यथा पत्ती-स्यापारावयः परदुरेव मुक्तानां शास्त-विद्धाः परस्परव्यापाराऽपि बहुगरीव सर्वेवारीर-कतवा सरीरिप्येव सरीर-मोन-सायात्। — विवयीन-परावदः १० ४३।

चाहे कितनी ही मिल्ल क्यों न हों, उनके द्वारा उपलब्ब फल एक ही होता है, सर्थात् बह्मन् के स्वरूप की प्राप्ति । कुछ प्रास्तो सचिक 'मिक्त' के योग्य हो सकते हैं सौर कुछ कम मक्ति के योग्य, किन्तु उससे अंतिम 'मुक्ति' की प्राप्ति में कोई अन्तर नहीं होता तथा मुक्ति सबके लिए एक समान होने के कारण उसका धानन्द भी एक समान ही होना चाहिये । इस स्थिति में विभिन्न यहाँ से विभिन्न फल प्राप्त होने का साहस्य सागू नहीं होता, क्योंकि ये वक्त बाह्य साधनों से सम्पन्न किये जाते हैं प्रतएव उनके फल मिन्न-मिन्न हो सकते हैं। किन्तु मोक्ष की प्राप्ति आध्यात्मिक साधनों, प्रयात् 'मिक्ति' से की जाती है। न यह युक्ति मान्य है कि मुक्त प्राशी का आनद एक वैयक्तिक जीव का प्रानंद होने के कारता एक ही स्वरूप का नहीं हो सकता, क्यों कि मोक्ष की भवस्था में जीव ब्रह्म-प्राप्ति के धानन्द का उपमोग करते है जो एक-रस एवं सब क्यापी होती है। यह युक्ति देना भी गलत है कि मुक्त प्राएगी का भानन्द सांसारिक जीवन में भनुभूत भानन्द के सदश होने के कारए। भानन्द की श्रेखियों से युक्त होना चाहिये। यह युक्ति भी समान्य है कि चूँकि ब्रह्मन् को स्रतिशेष्ठ सानन्दमय मानना उसका उचित बर्शन या परिभाषा है, अतः जीवों को हम उसी भर्ष में शतिश्रेष्ठ धानन्द से युक्त नहीं भान सकते, न्योकि बह्मन् 'बनन्त' है बतः उसको उपर्युक्त परिभाषा द्वारा सीमित करना गलत होगा तथा यह परिमाषा उस पर सागू नहीं हो सकती। मुक्त धवस्था में भ्रतिश्रेष्ठ भानन्दमय जीवों से उसके विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता। यह भी कहना गलत है कि बह्मन् का धानन्द बह्मन् के अधिकार में होने के कारण किसी धन्य प्राणी के द्वारा नहीं मोगा जा सकता, क्योंकि 'मोग' का वास्तविक मर्थ है मनुकूल धनुमव । इस प्रकार पत्नी अपने पति के, गुरु अपने शिष्य के एवं माता-पिता अपने पुत्र के सद्गुर्गों का 'मोर्ग कर सकते हैं। मुक्त व्यक्ति स्वय बह्मन से तादात्म्य के अनुभव की प्राप्ति करता है तथा ब्रह्मन् के स्वरूप की स्वय में यह उपलब्धि ही श्रेष्ठतम ग्रानन्द है। उसका तास्पर्य यह नहीं है कि बहान के गुरुों में कमी हो जाती है, किन्तु उसका अर्थ यह है कि स्वयं में उन गुर्गों की अनुभूति में ही चरम बानस्द मिस सकता है।

वस्त्रम तदीवलेन तच्छेबल्सं तहि राजपुरुष पोग्ये राज्ञि व्यक्तिचार, प्रोपो हि स्वानुकूलल-प्रकारक-साक्षात्कार: तद्विष्यत्वमैव गोग्यत्वम्, तच्च दासं प्रति स्वामिति शिष्यं प्रत्याचार्वे पुत्रं प्रति सातरै पितरि च सर्वानुवन सिद्धम् ।

<sup>- &#</sup>x27;विजयीन्द्र-पराजय,' पृ० १२४।

#### अध्याय १६

# मध्व द्वारा 'ब्रह्म-सूत्रों' की व्याख्या

मध्य ने 'ब्रह्म-सूत्रों' पर न केवल एक 'माध्य' लिखा, बल्क 'मनुव्याख्यान' नामक रचना में 'ब्रह्म-सूत्रों' के संदर्भ के सबंध में अपने यत की प्रमुख बातों का विवरता भी दिया । जयतीर्थं ने 'तत्व-प्रकाशिका' नामक एक टीका मध्य के 'माध्य' पर लिखी । स्यास बति ने 'तात्पर्य-चन्द्रिका' नामक एक ग्रन्य टीका 'तत्व-प्रकाशिका' पर सिक्की जिसमें वे स्थास्था की ग्रन्थ जालाधों के बेटान्त-लेखकों और विशेषत: शंकर मत के विचारों की ब्रोर ध्यान बाकवित करते हैं तथा उनका खंडन करते हैं। राधवेन्द्र-यति ने 'तात्पर्य-चित्रका' पर एक टीका 'चडिका-प्रकाश' लिखी। विद्याधीश के एक शिष्य केशव भटारक ने 'वंडिका-व्याख्यायं-वृत्ति' नामक उस पर एक धन्य टीका लिखी किन्तु उसमे केवल प्रथम खण्ड का समावेश किया गया है। राधवेन्द्र यति ने 'भाव-दीपिका' नामक एक ग्रन्य टीका 'तत्व-प्रकाशिका' पर सिक्की जिसमें उन्होंने सपने प्रतिपश्चियों के बाक्षेयों का उत्तर दिया तथा विभिन्न विषयों की सरस क्याक्या की । इस भाग में इन टीकाओं के प्रकाश में सब्द द्वारा दी गई 'ब्रह्म-सत्रो' का व्याख्या का विवरण देने का प्रयत्न करू गा और साथ ही शकर एवं उनके टीकाकारों की व्याख्या से उसका ग्रन्तर बताऊँगा 'ब्रह्म-सूत्र-माध्य' एव उसकी प्राथमिक टीकाओं पर तथा 'मनुव्याख्यान' पर कई मन्य टीकाएँ भी हैं। इस प्रकार मध्य के 'माष्य' पर त्रिविकम पण्टिताचार्यं ने 'तत्व-प्रदीपिका' टीका लिखी । निसंह ने उस पर 'माव-प्रकाश' लिखी तथा विजयेन्द्रयति ने 'न्यायाध्व-दीपिका'। पनः, जयतीर्थकी 'तत्व-प्रकाशिका' पर कम से कम पाच ब्रन्थ टीकाएँ हैं. यथा 'माव-चन्द्रिका.' 'तत्व-प्रकाशिका साव-बीध.' 'तत्व-प्रकाशिकागत स्थाय-विवर्ण,' 'स्याय-मौक्तिक-माला' और 'प्रमेय-मुक्तावली' जिन्हें कमशः नरसिंह, रघनाय यति, विजयीन्द्रयति और श्रीनिवास ने लिखी 'तात्पर्य-चंद्रिका' पर तिम्मनाचार्य व विजयोन्हयति ने 'बंदिका-स्याय-विवरसा' एव 'बंदिका-हर्पसा-स्याय-विवरण' नामक दो ब्रन्थ टीकाएँ लिखी । 'धनुव्याख्यान' पर जयती व की 'स्याय-सुधा' तथा विजयेन्द्रयति की 'सुधा' रची गई। 'स्याय-सुधा' पर भी धनेक टीकाएँ हैं-यथा

<sup>ै</sup> देखिये हेल्भम बॉन म्लेसेनैप की "Madhva's Philosophie des Vishnu-Glaubens" बान एवं लिपविष, १६२३, पू॰ ३१-६४।

भारायण द्वारा लिखी गई टीका, यदुपति द्वारा 'न्याय-सुधा-टिप्पणी,' विद्याधिराज द्वारा 'क्याक्यार्थ-चंद्रिका' तथा श्रीनिवासतीर्थं द्वारा रचित टीका ।

#### ब्रह्म-सूत्र १-१-१ की व्याख्या

बाररायण के 'बह्म-मुत्र के प्रयम' सुन्न (प्रधानो बह्म-निज्ञाला) पर टीका करते हुए एंकर मानते हैं कि 'प्रम' ग्रस्ट बंदिक स्वाचार के पूर्व कर्मकाण्डीय सनुष्ठान की कियो प्रपिद्ध मानवस्त्रका की धोरा सकेत नहीं करता है, जिसके पर्वचात् एक व्यक्ति वेदात के प्रध्यमन का धिकान हो। 'प्रात:' एवट बहु- विकास के हेतु को बताता है, जो इस तथ्य में निहंत है कि बहु-जात है। स्वाचन हो। स्वचान के हो को बताता है, जो इस तथ्य में निहंत है कि बहु-जात हो। स्वचान सम्बच्ध प्रात्म हो। स्वचान कराता है। स्वचान सम्बच्ध की स्वचान कराता है। स्वचान स्वचान के स्वचान की स्वचान सम्बच्ध की स्वचान कराता है। स्वचान सम्बच्ध की स्वचान की की स्वचान स्वचान स्वचान की स्वचान स्वचान की स्वचान स्वचान की स्वचान स्वचान स्वचान की स्वचान स्वचान स्वचान की स्वचान स्वचान स्वचान की स्वचान स

देखिये, वही ।

भ्रयशब्दस्यातः-शब्दो हेत्वार्षे समुदीरितः ।
 परस्य ब्रह्मसो विष्णो : प्रसाशादिति वा मवेत ।
 स हि सर्वमनोहति-प्रेरकः समुदाहुतः । —ब्रह्म-सुत्र-माष्य, १-१-१ ।

³ वही ।

कारी बनाता है, किन्तु 'मुक्ति' को देने वाली उच्चतम कृपा की प्राप्ति तो केवल ज्ञान द्वारा ही की जो सकती है। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति केवल श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं मिक्त के द्वारा की जा सकती है, कोई इनके बिना सम्यक ज्ञान को प्राप्त नहीं करता । मध्य के मत में 'बह्मन्' शब्द का बार्थ है महान अगवान विष्णु । प्रथम सुत्र के सम्बन्ध में शंकर के विरोध में मध्य जिन सबसे महत्वपूर्ण बातों में से एक पर बल देना चाहते हैं और जिसे वे धपने 'न्याय-विवरण' में स्पष्ट करते हैं, वह इस धारणा में निहित है कि 'बहानू' का घात-अर्थ 'महानू' अथवा 'पुर्गुत्व' के समस्त गुर्गों से सम्पन्न है, ग्रतएव उसका अपूर्ण जीवों से तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता क्योंकि हम उपनिषदों से ज्ञात करते हैं कि उससे जगत की उत्पत्ति हुई है । ब्रह्म-जिज्ञासा में संलग्न होने में हमारा प्रयोजन सब धोर से पूर्ण एक सत्ता के रूप में विष्णा का ज्ञान प्राप्त करता है. जिससे एक अर्थ में हम अपूर्ण प्राशियों से (जो इतने मिन्न हैं) मगवान विष्णु प्रसन्न हो जाएँगे तथा हमें अपने बन्धन से मुक्त कर देंगे। 'अनुव्यास्थान' में मध्व इस तथ्य पर बल देने का प्रथास करते हैं कि हमारा बन्धन यथार्थ है तथा भगवान विष्णु के प्रसाद से उत्पन्न मोक्ष भी यवार्थ है। मध्व युक्ति देते हैं कि यदि वन्धन का निर्माण करने वाले शोक, द:स आदि भठे एवं मिच्या होते तो इस बात की स्थापना किसी 'प्रमारा' की सहायता से ही की जाती । यदि ऐसा 'प्रमारा' विद्यमान है, तो स्वभावत: वैतवाद की उत्पत्ति होती है। शकर के मत के अनुसार निराकार एवं भेट-रहित ब्रह्मन स्वयं किसी प्रमास के प्रदर्शन में भाग नहीं ले सकता। जगतामास के मिध्यात्व की परिभाषा यह कहकर भी नहीं दी जा सकती कि वह ज्ञान के द्वारा बाधित होता है (ज्ञान-बाध्यत्व), क्यों कि यदि ब्रह्मन का प्रस्थय गुद्ध एवं भेद रहित ज्ञान है, तो उसमें इम संकल्पना का समावेश नहीं हो सकता कि वह जगता-भास से भिन्न है (अन्यथात्व) अथवा वह उसका निषेध करता है-पर यदि ब्रह्म-जान के द्वारा जगताभास बाधित होता है तो ऐसी सकल्पना आवश्यक है। अब ब्रह्मन सर्वदा स्वय-प्रकाश माना जाता है, तो फिर शकर का 'स्रज्ञान' किस पर आवरण डालेगा ? यदि यह कहा जाय कि वह एक वस्तुगत जगत के मिच्या भेदों पर आवरता डालेगा. यदि यह कहा जाय कि वह एक वस्तुगत ेजगत के मिच्या भेदो पर आवरता डासता है. तो एक और कठिनाई उत्पन्न होती है- निष्या भेद 'सजान' के काररा ही उत्पन्न होते

कर्मग्रात्राधमः प्रोक्तः
 प्रसादः श्रवग्रादिमिः
 मध्यमो ज्ञान-सम्पत्या
 प्रसादस्त्रसमो मतः । —वही ।

बहा-शब्देन पूर्ण-गुण्रत्वोक्तेनानुमव---सिद्धाल्पगुणो जीवाभेदः ।

<sup>-</sup>मध्व का 'न्याय-विवरस्', १-१-१

हैं, किन्तु 'धकान' डारा धाइल होने के लिये उनका 'धकान' वे स्वतंत्र पृथक् धरिताल विश्व किया जाना नाहिये। सत: यहाँ धनवस्था दोश की स्पष्ट स्थिति उपस्थित हो वाती है, 'धकान' नाम से ही स्पष्ट होता है कि वह स्वयं बान प्रदान नहीं कर सकता काराय नह निष्या है, किंतु तव भी ऐसी निष्या वस्तु का कोई धरितल नहीं हो सकता, क्योंक ब्रान-पुगता धीर 'धकान' का ऐसा संबंध है कि या ती 'धमनवस्था' बोव उरस्क होता है या 'धम्योन्याध्य' दोष, क्योंकि किसी स्थिति विशेष में एक वस्तु की ब्रान-पुग्यता उनके प्रति 'धकान' के कारण होती है धीर वह 'धकान' उसकी बान-पुग्यता के कारण होता है धारि। धतः संकर की व्याख्या स्वतं होने के कारण यह स्पष्ट है कि हमारे बोक धीर बंधन सत्य है तथा बेद यह नहीं मानते हैं कि बहु। धीर जीव में तावास्य है— क्योंकि ऐसी व्याख्या हमारे घनुसक के प्रत्यक विरोध में होगी। '

जयतीर्थं की 'तत्व-प्रकाशिका' पर व्यासयित द्वारा रचित एक पाण्डित्यपूर्ण टीका 'तात्पर्य-चित्रका' न केवल मध्य के 'भाष्य' के ग्रामित्राय का स्पष्टीकरण करती है, बल्कि अधिकांश विवादप्रस्त विषयो पर प्रतिपक्षियों के मतों का उल्लेख भी करती है धौर उनका सण्डन करने का भी प्रयास करती है। वह कतिपय महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओं को उठाती है तथा बाचस्पति, प्रकाशात्मन एवं शकर के धन्य अनुवाधियो कै मतों की भालोचनाकरती है, जिनकी उपेक्षानहीं की जासकती। इस प्रकार वह शंकर के 'माध्य' पर 'मामती' नामक टीका में वायस्पति द्वारा उठाई गई इस बात का उल्लेख करती है कि इस बापित में कोई सत्यता नहीं है कि ब्रह्म-जिज्ञासा की कुछ भी भावश्यकता नहीं है क्योंकि जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य है भीर उसका हम प्रत्यक्ष एवं ग्रपरोक्ष ग्रनुभव करते हैं, 'ग्रविद्या' के विनाश को भी वांखित उद्देश्य नहीं माना जा सकता क्योंकि भारमन् की सदा एक स्वयं प्रकाश सत्ता के रूप में भनुभृति होने पर भी 'मनिया' का निराकररण नहीं हो पाता और चुंकि देदान्त के पाठों के मध्ययन करने तथा समभने में भी बहकार की सकत्यना का समावेश होता है, बतः वेदान्त के उन भवतरणों की हमारे साधारण अनुसब के धनुकूल फिर से व्याख्या की जानी चाहिये जो बहान का विशुद्ध ज्ञाता-क्षेय-रहित सन्, चित् एव ब्रानन्द के रूप में वर्गन करते हुए प्रतीत होते हैं। यह निश्चिन है कि स्वयं-प्रकाश वेदान्त के स्रवतरए। उपमुंक्त विवरण के बहान का निर्देश करते हैं, और पुंकि इनका अन्य कोई सर्थ नहीं हो सकता, हमे प्रपने तथाकवित प्रमुभव पर कोई विद्यास नही करना चाहिये जो

सस्यत्वात् तेन दुःसादैः प्रस्यक्षेग् विरोधतः

न ब्रह्मत्वं वदेद् वेदो जीवस्य हि कथचन । - अनुव्याख्यान, १-१-१ ।

प्रति-सूत्रं प्रकाश्येत चटनाघटने मया
 स्वीयान्य-पक्षयोः सम्यग्विदांकुवंन्नु सूर्यः । —बही, श्लोक १० ।

सरसता से नृति के वस हो तकता है। इत प्रकार 'मामती' के मनुसार यह निष्कर्ष निकतता है कि वेदांत-याठों का बास्तविक समित्राय भेव-रहित परम सत्ता बहुत् है तथा चूँकि यह गुढ़ बहुत्त सनुपत्र में प्रत्यक्ष समित्र्यक नहीं होता (युद्धी न माति) सत्ता बहुत्त के स्वरूप के संबंध में विश्वासा न्यायोचित है।

बाबस्पति के उपर्युक्त मत के विरोध में व्यास तीर्थ जो बापित उठाते हैं वह यह है कि यदि हमारे साधारता अनुभव में 'शुढ़' (बहान्) अपनी अभिव्यक्ति नहीं करता है, तो इसका क्या ताल्पर्य है ? क्या इसका ताल्पर्य यह है कि जो अपनी अभिव्यक्ति नहीं करता वह शरीर से बात्मन का भेद है, कर्ता व मोक्ता के रूप में हमारे स्वरूप का निषेध है, बहान और 'बास्य' का अभेद है, अथवा केवल इत का निषेध है ? किन्तु क्या यह बनिम्यक सत्ता बाल्मन् से भिन्न है ? यदि ऐसा है तो वह सामान्य बद्वैतवादी निष्कर्ष के विपरीत है और यदि यह कहा जाय कि एक अमानात्मक सत्ता के अस्तित्व से बढ़ैतवादी सिद्धान्त का हमन नहीं होगा, तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि ब्रमाव के ऐसे हिन्टकोल का खंडन 'स्थायामृत' नामक रचना में किया जा चुका है। यदि ऐसी धनमिन्यक्त सत्ता मिन्या है तो वह श्रृतियो के उपदेश का विषय नहीं हो सकती। र्याद यह माना जाय कि 'भारमन्' भनुभव में भपनी भ्रमिष्यक्ति नहीं करता तो ऐसा तभी माना जा सकता है कि 'बात्मन्' के दो माग हैं जिनमें से एक तो बनिव्यक्त होता है और दूसरा नहीं होता, तथा दोनों में कोई ऐसा कल्पित अंतर (कल्पित-भेद) है कि यद्यपि ब्रात्मन् ब्रिमञ्चक्त (गृहीत) होता है, उसका बनिमञ्चक्त (ब्रामासमान) माग (भश) श्रमिव्यक्त एव भनुभूत होता हुमा प्रतीत नहीं होता है (भगूहीत इव शांति)। पर यदि ऐसी भी स्थिति है तो यह स्वीकार किया जाता है कि बारमन के दो कल्पित शंशों में कोई यथार्थ भेद नहीं है, श्रनसिब्यक्त शंश एक मिथ्या एवं भ्रामक भेद (कित्पत-भेद) से युक्त होना चाहिये तथा ऐसे भ्रामक व धनमिन्यक्त धारमन के स्वरूप का उपदेश देना किसी बेदांत का उद्देश्य नहीं बन सकता। अनिमध्यक्त अश या तो सत्य हो सकता है या श्रसत्य, यदि वह श्रसत्य है, जैसाकि हमें मानना पड़ेगा तो उसके स्वरूप का उपदेश देना वेदांत का उद्देश्य नहीं हो सकता। कारएा, यदि भ्रामक भनभिन्यक भंश भारम-ज्ञान के पश्चात् भी शेष रहता है तो ऐसा भ्रम कभी नष्ट नहीं हो सकता । समस्त आमक बामास ऐसे अमों के 'धाविष्ठान' के सत्य ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं (उदाहरण के लिये, शुक्ति के ज्ञान से रजत का भ्रामक ग्रामास नष्ट हो जाता है)।

<sup>°</sup> वही, पृ० १५-१७।

मधिष्ठान ज्ञानस्यैव भ्रमविरोधितवा तिस्मन् सत्यपि भेव-भ्रमस्य तिश्रमित्तकागृहीता-रोपस्य वा अम्युपणमे निवंतकान्तरस्यामावातदनिञ्चति-असंगात् । यदुक्तम-मासमानाँआ धारमातिरिक्तव्येत् सत्यो सिध्या वा इति तत्र मिध्या-भूत इति बुम: ।

<sup>-- &#</sup>x27;चंद्रिका-बाक्यार्च-विष्टति' पृ० १८।

इसके मतिरिक्त भारमन स्वय प्रकाश है, मतएव यह नही कहा जा सकता कि बह बनुमव में स्वयं प्रकाश सता के रूप में प्रमिन्यक्त नहीं होता (स्वप्रकाशत्वेन भावयोगात्)। यदि यह यक्ति दी जाय कि स्वयं प्रकाश होते हुए भी वह 'भविद्या' से माहत हो सकता है, तो ऐसी भापत्ति का उत्तर यह है कि यदि 'भविद्या'। भारमन् की ममिव्यक्ति को माइल कर सकती है तो 'मविद्या' और उससे उत्पन्न दु:स, शोक मादि भी बात्मन की अभिव्यक्ति द्वारा प्रकाशित नहीं किये जा संकते, पर यह माना गया है कि स्वय प्रकाश भारमन के द्वारा ये प्रकाशित होते हैं। यह भी स्पष्ट है कि चित् अथवा स्व-प्रकाशकत्व (स्फूरती) कभी अप्रकाशकत्व (ग्रस्फूरती) नही हो सकता। न यह माना जा सकता है कि यद्यपि विशुद्ध चित् अपनी विशुद्धता में तो इस्व-प्रकाश है तथापि चूंकि वह 'सज्ञान' के विरोध में स्वयं न हो कर केवल मानसिक 'इत्ति' के कारण उसके विरोध में होता है और चूँकि साधार एतया उसके लिये 'हत्ति' नही हुआ करती, मतः वह 'मजान' से बाइस हो सकता है तथा घपने स्वत्रकाश स्वरूप के बावजूद भी इस प्रकार ब्राइन होने के कारए। जिज्ञासा का उपयुक्त विषय बन सकता है। पर यह मान्यता सत्य नहीं है, क्योंकि यदि विशुद्ध चिन् 'ग्रज्ञान' के विरोध में नहीं है तो उसके द्वारा प्रपरोक्ष रूप से ज्ञात किये। यए शोक ग्रादि 'ग्रजान' से ग्रावृत ही रह जाने भाहिये। यदि सुख दु.ख आदि का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है तो उनकी सला को स्वीकार नहीं किया जा सकता। किसी वस्तु के आकार की मानसिक अवस्था या 'बृत्ति' तभी सम्भव है जबकि वह वस्तु पहले से अस्तित्व मे हो, क्योंकि वेदांत की ज्ञान-मीमासा के अनुसार 'अन्तः करसा' या मनस् इन्द्रियों के द्वारा बाहर दीड़कर वस्तु के भ्राकार में परिवर्तित होता है तथा ऐसा होने के लिये वस्तुका पूर्वग्रस्तित्व होना भावस्यक है, किन्तु सुख दु.ख की मावनाएँ उनकी अनुभूति के भतिरिक्त काई भ्रस्तित्व नहीं रलती और यदि यह कहा जाय कि उनको ज्ञान करने के लिये 'वृत्ति' की आय-श्यकता होती है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उनका पूर्व वस्तुगत ग्रस्तित्व है, पर ऐसा ग्रसम्भव है। पतः यह स्वीकार करना पटेगा कि भावनाएँ विशुद्ध चित् के द्वारा, किसी 'वृत्ति' अथवा मानसिक शवस्था के माध्यम के बिना, अपरोक्ष रूप से ज्ञात की जाती है तथा ऐसा बसम्मद होगा यदि चिन्का 'प्रज्ञान' से कोई विरोध न हां, क्योंकि फिर चिन् सदा आवृत्त रहता और दु:ल आदि का कोई ज्ञान सम्भव नहीं होता। इस सबध मे शकर वेदात के अनुसार साधारण वन्तुओं के प्रत्यक्षीकरण के

स्त-प्रकाशस्यापि श्रविद्या-वशाद श्रमाने श्रविद्यादेषु प्रकाशां न स्थात्, तस्य चैनन्यप्रकाशाधीन प्रकाशच्चोपममात् । —'तात्पर्यं चन्द्रिका,' १०१६।

सुखादेशतिकसत्वाभावापातात् । —वही, पृ० २० ।

३ स्वरूप-चित्तोऽज्ञान-विरोधित्वे तद्वेबे दुःस्वादाज्ञवान-प्रसंगात् ।

<sup>–&#</sup>x27;चंद्रिका,' पृ० २०।

सिद्धांत के विवेचन में एक धन्य किटनाई उत्पन्न होती है। संकर-वेदात यह मानता है कि क्लुयों के प्रत्यक्षीकरण (बैंसे 'यह चट') के अवसर पर मानसिक-वृत्ति से भी चट साचार की वृत्ति के विशिष्ट सुद्ध चित् की स्वित्वव्यक्ति होती है, पर यदि ऐसा है, यदि यट का हमारा प्रत्यक्षीकरण चट का सकता की वृत्ति से संयुत्त चित् का प्रकास मात्र है, तो यह सम्बीकार नहीं किया वा सकता कि इस विटाश्रायक्ष में सुद्ध चित् का कि स्वप्रकास प्रतिवर्षतः समाध्यद होता है।

इसके ब्रतिरिक्त, यह भी सुकाव नहीं दिया जा सकता कि बनारमन के बना का ग्रामास होता है तथा इस कारण से हमारी बहा-जिज्ञासा न्यायोचित है, क्योंकि यदि यह बनारमन स्वयं प्रकाश चित के साथ-साथ एक बाह्य एवं बतिरिक्त सता के रूप में में मासमान होता है, तो चूंकि उसके द्वारा शुद्ध चित् की ग्रमिश्यिक्त में कोई बाधा नहीं भाती, बतः इस प्रकार की जिज्ञासा का कोई बवसर नहीं बाता । यह स्पष्ट है कि इस धनारमन का धारमन से 'तादारम्य' शासित नहीं हो सकता. क्योंकि जब शह चित स्वतः प्रकाशित होता है, तो इस ढंग से बनात्मन के किसी बंश के लिए ब्रिशियक्त होने की कोई गुजायण नहीं होती (अविष्ठाने तत्वतः स्कूर अनात्मारोपायोगाच्य)। वाचस्पति द्वारा अपनी 'भामती' में एक साह्य्यता उपस्थित की गई है जिसमें वे यह सुभाव देना चाहते हैं कि जिस प्रकार संगीत के विभिन्न स्वर यद्यपि हमारे साधारण श्रीशक्षित मगीत के प्रत्यक्षीकरण में अन्त. प्रज्ञा द्वारा ज्ञात किये जाते हैं, तथापि उनका उचित ज्ञान मगीत-शास्त्र (गधवंशास्त्र) के गहन अध्ययन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार सच्चा ब्रह्म जान बेदांत-पाठों के श्रीभप्राय की श्रनुभृति एव उनके विवेचन द्वारा उचिन मनोभूमि नैयार करने के पश्चात ही उदित हो सकता है, अतएव यद्यपि भारम्म में हमारे माबारण भनुभव में स्वय प्रकाश चित की अभिव्यक्ति होती है, तथापि बह्य के स्वरूप की ग्रधिक पूर्ण ग्रनुभृति के लिए बह्य-जिज्ञासा की भावश्यकता होती है। किन्तु यह सादृश्यता यहाँ लागू नही होती, क्योकि हमारे सगीत के ज्ञान की अवस्था मे तो एक सामान्य ज्ञान सम्भव है जिसका सगीत-शास्त्र के गहन अध्ययन द्वारा क्रमश्चः अधिकाधिक विशिष्टीकरण होता है और वह विशेष रूप से ग्रामिक्यक होता है, किन्तु बह्मन, स्वय प्रकाश चित श्रयवा ग्रारमन के हमारे ज्ञान के सबध में ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि वह पूर्णतः एक रस, सरल तथा भेद-रहित है-उसका एक सामान्य और एक विशेष ज्ञान प्राप्त करना सम्मव नहीं है। वह अन्त-वंस्तु से सर्वया रहित सरल आत्मामिक्यक्ति की कौंब है अतएव उसमें कोई अधिक या कम ज्ञान नहीं हो सकता। इसी कारण 'भामती' में समाविष्ट इस वक्तव्य में कोई सत्य नहीं है कि यद्यपि वेदात के महावाक्य 'तत्वमसि' के सम्यक बोध से एक व्यक्ति

<sup>&</sup>lt;sup>९</sup> त्वन्मते ग्रयं वट इत्याद्मपरोक्ष-बत्तेरपि घटाद्यविश्वन्न चिद्-विषयत्वाच्य ।

बहान् से प्रपत्ने तादात्म्य को समक सकता है, त्यापि विवादियों की धापित्मों के कारण बहान् के विषय में सदेह हो सकता है, और इस प्रकार बहा-जिक्काला न्याय-संगत सिंद हो सकती है। क्योंकि वब सरल धन्तवंस्तु-रहित, विद्युद-वित् एक बार ब्रात कर लिया जाता है, तो संदेह की गुंवाइक कैंद्रे रह सकती है? चूंकि किरियय उपित्वयानों की द्युद धहैतवादी व्याख्या सावारण धनुमन के हारा प्रस्थक वाधित होती है पतः कोई सम्य प्रकार की उचित व्याख्या करनी पड़ेगी वो हमारे प्रस्थक धनुमन के हारा प्रस्थक वाधित होती है पतः कोई सम्य प्रकार की उचित व्याख्या करनी पड़ेगी वो हमारे प्रस्थक धनुमन हो।

इस समस्त सूक्ष्म विचार-विमर्श का सामान्य निष्कर्प यह निकलता है कि शकर का मत (कि हमारा सबका ब्रह्मन्, स्वय प्रकाश चिन् से तादातम्य है) सही नही है, क्योंकि यदि ऐसा होता है तो यह स्वय प्रकाशकरव हमें सदा तत्काल एवं अपरोक्ष रूप से ज्ञात हो जाता, अतएव ब्रह्मजिज्ञासा का कोई अवसर उत्पन्न ही नहीं होता, क्योंकि यदि बह्मन् प्रथवा प्रात्मन् हमें सदा प्रत्यक्ष ज्ञाता होता रहता है, तो उसके सबंघ में जिज्ञासा की कोई ब्रावश्यकतानही है। शकर-मत के विषरीत मब्द-मत यह है कि जीवो का ब्रह्मजू से कभी तादात्म्य नही होता, जीवन के विभिन्न साधारल प्रत्यय भी सत्य हैं, जगत भी सत्य है, अतएव कोई भी सम्यक् ज्ञान इन प्रत्ययों का विनाश नहीं कर सकता । यदि हमारा ब्रह्मन् से तादात्म्य होता तो ब्रह्मजिज्ञासा की कोई भावदयकता नहीं रहती, चूँकि हम बहान से एकस्प नहीं हैं इसीलिये उसका स्वरूप जिज्ञासा के लिये उपयुक्त विषय है, क्यांकि इसी प्रकार के ज्ञान से हम उसके पक्ष एवं प्रसाद की प्राप्त करने के याग्य बन सकते है, और इनके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं। यदि श्रात्मन् ब्रह्मन् मे एकरूप है तो ऐसा झात्मन् सर्वदा स्वय श्रमिव्यक्त होने के कारए वेदों के 'ब्रह्म-अण्ड' के अर्थ को निश्चित करने के लिये जिज्ञासा की आवश्यकता नहीं रहती, बल्क वेदों के 'कर्म-खण्ड' के अर्थ को निश्चित करने के लिये जिज्ञासा की भावस्यकता रहती, क्योंकि 'ब्रह्म-लंड' के अर्थ का सम्यक् बोध किसी ग्रन्य दस्तु पर निर्भर नहीं करता (धर्मबद् बह्य-खण्डार्थस्यात्मन परप्रकाष्ट्यत्वाभावात्) । यद्यपि ऐसा बहान, हमारे धनुमव में सदा ग्रात्म-प्रकट है, तथापि चूंकि उसकी धनुभूति के द्वारा हम किसी प्रकार भी मोक्ष के समीप नहीं पहुँचते, इस प्रकार की ब्रह्म जिज्ञासा से कोई लाभ नहीं हो सकता। अतः इस 'सूत्र' की शंकर द्वारा दी गई व्याख्या के लिये कोई मुं जायण नहीं है। यहाँ ब्रह्मन् का अर्थ गुरुग़ों की पूर्णता (गुरुग-पूर्ति), अतः वह गुरुगो में 'ग्रपूर्ण' एवं न्यून 'जीवन' से भिन्न है।"

तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ०३६।

जिज्ञास्य-ब्रह्म-शब्देन गुलपूर्वाभिषायिना
 अपूर्णत्वेनानुभूताज्जीवाद् भिन्नं प्रतीयते । —वही, पृ० ४६ ।

मध्य शंकर के इस मत से भी असहमत हैं कि ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व नित्यानित्य-बस्त-विवेक, इहासूत्रार्थ मोग-विराग, शमदमादि, साधन-सम्पत्ति तथा मूमुक्षत्व की भाववयकता होती है। कारण यदि हम 'भामती' का भनसरण करें भौर 'नित्य' एवं 'अनित्य' का अर्थ सत्य एवं असत्य समझें, बढ़ान के सम्यक बीध को तो सत्य मानें और श्रन्य सभी बस्तुश्रों को श्रस्तय मार्ने (ब्रह्माँ व सत्यम् श्रन्यद शनुतम् इति विवेकः), तो यह भापति उठाई जा सकती है कि मानव द्वारा प्राप्त होने योग्य यही चरम वस्तु है-बौर यदि इसकी प्राप्ति पहले ही हो जाती है, तो फिर बहा-जिज्ञासा का क्या उपर्यांग क्षेत्र रह जाता है ? अथवा यदि भारमनु को 'नित्य' समझा जाय तथा भानारमनु को 'अनित्य,' तो इस भेद की एक बार अनुभृति हो जाने पर अनात्मन सदा . के लिए लुप्त हो जाता है, और हमारे लिये घात्मन के स्वरूप पर विचार-विगर्श करने की कोई भावश्यकता नहीं रह जाती। 'पचवादिका-विवरण' की व्यास्था के भनुसार 'नित्या-नित्य-विवेक' शब्द का तारपर्य इस तथ्य के बोध से है कि ब्रह्म-ज्ञान व्यसरहित है एवं 'कर्म-फल' व्यसारमक (व्यस-प्रतियोगी) है। किन्तु यह भी न्याय-संगत नहीं है, क्योंकि शक्ति में रजत का सर्वदा ग्रभाव (ग्रत्यतामाव) होने के कारण 'ध्वसात्मक' शब्द यहाँ लागू नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि वस्तुतः शुक्ति-रजत का पारमाथिक दृष्टि से श्रमाव (पारमाधिकत्वाकारेण श्रत्यन्तामावः) है, किन्तु अपने श्रामास रूप में वह विनष्ट होती हुई कही जा सकती है (स्वरूपेशा तु ध्वंस:) तो यह भी सम्मव नहीं है, क्यों के यद्यपि 'पारमाधिक' जब्द की 'धवाध्यत्व' शब्द में ब्यास्या की जाती है तथापि उसका कोई निक्चित अर्थ नहीं बताया जा सकता। 'धबाध्यस्व' का अर्थ है 'पारमाधिक' इस प्रकार 'झन्योन्याश्रय' दोव उत्पन्न हो जाता है। निराकार होने के कारए। बह्य मी 'ग्रसत्' माना जा सकता है (ग्रस्थन्तामावश्रतियोगित्वस्य निराकारे ब्रह्मण्यपि सम्भवात )।

पुन 'प्याय-विवरए' का कथन है कि यदि 'विषय' भी केवल सुक की प्रमिष्यक्ति करने में सहायक होते हैं भिर सुक 'धारम-स्वरूप' है, तो कोई कारए। नहीं है कि विषयों के सुन को मोज के मुन के मिन माना जाया। फिर, पुनुश्ल को भी बहु-विज्ञासा की धावस्थक घवन्या माना जाता है। किन्तु प्रकल वह उठता है कि यह 'युमुक्त क' किसका है? मुमुक्त अह के द्वारा निर्देशित कता (चहु-धये) में नहीं हो सकता, क्योंकि यह सता मोझ के समय धेष नहीं रहती (घहुमर्थस्य मुक्तावन-ब्याद्)। वह विश्व विष्कृति चिन में में नहीं हो सकता, क्योंकि उद्यों की इच्छा ही नहीं हो सकती। स्व प्रकल प्रमुक्त के प्रथम स्व क्यांकि उद्यों की देश की स्व प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रमुक्त की स्व प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रमुक्त की स्व प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल प्रमुक्त के प्रथम स्व कि स्व कर कर प्रकल प्रकल के प्रथम की स्व प्रकल प्रकल प्रकल के प्रयास्था के विरोध के स्व प्रकल प्रकल प्रकल प्रमुक्त की स्व प्रकल प्रकल प्रकल प्रकल के प्रथम की स्व प्रकल प्रकल की स्व प्रकल के प्रयास्था के स्व प्रमुक्त कर की स्व प्रकल के प्राप्त हो से स्व प्रमुक्त की स्व प्रकल की स्व प्रमुक्त की स्व प्रकल की स्व क

<sup>&</sup>lt;sup>९</sup> तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० ६१ ।

को सच्च के 'वाष्य' में प्रस्तुत की गई तथा क्यती थे, व्यासती थे, राववेन्द्र याँत एवं धम्य विचारकों हारा स्पष्ट की नह- यह है कि 'धम्य' बाक्य से एक घोर तो मांपांसक प्रमाव की सूचना मासती है धीर द्वारी घोर वह नारायवण का एक नाम है।' 'धम्य' बाक्य का एक व्यास्य धम्ये यह है कि बहा-विकासा धरिवार-योग्यता को प्राप्ति के यंच्यात ही सम्मव होती है (धरिवार-रान्यता वंदार-मत के अनुसार बताई गई योग्यता से कुछ मिल है। मैंने खकर-मत की मम्ब के हम्प्टिकोण से सालांचना पहले ही कर से हैं। मच्च और उनके अनुसारी 'नित्यानित्य-सर्तु-विचेक्त' की योग्यता को खोड़ देते हैं तथा वे यह भी मानते हैं कि मुख्याद जी तक्ते मत्त्र नहीं है क्यों कि जकर-मत के अनुसार 'जीव' और बहु का तावास्य स्वीकार किया गया है। है क्यों कि जकर-मत के अनुसार 'जीव' और बहु का तावास्य स्वीकार किया गया है। केवल मुमुक्तव भी यंवेष्ठ धरिवार-योग्यता नहीं है, क्योंकि 'कुत्रों' में झूरो को बहु-पिकासा का ब्रिकार नहीं दिया गया है।' भारा ज्वार मुमुक्तव से सम्प्रम क्यांकि अनुसार के त्यांक्र प्रमुक्त के सम्प्रम प्रमुक्त का सावास्य स्वीकार किया या वा है। अतः वर्षा मुमुक्तव से सम्प्रम का बहुर कि कह मिलासा उनके छारा को जाय को उपनिवर्ष का मिलपूर्वक धरम्यन रही है कि वह मिलासा उनके छारा को जाय को उपनिवर्ष का मिलपूर्वक धरम्यन रह चुके है और यो अस्यमारि नित्य से सम्प्रम है तथा वाचारण संवारित सुक्ते के प्रति विदर्श है।'

'तून' में घतः सन्द का समं है 'नगवान विच्छु' के प्रसाद घयवा अनुसह के हारा, न्योंकि उनके मनुगह के बिना यथार्थ सासारिक नयन नहीं तोजा जा सकता सम्बामोन की प्राप्ति नहीं हो सकती । मध्य के 'मनुष्याच्यान' पर तिवा गई सम्वा रोका 'व्याय-सुमा' में व्यवतीयं इस सम्बन्ध में एक प्राप्ति का पूर्वानुमान करते हैं प्रयोद्ध पूर्ति मोक्ष सम्यक् झान के हारा स्वामाविक कम से प्राप्त किया जा सकता है, जैसावि एक भोर तो सकर एव उनके मनुयायियो तथा दूनरी कोर 'व्याय-सूत्र' ने स्वयट किया है-एससिय मोश को उत्तम्न करने के लिए ईस्वर के इस्टब्लेप की उपयोगिता क्या रह जाती है? समस्त दुन्न क्रजानान्यकार के कारण है तथा ज्योंही आन का प्रकाश होता है वह अनसकार निहत हो जाता है सत्यन्य उसे किसी करियत ईस्वर के मसा

एवं च प्रवश्नदो मंगसियित प्राप्यम्य प्रवश्नदो विष्नोत्सारत्यसाधारत्यकरमास्य-कन नृष्टेय-विष्णु-समरत्यायशस्द्रीच्यारत्यक्ष्य मगल-प्रयोजनकः प्रवस्तक्ष्याननृष्टेयक्ष्य-विष्यविष्मयायकस्य इति प्रचं-द्वयं प्रष्टव्यम् । —वही, पु० ७७

सही मत विक्रम पण्डिताचार्यद्वारा मध्य के 'भाष्य' पर लिखी गई 'तस्व प्रदीप' नामक टीका में भी अभिव्यक्त हुआ है।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> भनुभाष्य । ३ बह्य-सूत्र, १, ३, ३४-८ ।

की प्रतीका करने की सानश्यकता नहीं हो सकती। 'भ्याय-सुवा' के सनुसार ऐसी स्नापित का सरवतम उत्तर यह है कि सम्बन्ध यवावं होने के कारण उसके निवारण के लिये केवल ज्ञान ही यवेष्ट नहीं होता। ज्ञान का मुक्त रहा बात में निहित है कि उसकी प्रतियं के प्रमुप्तमक होता है तथा वह प्रवक्त होकर हमें सनुषह प्रदान करता है विसके फलस्वरूप सम्बन का निराकरण होता है।

'बहान' सन्द (जो सकर के अनुसार 'बहात' (शितस्थान) चातु से निकलने के कारण निस्ता, खुढता व चैतन्यता का अब रखता है। का लब्ध सत के चनुसार असे तह पुष्प है जिसमें मुणो का पूर्णत्व हो (इहनो ह्यासिन मुणाः)। यह पुष्पि कि क्षयुत्त प्रोत्त को अव को स्वीकार करने से बहुन सीमित हो जायमा समीचीन नहीं है, स्पोक्त जनत के पदापों का बहुन से तासास्य नहीं माना गया है, फिर भी वे बहुन की सनतता को सीमित नहीं करते हैं तथा रसी प्रकार का उत्तर देकर बहुन की मनतता को सीमित नहीं करते हैं तथा रसी प्रकार का उत्तर देकर बहुन की सनता है। " सत्त करते केद दोनों की न्योक्ति कहे आपापीचित उहारपा जा सकता है।" सतः बहुन की सनतता को भेद से सीमित न होने के नाते केदन निषेधारमक इंग से ही नहीं समक्ता जाना चाहिये, यर काल, दिक एव मुणो के पूर्णत्व के कप में ससकता लाहिये, समस्ता वाती चाहिये, तर काल, दिक एव मुणो के पूर्णत्व के कप में ससकता लाहिये, समस्ता जाना चाहिये, तर काल, दिक एव मुणो के पूर्णत्व के समक्ता मानना पदेशां, स्वीक्ति वह भी न तो काल से सीर र पिक् सिता की मीमत है।"

तथा च ज्ञान-स्वभाव-लम्बायां मुक्ती कि ईश्वर-प्रसादेन, न हि अन्यकार-निबन्धन-टु.स-निव्लये प्रदीपुपाददानाः कस्यचित् प्रभोः प्रसादमपेक्षन्ते ।

<sup>-</sup>न्याय-सुधा, पृ० १८ ।

 <sup>&#</sup>x27;तत्व-प्रकाशिका' का कथन है कि 'ध' धश्रर का धर्य है विष्णु, धतएव 'धतः' का धर्य है विष्णु, प्रसाद से 'धकार-बाच्याद विष्णुं।स्तत्प्रसादात्,' पृ० ४।

कन्तु यकर का मनुसरण करने हुए 'मामती, 'थत:' शब्द की व्याख्या इस भयं में करती है कि 'चूंकि स्वयं वेद भी यह कहते हैं कि यहाँ के फल प्रस्पनीय होते हैं जबकि बहुए-कान के फल मबिनाशी एव नित्य होते हैं। यहा वेदी के डार इस मीकिक एव स्वर्गीय मुख्यों के प्रति वेराम्य प्राप्त करते हैं (इहामुक-फल-मोग-विरागः) तथा इनके डारा बहुर-जिज्ञाशा में प्रवृत्त होते हैं। पर 'चिन्तका' सकेत करती है कि 'प्रतः' के डारा सुचित 'वेराग्य' से ऐसा सम्बन्ध दूरस्य है और इसके भतिरिक्त 'वेराग्य' से सम्बन्ध 'प्रथ' शब्द के डारा पहले ही झम्म्यक हो चुका था। —तस्य प्रकाशिका

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> तात्पर्यं टीका, पृ॰ ८६-६३।

व्यौद्धाम्मन-लिएक-विज्ञानादेरिप वस्तुतः कालाधमावेन अपरिश्चिम्नतः प्रसंगाच्य, तस्माद्वेदातः कालव्यैव गुरातक्वापि पूर्णता बह्यता, न तु भेदस्य राहित्यं ब्रह्म-तेष्यते । —तास्यै-टीका, पू० ६४।

'बहुर-विकासा' बमास के निर्माण के सम्बन्ध में 'बंदिका' का संकेत है कि न तो संकर सीर न उनके अनुमाधियों की यह व्यास्त्या न्यानोचित है कि 'विकासा' तथ्य में निहित किया के सम्बन्ध में बहुन कमेजारक में है, क्योंक बहु केवल अपरोक्ष सहन-क्षाल से बात होने बाला विष्ठुद एवं निर्मेख बेतन्य होने के नातें किसी ऐसी जिकासा तथ्य उपकृत विषय नहीं वन सकता निसमें विकास की यह बुत्तिमों का समावेख हो।' किन्तु सब्ब मत के बनुसार बहु को विकास का विषय बनाने में कोई सापरित नहीं हो सकती। 'व्याय-मुचा भीर 'ताल्यें-विक्तम' दोनों के अनुसार 'बहु-विकासा' में 'किसासा' तथ्य का कह सर्ष पुंचिकुएं तक (सनन) है, न कि बात करने की इक्सा, जैसाकि संकर के अनुसार्यों का सुमान है।' तर्क-पूर्ण विचार-विमर्श से गुक्त बहु-विकासा में किए के अनुसार्यों का सुमान है।' तर्क-पूर्ण विचार-विमर्श से गुक्त बहु-विकास का उद्देश है बहुन् के सक्कर का निर्मारण-बहुन्य में समस्त गुणों का प्रत्यक्षी करता है।' स्वयं उससे केवल कुछ हो गुल विचान है, समसा वह सर्वथा गुण-रित है।'

सध्य के सनुवासियों ने संकर तथा उनके सनुवासियों द्वारा इस 'सूत्र' की कास्या में दिये यो नमस्य सभी विकारों का सध्यत करते का ही अवल नहीं किया, बहिक मध्य ने सपने 'सनुव्यास्थान' में किया पर 'प्याय-सुवा' उठाया है जो मंतर की दीका की यह है, कई स्थय महत्व की बातों को विचारायें उठाया है जो मंतर की व्यित के यून में मुठारायात करतो हुई प्रतीत होती हैं। इन विवेचनों की विल्हत गणना इस सध्याय के क्षेत्र में नहीं की जा सकती, तथा में कुछ महत्वपूर्ण विचारों का ही उल्लेख कर सकता हैं। 'सनुष्यास्थान' का सनुवरण करते हुए जयतीयं ने शकर द्वारा विल्ला अस की सम्भावना तक को चुनीगी री है। उनका कथन है कि ओव स्वभावनः सपने सामस्त कर्मी एवं मायों में स्वतंत्र है, तथा केवन देखन रह ही धारित है। यदि एमा व्यक्ति किसी भी तमय यह सनुष्य करें कि वह किसी प्रयूप कर्ता के

पर-पक्षं विचार-जन्म-ज्ञान-कर्मेसो ब्रह्मसो विचार कर्मस्वायोगान्, प्रपरोक्ष-यृत्ति-व्याप्यस्य फल-व्याप्यस्व-नियमाच्च । —वही, पृ० ११ ।

पर 'मामती' के अनुसार 'चित्रासा' शब्द का प्रमुख घर्ष है 'आत करने की डच्छा,' किन्तु, चूंकि आत करने की डच्छा, केल ऐसे विषय के सम्बन्ध में हो सकनी है जो सदिया है (आतुं इच्छा हि संदिग्धविषये निर्णयाय मर्वति), इसलिये द्रसका लध्यायं है, तकंदुर्ण पिवानर-विमर्थ (विष्य), जो किसी निविषत निर्काय पर पहुँचने के निये प्रावयम होता है।

तस्माद् वेदान्तादिनाऽपात-प्रतोते बहािण सर्गु ग्-िनगु ग्गाल्पगुग्रस्वादिना विप्रतिपत्ते-विज्ञास्यस्वम् ।

द्वारा निर्मारित किया जाता है सी ऐसा निष्टचय ही 'म्रविद्या' के कारए। होता है। अहाँ तक 'सविद्या' स्वरूपतः सीरमा में उपस्थित कही जाती है, वह सत् है (सविद्यादिक च स्वरूपेशाम-सम्बन्धित्वेन संदृ एव) । अतः 'बृद्धि,' इन्द्रियाँ, शरीर और बाह्य विषय ईववर के नियत्रण में स्वरूपतः यथार्थ शस्तित्व रखते हैं, किन्तु जब उनमें श्रविद्या-वन्न श्रारमीयना समझी जाती है, तब श्रव्यास एवं भ्रम होता है (श्रविद्यादि-बनाद-मात्मीयतया बध्यास्यन्ते) । बध्यास इस बात में निहित नहीं होता कि उनका कोई मस्तित्व नहीं है, इसके विपरीन वे वस्तुतः सत् हैं, तथा दुःख उनका एक लक्षाए है। अध्यास इस तथ्य में निहित होता है कि जो स्पष्टतया शरीरादि ही का है उसे धातमा का समक्र लिया जाता है। जब अविद्या के कारण ऐसा मिध्या तादातम्य स्थापित हो जाता है, तब जीव स्वय को उनसे प्रमावित समक्ष लेता है और जो वस्तुत: उनके परिवर्तन हैं उनसे वह स्वयं पीडित प्रतीत होता है, और, इस प्रकार राग व हैंप के बशीभत होकर पुनर्जन्म लेता है तथा ईश्वर की उपासना के अतिरिक्त स्वयं को पुर्रात: मुक्त नहीं कर पाता। पर जो शकर एवं उनके धनुयायियों की मौति 'माया' के सिद्धांत में विश्वास रक्षते हैं उनके अनुसार दुःव स्वयं में अस्तित्व नहीं रखता तथा स्वरूपतः मिथ्या है (द:बादि स्वरूपेशापि मिथ्या)। शकर का कथन है कि हम बात्मन का बनात्मन से कई ढग से तादात्म्य स्थापित करते हैं, ऐसा सत्य हो सकता है, किन्तु इस तथ्य से यह कैसे सिद्ध होता है कि अनात्मनु मिथ्या है ? उसका यथार्थ प्रस्तित्व हो सकता है और फिर भी प्रविद्यावश उसका प्रात्मन के साथ तादातम्य स्थापित किया जा सकता है। यदि केवल इस तथ्य से कि अनात्मन का आत्मन के साथ मिच्या नादात्स्य स्थापित होता है अनात्मन मिच्या सिद्ध हो जाता है. तो इसरी बोर घात्मन के ब्रनात्मन के साथ मिथ्या तादात्म्य से यह सिद्ध हो जाना चाहिये कि भारमन् मी निष्या है। र जिस प्रकार बढ ब्रात्मन् यथार्थ है, उसी प्रकार ब्रात्मन् को बाघने वाले विषयादिक भी यथायं हैं, अविद्या-वश उनके मिथ्या तादारम्य का स्थापन बधन को शृंखला है, तथा यह शृंखला नी यथाये है, और ईश्वर-प्रसाद से प्राप्त ज्ञान के द्वारा ही इसका निवारण हो सकता है।

तस्य परायतत्वावभासो विद्या-निमित्तको भ्रमः । —न्याय-सुधा, पृ० २६ ।

अत्र हि प्रमातु-प्रमात्ग-प्रमेव-कर्त-कर्य-कार्य-बोक्तृ-गोव-लक्ष्या व्यवहार-प्रवस्य वारी-रित्रवादिषु मह-ममाञ्यात-पुर-सरत्वप्रस्तिन व्यवहारा-प्रयान्त्रपत्तिविक्याते प्रमात्त्र तक्ष्यः। न वानेनातः-करत्वप्रसरिद्रव-विवयति प्रमात्त्र तक्ष्यः। न वानेनातः-करत्वप्रसरिद्रव-विवयति प्रमात्त्र विवयत्त्रित्ते व्यवहारोत्त्रव्य-सित्रविक्यामारिपेर्वेते व्यवहारोत्त्रवन्ते । न व प्रारोपितत्वमात्रेष्ठ प्रम्यत्व, प्रात्मात्रोऽपि प्रम्यः-करत्वादिषु धारोपितत्वन प्रमय्ता प्रम्यत्व-प्रस्वात् । —वही ।

शंकर-मत के द्वारा निर्देशित यह विचार मी गलत है कि जीव के स्वतंत्र कक्षी होने समया समने सनुमयों को मोनने का प्रत्यय 'सहंकार' में सन्तनिहित है, क्यों कि 'सहंकार' का प्रत्यय वस्तुतः सारमा का विचय होता है तथा वह सुपुष्ति की सबस्या में भी विद्यमान रहता है, जबकि सारमा के प्रतिरिक्त कुछ भी समित्यक नहीं होता सौर हमे जात है कि उक्त सबस्या का सनुमय है-''मैं सुब्तुपूर्वक सोता हैं"। भतः यह सह-प्रत्यय स्वया सहंकार वस्तुतः सारमा का विषय है।'

न यह माना जा सकता है कि दुःखादि बचन यथार्थ नही है, क्यों कि वह 'मास्तिन्' के प्रमुभव के प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सत्य धनुभूत होता है। ' उसकी ससस्यता अथवा

भ्रह-प्रत्ययस्य भ्रात्म-विषयत्वात् । 'न्याय-मुघा', पृष्ठ २७ ।

वह एक ही रूप, 'सह', के दो बज्दों में भेद भी स्थापित करती है, यद्याप एक तो 'प्रस्थय' बस्द है सौर दुसरा' प्रस्मद्द 'सस्य का कर्तावाचक एक बचन है। पूर्वोक्त का प्रयोग नो 'प्रकृति' के विकास-कम में उत्पन्न एक सत्ता का निर्देश करने के लिये क्यिंग जाता है, जबकि परवादक सारांश का निरंश करता है।

यहाँ शंकर एव उनके प्रनुवायियो द्वारा दिये गए इस प्रकार के कई प्रन्य उदाहरसो का उल्लेख किया गया है तथा इसी ढग से उनका खण्डन किया गया है।

दु:सादि-बन्ध-सत्यनायां साक्षि-प्रत्यक्षमैव उपन्यस्तम् ।

मिध्यात्व प्रतिपक्षी द्वारा विद्व नहीं की वा सकती, क्यों के उसके धनुतार 'निर्मिषेष' है, किन्तु कुछ मी सिद्ध करने के प्रत्येक प्रयास में विश्वे सिद्ध करना है और जिसके द्वारा मह सिद्ध किया जाता है, उन दोनों के मध्य हैत होता है तथा एक निविधेष सत्ता प्रमाल बन तकती है यह उस निर्मिश्य सत्ता द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता, स्थोकि इतमें 'हुष्ट चक्क' का योष हो जायगा। यदि जनत निष्या है तो जिन प्रमाशों के द्वारा ऐसा स्थापित निया जा तकता है में जी उत्त करनानुसार मिष्या होने फ्रीर तब वह कमनानुसार मिष्या होने फ्रीर

जैसाकि सभी कहा जा चुका है, विचार-विमर्श मे प्रविष्ट होने के कारण प्रति-पक्षीगरा को भी 'प्रमाराों' (अथवहरति) की सत्यता स्वीकार करनी पड़ेगी, क्योंकि उनके बिना कोई विचार-विमर्श (कथा) नहीं किया जा सकता, और यदि 'प्रमाख' सत्य माने जाते हैं तो जो उनके द्वारा सत्य सिद्ध किया जाता है (प्रमेय भथवा व्याव-हारिक) वह भी सत्य ही होगा। इस सम्बन्ध में जयतीयं श्रीहवं के 'खण्डन-खण्ड-लाख' के प्रारम्भिक भाग में निहित विचारों का उल्लेख करते हैं जहाँ यह कहा गया है कि यह नि सन्देह सत्य है कि कोई भी विचार-विमशं तार्किक प्रमाशों की यथायंता की स्पष्ट अस्वीकृति से बारम्भ नहीं किया जाता, पर साथ ही यह भी बावध्यक नहीं है कि किसी विचार-विमर्श को भारम्भ करने से पूर्व किसी प्रमासा की सत्यता स्वीकार की जाय। जो विचार-विमर्श प्रारम्भ करते हैं वे प्रमास्तो की सत्यता सम्बदा असत्यता विषयक किसी भी पूर्व-विचार के बिना ऐसा करते हैं. वे समस्त प्रमाशों के चरम सत ग्रयवा ग्रसत की ग्रोर ध्यान नहीं देते. वरन विचार-विसर्श ऐसे प्रारम्म कर देते हैं मानो उस समय इस प्रकार के प्रश्न पर विचार करना झावक्यक नही है। किसी विचार-विमर्श में केवल एक बस्थायी समझौते (समय-बन्ध) बथवा विचार-विमर्श हेतु युक्तियों एवं प्रमासो के कानपय नियमों की स्वीकृति की आवश्यकता होती है, क्यों कि उसके लिये इतना ही यथेव्ट है। इन सबस्थाओं में यह सावस्थक नहीं है कि हमें स्वय प्रमाणों की सत्यता अथवा असत्यता, अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के स्वरूप पर विचार करना चाहिये।<sup>3</sup> ग्रत: 'प्रमारगो' के चरम श्रास्तत्व एव सत्यता को ग्रंगीकार किये बिना मी विचार-विमर्श करना सम्मव है और वह केवल इस पारस्परिक धस्थायी

¹ व्यवहारिक व्यवहार-विषयो दु:सादि । -वही, पृ० ३१ ।

न बुमो वय न सन्ति प्रमालासीनि इति स्वीकृत्य कमारम्मेति कि नाम सन्ति न सन्ति
प्रमालासीनि इत्यस्या चिन्ताया उदासीनेः यथा स्वीकृत्यतादि भवता व्यवह्वियन्ते तथा
व्यवहारिभिरंय कथा प्रवत्यंताम् । —बही, पु० ३२ ।

विजय स्ववहार-नियम-बचार्टर—स च प्रमास्तेन तक्त् च स्ववहृतंस्यम् इत्यादि-स्यः, न च प्रमासादीनां सत्ताति इत्यम् एव तुन्यम् झगीकर्नुम् उचिता, ताद्दरा-स्यवहार-नियम-मात्रेतीव कचा-प्रहृते: । -वहीं ।

समझौते के बाधार पर कि मानो जनका अस्तित्व है तथा वे सत्य हैं। इसलिये यह कहना वटिपूर्ण है कि जो प्रमारोों के ग्रस्तित्व में विश्वास नहीं रखते वे वैध उंग से स्वित विचार-विमर्श मे प्रविष्ट नहीं हो सकते । 'माया' सिद्धांत के समर्थकों के हितों की रक्षा के हेतु उपयुक्त विधि का उल्लेख करने के पश्चात जयतीय कहते हैं कि एक विचार-विमशं मे चाहे कैसा मी पारस्परिक सममौता क्यों न हो, यह एक निविवाद तथ्य है कि यदि प्रमासों का अस्तित्व नहीं है तो ऐसी असन् सत्ताओं के द्वारा कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। या तां 'प्रमाराां' का बस्तित्व है बयवा नहीं है, कोई मध्यम मार्ग नहीं है। यदि उन्हें सत नहीं स्वीकृत किया जाय तो वे कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकते । बाप यह नहीं कह सकते कि बाप 'प्रमाणों' के बस्तित्व प्रथवा धनस्तित्व के सम्बन्ध में उदासीन हैं चौर फिर भी एक निष्क्रिय की भौति विचार-विमर्श मे प्रवृत्त हो जायेंगे, क्योंकि हमारे विचारों का रूप ही ऐसा है कि या तो उनको सत मानना पडेवा या नहीं। आप उनके सन् अथवा असत् के !सम्बन्ध में धपना निर्माय स्थित नहीं रख सकते और साथ ही विचार-विमर्श करने के लिये उनका प्रयोग नहीं कर सकते। " आप विचार-विमर्श प्रारम्भ करने से पूर्व उनके सम्बन्ध मे विचार मले ही न करें, किन्तु, जब ब्राप विचार-विमर्श कर रहे होते हैं तब इस सम्बन्ध में प्रदन सरलता से उठाया जा सकता है और आपको उसे स्वीकार करना पडेगा धन्यथा विचार-विमर्श को त्यागना पडेगा । पारस्परिक समभीते द्वारा 'प्रमालो' मे विनिमय करने का ग्रंथ है उनके ग्रस्तित्व को पहले ही से स्वीकार कर लेना।

सकरवादी आग्र. तीन प्रकार की सताधों का कथन करते हैं, 'पारमाधिक', 'प्यावहारिक' एव 'प्रांतमाधिक'। वस्तानास ( त्रयन-प्रथम) की यह ध्यावहारिक सत्ता न नो सत्ते हैं प्रोत क्यान है ( त्यवह-दिकालका)। युतियों देशे मिच्या करती हैं, क्यों कि यह सुन हों है भीर किर भी चूँकि यह पूर्णत: धतन नहीं है भान उसके भारति याये जाने वाले प्रमाशादि स्वय उसके मिच्याल तथा चरम सला के निर्मेक्ष सत्तन्त को कि कर सकते हैं।' ऐसी माम्यता में वास्तव में कुछ बल होता यदि सत्त विद्वा कर की सिक्ष कर सकते हैं।' ऐसी माम्यता में वास्तव में कुछ बल होता यदि

सरवासत्वे विद्वाय प्रसारा-स्वरूपस्य बुढौ घारोपियनुमशस्यत्वेन उदासीनस्य तत्-स्वीकारानुपपत्तै: । -'त्याय-सुघा', प० ३४ ।

प्रमार्गंद व्यवहर्तव्यम् इति च नियम-बन्यन प्रमाकरस्यमाबस्य नियमान्तर्भावान् नियत-पूर्व-रूप करस्यस्यम् प्रमास्यानाम् अनादाय न पर्यवस्यति । —बही, पृ० ३४ ।

तत्र व्यवहारिकस्य प्रपंचस्य सदसद्विषक्षणस्य सद्-विक्क्षणस्य इत् । प्रिष्यास्य-समर्थनम् असद्-विक्क्षणस्यात् तद्-अन्तर्गतस्य प्रमाखादेः साधकस्य च इति ।

बा सकता, क्यों कि मसत् सन् के भागव के भविष्तः भीर कुछ भी नहीं है (तस्य सत्ता भावाम्यतिरकात्)। भवः बो सन् वे निष्क है वह सबत् होना चाहिये तथा को ससत् से पिक है वह सत् होना चाहिये, यहाँ कोई सम्थय यानं नहीं है। शृतियां भी यह नहीं कहती कि 'वगतत-प्रपर्व' का ऐसा स्वरूप है जो सत् एवं धसत् वे निष्क (सदसद्-विसवाया) हो।

'सद-विसक्षण' वाक्यांश के धर्म के सम्बन्ध में धनेक झर्यों एव उनके खण्डद का निर्देश करने के परवात जयतीयं इस वैकल्पिक व्याख्या का सुभाव देते हैं कि उक्त बाक्यांश का ग्रम् हो सकता है 'सत्ता-सामान्य से वैलक्षरा'। किन्तु प्रतिपक्षी द्वारा निष्यय ही यह अर्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक सामान्य सत्ता को स्वीकार करने का तात्पर्य है उन विभिन्न विशेष सत्ताक्रों को स्वीकार करना जिनसे सामान्यीकरण किया जा सके। एक शंकरवादी द्वारा यह स्वीकार नहीं किया जा सकता तथा जहाँ तक स्वय जयतीयं का सम्बन्ध है वे विशेष सत्ताओं से प्रथक किसी सामान्य सत्ता को स्वीकार नहीं करते (द्रव्याद्यतिरिक्त-सत्व-सामान्यस्यैव धनगी-कारात)। शकरवादी कहते हैं कि इस जगत-प्रपच की ग्रनिवंचनीयता इस तथ्य से स्पट्ट है कि वह सम्यक ज्ञान में बंतत: नष्ट हो जाता है तथा मध्ववादियों द्वारा भी यह स्वीकार किया जाता है कि यह जगत-प्रपच सम्यक ज्ञान द्वारा नव्ट हो जाता है एवं यह जगत-प्रपच नष्ट होने योग्य है। इस प्रार्शत का अयतीय यह उत्तर देते हैं कि जब मध्यवादी यह कहते है कि जगन प्रभ के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है, तो यह उसी अर्थ मे है जिस अर्थ मे एक मृद्गर के प्रहार से एक घट को धूल मे परिएात कर दिया जाता है। र परन्तू हमारे मत में 'प्रकृति' के सम्बन्ध में ऐसा विनाश भी सम्भव नहीं है तथा यह विनाश एक अंकरवादी द्वारा समभ्रे जाने वाले 'ज्ञान' के द्वारा 'बाव' मे सर्वया भिन्न है। क्योंकि. जैसाकि प्रकाशात्मन अपने 'विवरण' में लिखते हैं, बाष' का ग्रथं यह है कि ज्ञान के द्वारा 'श्रज्ञान' अपने समस्त कार्यों सहित बाधित हो जाता है (प्रशानस्य स्वकार्येस वर्त्तमानेन प्रविलीनेन वा सह जानेन निव्रत्तिविधः) । मध्य-वादियों के अनुमार 'सम्यक्तान' के द्वारा 'बाब' किसी ऐसी वस्तु के सम्बन्ध में होता है जिसके बारे मे पहले 'ग्रन्थथा जान' था । 'सदसद्विलक्षरा' जैसी किसी वस्तु का ग्रस्तित्व सम्यक्-ज्ञान के द्वारा बाधित वस्तु के अनुरूप नहीं माना जा सकता, सम्यक-ज्ञान के द्वारा किसी वस्तु के सम्बन्ध में केवल आपके दोषपूर्ण ज्ञान का 'बाध' हो सकता है। श्रीक्त-रजन का उदाहरण कछ भी सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि हम यह

<sup>ै</sup> सत्ता सामान्यांगिकारे च सद्-नेदो हुर्वारैव, न झोकाश्रय सामान्यमऽस्ति । —वही, पु०३८

<sup>ै</sup> मुद्गर-प्रहारादिना घटस्यैव ईश्वरस्य ज्ञानेच्छा-प्रयत्न-स्यापारैविनाशैव ।

स्वीकार नहीं करते कि युक्ति-रवत वेशी कोई ऐसी वस्तु है, जिसका यस्तित्व या और को सम्पक्तान के द्वारा विनिष्ट हो गई, क्योंकि शस्तव में उसका कभी कोई प्रस्तित्व या ही नहीं। न केवल युक्ति-रवत के सर्वेच में बक्ति प्रधाकाश धादि के संबंच में मी यह कबन वर्षमा मत्त्र है कि वह 'सदस्वितक्षण' है।

भ्रम का भ्रम है एक वस्तु को जैसी वह है उससे भिन्न समभना (भ्रन्यथा-विज्ञानम् एव भ्राति) । श्रुक्ति-रजत 'श्रन्यथा-विज्ञान' श्रयवा 'श्रन्थया-रूयाति' का नरल उदाहरए। है तथा इसमें 'सदसद्विलक्षण्त्व' मथवा 'ज्ञान-निवत्यंत्व' जैसी कोई बस्तू नहीं है, क्योंकि उसका बस्तित्व ही नहीं है। यहाँ यह बापत्ति उठाई जा सकती है कि यदि उसका मस्तित्व नही होता तो हमें उसका प्रत्यय (प्रतीति) प्राप्त नहीं हो सकता था, कोई मी व्यक्ति ऐसी वस्तु का प्रत्यय प्राप्त नहीं कर सकता जिसका मस्तित्व ही न हो, किन्त शक्ति-रजत का अपरोक्ष प्रत्यक्षीकरण होता है। इसका उत्तर यह है कि प्रतिपक्षी भी यह स्वीकार नही करना कि ऐसी कोई सहवर्तिता है कि जिस वस्तु का अस्तिस्व न हो उसका कोई प्रत्यय प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि जब प्रतिपक्षी किसी बस्तु को 'श्रसद्द-विलक्षण' श्रथवा श्रसतु से भिन्न कहता है, तब उसमे 'श्रसतु' का प्रत्यय होना चाहिये, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु (यथा, घट) को किसी ग्रन्य वस्तु (यथा, पट) से मिन्न ज्ञान करना चाहता है तो इससे पूर्व इस भिन्नता को ज्ञात हो जाना चाहिये कि वह वस्तु (एक घट) क्या है ? पटौं पुन: यह ज्ञान-सिमासा सम्बधी समस्या लडी होती है कि क्या ग्रसत का ज्ञान प्राप्त करना सम्मव है। इस प्रकार यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या मनुष्य के अस्तक पर सीय हैं? वाक्य किसी मर्थ को सुचित करता है, और यदि वह ऐसा करता है तो वह मर्थ किसी सन सत्ता का है भववा असन् सत्ता का ? वह सन् सत्ता का अर्थ नहीं हो सकता, क्यांकि उस श्रवस्था में हमें वास्तव मे सीग दिखाई पडने चाहियें, सीग की असतु मता का प्रत्यय होना चाहिये, ग्रतएव यह स्वीकार करना पडता है कि हम असत सत्तामा का ज्ञान भाष्त कर सकते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि यह सत्ता असत् नही है वरन् केवल 'म्रनिर्वचनीय' है, क्योकि, यदि शश-शृ ग ग्रयवा मानव-शृ ग जैसी सत्ताम्रो को भी ग्रसन् नहीं माना जाना चाहिये तो फिर शुक्ति-रजत को किससे अन्न समझा जाना चाहिये ? क्योंकि 'ग्रसद्-विलक्षरा' का कुछ ग्रवं स्वीकार करना पहेगा, 'ग्रसत्' का ग्रवं 'ग्रनिवंच-नीय' नहीं हो सकता, उस दशा में शुक्ति रजत, जिसे 'ग्रसत' से विलक्षरण कहा जाता है.

यो यद्विलक्ष्मण प्रत्येति स तत्-प्रतीतिमान्
 यथा घट-विलक्षमः पट इति प्रतीतिमान्
 देवदत्तो घट-प्रतीतिमान् इत्यन्मानात् ।

<sup>–&#</sup>x27;न्याय-सुघा,' पृ० ५७ ।

वर्णनीय हो जायगी। "पसत्" न केवल ज्ञान का विषय वन सकता है विक्त वह एक जिल्ला का कर्ता स्वया कर्म मी हो सकता है। यथा जब यह कहा बाता है कि "पट" उत्थान किया जा रहा है, "यटो जायजें तो यह नाक्य धस्त पट को सुचित करता है जो 'खायतें 'किया का करता है को 'खायतें 'किया का करता है, को 'खायतें 'किया का करता है, को 'खायतें 'किया का करता है, को खाद में यह प्रविद्यात किया जायगा कि संकर का वह सिद्धान्त गतत है जिसके अनुसार कारएशता के व्यापार के पूर्व मी कार्यों का पूर्व स्वया समकासिक प्रसिद्धात्व रहता है (सन्-कार्यवाद)। घटा चूँकि 'ससत्' का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, इसलिये यह प्रापत्ति धमान्य है कि सुस्ति-रजत प्रसत् नहीं हो सकती क्योंकि वह ज्ञात होती है।

किन्तु ग्रामे एक यह ग्रापत्ति उठाई जानी है कि यद्यपि यह ग्रस्वीकृत नहीं किया जाता है कि प्रसत् को ज्ञात किया जा सकता है, तथापि यह घस्त्रीकृत किया जाता है कि ग्रसत् ग्रपरोक्ष रूप से प्रत्यक्ष तथा सन् रूप में मासित नही हो सकता (ग्रपरोक्षतया सरवेन च), मानो एक व्यक्ति एक मनुष्य के मस्तक पर उसी प्रकार सींग देखे जिस प्रकार वह उन्हें गाय के सिर पर देखता है। किन्तु शुक्ति रजत की दशा में जो कुछ-प्रत्यक्ष किया जाता है वह सत् के रूप मे अपरोक्षतः प्रत्यक्ष किया जाता है, अतः शुक्ति रजत असन् होनी चाहिये। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है . जो व्यक्ति शुक्ति-रजत को ग्रसन् न मानकर 'मनिबंचनीय' मानते हैं उनको 'इदम्' भौर 'रजत' के तादात्म्य का भामास स्वीकार करना पड़ेगा (इद-रजतयोः) । शकरवादियों के भनुसार भ्रम किसी वस्तू का उस वस्तू में आभास है जो वैसी नहीं है (अतस्मिंस्तद इति प्रत्यय इति)। निक्चय ही यह 'भन्यवा-स्याति' (यथार्थ से सिम्न झामास) नहीं है, क्योंकि अम का आधार (भ्रामक रजन के 'अधिष्ठान' के रूप मे शक्ति) स्वरूप से मिध्या नहीं है, बल्क अपने रजतमय आभास के रूप में मिच्या है अयवा मिथ्या आभास से सबंधित हाने के रूप मे (ससूब्ट-रूप) मिथ्या है, किन्तु मिथ्या ग्रामास (ग्रध्यस्त) 'स्वरूप' से मी मिथ्या है और प्रेक्षक के सम्मूख विषय से सम्बन्धित होने के रूप में भी मिथ्या है, 'माया' सिद्धान्त के समर्थक ऐसा स्वीकार करते हैं। 'ग्रन्थवा-स्थाति' मत के समर्थकों के विचार में शुक्ति और रजत दोनों यथायें हैं, तथा केवल शुक्ति का रजत से एव रजत का शुक्ति से तादारम्यामास मिथ्या है। मध्या ब्रबवा बसत का यह बाभास 'ब्रपरोक्ष' होता है, जैसा कि धनुभव से जात होता है तथा यथार्थ सत्ता से युक्त होता है, क्योंकि वर्ना कोई भी उससे प्रवत्त नही होता (सत्वेना-प्रतीतौ-प्रहत्यनुषपत्तेश्व)। जबतक भ्रम का निवारण नही हो

निरुपाख्याद् इति चेत् तर्हि तद्-वैलक्षच्यं नाम सोपाक्यानत्वम् एव ।
 —वही, प्र० ५८ ।

श्रन्यथा-स्थाति-वादिमिर् प्रविष्ठानारोप्ययोर् उत्रयोर् प्रपि ससुष्ट-स्पेशीव प्रसत्य स्वरूपेशा तु सत्वन् इत्यंगीकृतम् । वही, पृ० ४६ ।

जाता तबतक असत् रजत का'इदं' के साथ यह साहचर्य प्रेक्षक के सम्मुख यथार्थ रजत के प्रत्यक्षीकरण से लेशमात्र भी मिन्न नहीं होता। प्रतिपक्षी ऐसा कहेंगे कि यह एक मिच्या और ससत् साहचर्य (धन्यथात्वं यद्यसन् स्यात्), नहीं है, जैसाकि मध्ववादी मानते हैं, किन्तु यह समक्षना कठिन है कि उनका इस प्रकार की भापति से क्या तात्पर्य है, क्यांकि रजत का शक्ति से ऐसा साहचर्य यथार्थ (सत्) नहीं हो सकता, क्यों कि यदि वह ऐसा होता तो वह केवल भ्रम (भ्रोति) की भ्रवस्था में ही क्यों मासित होता, जिसमें प्रथम प्रत्यक्षीकरण बाधित हो जाता है, जैसे 'यह रजत नहीं हैं वाक्य में पून:, जो यह सोचते हैं कि भ्रम की सबस्था में रजन 'स्रनिवंचनीय' होती है, उनसे यह पूछा जा सकता है कि जो अनिवंचनीय रूप में मासित होती है उसका स्वरूप क्या है ? क्या वह असत् अधवा मिच्या के रूप मे भासित होती है ? ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि फिर कोई भी उसे असत् अथवा मिथ्या जानकर उसके सबच में कब्ट नहीं उठायेगा और न उसे उठाने का प्रयत्न करेगा। अतः यह स्वीकार करना पडेगा कि वह सत् के रूप में मामित होती है। यह हमारे भ्रम के प्रनुभव के धनकल है ('यह रजन') उसकी छोर बाकुब्ट होने के लिये रजत के झस्तिस्य की प्रतीति से रहित उसकी कोरी प्रतीति से यथेप्ट नहीं होती। परन्तु उसका यथा थ ग्रस्तित्व नहीं है, क्योंकि तब वह ग्रनिवंचनीय नहीं हो सकती, यदि वह धमत है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि असन् अपरोक्ष प्रत्यक्ष अनुभव में मासित होता है सथा सत् से युक्त प्रतीत होता है। पर प्रतिपक्षी यह कह सकते हैं कि यह उनकी समक्ष में परिस्थित जैसी है उसका सही विश्लेषण नहीं है। क्यों क उनके मत में शूक्ति में ययार्थ 'इद' तथा रजत के साथ उसका समगं उतना ही अनिवंचनीय है जितनी कि ग्रनिवंचनीय रजत स्वय है, ग्रतगुव रजन के ग्रामाम मे रजत ग्रनिवंचनीय है भीर इसीलिये उनका परस्पर सम्बन्ध भी ग्रनिवंचनीय है। शक्ति में निहित सत्ता रजन के साथ भनिर्वचनीय ढग से सम्बन्धित होती है। इसका उत्तर यह है कि ऐसा मन 'मनवस्था' नामक गम्मीर दोष से युक्त है। कारण जब यह कहा जाता है कि 'इद' एव 'रजनता' का पारस्परिक 'ससर्व' तथा शुक्ति की सत्ता का रजत के साथ मसर्ग दोनो अनिवंचनीय है, तो यह पूछा जा सकता है कि उनका अनिवंचनीय कहने का ठीक ठीक तात्पर्य क्या है ? वह साधारए प्रापचिक ग्रनभव (ब्यावहारिक) के स्वरूप की नहीं है क्योंकि मय्या रजत किसी व्यावहारिक उपयोग की नही होती। यदि वह मिथ्या (प्रातिभामिक) है तो क्या वह उसी रूप मे भामित होती अथवा वह ऐसी मासित होती है मानो वह 'व्यावहारिक' स्वरूप की हो ? यदि वह प्रातिमासित रूप में मासित होती तो काई भी व्यक्ति उसे मिच्या समझकर उससे घोला नही लाता तथा उसे उठाने के लिये नीचे मुकने का कष्ट नहीं उठाता । यदि वह ऐसी भासित होती मानो बह ब्यावहारिक स्वरूप की हो, तो वह वस्नुत: ऐसी नहीं हो सकती क्योंकि फिर वह मिथ्या नहीं हो सकती थीं। यदि वह अथावहारिक स्थरूप की न होते हुए भी वैसी

जातित होती है, तो पुरानी बात स्वीकार करनी पहती है कि घररोज प्रत्यक्षीकरण में मत्त्र तह के रूप में माधित हो सकता है। यदि व्यावहारिक मनुष्य के किसी तिवय के रूप में राजित हो सकता है। यदि व्यावहारिक मनुष्य के किसी तिवय के रूप में राजित के प्रधान के घनितंबनीय मान निया जाय तो उसके सम्बन्ध में पुरा- इसी प्रकार के प्रवन्न प्रके हो तथा यह थे ग्री- क्ष्म धनमा तक सम्बन्ध में पुरा- इसी प्रकार के प्रवन्न प्रविच प्रत्योग्याध्य से निष्म चकक दोप को सम्बन्ध त्यावहार वन नावित्य, व्यावित्य के तब तक प्रवन्ती सेखी का एक निर्विद्य उत्तर संतोधवनक दग से न दे तब तक प्रवृत्वती सेखी का हल नहीं निकाला जा सकता तथा स्वयं उसका हल स्वी प्रकार उसके पूर्वक्ती स्वरी हि हन पर निर्माम करता तथा स्वयं उसका हल स्वी प्रकार उसके प्रवन्त तक चलता रहि गा, धतएव किसी मी स्तर पर कोई हन प्राप्त होना सम्बन नहीं है। मतः यह पुरान मत स्वीकार करना पहना है कि मिध्या एवं यसत् भी यथार्थ एवं वन् के रूप में प्राप्त होना सन्तर नहीं प्रवार पर कोई प्रवार के स्व

#### ब्रह्म-सूत्र १, १, २ की व्याख्या

डितीय 'पूत्र' 'जन्माधस्य यतः' का शान्त्रिक धनुवाद है जिससे इसकी उत्पांत, धांदि। उतः 'पूत्र' पर जकर के माय्य का धावय सन्नेज में निम्मतिसित है: 'उत्पांति धांदि' का याये है उत्पांति, स्थिति धोर विनादा। इस छति विद्यान, नियम-बद्ध एवं विविधता में गुक्त कराव-अपन की उत्पांति, स्थिति व विनाख उद्य वर्षम काराण् इंद्यवर से होना है तथा न तो 'परमाण्' धौर न जड़ एवं 'अकृति' उसका काराण् हो सकते हैं। यह मूत्र इंदयर के धरितत्व के पत्न में एक धनुमान के रूप में धमिन्नेत नहीं है, बॉल बह्मण् के स्वरूप के स्वरूप के प्रमान के रूप में धमिन्नेत नहीं है, काराण, उपनिक्द्यारों के ध्रापंत्र का सम्बन्ध में उपनिद्ध गति होत्र से ती सीमा से परे होने के काराण, उपनिक्द्यारों के ध्रापंत्र सम्बन्ध स्वर्शाय से ही प्राप्त हो तकता है।

मध्य के 'आध्य' एव 'खनुष्याक्यान' पर टीका करते समय जयतीयें इस 'सूत्र' की व्याख्या करने में मध्य का अनुसरण करते हैं। यह 'सूत्र' 'का सजातीय प्राणियां प्रयाित 'जीवो तथा विवातीय जट पदाओं से विशेशकरण करने के अभित्राय में बहुम् तो कार्या वाताता है। तात्ययं यह है कि जिस सत्ता से जगत् की उत्पत्ति सादि होती है वह बहुम् है और महत्वपूर्ण अृति-गठ कहते हैं कि जगत् बहुम् से उत्पन्न हुमा सा

 <sup>&#</sup>x27;न्याय-सूचा,' प्र० ५६।

जन्मादि-सूत्र नानुमानीयन्यासार्थं कि तहि वेदान्त-वाक्य-प्रदर्शनार्थम् ।

<sup>&</sup>lt;sup>2</sup> जयतीर्थ इस 'सूत्र' की एक ग्रन्य व्याख्या का उल्लेख करते हैं—'जन्म ब्राद्यस्य

यह बतावा वा चुका है कि 'सूव' में 'जग्नारि' का घर्ष संकर ने 'शृष्टि', 'स्थिति' एवं जिनाधा ('लय' या 'व्य') लगावा तथा उन्होंने यहाँ वास्क द्वारा 'निकक्तं में निवंधित प्रसित्तस्त्रम्य पदार्थी (मान-विक) की छः प्रस्वधायों का तीन बयस्थायों में सित्त विकास प्रस्तायों का तीन बयस्थायों के सित्त स्वत्या तथा तथा होता, स्थित में रहना, विकसित होना, परिवर्तित होना, स्था होना तथा विकास होना; क्योंकि विकास धौर परिवर्तन का 'जन्म' के मन्तर्गत समावेख हो जाता है तथा छाथ का 'लय' ने । परन्तु मध्य 'जन्मावि' वह में मात विभिन्न पदार्थी का समावेख करते हैं, उनके मनुसार वे हैं 'शृष्टि' 'स्थिति' तहार 'नियम', 'जान', 'प्रज्ञान', 'बन्दा तथा 'भोज'। ' इन समस्त गुर्जों की सत्ता 'ब्रह्मद' नियम', वान', 'प्रज्ञान', 'बन्दा तथा भोज'। है इन स्थान गुर्जों की सत्ता 'ब्रह्मद' नियम', जान, 'प्रज्ञान', 'बन्दा तथा नीक्त करती है। वह एक-मान सत्ता जिसमें उपयुंक्त सभी सात गुर्जों की सत्ता जिसमें उपयुंक्त सभी सात गुर्जों कि स्ता उद्वते हैं 'ब्रह्मद' कहलाती है।

हिरण्यगर्भस्ययतस्तद् बह्यं। 'यतः' शब्द द्वारा निर्देशित बह्य के धर्य के सम्बन्ध मे 'न्याय-मुघा' मे तथा ग्रन्य स्थानों पर उल्लिखित मतो का 'तात्पर्य-चन्द्रिका' विवेचन करती है। 'ब्रह्मन्' शब्द के ब्रश्च 'ख्रह' के कई 'स्ड' बर्ब है, जैसे 'जाति', 'जीव', 'कमलासन' भयवा 'ब्रह्मा'। किन्तुयह शब्द यहां 'रूख' ग्रर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ। है बन्कि ब्युत्पत्यात्मक ग्रर्थमे जो उस सत्ताको सूचित करता है जिसमे गुरगो का पूर्गात्व हो, क्यों कि इसी झर्च में इस 'सूत्र' तथा उसके पूर्ववर्त्ती 'सूत्र' के सम्बन्ध मे निर्देशित उपनिषद्-पाठ सार्थक बनते है। पुनः, भ्रन्य पाठों के झाधार पर, जिनमें उसको (जिससे समस्त वस्तुन्नो की उत्पत्ति होती है) समुद्र में स्थित बताया गया है, 'ब्रह्मन्' का धर्मयहाँ विध्यु होता है (यया 'समारूपा श्रुति' मे द्यावापृथिवा पर मम योनिरप्सु बन्तः समुद्रै), क्योंकि केवल उसमे ही सर्व गुर्खाका पूर्णाश्व होता है। यह लक्ष-ए। 'रूढ' बर्घों जैसे 'जाति' या 'जीव' मे से किसी पर लागू नही होगा ग्रीर इसीलिये यद्यपि 'रूढ़' प्रथं व्युत्पत्यात्मक अर्थ (यौगिक) से प्रबस होता है, तथापि यहाँ पाश्चादुक्त ब्रविमान्य है : 'ब्रह्म-शब्दस्य जीवे रूढत्वैऽपि बाधक सद्भावात् तद् **बह्य इति श्रुत्युक्त बह्य विष्णु**एवं (नस्व-प्रकाशिका) । यहाँ यह मी कहा जा सकता है कि 'तत्व-प्रकाशिका', 'तात्पर्य-चन्द्रिका' व ग्रन्य मध्व-रचनाध्रो के धनुसार यह माना जाता है कि यद्यपि साधार एतया बह्य का 'रूढ' अर्थ जीव होता है, तथापि पण्डिनों के लिये इस शब्द का सदा रूढ अर्थ विष्णु होता है। इस प्रकार साधारए। 'रूड' ग्रथं एव विद्वदु-रूढ़' ग्रथं में भेद स्थापित किया गया है तथा पश्चादुक्त को ग्रिंघमान्यता दी गई हैं', 'बिदुषा ब्रह्म-शब्देन विष्णु-व्यक्ति-प्रतीते' ।

उत्पत्ति-स्थिति-संहार-नियितिङ्गीनमञ्चतिः बन्ध-मोक्षः च पुरुषाद्यस्मात् स हरिर् एकराट् ।

<sup>—</sup>तारपर्य-वन्दिका, पृ० १२०। मध्य का 'श्रमुक्ताष्य' या 'श्रह्म-सूत्र' १, १, २ सध्य झपने पक्ष से 'स्कन्द पुरास्त' से एक प्रवत्तरण प्राप्त-वचन के रूप में उद्भुत करते हैं—

सामान्यतः दो प्रकार की परिभाषाचों में परस्पर विभेद किया जाता है, बर्चात 'स्वक्रप-सद्यारा' ग्रीर 'तटस्थ-लक्षरा'। 'पंच-पादिका-विवररा' के लेखक प्रकाशास्त्रत ब्रह्मन की इस परिमाया को पश्चादक्त प्रकार की बताते हैं, क्योंकि केवल 'माया' के साहचयं में ही बहान जगत-प्रपंच की उत्पत्ति आदि का कारण कहा जा सकता है। बह स्वरूप से बिशुद्ध 'बानन्द' रूप है जो ब्रापने स्वरूप में विशुद्ध 'ज्ञान' से एक-रूप है। पर मध्य और उनके अनुयायी इस 'सूत्र' में बताये हुए गुर्शों की स्वरूप-लक्ष्मण मानीह है तथा यह नहीं स्वीकार करते कि 'झानन्द' एव 'जीव' के सार-तत्व किसी भी अर्थ में गुराों के अतिरिक्त कुछ अन्य है, और उस दशा में वे 'ब्रह्मन्' से तादारम्य रखने वाले सार-तत्व नहीं हो सकते जैसाकि एक 'स्वरूप-लक्षण' के लिये ग्रायश्यक है, क्योंकि 'झानन्द' भी किसी अन्य गुण के समान एक गुण ही है, और यदि 'झानन्द' एक स्वरूप-लक्षरण माना जा सकता है तो इस जमन का काररण होने का गूरण मी स्वरूप-लक्षरण माना जा सकता है। यदि ब्रह्मन् का कारण होना उसका तटस्य-लक्षण है तो. वह अपनी गृहता में 'स्नानन्द' भी नहीं हो सकता, चाहे 'स्नानन्द को एक जाति-प्रत्यय के भ्रम में लिया जाय, एक 'भ्रमुकुल वेदना' माना जाय, 'परम-भ्रेमास्पद' समक्षा जाय, ग्रथवा द.ख के विषरीत बताया जाय, क्योंकि यदि 'ग्रानन्द' का स्वरूप इनके जैसा है. तो वह स्वरूपत सोपाधिक लक्षरणो से सम्बन्धित होना चाहिए (सोपाधिकत्वम्)। इसी प्रकार 'ज्ञान' मी किसी न किसी अर्थ की अभिव्यक्ति करता है तथा स्वरूपत: ध्रपने मे बाह्य बस्तु मे सम्बधित होना चाहिये (धर्थ-प्रकाशात्मकत्वेन सीपाधिकमैव), क्यों कि ज्ञान का ज्ञाता एवं ज्ञेय से प्रपृथक सम्बन्ध होता है (ज्ञानस्य ज्ञात-क्षेय-सापेक्ष-स्वात) । 'पन-पादिका-विवरण' में कहा गया है कि जो ज्ञान ब्रह्मन का स्वरूप-लक्षण है वह मर्व-प्रकाशक विज्ञान है जो विषयों पर निर्मर होने अथवा उनसे अप्रथक सम्बन्ध रखने की उपाधियों से सबंधा रहित है। किन्त यह तच्य कि वह ज्ञान सबं-प्रकाशक है, उसकी शक्ति-मम्पन्नता को सबित करना है तथा यह शक्ति मनिवार्यत: उस विषय से सम्बन्धित होनी चाहिये जिसके प्रति वह प्रभावशाली है। इसके भतिरिक्त यदि कोई शक्ति स्वरूप-लक्षण मानी जा सकती है तो जगत को उत्पन्न करने की शक्ति तथा उमे प्रत्य प्रकार से प्रमावित करने की शक्ति (जिसका इस 'सुत्र' में उल्लेख किया गया

¹ पच-पादिका-विवरण, पृ० २२२-३।

मानन्द लक्षसामिति चेतु तहि जगत-कारसा लक्षसामास्तु ।

<sup>–</sup>तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० १४० ॥

अनेन सर्वज्ञ-शब्देन सर्वावभास-क्षर्ण विज्ञप्ति-मात्रमादित्यादि-प्रकाशनदिवयोपाधिक विज्ञानमैंव बह्य-स्वरूप नक्षरण्यः ।

<sup>-</sup>पंच-पादिका-विवरण, पृ० २१०।

है) भी एक स्वरूप-लक्षरण मानी जा सकती है। "यह ग्रापत्ति मान्य नहीं है कि किसी वस्तुका 'स्वरूप' स्वयं से फिल्न किसी वस्तुके संबंध द्वारा धर्मिव्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी धन्य वस्तु से सर्वया शसंबंधित एवं सवधों से रहित वस्तु ज्ञात नहीं की जा सकती (स्वरूपस्य स्व-वेद्यत्वात्)। प्रतिपक्षियों द्वारा आगे यह कहा जाता है कि बह्मन् के जगत के कारण होने का 'तटस्य-लक्षण' किसी मकान को एक बस्थाई साहचर्य (जैसे उसकी खत पर बैठे हुए कौए) के द्वारा निर्देशित करने के सदश, एक अन्तर्निहित व भाग्तरिक लक्षरा (धनन्वयी) नहीं होता, किन्तु 'बानन्द' के साइश एक स्नरूप-लक्षण वस्तु का बन्तनिहित एवं बान्तरिक बंग (कार्यान्वयी) होता है। पर इस प्रकार की भापति बह्मान के कारणत्व आदि सक्षणों को तटस्य-लक्षण बताकर बहिष्कृत नहीं कर सकती, क्योंकि हम बह्यन को स्वरूपतः जगत के 'कारसा' के रूप में उन्हीं संज्ञों में जात करना चाहते हैं जिन सत्रों में सन्य किसी लक्षरा के रूप में। ब्रह्मन् का स्वरूप-लक्षरए जगत की उत्पत्ति झादि के चरम कारए के रूप में उसकी गुलों की पूर्णता है तथा उसके यह गुल किसी भी बर्ष में उसके 'बानन्द' रूपी स्वरूप से कम मनिवार्य नहीं हैं। मनिन में जलाने की शक्ति के साहश जगत की मुख्टि ब्रादि करने की यह शक्तियाँ ब्रह्मन् के स्वरूप से सहव्यापक हैं। व्यास तीर्घ के कथनानुसार यह वस्तुत: ब्राइचर्य का विषय है कि शकरवादी स्वरूप एव तटस्थ लक्षरा। के सम्बन्ध में इतने लम्बे विवेचन में प्रवेश करते हैं, क्योंकि समस्त लक्षणों का प्रयं है वस्तु को उसके प्रसिद्ध श्रसाधारण धर्मों के द्वारा विदित कराना। किन्तु, चूँकि शंकरवादी पूर्णत: निविशेष बहान् में विश्वाम करते है अतः उनको उसके लक्षण बताने का न्या ग्रमिकार है ? समस्त लक्ष्मा को जात गुगा के ग्राधार पर अग्रसर होना पड़ता है। " 'सक्षरा' चाहे 'स्वरूप' हो अथवा 'तटस्य' हो, असाधाररा विशिष्ट गुर्गो की गराना के द्वारा ही उसे अग्रसर होना पडेगा, ग्रीर चूंकि प्रतिपक्षियों का ब्रह्मन् पुर्णों से रहित है इसलिये उसका कोई लक्षण नही बताया जा सकता ।

रामानुज ने इस 'सूत्र' की व्याख्या में कहा या कि 'सूत्र' मे उल्लिक्त ब्रह्मन् के विशिष्ट गुए। एवं शक्तियाँ ब्रह्मन् ही के हैं क्यों कि वह धन्तर्यामित् है, परन्तु उपनिषद

सामध्यंस्य शक्तिः रूपत्वत्।, विषय-निरूप्यत्वाच्च,
 जगज्जननाददि-सामध्यंस्यैव स्वरूप लक्षसात्वोपपत्तेश्च ।

<sup>-</sup>तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० १४१।

प्रसिद्धस्य ग्रसाधारणः वर्मस्य लक्षणत्वेन, भौर, ग्रसाधारणः वर्मो हि लक्षणम् परिकीयंते।

<sup>-</sup>तात्पर्य-चन्द्रिका, पृ० १४०, १४३।

स्वरूपं वा तटस्य वा लक्ष्मणं भेदकं मतं
 सजातीयात् विजातीयात् तच्चाईति-मते कथम् । —वही, पृ० १४३ ।

ſ

उसे बहुर्यामिन् के रूप में उसके विशिष्ट स्वरूप-लक्षराों में भी परिभाषित करते हैं तया उसको सस्य, ज्ञानं एव बनंतं कहते हैं (सस्य-ज्ञानम् बनन्त बह्य), इन लक्ष्णो से उसकी जीवों एवं जड़ पदायों से मिश्नता स्थापित होती है। किन्तु व्यासतीर्थ निर्देश करते हैं कि मध्य ने अपने 'अनुस्थास्थान' में लक्ष्यार्थ से इस मत का निषेध किया है, जहाँ उन्होंने बहान् की कारणता को स्पष्ट रूप से उसका बान्तरिक स्व-लक्षगा माना है। अयास तीर्थ कहते है कि रामानुज-मत की प्रतिरक्षा में यह भाग्रह किया अप सकता है कि जैसे घट का विशेष धाकार उसका अन्य सभी वस्तुओं से विभेदीकरए। करता है, और फिर भी उसमें गंध का होना उसका मृत्तिका के रूप में स्व-लक्षरण होता है, उसी प्रकार बद्यपि कारए।ता बादि ब्रह्मन् का बन्य विवयो से विभेदीकरए। करते हैं, तथापि सत्यं, ज्ञानं, धनन्त के रूप मे उसका स्वरूप ही उसका जीवों एव जड़ पदार्थी से विभेदीकरण करता है। पर व्यास तीयं का तकं है कि यह शुटिपूर्ण है, क्यों कि एक वट का विशेष भाकार उसका मृत्तिका से नहीं बल्कि पट इत्यादि से विभेदीकरण करता है, एक मृत्तिका का चट स्वय मृत्तिका है, किन्तु जो विशेष भाकार एक मृत्तिका-घट का बन्य वस्तुको (जैसे पट बादि) से विभेद करता है वह उसी तथ्य के द्वारा यह भी प्रदर्शित करता है कि वह (घट) उनसे (पट ग्रादि) मिन्न जाति का है। यहाँ भी जो कारणता बहान् के जीवों झादि से विभेदीकरण करती है वही यह भी बताती है कि वह (बह्मन्) उनसे (जीवों घादि) मिन्न स्वरूप का है। इसलिये ब्रह्मन् का उत्पत्ति क्रादिका कारण होना उसका स्वरूप-लक्षण है। बह्यन् न केवल इन गुर्णों से सम्पन्न है बल्कि वास्तव मे उसके गुण बनन्त हैं, तथा उनका सत्व उसकास्वरूप-लक्षण है (मनन्त-गुरग-मत्वम् एव ब्रह्मारगो लक्षरगम्) ।

जन दो प्रमुख बेदान्त-पाठो द्वारा शकरवादी सपने सहैत-सिद्धांत की स्थापना करने का प्रयन्त करते हैं, वे हैं 'बहु दू हैं' (तम स्वम् सिंग) धौर 'बहु। सस्य झानम् प्रनन्तम हैं' (सस्य झानम् धनतम् बहुा)। मध्य का साग्रह है कि पूँकि इनकी प्रयक्ष स्थास्था (मुख्यार्थ) मेद के साधार पर की वा सकती है, झतः स्रमेद के साधार पर उनकी प्रश्रस्था एव दूरस्य स्थास्था (त्यस्या) करता उचित नहीं है।' 'स्थास-पुधा' सकेत करती है कि प्रहैतवादी व्यास्था से यह कठिनाई उत्सव होती है कि 'नित्युं स्थां के 'साग्रुं स्थां के 'साग्रुं स्थां के स्वास्था

<sup>ै</sup> भस्योद्भवादिःहेतुत्व साक्षाद् एव स्व-लक्षण्म्। —वही।

<sup>&#</sup>x27;न्याय-सुधा' पृ० १०७ ।

भेदेनैव तु मुख्यायं-सम्भवे लक्षण कुतः। 'मनुष्याख्यान' पृ० ५ 'ननुष्रभेदमुपादाय सूत्र-लक्षण वा बाध्ययणीय-भेदमुपादाय मुख्य-इतिए न इति सदिहाते, वय तु सूत्रः, द्वितीय एव पत्रः श्रेयान्। 'ज्याय-सुषा' पृ० १०१।

बह्मन् के गेबंध में सत्या, 'क्षानम्' एवं 'सानंत' सक्षाधों को नागू करने के प्रस्ता में एक समय महत्यपूर्ण प्रस्त बड़ा होता है। क्या बह्मन्, जिस पर यह समस्त गुग्ग बागू किये गये हैं, स्वस में एक स्वरत एक्स है, स्वस्ता वह परनेच नुप्यो-नरण, बात, स्वसन्तं का एक समिश्र है, जिनके विजिन्न स्वायं है तथा जो समानार्थक नहीं है ? बुद्ध 'वेतम्य' एक हैं किन्तु वे सक्षार्थ स्वते हैं। हम एक 'वेतन्य' की स्वय में पाये बानो वाले सनेक गुलों के साथ मह-संस्ताव रखते हुए केसे सकल्पना कर मनते हैं? एक वेतन्य के एक्टव में इन मुखों की सनेक्सा केसे अन्तर्निहन रहती है ? " अपने

<sup>&</sup>lt;sup>9</sup> वही, पु० १०२।

भाक्षी चैत् केवसी निर्मुणस्व (दवे० ४,११) जैते उपनिषदों के प्रवतरणों में 'निर्मुण' बाब्द को इस कारण से एक क्यान्तरित सर्व दिया जा सकता है कि इस वास्य के प्रदग में भी उचका कठोर प्रत्यक्ष धर्म लगाना सम्मय नहीं है, क्यों कि स्वयं इस स्वतरण में बहु को ने केवल निर्मुण कहा गया है, बरत् 'साक्षी' (अपरोक्ष स्टा) भी कहा गया है तथा यह स्वप्टतया एक 'पुण' है। यह सम्भय नहीं है कि बहुत् को एक साथ 'पुण' सम्भव स्वर्ध स्वर्ध स्वर्ध द्वार या ।

<sup>-&#</sup>x27;न्याय-सुधा,' पृ० १०२ ।

स्वप्रकाश-चैतन्यात्मक च शास्त्र-प्रतिपाश चेति व्याहृतम । --वही, पृ० १०३ ।
 चैतन्यमेक सत्यवत्वादीन्यश्रनेकानि इति संस्था-चैतक्षव्यमित्यादि भेदकार्याणि चावगम्यन्ते । --वही, पृ० १०६ ।

'ग्रनुक्यारूयान' में इस प्रवन का जो उत्तर मध्व ने दिया है और जिसकी जयतीयं ने भागे ब्याख्या की है! वह यह है कि बहान के एकत्व में कोई विशेष सदगुरा (भातिशय) है जो भेद का प्रतिनिधिस्य करता है और इसके उद्देश्य की पूर्ति करता है। ऐसा हमें स्वीकार करना पहेगा, इस कठिनाई को हल करने का अन्य कोई उपाय नहीं है तथा यही एकमात्र हल शेष रहता है (गरवन्तराभावादर्शापत्या)। यह विशेष सद्गुए। जो एकस्व का बलिदान किये बिना धनेकत्व को घारए। करने व एकस्व से उसका सामजस्य बनाये रखने में उपयोगी होता है, मध्वों के द्वारा 'विशेष' कहा जाता है, यह 'विशेष' केवल ब्रह्मन् मे ही नहीं अपितु अन्य समी वस्तुओं में अस्तित्व रसता है। उदाहरएगार्थ, एक पट अपनी क्वेतना से मिस्न नहीं है, क्योंकि वे दोनों एक अविभाज्य एकत्व का निर्माण करते हैं। सतः यह स्वीकार करना पढता है कि पट में ऐसा एक विशेष सद्गुरा, एक 'विशेष' विद्यमान है जिसके द्वारा वह स्वयं में एकरूप रहकर भी उन गुगो की अनेकता को अभिन्यक्त करता है जिनके साथ वह निश्चय ही एकत्व का निर्माण करता है। ये 'विशेष' अनन्त सख्या के पदार्थों में अनन्त सख्या मे विद्यमान रहते हैं, यद्यपि इन 'विशेषां' के स्वरूप मे कोई झान्तर भेद नहीं होता । प्रत्येक एकत्व में उतने ही 'विशेष' होते हैं जिनने गुणों के माध्यम से वह स्वय की अभिव्यक्त करता है तथा इनमें से प्रत्येक 'विशेष' जिस गूल से सम्बन्धित होता है उसके अनुसार अन्य 'विशेषो' से भिन्न होना है, किन्नू इन 'विशेषो' को वस्तू से अपने सम्बन्ध के लिये अन्य 'विशेष' की भावश्यकता नहीं पड़ती, भत्रव 'भनावस्था' दोष उत्पन्न नहीं हो पाता । टसलिय प्रत्येक वस्तु में केवल एक ही 'विशेष' नहीं होता, वरन, उतने ही 'विशेष' होते है जिनने विभिन्न गुगा का उसमे एकीकरण होता है।<sup>3</sup>

धनः प्रयम दो 'सूत्रो' द्वारा प्राप्त निष्कर्षयह है कि द्वितीय 'सूत्र' में जिम ब्रह्मन् को परिमाषा दी गई है वहो सुमुक्षग्रों के लिये जिज्ञासा का विषय है।

### ब्रक्ष-सूत्र १,१,३ – ४ की व्याख्या

शकर 'शास्त्र-योनित्यात्' (उसके शास्त्र-योनि होने के कारए।) 'सूत्र' मे 'शास्त्र-योनि' समास का दो प्रकार से प्रतिपादन करते हुए इस 'सूत्र' की दो व्यास्थाएं प्रस्तुत

तैप्युत्त-नक्षण-विशेषा अश्वेषतांऽर्प वस्तुषु प्रत्येकमन्ता. सन्त्वतो नोक्त-योपावकास, भनन्त इति उपलक्षगण्म, यत्र यावन्तो व्यवहारास्तत्र तावन्तो विशेषा इति आतस्यम्।

इस प्रसम में यह ध्यान देने की बात है कि मध्यों को 'विशेषो' को स्वीकार करने की इस स्थिति में लगनन विषय होकर माना पढ़ा या, क्योंकि वे 'व्याय-वेशिकि' के 'समसाय' नामक सम्बन्ध को 'बहु-सुन्न' द्वारा त्याज्य होने के कारण स्वीकार नहीं कर सकते थे।

करते हैं-उक्त पौषिक का प्रथम प्रयं है 'खास्त्रों का कारल' तथा डितीय है वह जिसकी धिमस्यक्ति का शास्त्र कारला स्रोत ध्यवा 'प्रमाल' है। 'प्रथम धर्ष इस बात पर वस्त्र देता है कि बहुएन न केवल बगत् को उत्पत्ति धादि का कारला होने से बर्ज्य देशे की धामस्यक्ति का कारला होने से बीत वर्ष है, स्थोकि एक सर्वक्ष स्वता के धातिरक्ति कोई मी वेदों का प्रोत नहीं हो सकता था, जो भानवी बुद्धि के सिये ध्याह ज्ञान के महानतम स्वद्ध हैं। दितीय धर्ष का यह निवंध है कि बेबल वेद हो हमारे निये यह सिद्ध कर सकती है कि बहुएन प्रयत्न की उत्पत्ति धादि का सरला है। '

सब्यो द्वारा द्वितीय वर्ष स्थीकार किया गया है तथा प्रथम प्रयं के विरोध में वे इस सामार पर सार्यात उठाते हैं कि सहान का वेदां का लोत होना उनकी उस सर्वकता में तिनक मी इदि नहीं करता वो प्रथम 'पृत्र' में विलित उसके वयन की उत्पत्ति सार्वि के कारण होने में सम्तिनिहत है। ' जयतीयं, ब्यास तीयं व स्थय प्रथम के 'साव्य' (व्य 'सनुष्यास्थान' के टीकाकार सम्ब के स्थय्ट कथनों का सनुसरण करते हुए विस्तारपूर्वक यह दुक्ति देते हैं कि 'पृत्र' में साये हुए 'यास्त्र' अब्द का सर्व 'ऋक्, 'सानन् व 'यनुस्' वेद हैं न कि 'सीवायम्', जिनके सनुसार जनन की उत्पत्ति सार्यि का कराएग शिव है।' सन्नाक के टीकाकार इस नय्य पर बन देते का प्रयाद करते हैं कि केवन सनुमान ही सन्नान् को जनत की उत्पत्ति सार्य कार्यण सिद्ध करने के समयर्थ है।

शास्त्रादैव प्रमागाज्जगतौ जन्मादि-कारण बह्य अधिगम्यते ।

<sup>–</sup>शकर का 'माष्य', १, १, ३।

कस च सनत-पदार्थकस्य प्रपचस्य वर्तृः संब न १९८ नटेक-देश-देर-कारमासेन स्कूटीमिक्पिता । सद्यक्षम् । व्यवस्थं स्वाग्ने नकं करने हैं कि ऐसी कोई महत्वत्तना नहीं है कि देशों के कर्तृ स्व सर्वक्षना का निष्कर्ष निकारणा सकं । इसके घरि-रिक्त, यदि देशों के कर्तृ स्व सर्वक्षना कृत्रामुभ्य सपया घरुमान द्वारा जान नच्यां को सुचित करने के लिये की गई साहित्यक रचना, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वेद भी क्सि प्रस्त साधारण पुरत्क की सीति रचे गये हैं (पीर्वयेय) और यदि कर्तत्व का यदि है के कर्त्व तज्ज्वारणा, जैसाकि एक प्रध्यापक के द्वारा किया जाता है, तो उसका तान्ययं यह हो सक्ता है कि कर्दाचित्र वेदों के घर्त्वययं का पूर्ण ज्ञान भी उच्चारण-कर्ता की नहीं है। 'प्याय-कृष्णा, १९ ११-१२।'

मध्यों ने जिन प्रन्य शान्त्रों को प्राप्त-वचन के रूप से न्यीकार किया ये है (पदराव', 'महाभारत' व 'रामायरा' न कि 'सास्य', 'योग' प्रपत्ना 'पाधुपत'। इस प्रकार मध्य प्रपने 'भाष्य' से कहते हैं: 'ऋष्-य-यु-सामायर्थवच मारत पद-राजकाम, मुल-रामायरा प्रवाद बाह्यासीरियाधियती ।' बाहर बाहर्य सिरावीहत करने पढेंगे। 'पदराव' प्रीर बेंदो में पूर्ण महस्यति है, प्रतप्त 'पुत्र में 'थान्त्र' गब्द 'पदराव' का उन्हेस्स में

'सूत्र' १. १. ४-धंकर यहाँ मीयांधकों की एक झापति की कल्पना करते हैं कि वेदों का समिप्राय बह्मन् की स्थापना करता नहीं हो सकता क्योंकि वे सबा किसी कार्य-विद्येख के सम्बन्ध में विध-निषेष हो में समिक्शिव रखते हैं। वे इस सापति का सण्डन यह कहकर करते हैं कि उपनिवधों के सम्यक् पाठ-सम्ययन से प्रकट होता है कि उनका प्रमुख समिप्राय विद्युद्ध बह्मन् की स्थापना करना है तथा उसका किसी कार्य के सनुष्ठान से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सम्ब के मत में इस 'भूत्र (तत् नुसमन्वधान', किन्तु वह सम्बक् समन्वय के इता') का तात्पयं यह है कि सर्व 'बास्त' विष्णु के क्य में ब्रह्मन् की चरम कारण मानने में एकमत हैं न कि खिब समय किसी सम्य देवता की जैसाकि सम्य लोगों का मत है। 'भीमांसा' की सार्पत एव स्वय शंकर के मत को उसी साशार पर सस्वीकृत किया गया है जिसका विवेदन प्रथम 'मुक' में किया जा चूका है।'

## 'ब्रह्म-सूत्रों' के अन्य महत्वपूर्ण अधिकरणों की एक व्यापक समीचा

४-११ 'मूनों में समाविष्ट 'अधिकरला' में बांच्य के इस कल्पित दावे के विरोध में कि उपनिषदी में बहुत्त को नहीं बरिक 'अकुर्ति को चरम कारता माना गया है, यकर निम्मानित्तत युक्ति प्रस्तुत करते हैं: वे कहते हैं कि 'अकुर्ति आप प्रतिमानित स्वाप्त करने सामजस्य नहीं बैटना, क्योंकि वे 'ईक्षति' के कथन करते हैं (ईक्षतेन्धिक्दम्), तथा 'ईक्षति' केवल एक चेतन कर्ता के सम्बन्ध में ही सत्य हो सकता है। सर्व-अध्यक्ष निरय चैतन्य होने के कारता बहुत्त के प्रति सर्वव्या प्रवास्त्र का प्रयोग उचित माना वा सकता है। मूल-याट के 'ईक्षति' वान्य की मन्या व्यास्त्रा नहीं की जा सकती, क्यांकि एक चेतन कर्ता के प्रति उमका उन्लेख और मी सबत हो जाता है जब उसे प्राप्तम्' कहा जाता है, एक ऐसा वाब्द जिनका 'चेतन कर्ताचों के तिये प्रयोग मुचिवित है निथा यह निर्मित है कि प्राप्तम्' कहा जाता है, एक ऐसा वाब्द जिनका 'चेतन कर्ताचों के तिये प्रयोग मुचिवित है निथा यह निरम्बत है कि 'प्राप्तम्' व्हा डा सर्वेत, क्योंकि प्रयोग मुचिवित है निथा यह निरम्बत है कि 'प्राप्तम्' व्हा डा सर्वेत, क्योंकि क्यांक एक वित्त है कि 'प्रयान है कि 'प्रयान है कि 'प्रयान है कि 'प्रयान हो कि सर्वेत, क्योंकि 'प्रयोग नियान हो कि प्रयोग मुचिवित कर्ति हो कि प्रयोग हो स्वित, क्योंकि प्रयोग नियान हो कि 'प्रयान हो विष्ठ स्वाप्त नियान हो कि 'प्रयोग मुचिवित कर्ति हो कि प्रयोग हो स्वित, क्योंकि 'प्रयोग नियान हो कि प्रयोग नियान हो कि प्रयोग नियान हो कि प्रयोग नियान हो कि प्रयोग नियान हो विष्ठ के प्रयोग नियान हो कि प्रयोग नियान हो कि प्रयोग नियान हो कि प्रयोग नियान हो कि प्रयोग नियान क्यांकि क्या

करता है, भ्रतः केदल 'पचरान' की सत्यता की घोषणा के द्वारा बेद, वो उससे सहमत है, सत्य माने गये हैं, किन्तु भ्रत्य जो कुछ भी उससे भ्रत्यमत है पस्कीकृत किया गया है। इस प्रकार मध्य इस 'भूत्र' पर घपने 'भ्राच्य' में कहते हैं: 'वेद-पचरात्रपोर-क्यानिप्रायेश पच-राजसर्थेत्र प्रमाणयुक्तम्।'

<sup>°</sup> दे० तात्पर्य-चिन्द्रका (१. १. ४ पर), प्र० २०१-४।

र उस्लिखित उपनिषद् का ग्रवतरण है 'तदैक्षत बहु स्वाम्', ग्रादि । -'छांदोग्य' ६, २, ३।

गुगुएस्चेत् नात्मा-शब्दात्, 'ब्रह्म-सूत्र' १. १. ७ देखिये, धनेन जीवेन झात्मना झनु-प्रविष्य (खांदोम्य, ६, ३. २) ।

उसे मोज का उपदेश दिया बाता है। ' उसके वितिरक्त, सम्पूर्ण प्रभ्यान इसी बंग से समाप्त हो बाता है तका विक्त प्रषे में 'थात्मन्न' चादि का प्रयोग हुम्सा है उसमें साने कोई सहोधन नहीं किया गया है, जैसाकि हुम्स होता, विद्या हमाप्तम्' मोज के जोई सहोधन नहीं हमा होता, परि यह प्राप्तम्' मोज के उत्तरिय तथा होता। ' साथ ही, उपर्युक्त ध्यवराशो में उस्तिवित्त का राख होता है। ' स्वर्ण स्वित्त में प्रतिम प्रवय-स्वात बताया गया है जिसमें समी बत्युधों का तय होता है।' इसके स्वित्त प्रवय-स्वात बताया गया है जिसमें समी बत्युधों का तय होता है।' इसके स्वित्त स्वात्व विद्यान शारोगों है का प्रकार के स्वात्वा विद्यान करते हैं कि इस प्रवाद का स्वात्व व्यात्व स्वात्व है तथा उपितव्यों के स्वप्त का का व्यात्व स्वात्व है। ' स्वतः शास्त्र के स्वनुसार इस स्विकरण का स्विम्माय यह है कि इस 'सूनो' के सनुसार इस्त व्याव का राख है, ' कि

सज्ब भीर उनके भनुषायी साक्य सिद्धात के सच्चन का उपरोक्त प्रश्विकरए। में कोई उल्लेख नहीं पाते, किन्तु केवल इस तस्य का कवन पाते हैं कि ब्रह्मन् 'बास्यां' के हारा धर्मालुत नहीं है, क्योंकि वे स्वय ध्वास्थि देते हैं कि उनका प्रत्यक्षीकरण प्रज्ञान माहियां हैं यदि ब्रह्मन् का 'शास्त्रों द्वारा वर्षन नहीं हो सके तो उनके प्रश्विकरण विभाग करने की सन्धावना के उनके उल्लेख में कोई घर्ष नहीं होया। यह केवल विभन एव समुख्य धारमा का ही उल्लेख नहीं करता, वरन् उन्चतम धारमा, ब्रह्मन् का उल्लेख करता है, क्योंकि यह कहा गया है कि उम पर मोक्ष निर्भर करना है तथा यह

तन्निष्ठस्य मोओपदेसात्। 'बही', ११.७, उन्लिखित मूल-पाठ मी देखिये। छोडोग्स, ६.१६.२।

<sup>ै</sup> हैयस्य-वचनाच्य । 'वही', १. १. ८ ।

<sup>3</sup> स्वाप्यवात् 'बही', १. १. ६ 'छांदोस्य' भी ६. = १।

<sup>¥</sup> गीता-सामान्यात् । 'वही', १. १. १० ।

४ इवेताइवतर, ६ ह ।

इस्तुम्न, १.१ १ यह नियम की एक स्वेचा भित्र व्याख्या है तथा निष्वय ही कम प्रतिक्त सेतत नहीं है। बंकर की व्याख्या के विरोध में उठाई गई बार्थाल पर्व है कि उनका सांख्य के तिये यह उत्सेख कि वह वेदों से समस्यद (ध्राव्य) है, सान्य-सात्यवर्षित्यों को स्वीकार नहीं है तथा उपनिवर्षों (यदा एवं० १,४१) में निष्यय ही ऐसे ध्रवतरण हैं विनको सांख्य के प्रति स्थप्ट निर्देश मानना पडेया। इसके प्रतिस्कृत यदि बहान् 'प्रमाणों के द्वारा स्थाह्य है सीर धर्मणंनीय है, तो उसके प्रतिस्कृत यदि बहान् 'प्रमाणों के द्वारा स्थाह्य है सीर प्रमणंनीय है, तो उसके प्रतिस्कृत को स्थान प्रमण के सिरा स्थाल उपलब्ध नहीं होगा, वह स्थान्य के सदस होगा।

सी कहा गया है कि महाप्रसय के समय समस्त वस्तुयों का बन्तिम सय उसी में होता है, उपनिषद्-पाठों में 'निर्मुस्' बहान का भी निष्चित रूप से वर्सन किया गया है।

सठे प्रधिकरण (तृत १२-१६) में सकर 'तैतिरीय उपनिषद्' के प्रनेक सवतरणों तथा सन्य उपनिषदों की किनत प्रापत्तियों की तुलना के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रवास करते हैं कि 'धानन्दसय' सक्य (तैतिरीय, २, ५) में परमात्मक सम्बन्ध सद्धान् का उल्लेख करता है, मध्य और उनके प्रयुपायियों का तर्क है कि 'धानन्दसय' सब्द केवल विष्णु ही का उल्लेख करता है, निक किसी प्रत्य देवता का । इस 'धाकिरण' के प्रत्य सभी 'पूर्मों' की व्याख्या इस टीका के समर्थन में दिये गये प्रास्तिनक निर्देशों एवं तकों के क्य में की गई है।'

सातवें मिकरण (सूत्र २०, २१) में संकर एक मनतरण (झांदोग्य, १, ६, ६, ७, ८) के मर्थ का विवेषन करते हैं तथा स्त्र निक्कं पर ग्रहेंचते हैं कि सूर्य-मंडल सीर चलु में स्थित जिस पुष्प का उत्सेख किया गया है वह परस्का है। किन्तु मक्त एक सर्वथा प्रिक्त स्वरूरण का एक सर्वथा निक्ष प्रस्ता के सम्बन्ध में उत्सेख करते हैं

 <sup>&#</sup>x27;न्याय-सूधा' का सकेत है कि शंकर का माष्य इस ग्रमान्य परिकल्पना पर ग्राधारित है कि उपनिषदों मे दो प्रकार के बहान् का उल्लेख बाया है, 'बविद्या' से ब्राच्छादित ब्रह्मन् तथा विश्वद्ध ब्रह्मन् । उपनिषद् के बवतरएतं (वे जो पूर्वोक्ति का निर्देश करते है) में से कुछ तो उपासना व तज्जन्य मौतिक अन्युदय के हेतु बताये जाते हैं ग्रीर कुछ कम-मूक्ति की प्राप्ति के हेत् कहे जाते हैं (कम-मुक्त्-यर्थीन) इत्यादि। जयतीयं कहते है कि यह सिद्धान्त पूर्णतः गलत है, क्योंकि यह मानना सर्वेशा अप्रा-माखिक है कि बहान् दो प्रकार का होता है (बहाखो हैक्पस्य अप्रामाखिकस्वात्), क्योंकि सर्व वेदान्त-पाठ समस्त गुर्गों के निघान नारायग का निर्देश करते हैं, किन्तु कुछ उसको सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्व-नियंत्रक क्षमया, सौन्दर्य ग्रादि से सम्पन्न बताते हैं, कुछ उसे पाप, दु:ख, सामान्य मौतिक शरीरों (प्राकृत-मान्तिकर-विग्रह-रहितरव) से रहिन होने के रूप में नकारात्मक गुलों से सम्पन्न बताते हैं, तथा धन्य उसका धनिवंचनीय एवं वासी व विचार से धतीत के रूप में वर्रान करते हैं (उसका गूड़ व रहस्यमय स्वरूप बाताने के लिये) पून. अन्य समस्त गूर्गों को छोड़कर उसे एक बताते हैं, और बन्य उसे सबकी भारमा कहते है (सर्वात्मक), किन्तु ये सब 'परम पुरुष' विष्णु के ही विभिन्न विवरण हैं, तथा किसी प्रकार से दो मिस्र प्रकार के ब्रह्मन् का निदेश नहीं करते । केवल इस आन्त धारएगा के कारए। (कि ब्रह्मन् केवल एकारमक स्वरूप का है) शंकर, जिनको वेद के ज्ञाता पूर्व गुरु पय-निर्देश के लिये उपलब्ध नहीं थे, इन धवतरतों की इस प्रकार की व्याख्या करते हैं (ततो व्याकुलबुद्धयो गुरु-सम्प्रदाय-विकल प्रश्रृत-वेद-व्याख्यातार: सर्वत्रापि -'न्याय-सुभा,' पृ० १२४ । वेद-रूपतामनु-सदधाना वेदं ख्रिन्दन्ति)।

तथा वे यह मानते हैं कि उस भवतरए। में उल्लिखित भन्तस्थित पुरुष परम प्रमु नारायण है। पाठवें अधिकरण (सूत्र २२) में शंकर 'छांदोग्य,' १, ६, १ का विवेचन करते हैं और इस निष्कवं पर पहुँचते हैं कि 'बाकाश' शब्द का धर्य भाकाश-तत्व नहीं है वरन् परबह्य है। मध्व भी इस 'सूत्र' द्वारा निर्देशित इसी अवतरण को लेते हैं तथा इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, किन्तु उनके लिए परबह्य का अर्थ सदा विष्णु होता है। नवें धिषकरण (सूत्र २३) में शंकर खांदोग्य १, ११, ४, ६ का विवेचन करते हैं तथा यह निष्कर्ष निकालते है कि वहाँ 'प्रारा' शब्द ब्रह्मन् का निर्देश करने के लिये प्रयुक्त किया गया है न कि साधारए। 'प्राए।' के लिये जो 'वायू' का एक विकार है। पर मध्व 'तैत्तिरीय बारण्यक' के एक बन्य बवतरण में बाये हुए 'प्रार्ण' शब्द के प्रयोग के सम्बंध में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। दसर्वे अधिकरण (सूत्र २४--२७) में शकर 'छांदोग्य' ३, १३, ७ का विवेचन करते हैं, घौर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उसमें 'अ्योति' सन्द का वर्ष बह्ममृहैन कि साधारए। प्रकाश । मध्य प्रपने 'बनु-ब्याख्यान' से इस अधिकरए। का विवेचन नहीं करते हैं, अपने 'भाष्य' में वे इसी निष्कर्ष पर एक सर्वथा बन्य पाठ के सम्बन्ध में पहुँचते हैं। पञ्चीसवां 'सूत्र' जो शकर के अनुसार दसर्वे अधिकरण में समाविष्ट होता है, मध्य के द्वारा एक पृथक् धिकरण के रूप में माना गया है, जिसमें 'छदस्' जब्द का तात्पर्य' 'गायत्री' का धर्य (छांदोग्य, ३, १२, १ 'गायत्री वा इद सबं भूतम्, ' 'गायत्री ही यह सब है') विष्णु है न कि उस नाम का छन्द अथवा उस छन्द को निर्मित करने वाले अक्षरों का सयोजन। धानामी तथा प्रथम माग के प्रथम अध्याय के अन्तिम अधिकरण की शकर द्वारा अधाख्या 'कौशीतकि' ३, १, २, ३ का उल्लेख करके की गई है, जिसमें 'प्रागा' शब्द ब्रह्ममुका निर्देश करता है भौर किसी भन्य बायु की धारा का नहीं। परन्तु मध्य इस अधिकरए में 'ऐतरेय' मे बाये हुए अनेक अवतरएा। का उल्लेख करते है जिनमें 'प्रारा' शब्द का प्रयोग हुन्ना है तथा यह मानते हैं कि पाठनत तुलनान्नों से यह स्पष्ट होता है कि उन भवतरणों में यह शब्द विष्णुका उल्लेख करता है न कि साधारण बायु भ्रथवा भारमाश्रो इत्यादि का।

शकर श्रौर मध्य दोनों के अनुसार प्रथम माग के द्वितीय श्रध्याय में कुल मिलाकर सात प्रथिकरए। या विषय हैं। पहले श्रधिकरए। में मध्य कुछ, वैदिक श्रयतरए।ों का

भम्ब के अनुसार 'तैतिरीय' के निम्निलिखत धवतरण के संबंध में यह संवेह उत्पन्न हो जाता है कि उसमें 'अन्त: प्रविष्ट' शब्द परमात्मा का निर्देश करता है अथवा किसी अन्य प्राणी का: 'अन्त:-प्रविष्ट' विज्ञानित देवा: ।'

<sup>-</sup>तैतिरीय झारण्यक, ३, २, ४।

तद् वै त्वं प्रार्गोऽमवः, महान् भगति, प्रजापतेः, मुजः करिष्यमानः, यहेवान्
 प्रारायन्तेवेति ।

उस्लेख करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास करते हैं कि वे सर्व गुणों के पूर्णत्व के स्वरम-तिवा के रूप में तारायण का निवंध करते की स्वर्णत वह दूरस्य रहकर भी समस्त बस्तुमों की समस्त सिक्यों को मेरित करने की स्वयता रखता है, तथापित वह स्वपती लीला (लीलया) से सम्भानी पर उपस्थित रहता है तथा सर्व बस्तुमों की मुक्तित प्राय सांक्रियों की सम्भानी करता है। सामे यह संकेत किया गया है कि स्वृत्वर्ती प्रवतरण सर्वस्थानों कहान का 'बीचो' स्वया सालायों से विभेवीकरण पूर्वों के अर्थ-तरक तथा पर्वपत्रप्त को कर्ता-नारक में हत प्रकार स्वकर करते हैं कि मोई संबंद नहीं रहता कि सर्व-सापकर्य सांदि गुणों के उत्लेख बहुन के प्रति किए गए हैं, न कि 'वीचो' के प्रति , १९, १९ के विश्वेच करता है, तथा रखता है, एवं तथा प्रति करता है, न कि 'वीचो' का प्रति , १९, १९ को विश्वेच करता है, तथा तथा तथा तथा होता में स्थिवन से परवात होता है स्विच करता है, न कि 'वीचो' का। हतरे स्विकरण में मध्य 'बहुदारप्यक' १, २, १ के सम्बन्ध में यह स्वाव प्रति तथा प्रति प्रति करता है, तथा कहते हैं कि उत्त स्वव्य प्रदित्त सरता है, तथा कहते हैं कि उत्त स्विच सरता है स्वया प्रार्थ स्वित प्रति प्रति प्रति प्रति का स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्ववित प्रति प्रति प्रति का स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वित प्रति प्रति का स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्ववित प्रति प्रति का स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्वव्य स्ववित प्रति प्रति स्वव्य स्ववित स्वव्य स्

¹ 'ऐतरेय झारण्यक,' ३, २, ३।

<sup>&</sup>lt;sup>२</sup> वही।

अनुष्यास्थान' पर अपनी 'न्याय-सुधा' में जयतीर्च द्वारा इस अधिकरण में कृछ र्शवपुर्ग बाता पर ध्यान दिया गया है। इस प्रकार जयतीर्थ कहते हैं कि एक भापत्ति यह उठाई जा सकती है कि ईश्वर जगत का स्रष्टा व विनाशक होने के फलस्वरूप नित्य है किन्त 'किया' ब्रनित्य है : तथा ईश्वर में दो विरोधी गुरा किस प्रकार स्थित हो सकते हैं (नित्यानित्ययोः कथमभेदः स्थात्) ? इस आपत्ति का उत्तर यह है कि ईश्वर में कियाए भी स्थिर होती है (न केवलमीश्वर: स्थिर: श्रपित स तदीय-विशेष-वर्मोऽपि किया-रूपः स्थिरः) और ऐसा सम्भव नही है क्योंकि सर्व कियाए 'परिष्यन्द' स्वरूप होनी चाहिए इसका कोई प्रमास नहीं है-ईश्वर में परिष्यन्द ग्रस्तित्व कदाचित नही हो। पुन: ईश्वर में परिष्यन्दनो के नित्य सस्तित्व की स्वीकृति रर कोई सापत्ति नहीं उठाई जा सकती । जैसे परिष्यन्दन ग्रथवा क्रिया ग्रनेक क्षाणां तक सतत ग्रस्तित्व के फलस्वरूप संग्रीगादि उत्पन्न कर सकती है, वैसी ही नित्य ग्रस्तित्व रसने वाला परिष्यन्दन ग्रथवा किया विशेष क्षराों में सयोग एव वियोग उत्पन्न कर सकती है (यथा अनेक-काल-वर्तिन्यपि क्रिया कदाचित सयोगादि ब्रारभते न यावत सत्वम तथा नित्यापि कदाचित सयोगादि-द्यारमतां को विरोध:)। सबै कियाएं ग्रव्यक्त दन से 'शक्ति' के रूप में ईववर में नित्य अस्तित्व रखती हैं तथा जब वह ब्यक्त होती हैं (ब्यक्ति तभी कर्जा के यथार्थ

'कठ' १, २, २४ से सम्बंध रखता है तथा यह निष्कर्ष प्राप्त करते हैं कि उसमें निर्देशित 'मक्षक' ईंप्वर है न कि 'जीव' भ्रथवा 'भ्रम्नि'। । मध्य भीर शंकर दोनों के भनुसार तीसरा घषिकरए। 'कठ' १, ३, १ से सम्बच रखता है तथा उसमें निर्देशित दो कर्ता मध्य के अनुसार ईश्वर के दो रूप हैं, पर शंकर के अनुसार वे 'जीव' और ईश्वर हैं! मध्य भ्रपने विचार में इस अधिकरणसम्बंधी जो सबसे अधिक सहत्वपूर्ण विषय है उस पर बल देना बाहते हैं, सर्वात यह कि उपनिषद-पाठों के सम्मिलित प्रमाश के साधार पर बहा' भीर 'जीव' सर्वया मिल हैं। ै चौथे बधिकरण में बच्च 'छांदोग्य,' ४, १५ के एक बनतरए। का निर्देश करते हैं जहाँ उस पुरुष के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न होता हुआ। प्रतीत होता है जो चलु में दिखाई पड़ता है, सर्यात् यह पुरुष 'सन्नि' है सथवा विस्ता है तथा सभ्य पाठगत बाधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वह विष्णु है। पांचवां मधिकरण शंकर एवं मध्य दोनों के मनुसार 'बृहदारव्यक' ३, ७, १, २ का निर्देश करता है जहां जगत के एक 'अन्तर्यामिन' का उल्लेख आया है तथा वे इस किछक्षं पर पहुँचते हैं कि यह 'ग्रन्थामिन' विष्णु (शंकर के ग्रनुसार ईश्वर) ग्रम्बा 'जीव' है। इस अधिकरण के 'सूत्रो' में से एक (सरीरक्वोभयेऽपि हि भेदेनैनम् अधीयते) यह स्पब्टतया संकेत करता है कि 'बृहदारव्यक' ३, ७, २२ के दोनों परिशोधित पाठों (कच्दो एवं माध्यदिनों के अनुसार) में भारमन् (जारीर) स्पष्टतया अन्तर्यामिन, से

स्पान्तर एवं कार्य के सम्पादन पटित होते हैं (बांकि-क्येण स्विपः स यदा ध्यव्यते, तदा व्यवहारलम्बनम्), "व्यक्ति" केवल 'वाकि' की एक खबस्या विशेष हैं (व्यक्ति-ग्रव्यते वासेर् एवं धवस्याविशेष विविधत-त्वात्)। इस सम्बन्ध में वयतीयं यह सिंढ करने के तिये भी एक नम्बे तर्क एवं विवेचन में सलम्म होते हैं कि 'कमं' प्रयक्ष वेवे वाते हैं न कि केवल धनुमान के द्वारा झात किये वाते हैं (प्रत्यक्षाधितं कर्म प्रत्यक्ष रोके

<sup>&#</sup>x27;ताल्परे-बन्द्रका, इकर की ब्याख्या पर घापति उठाती है तथा निर्देश करती है कि 'कुन में बाबा हुघा 'बराबर' चावर निर्देशत वाठ में उत्तिबक्त नहीं किया गया है, घोर पाठ में 'धावत' शब्द का वर्ष संहार (संहाय') होना चाहिये। मध्य घपने मत के समर्थन में 'सकर' एवं 'बहुवबंबत' प्रराणों को उद्दश्त करते हैं।

भावत अपने मत के तमर्थन में शहू-पुरास, 'यंगी-शृति,' शास्त्रवेय-शृति' सादि को जर्द्य करते हैं। परन्तु शंकर किसी प्रतिपत्ती (साक्षेत्र) से सबये करते हुए प्रतीत होते हैं जिसके मत में इस प्रवतरास में निर्देशित यो कर्ता न तो 'शुद्धि' और 'औब' हो सकते हैं, और जोब' हो सकते हैं, और जोब सो प्रदेश हो ...

विवास अपनी प्याय-मुचा' में इस मिकरए में यह निर्देश करते हैं कि इंडवर द्वारा नियंत्रएएत के हमारे गुए तथा उसके निश्व नियंत्रक बने रहने की मावदयकता का विधान भी ईंडवर ने किया है।

जिल्ल कहा नया है। संकर इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे, किन्तु उनके विचार में यह यह इस तप्य के कारए। उत्पक्ष होता है कि 'जीव' सज्जान की उपाधि से सीमित हो जाता है, जैसे समीम 'स्थाकाव' एक घट से परिष्ण्विल हो जाता है (घटाकाशवर्ष उपाधि परिष्ण्वल्लामा)। स्थानी 'तात्यं चित्रका' में व्यासतीये हते । में तेत वेदान्त के सनुवासियों की कटु बालोचना का सम्बदर बनाते हैं। वे कहते हैं 'के यदि हैत की ऐसी प्रत्यक्ष घोषणाओं के बावजूद मी इन 'सूचों की सन्यया व्याख्या की जाती है, रो बौदों द्वारा से गई 'सूचों की व्याख्या सी सही मानी जा सकती है सगर वे 'सूच' के स्वित्तार सं वर्तुओं के मिन्याय को उनका सिन्नाय स्वायं। बौदे नो वेदों से बाह्य रहक सम्वता निरोध करते हैं, किन्तु 'नाया-सिद्धान्त' के समर्थक वेदों के मीतर से ऐसा करते हैं, प्रत्यक्ष वे सीफ स्वयंनक है।'

खड़ा विधिकरण 'पुण्डक' १. १. ६ से सम्बन्धित कहा तथा है (नध्य और शंकर दोनों के ब्रह्मलार) वार्चों यह मानते हैं कि उसमें बाया हुआ 'पून-भीनि' और 'पुण्डक' १. १. ७ में कवित 'पकर' निष्णु (शकर के ब्रह्मलार देवर) का उत्लेख करते हैं न कि 'प्रकृति' ध्रथवा 'जीव' का । इस ध्रिकरण के 'पुत्र' २६ में (क्योपन्यासण्ड) शंकर पहुले नो हांत्रकार हारा दी गई एक वृद्ध व्याक्ष्या का स्वध्यन का प्रवास करते हैं, जो यहां (उसके तुरन्त परचाद प्राये हुए 'पुण्डक' के सक्तररणों (२. १. ४) की सामधी के साधार गर') इस मान को स्वीकार करते हुए माने गये हैं कि वर्ष पिकारस्य जसत देवर को बात्या है (यव विकारस्य करते हुए माने प्रये हैं कि वर्ष पिकारस्य करते हैं कि वावस्या है स्वाचनार्थ करते हैं कि वावस्या करते हैं कि वावस्या में ज्यासनीय ध्यमी 'शास्य'-चित्रका' में यह निर्देश करते हैं कि वावस्या करते हैं कि वावस्या है सामधी करते हुए कि चुक्ति करते वह करतुर ही प्रयाध प्राप्त वस्तुओं का कारण हो सकती है, यह सकते करते हैं कि यथार्थ परिवर्तन से रहित (विवर्त) मिथ्या प्रारोपणों के द्वारा भ्रमों के चटित होने के नियो एवा को पित्रका का कारण हो सकती है, यह सकते करते हैं कि यथार्थ (दिवर्त) मिथ्या प्रारोपणों के द्वारा भ्रमों के चटित होने के नियो एवा को प्रतिकर्ण नहीं है कि अम के 'प्रविक्त करते हैं कि सवार्थ पारायेष्य) में की हित होने के नियो एवा को कि स्वर्ण माने प्रविक्त होने के नियो एवा को कि स्वर्ण होना चाहिया । सादस्था के बत्र की मानिक स्वर्ण होना चाहिया । सादस्था के बित्र में मानक करती है निय मानक स्वर्ण स्वतान्य ।

भद्रीतिमित् आफ्निते कयं वा ईतद्रवर्षा त्रुप्यतां सस्मिद्धाला-त्यायं विनेव तु यदि मियापांवादीनि तृत्रणीत्येव कर्तव्य, सृत् न्याक्या तिह् वेद-वाष्प-निय्याल-वोषको नोद्धागमोऽपि वेदस्य व्यास्था-रूपः प्रस्थयते, बोद्धो पि वृद्धा-मूत् व्यास्थायते यथा तथा मत्रीमव निर्म्ययो थे: किन्तु तत्व सुत्ययेवेति कोत्तेयत्, स्मद्-वेदाादिवषणं तस्य स्थान् तत्व-वेदकः । स्थोक्तं श्रृतिमिः सृत्रे यत्नेत साथितं निष्यार्थतां कथं वृथान् सृत्राणां माण्यकृतः स्वय । सीगता वेद-बाह्या हि वेद्याप्रामाष्य-वाधिनः, प्रवेदिका इति बात्वा वैदिकै परिवर्षितता: । वेदान् प्रविदय वेदानाम् ब्रग्नामाथ्यं प्रसाययन् साथी त् यत्नतत्व त्यव्यः ।

उसके श्रज्ञान स्रथना भावावेगों के कारए। भ्रमों के विटत होने से कोई रोक नहीं सकता। जयत विद्युद्ध व परिवर्तनशील ब्रह्मन् पर एक मिथ्या सारोपए। है:

> विवर्तस्तु प्रपंचोऽयम् बह्मासो परिस्मामिसः झनादि-साधनोद्दभूतो न सारूप्यमपेक्षते।

ही, व्यावतीमें शकर की इस व्याव्या से बहुमत नहीं हो सकते तथा बन्य उपिनयु-नाठों के साधार पर एवं वहाँ एक मकती के रूप में दी गई शृष्टि-रचना की साहस्पता के साधार पर (न कि रुजु-सपं की साहस्पता के आधार पर, जैसाकि 'विवर्त' की सबस्था में होया) भी यह तक देने का प्रयत्न करते हैं कि यह स्थीकार करना चाहिये कि यहां समुख्य विच्यु का उत्तेख किया गया है।' सातवीं स्थिकरण् 'खांदोंग्य' ४. ११ से सम्बंधित माना प्रया है तथा यह सदेह उत्पन्न होता है कि उसमें प्रयुक्त 'विस्थानर' सबस्य प्रान्त का उत्तेख करता है समया विच्यु का, प्राह्मिक स्थन-तारणों की तुलना के साधार पर प्रचन पदमानुक्त के पक्ष में निर्धय लेते हैं (शकर ईस्वर को स्रोधानात्या देते हैं)।'

प्रथम भाग के तृतीय धाष्याय का वहला धायिकराए 'पुण्डक' २. ११ ५ का निर्देश करता बताया गया है तथा मध्य के धृतुवार 'प्वयं एव पृथ्यी का निवासत्यान (सू-न्य-पाधावतन) विष्यु का उत्तक्षेत्रक करता है है कि इक का। चकर के धृतुवार बहु देवर का निर्देश करता है धौर 'प्रकृति', 'वायु' धायवा 'ओव' का नहीं।' क्षस्य धाषिकरण 'खादोम्य' के कुछ धावतरहों। 'वीते ७. २३, २४, ०. १४, १) से धार्यापत कहा गया है, जहां 'प्राएं को महान् बताया गया है धौर मध्य एव तकर के कमशः यह निक्कर है कि यह 'प्राएं का प्रयं विष्यु धौर देवर है। तीनरा प्रधिकरण

इस प्रधिकरण में जमतीर्थ 'कानुस्थास्थान' के विवेचनों का अनुसरण करते हुए समावादमक सोधनाश्चा की स्थापंता पर विचार-विषयों करते हैं तथा यह तक देते हैं कि सम्यादन के रूप में समाव का इत्यात्मक बन होता है। सत: 'अहस्य' स्नाद क्यान की सोधनाएँ उसके यथाये मुख हैं।

दश मिकरए। (१. २. २६) के नियम २६ के नवंध में शकर एक स्वय द्वारा स्वीकृत पाठ (पुरुषमणि चैनमधीयते) से एक निम्न पाठ की कोर ध्यान दिलाते हैं (पुरुषविधमणि चैनमधीयते)। पश्चातुक्त पाठ मध्य द्वारा स्वीकृत किया गया है।

इस अधिकरए। के प्रथम नियम के उपमहारास्मक भागों में शकर 'अपर आह' के रूप में किसी अस्य व्याज्याकार के मत का उल्लेख करते हैं। उसकी पहिचान करना किन है, सकर के किसी भी टीकाकार द्वारा इस सम्बन्ध में कोई सकत नहीं किया गया है।

'बृहदारम्यक' ३. ८, ७, ८ से सम्बंधित कहा गया है, जहाँ 'ग्रक्षर' शब्द का ग्रर्थ मध्य के धनुसार विष्णु धौर शंकर के धनुसार ब्रह्मन् कहा गया है, न कि 'वर्णमाला का चिह्न' जो भी साधारएतया उस शब्द का अर्थ होता है। मध्य के अनुसार चौथा प्रकरसा 'खांदोग्य' ६. २. १ का निर्देश करता है तथा यह माना गया है 'क वहाँ सत् शब्द बिष्सु का निर्देश करता है और 'प्रकृति' का नहीं, क्योंकि उसी 'फ़्सर' में 'ऐक्षत' (प्रत्यक्ष किया गया) शब्द प्रयुक्त हुमा है। शकर के मत में यह भविकरण 'प्रश्नक' ५. २. ५ का निर्देश करता है। अपनी 'तात्पर्य-चन्द्रिका' में व्यासतीर्थ पाठ-गत बाबार पर इसका विरोध करते हैं। "पाँचवें ब्रधिकरता का निर्देश 'छांदोग्य' प. १. १ के प्रति कहा गया है तथा वहाँ प्रयुक्त 'शाकाश' शब्द का उल्लेख निष्लू के प्रति बताया गया है। " छठा अधिकरणा 'मुण्डक' से सम्बधित बताया गया है और वहाँ निर्देशित प्रकाश ब्रह्मम् का प्रकाश कहा गया है तथा कोई धन्य प्रकाश धथवा धारमन् नहीं। सातवे अधिकरण का निर्देश 'कठ' २. ४. १३ के प्रति कहा गया है और मध्य मानते हैं कि वहाँ प्रयुक्त 'ईश्वर' शब्द वायु का नहीं बल्कि ईश्वर का सकेत करता है। पर शकर का विचार है कि कठिनाई उस वाक्य के एक अपन्य शब्द अर्थान् 'पुरुष' के सम्बध में उत्पन्न होती है, जिसका धर्य उसके धनुसार ईश्वर है धौर 'जीव' नहीं है। ग्राठवे ग्रधिकरण का श्रभिप्राय यह स्थापित करना है कि देवताग्रों को भी परा विद्या का प्रधिकार है। दसवे ग्रधिकरण का सकेत 'कठ' २. ६. २ की ग्रोर बताया गया है भीर यह मोना जाता है कि जिस 'प्राख' का वहाँ जगत को कम्पायमान करने वाले के रूप मे उल्लेख ग्राया है वह न तो मेघगजंन है ग्रीर न पवन है, वरन् ईरवर है। मध्व के अनुसार स्थारहवा श्रधिकरण 'बृहदारव्यक' ४. ३. ७ का निर्देश करता है श्रीर यह माना गया है कि वहाँ प्रयुक्त 'ज्योतिः' शब्द विष्णुका उल्लेख करता है भीर 'जीव' का नहीं। किन्तु शकर के विचार में यह प्रधिकरण 'छांदोग्य' ८. १२. ३ का निर्देश करता है और वे यह मानने है कि वहाँ प्रयुक्त 'ज्योतिः' शब्द का अर्थ बह्मन है सूर्य-मण्डल नही है। बारहवें अधिकरण का निर्देश 'छाद्योग्य' ८.१४.१ के प्रति कहा गया है तथावहाँ प्रयुक्त 'धाकाश' शब्द का उल्लेख मध्य के बनुसार तो विष्णु के प्रति बताया गया है और शंकर के अनुसार बह्मन के प्रति । मध्य के अनुसार तेरहवां मधिकरएा 'बृहदारण्यक' ४. ३. १५ का निर्देश करता है और यह माना गया है कि इस

<sup>&#</sup>x27;तात्पर्य-चित्रका' पृ० ६१०.१२ । इस प्राधिकरण के प्रथम नियम में शंकर किसी प्रत्य व्याख्या के मत को उद्घृत करते हैं, जिसका उन्होंने खण्डन करने का प्रयास किया है।

इस प्रीषकरए। के 'सूत्र' १६ में शकर किसी ग्रन्थ आस्थाता द्वारा दी गई 'छादोच्य'
 ११ की व्यास्था का उत्सेख करते हैं। वे इस 'सूत्र' में 'ब्रह्म-सूत्र' की एक से प्रीषक व्याख्या का भी उत्सेख करते हैं।

सवतरण में 'ससंय' शब्द विष्णु का उल्लेख करता है सौर जीव का नहीं। परन्तु संकर के विचार में वहाँ 'हहदारच्यक' ४. ३. ७ का निर्देश किया गया है तथा 'विज्ञान-मय' (चैतन्य-स्वरूप) बहुान् का उल्लेख किया गया है, जीव का नहीं।

प्रथम माग का चतुर्ष थप्याय लाज प्रक्षिकरलों में निमक्त है। इनमें से पहला स्र्यिकरला 'कड़' १. १. ११ में 'मस्मक्त के सम्मास्य सर्व का विवेचन करता है तथा संकर मानते हैं कि उसका सर्व माया करता है कि उसका सर्व सामित है कि उसका सर्व सामित है कि उसका सर्व स्विम्नु है नि के संक्ष्य की 'मक्ति'।' इसरा स्रामिकरला, जिसमें तीन 'चून' हैं संक्ष्य के सनुसार 'सेतास्वर' ४. ५ का निर्देश करता है, जो यह मानते हैं कि उसका उस्लेख स्वान, साम व पूर्णों के मौतिक सिद्धान्तों के प्रति किया गया है, न कि 'मक्ति' के प्रति, भाव के मनुसार यह इस तथ्य पर बस देने के उद्देश के पूर्ण स्विकरला का एक विस्तरला किया गया है कि सम्ब स्वयं को मांति (चमस सादि) 'सब्वक्त' का सर्व यह विष्कृत है कि सम्ब स्वयं की मांति (चमस सादि) 'सब्वक्त' का सर्व यह विषक्त है कि सम्ब स्वयं की मांति (चमस सादि) 'सब्वक्त' का सर्व यह विषक्त है न कि 'सब्वक्त' ।

किन्तु सध्य के मत में दूसरा अधिकरण सूत्र १,४,६ से प्रारम्म होता है,न कि १,४, स से, जैसाकि शकर का मत है। मध्य के अनुसार दूसरा अधिकरण

इस प्रीपकरण में शकर द्वारा पठित 'सूत्र' 'यदतीति केन्न प्राक्षो हि प्रकरणात् (१, ४, ४) का मध्य द्वारा दो 'सूत्रों' में विमानन कर दिया गया है, 'यदतीति केन् न प्राक्षो हिं और 'प्रकरणात्' जिनकी कमधः १, ४, ४ व १, ४, ६ के रूप में गणना की गई है।

<sup>&#</sup>x27; साध्यक्त' साध्य जिसका प्रयोग साधारलत्या सुक्त स्वरूप होने के कारल 'प्रकृति' का निर्देश करने के लिये किया जाता है, बहुत उपयुक्तता ते बहुत का निर्देश करने के लिये किया जाता है, बहुत उपयुक्तता ते बहुत का निर्देश करने के लिये की प्रयुक्त किया जा सकता है जो सबसे सुक्त है तथा जो इस सुक्तता के कारल 'प्रकृति' का बरम 'प्राप्य' है। शंकर हारा दी गई 'प्रथ्यक्त' की वह व्याच्या समान्य है जिसके सनुसार 'प्रध्यक्त' का सप्त है-तरीर के सूक्त भीतिक कारल, क्योंकि यदि 'प्रथ्यक्त' का प्रयुक्त प्रश्ने है-तरीर के सूक्त भीतिक कारल, क्योंकि यदि प्रथ्यक्त का प्रयुक्त प्रश्ने का प्रवाद का उत्तक्त करे। यह कल्लित सांव्य पुक्ति सर्थ मही है कि विचारांगीन सवतरण में क्यांविप्य कथन (कि 'प्रध्यक्त' महत्त' के श्रेष्ठ (परा) है और पुरुष 'प्रध्यक्त' से श्रेष्ठ (परा) है और पुरुष 'प्रध्यक्त' के लेक हो जी सर्थ हो सकता है वर्वक यहां 'प्रकृति' है। स्वांकि 'प्रकृति' के सर्व गुल ईश्वर पर निर्मर करते हैं, प्रदः जो गुल 'प्रकृति' हो, क्योंकि 'प्रकृति' के सर्व गुल ईश्वर पर निर्मर करते हैं, प्रदः जो गुल 'प्रकृति' पर नाम किये जा सकते हैं वे उत्तके स्वामी ईश्वर प्राचीतवाल) । —तत्व-अक्तिका पुरुष्ठ (। ।

 <sup>&#</sup>x27;ग्रजमकम् लोहित-शुल्क-कृष्णम्, श्रादि ।

<sup>-</sup>स्वेतास्वतर, ४, ५।

१, ४, १ तथा १, ४, १० तक सीमित है तथा वह 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिया यज' से भारम्म होने वाले एक धवसरल का निर्देश करता है, जो धन्य विद्वानों के धनुसार 'ज्योतिष्टोम' का निर्देश करता है, मध्य का मत है कि यहाँ प्रयुक्त 'ज्योतिष' शब्द 'ज्योतिष्टोम' यज्ञ का उल्लेख नहीं करता है, वरन् विष्णु का उल्लेख करता है'। मध्य एवं शंकर दोनों के अनुसार तीसरे अधिकरण में सूत्र १२, १३ व १४ का त्रशिवेश होता है तथा वे दोनों यहाँ एक ही अवरण, अर्थात 'बहदारव्यक' ४, ४, १७ का निर्देश करते है, शंकर के विकार में वह सांस्य के पच्चीस पदार्थों का नहीं बहिक 'पंच वायू' का उल्लेख करता है, किन्तु मध्य का मत है कि वह विष्णु का उल्लेख करता है। उसका कदाचित पांच गुर्गो. यथा 'चक्षच्टव' 'प्रारात्व' बादि के बस्तित्व के कारण 'पंच-जनाः' कहा गया है। सकर के अनुसार नौथा समिकरसा यह मत , समिन्यक्त करता है कि यश्चपि उपनिषदों में बनेक भासमान विरोधी कथन हैं, तथापि सब्दा के स्वरूप के संबंध में कोई विवाद अथवा विरोध नहीं है। पर मध्य का मत है कि इस अधिकरण का स्राप्तपाय यह स्थापित करना है कि वे सब वस्तुओं के नाम, यथा 'साकास' 'वाय' सादि, जिनसे मृष्टि-रचना हुई है, विथ्णु का उल्लेख करते है। मध्य यह तक देते हैं कि 'समन्वय-सूत्र' (१, १, ४) का अभिप्राय यह है कि उपनिषदों मे सब शब्द केवल विष्णु भीर विष्णु ही का उल्लेख करते हैं, तथा इसी तर्क के अनुसार यह सिद्ध हो जाना चाहिये कि ये शब्द ('झाकाश' झादि) जो एक जिल्ल सर्थ लिये हुए प्रतीत होते हैं, केवल विष्णु और विष्णु ही का उल्लेख करते हैं। हाँ, ये युक्तियाँ लगभग सदा पाठ-गत स्वरूप की होती हैं। इस प्रकार मध्य अपने इस तक के समर्थन में यहाँ 'बृहदारण्यक' ३, ७, १२ मादि को उद्भुत करते हैं। पांचवां मधिकरण, जिसमें मध्व के मनुसार १, ४, १६ (शकर के अनुसार १, ४, १४), २३ (१, ४, २४ शंकर के अनुसार) का समावेश होता है का श्रमित्राय यह है कि इस तब्थ से कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती कि जिन शब्दों का उपनिवदों में अभिन्नेत गर्व विष्णु है उनके साभारण भाषागत प्रयोग में सर्वथा मिन्न ग्रथं होते हैं। किन्तु शंकर इस ग्रधिकरण की गणना १, ४, १५ से १ - तक करते हैं, और यह मानते हैं कि वह 'कौशीतिक बाह्मएए' ४, १६ का निर्देश करता है तथा जिस सत्ता को ज्ञात करने का उसमें उल्लेख बाया है वह जीवन नहीं है, वरत् ईश्वर है, इसका श्रपनी 'तात्पर्य-चिन्द्रका' में ब्यासयित द्वारा 'सृत्र' के प्रसंग के भाषार पर विरोध किया जाता है, जिसके अनुसार यह न्यायसगत नहीं है कि इसी मध्याय में तनिक पूर्व उपसहार के रूप में की गई टिप्पशी के पश्चात सवतरशों के मधौं का उल्लेख किया जाय। " खठा अधिकरण जिसमें शंकर के मत में १,४,१६ से २२ का समावेश होता है 'बृहदारव्यक' ४, ५, ६ का निर्देश करता है तथा इस निष्कर्ष

<sup>&#</sup>x27;तात्पर्य-चित्रका' पृ० ६२१ । इस प्रविकरण की शंकर द्वारा दी गई क्यास्था के विरोध में अन्य प्रापत्तियाँ भी उठाई गई हैं ।

पर पहुँचता है कि वहाँ 'झात्मन्' सब्द बह्मन् का उल्लेख करता है, न कि 'संसार' चक्र को सहन करने वाले 'जीव' का। पर मध्य के विचार में खठा अधिकरण (१,४, २४ से २८) पाठगत विवेचनों के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि वे सब्द भी जो स्वीलिय में हैं; यथा 'प्रकृति' मादि विष्णु ही का निर्देश करते हैं, क्योंकि सर्व-वस्तुमों की उत्पत्ति विष्णु से होती है, बत: उसके लिए स्त्रीलिंग शब्दों के प्रयोग पर कोई भापत्ति नहीं उठाई जा सकती । किन्तु शंकर के लिये सातवां अधिकरण १, ४, २३-२७ (शंकर की गएना के बनुसार) से प्रारम्त होता है और इसमें वे यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ब्रह्मन् जगत का न केवल निमित्त कारण है बरन् 'खनाबान कारए। भी है। इसके विरोध में मध्य की मुस्पष्ट आपत्तियां यह है कि वदि अवत के निमित्त कारण और उपादान कारण एक ही होते तो एक वट के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हो सकता था, कोई यह बान सकता था कि कुम्मकार एवं मृत्तिका एकस्प हैं। 'मामती' के विरोध में भी खट-पूट बापतियाँ उठाई गई हैं, जो यह मान नेती है कि यहां उपादान कारए। का बार्य है 'भ्रम का अधिक्ठान' (भ्रमाधिक्ठान)। परन्तु शंकर के बनुसार एक बाठवां अधिकरण भी है जिसमें १,४ के अस्तिम 'सूत्र' का ही समावेश होता है, धीर जो मध्य के सातवें अधिकरता के अनुरूप है। मध्य के मत में इस प्रविकरण का प्राथय यह है कि 'प्रसत्' प्रयवा 'शून्य' जैसे शब्द भी विष्णुका निर्देश करते हैं, क्योंकि उसी के संकल्प से 'बसत्' बयवा 'कश-खू'ग' भी बपना स्वरूप बनाये हुए हैं। किन्तु शंकर के मत में इस अधिकरण का अर्थ यह है कि अब तक तो संदन के प्रयत्न केवल सांस्थ-चिद्धान्त के विरोध में किये गये थे, क्योंकि उस सिद्धान्त का वेदान्त के सिद्धान्तों में कुछ साहस्य इस रूप में था कि वह कारए। एवं कार्य की एकता को स्वीकार करता है तथा उसको देवल और बन्य विधि-प्रदाताओं ने श्रांक्षिक रूप से मान्यता दी बी-पर न्याय वैशेषिक वैसे अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के लंडन की कोई वावस्थकता नहीं है क्योंकि वे वेदान्त से ब्रत्यधिक दूर हैं।

हितीय नाग के प्रयम प्रध्याय में तेरह स्विकरणों का समावेश होता है। सम्पूर्ण सम्माय में प्रम्य सम्प्रदायों के विचारकों की स्वीकृत रचनाओं के टिस्कोण से उठाई गई सभी पारित्यों का संबन किया नया है। मध्य के मत में पहले स्विकरण का उद्देश पाषुपत सादि उन सम्य सम्प्रदायों के सनुपायियों के साक्ष्मों का संबंध करना है, जो यह सस्वीकार करते हैं कि विच्यु जनत् का चरम कारण है! किन्दु इन मतों को कोई मान्यता नहीं सी वा सकती क्योंकि इनके उपदेशों देशों के उच्छेशों है

भाग्य के बानुसार यह समिकरण जयम तीन 'सुमाँ से निर्मित है, पर शंकर प्रयम दो 'सुमाँ के निर्मे एक प्रस्किरण बनाते हैं तथा तीवरे 'सुमाँ के निर्मे साम प्रसिकरण बनाते हैं (एतेम बीम: अपुक्तः) तथा वे केवल हरना ही कहते हैं कि अपस समि-करण में साम्य के निर्मेश में दी नाई मुख्यियों गोग का भी संबन करती हैं।

सनुमूल नहीं हैं, ऐसे सभी विद्यान्त सप्रायाण्य हैं। येर 'पंचरात्र' नामक 'स्मृति' सप्या पाधुरती या योग के परम्परायत स्मृति-तेसों का, हुक मानों के धारिएक, कोई दसर्वन नहीं करते। परन्तु शंकर के सनुसार वह धारिकरण एवं यत का खंकर करता है कि वैदिक पाठों की खाल्या शांकर-वत के धनुसार करनी चक्रहिये क्यों कि सांक्य हमारे बादर के योग्य कतियय परम्परायत स्मृति-तेखों का प्रार्ट-पित्रेख करता है, यदि शांकर के खाल्या के नियं सायवं मान निया वाय तो सांक्य से प्राप्तक कारता है, यदि शांकर के खाल्या के नियं सायवं मान निया वाय तो सांक्य के प्राप्तक सायद सोय क्यायत स्मृति क्यायत हो जायना । शोध्य इस कारण के प्राप्त के प्राप्त माना बाता है कि वह किया के मत का प्रतिनिधित्य करता है, किन्दु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उपनिषदों में विन महींच की प्राप्त की नियं है वे बही है, धौर यदि ऐसा नहीं है तो सांक्य का उक्त धायर के नियं प्राप्तक रिवार विज्ञत हो जाता है।

मण्य के दूसरे समिकरण (शंकर का तीसरा) का सासय यह माना गया है कि जिल प्रकार कोई व्यक्ति पासुपत-पानों की प्रान्त खिक्का वर संदेह कर सकता है उसी प्रकार किरही विशेष परिस्थितियों में कितप्र वेदिक वा निक्कता के कारण किसी को किर के कि प्रकार कि हो की निक्कता के कारण किसी को वेदों को प्रामाणिकता में संदेह करने का समिकार नहीं हो सकता, क्यों कि वेद नित्य एव स्पोक्येय हैं मत्यूपत वे सन्य पाठों से नित्र हैं। वेदों का साप्ताल स्वयं जाही के साचार पर स्वीकार करना पड़ता है, वह किसी सन्य पाठ के संदर्भ से सर्वश्रा स्वतन भीर निरंशत है। ऐसी परिस्थित में यह किसी यह का चा विशेष समुख्यान होने पर सी प्रमीप्ट फल को प्राप्ति नहीं होती है तो यह सममना चाहिये कि समुख्यान में कुछ दीव थे। " शकर के तीसरे समिकारण (नृत्र ४-१२) की मुक्त सारे दे हैं:

ऋग्-यजुस्सामायबीहव भूत-रामायगां तथा भारतं पंच-रात्र च वेद इत्येव शस्त्रितः पुरागानि च यानीह वैष्णवा निविदो विदुः स्वतः-प्रामाण्यमेतेषां नात्र किचिद् विचायते ।

मध्य यहाँ निम्नलिलित पाठ का एकमात्र प्रामाध्य पाठ के रूप में उल्लेख करते हैं
 जिसको वे अपने 'माध्य' (२, १, ५) में 'मविष्य-पुराख' से उद्दृत करते हैं:

शाकर और गध्य में न केवल प्रिकरिष्ठों के विमावन एवं 'सूत्रों' के कम के सम्बन्ध में मतनेद है, प्रसित्त मध्य द्वारा दिये नये 'बहु-मूत्रों' के पाठ में एक नवीन 'सूत्र' भी जोड़ दिया गया है। इस प्रकार मध्य के बनुसार दूतरा प्रिकरिए केवल चीचे एवं पांचवें 'सूत्रें' से ही निवित्त है तथा तीखरा स्वित्तरा खठे करा 'सूत्रों से। किन्तु पांचवां 'सूत्र' संकर के पाठ में खठा है तथा मध्य का खठा, गंकर का पांचवां है। मध्य का सातवां 'सूत्र' संकर के पाठ में सर्वेषा प्रमुश्चितर

यह भापत्ति उठाई जा सकती है कि जड़ एवं भ्रशुद्ध जगत की उत्पत्ति विशुद्ध चैतन्यमय शुद्ध ब्रह्मन् से नहीं हो सकती थी तथा जनत् के प्रशुद्ध होने का यह भेद देवों में भी स्वीकृत किया गया है, किन्तु यह एक वैध बापत्ति नहीं है, क्योंकि उपनिषद् यह स्वीकार करते हैं कि श्रान्त, पृथ्वी श्रादि के समान जड़ विषयों की भी चेतना कत्ताओं धयवा देवताओं द्वारा अध्यक्षता की जाती है तथा चेतन कत्तींओं के केश, नासून आदि की उत्पत्ति एवं सजीव कीड़ों की निर्जीव गोबर झादि से उत्पत्ति के उदाहररण यह प्रदक्षित करते हैं कि बह्मनू से जड़ जगत की उत्पत्ति ग्रसम्भव नहीं है, विशेषत: जब उपनिषदों का ऐसा कथन है। यह बापत्ति नहीं हो सकती कि इससे कारखों के सह-बस्तित्व भ्रयवा पूर्व-मस्तित्व के सिद्धान्त (सत्कार्यवाद) को जित पहुँचाती है, क्योंकि वर्तमान प्रवस्था में तथा उत्पत्ति से पूर्व भी जगत् का पारमाधिक सत्य उसके ब्रह्म-स्वरूप के प्रतिरिक्त धन्य किसी में निहित नहीं है। प्रनय की धवस्था में सर्व वस्तुओं का ब्रह्मन् में लय हो जाता है तथा सृष्टि के समय मुक्तारमाधों के भतिरिक्त सर्व वस्तुएं उसी प्रकार ससार-चक्र में प्रविष्ट हो जाती हैं जैसे, स्वप्न के पश्चात् जाग्रत ग्रवस्था में तथा बहान में, जगत् के ऐसे विलय उसे प्रशुद्ध नहीं बना सकते, जैसे एक मायावी भपनी माया-सृष्टि से प्रभावित नहीं होता बथवा जैसे घट आदि के मृत्तिका-भाकार अपने उपादान मिट्टी में परिसात होने पर उसे प्रभावित नहीं कर सकते। इसके श्वतिरिक्त इस प्रकार की ग्रापत्तियाँ ग्राक्षेपकों ग्रयति सांस्थवादियों के विरोध में भी कड़ी की जासकती हैं। पर चूँकि बनुभव के द्वारा इन जटिल समस्यामों का समाधान सम्भव नही है मतः अनुमान के द्वारा भी उन्हें हल नही किया जा सकता, क्यों कि एक अनुमान का चाहे कितना ही प्रवल आधार क्यो न हो, एक चतुर तक-शास्त्री तब भी उसमें तृटि निकाल सकता है। फलतः इस विषय में हमें पूर्णतः वैदिक पाठों पर ही निर्मर रहना पड़ेगा।

मध्य का तीसरा समिकरए। (नृत ६, ७) यह सापति उठाता है कि वेद सिवस्तानीय नहीं है क्योंकि के ससम्मय कपन करते हैं, यथा, मृत्तिका बोली (पृद् सम्बन्धि), इस सापति का यह उत्तर देकर सबन किया जाता है कि इस प्रकार की चैतन क्रियामों के उत्तेश्व उनके सम्पण देवताओं (सिम्मान देवता) के प्रति किसे गये हैं। मध्य के चौथे सांधिकरए। (जून ६ से १३) का समीच्ट देरों के प्रमय करियत सम्बन्धन कथाने को बाढित करना है, यथा वह कथा जो यह एक ऐसा 'सावस्य' में हैं, यह माना गया है कि सबि उत्तर में यह कहा जाय कि एक ऐसा 'सावस्य'

है। संकर का तीयरा समिकरण 'सूकों 'र-११ से निर्मित है। किन्तु मध्य के समिकरण इस प्रकार है: दूसरा समिकरण, 'सूक' 'र, १ तीवरा समिकरण 'सूक' 'र, ६, जैसारा समिकरण 'सूक' 'र, ६, जैसारा समिकरण 'सूक' 'र, ६, जैसारा समिकरण 'सूक' -१३, तेरहवी संकर के पाठ का बारहवी है। संकर का जैसा समिकरण केवल इस 'सूक' से निर्मित है।

सकता है जिससे वैदिक कवनों के बन पर उत्पत्ति सम्मव है (यद्यप्ति यह मुविदित है कि सर्व प्रकार के समत् है सर्वा सम्मव है, यथा एक प्रधान्त्र) तो उस दाधा में प्रतय की प्रवस्था होंगी (सर्वो सत्य), तथा यह ध्रासम्ब है क्योंकि सर्व प्रकार को उत्पत्ति पूर्व सत् की प्रवस्था वे प्रथय होती हुई देखी जाती है स्रोर सर्व प्रकार के विनास की किसी प्रवस्था में प्रतिस्थानित हुई में शहिये। 'इन प्रापित्तयों का यह उत्तर दिया गया है कि इन प्रवन्ते का निर्मुख तं के के ध्राचार पर नहीं किया जा सकता, जिसका प्रयोग सर्व प्रकार के निकल्यों को न्यायोगित उहुएने के वियो जा सकता, है। धकर का चौचा ध्रीकरए केवल सुन्न १२ से निर्मित है, जिसका प्रयोग सर्व का प्रवास विवार निरम्भ की में इसी प्रकार उदेशा की बा सकता है। सकर का चौचा ध्रीकरए केवल सुन्न १२ से निर्मित है, जिसका कपन है कि उन धन्य विचार-सम्प्रदायों की सांपत्तियों की वी इसी प्रकार उदेशा की बा सकती है।

शंकर का पांचवां समिकरण, (सूच न, १, १३): उनके हारा यह संकेत करता हुमा माना गया है कि यह साथांत कि मोत्ता और नोया का ताशास्यीकरण नहीं किया वा सकता, प्रतप्त उसी संघ के बहुयन ने जयत का उपादान कारण नहीं माना या सकता, तक-संगत नहीं है, नयोंकि ताशास्य के होते हुए मी कतियम करियत उपाधियों के कारण ठीक उसी प्रकार साधात नेद हो सकते हैं विस्त प्रकार समुद्र एवं तरगों में ताशास्य होते पर भी कई दिख्कीए वे से निष्ठ माने वा सकते हैं। किन्तु मध्य के समुतार हम प्राचित्र का माने पर प्रकार का क्यान करते हैं उनको जल में जन के साथारण पिमरण भी साहस्यता के प्रभाव पर समम्प्रता याहिये। यहां प्रविध्य कता का इस सर्थ में भेद-रहित मिन्नण हो पया है कि दोनों को पृथक नहीं किया था सकता तथापि दोनो क्ष नहीं बने हैं क्योंकि कम से कम जल की मात्रा में प्रमिद्ध हो गई है। इससे यह सकेत परिता है कि याणा सकता तथापि दोनो में प्रमान कि स्वाप्त मात्रा में प्रमान कर सम्प्रता का साथा पर स्वाप्त हो साथा पर स्वाप्त हो सहस्य में अप्रमुद्ध क्या है कि याणा सकता तथापि दोनों क्ष नहीं बने हैं क्योंकि कम से कम जल की मात्रा में प्रमुद्ध क्या है विसीन हो जाता है तथापि दोनों में ऐसा हुख नेद रहना वाहिये कि एक का दूसरे के साथ पूर्ण ताशास्त नहीं हो सकता। है

क्षठा समिकरण; जो शकर और मध्य के सनुसार 'सूत्र' १४-२० से निर्मित है, शंकर की मान्यना के पनुसार कारण एवं कार्य, बहुन्त एवं जयत के ताशास्त्र का कपन करता है तथा यह मानता है कि सापात नेद जुनि-पाठ एवं दुक्तिओं डारा निश्चित रूप से कपन करता है जिसमें केवल मुलिका ही बट धादि के रूप में सपने सर्व परिपानों

सत् उत्पत्तिः संशेष-विनाशस्य हि लोके ह्व्टः । —मध्य-भाष्य, २, १, १० ।

व्यासतीयं द्वारा यह निर्देश किया गया है कि शंकर की व्याक्या करिपत 'पूर्वपत्र' और 'सिद्धान्त' दोनों की दृष्टि से नृष्टिपूर्ण है। 'विवर्त' मत के प्रनुतार समुद्र एवं तरंगों तथा फैन (फैन-तरंग-याय) का उदाहरण स्वीहत नहीं किया जा सकता।

<sup>-</sup>तात्पर्य-चन्द्रिका, प्र**० ८७२** ।

में सत् मानी गई है। झतः केवल बह्मान् ही (मृत्तिका की मौति) सत् है झीर जगत् उसकी उपज (बट बादि की माँति) माना गया है। बनेक उपनिषद्-पाठ ऐसे हैं जो नानात्व को सत् मानने वालों को फटकारते हैं। किन्तु यह मी साधारए। धनुमव के विरोध में प्रतीत होता है तथा एकमात्र समझौता सम्भव यही है कि जगत का नानात्व तभी तक प्रस्तित्व रसता है जब तक कि उसका ग्राभास होता है, परन्तु जब बह्य-ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब यह मिच्या आभास जगने पर स्वध्न-अनुभवों के समान विलीन हो जाता है। पर जगत् के इस मिच्या धनुमव से मी तथा श्रृतियों से सस्य ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि मिथ्या गय से सत्य मृत्यु वटित हो सकती है। साधारण धनुमन का 'व्यानहारिक' जगत् तभी तक अस्तित्व रसता है वन तक कि झात्मन की ब्रह्मन के साथ तादातम्य की अनुभूति नहीं की जाती, पर जब एक बार यह भनुभृति हो नाती है, तब जगत का मिच्या बागास विलीन हो जाता है। कारए। एवं कार्य का तादात्म्य इस तथ्य से भी हष्टिगोचर होता है कि जब उपादान कारए। (यथा मृत्तिका) मस्तित्व में होता है तभी कार्य (यथा घट) मस्तित्व में रहता है। २. १. १= में 'सत्कार्यबाद' के पक्ष में कई सन्य युक्तियाँ दी गई हैं। किन्तु मध्य इस श्रिकरण की एक मिश्न प्रकार से व्यास्था करते हैं। ब्रह्म स्वय ही स्वतंत्र उपकरणों भयवा भन्य उपसाधनों की सहायता के बिना जगत् की सुष्टि करता है, क्योंकि समस्त उपसाधन एवं उपकरण अपनी शक्ति के लिये उस पर निर्मर करते हैं। शंकर की व्याख्या के विरोध में मुक्ति देते हुए व्यासतीर्थ कहते हैं कि मिच्या जगत का बह्मन् के साथ समेद स्थापित नहीं किया जा सकता (धनृतस्य विश्वस्य सत्य-ब्रह्माभेदायोगान्) । इसके मतिरिक्त, 'समेद' उस बर्ग के नहीं लिया जा सकता जिस मर्ग में उसे 'भामती' लेती हैं, धर्यात्, 'समेद' के सर्व मे नहीं वरन् केवल 'मेदामाव' के सर्व में, क्योंकि 'मेदामाव' भीर 'भ्रभेद' एक ही वस्तु है (भेदामावे ग्रभेदधनुयात्)। साथ ही, यदि कोई 'भेद' नहीं है तो एक को सत्य तथा दूसरे को अमृत नहीं कहा जा सकता (भेदा-भावे सत्यानृत-व्यवस्थायोगाच् च)। इसलिये भेद और अभेद दोनों को स्वीकार करना ही उचित होगा। यह नहीं कहा वा सकता कि 'धनन्यत्व' धौर ब्रह्मन पर बारोपरा एक ही हैं (ब्रह्मण्यारोपितत्वम्)। इन सब युक्तियों के द्वारा व्यासतीर्थ यह कहना चाहते हैं कि यदि उपनिवद बह्मनु और जगत् के समेद की घोषणा करते भी हैं, तो ऐसा अभेद न केवल शंकर के स्वीकृत मत के विरोध में जाता है कि जगत मिथ्या एवं असत्य है अतएव बह्मन् के साथ उसका अभेद स्थापित नहीं किया जा सकता, प्रपितु उनकी यह व्यास्या भी घमान्य है कि 'झमेद' का अर्थ है मिथ्या 'घारोप', क्यों कि कोई भी यह नहीं समझता कि शुक्ति का उस पर बारोपित मिथ्या रजत से समेद है। यह मानने का कोई अधिकार नहीं है कि अधिष्ठान के ज्ञान में अनिवार्यत: बारोपित वस्तु का ज्ञान भी समाविष्ट होता है, बतएव पूर्वोक्त को पश्वादुक्त का तस्व नहीं माना जा सकता तथा मृत्तिका के ज्ञान से घट बादि के ज्ञान में उसके घट के रूप

में भाकार के ज्ञान का समावेश होता है।" अयतीर्थ धपनी 'न्याय-सुधा' में इस प्रधिकरता में मध्य-सम्प्रदाय के कारलता के सिद्धान्त का भेदाभेद-सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादन करते हैं, जिसके धनुसार कार्य का एक प्रकार से कारण के साथ समेद है तथा प्रस्य प्रकार से भेद है। इस प्रकार यह सिद्धान्त दोनों व्यतियों का विरोध करता है-न्याय में प्रतिपादित कारए। एवं कार्यका पूर्ण भेद तथा शंकर अन्ता संस्य द्वारा प्रतिपादित कारता एवं कार्यका पूर्ण भेद तथा शकर अथवा कांक्य द्वारा प्रतिपादित उनका पूर्ण अमेद । वे यह तर्क देते हैं कि यदि कार्य का पूर्व अस्तित्व एवं कारण के साथ अभेद होता तो, उस (कारए) का भी अपने कारए में पूर्व अस्तिस्व होगा और इस प्रकार यह कम तबतक चलता रहेगा जबतक कि हम मूल क्यूरण पर नहीं पहुँच आते । अब, चूंकि मूल कारण की कभी उत्पत्ति नहीं होती अथवा विनाश नहीं होता, बतः पट, वट बादि सावारण वस्तुकों की भी कभी उत्पत्ति अववा विनाश नहीं हो सकता या तथा- भात्मन् जैसी नित्य सत्ताओं में भीर वट जैसी श्रनित्य सत्ताओं में कोई अंतर नहीं हो सकता था एव कार गुता-सम्बंधी व्यापार भी निरर्थक होते। इसके श्रतिरिक्त, यदि कार्य (यथा पट) का कारए। (यथा तंतु) में पूर्व श्रस्तित्व हो तो वह इष्टिगोचर होना चाहिये। यदि किसी इष्टिगोचर न होने वाली वस्तुका मस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो लर-विषास का अस्तित्व भी स्वीकार करना पढेगा। यदि कार्य (यथा पट) का पूर्व अस्तित्व होता तो उसको सभी उत्पन्न नहीं किया जा सकता था, पुन:, कार्य का कारता से बहुत भेद होता है, क्योंकि कार्य के नच्ट होरे पर भी कारए। शेव रहता है, कारए। अनेक होते हैं, पर कार्य एक होता है तथा दोनों की उपयोगिता भामास बादि में भी बहुत बन्तर होता है। कमी-कभी यह भाग्रह किया जाता है कि कार्यकी उत्पत्ति का धर्य उसकी व्यक्ति (व्यक्ति) है ग्रीर उसके विनाश का अर्थ उसकी 'प्रव्यक्ति' है। तब इस 'व्यक्ति' एवं 'प्रव्यक्ति' का सर्थ होगा प्रत्यक्षीकरस (उपलब्धि) और अप्रत्यक्षीकरस (अनुपलब्धि)। इसका तारपर्य यह होगा कि जो वस्तु एक समय विशेष में प्रत्यक्ष की बाती है वह उसी समय उत्पन्न की जाती है। यदि कार्य का पूर्व प्रस्तित्व या तो उसकी उस समय प्रत्यक्ष क्यों नही किया गया था ? यदि प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति का बाबास होने पर उसका अस्तित्व धनिवार्य हो तो उस दशा में यह पूछा जा सकता है कि क्या कार्य के धामास से पूर्व उसकी 'मिनव्यक्ति' का भी सस्तित्व या? यदि हाँ, तो वह उस समय इव्टिगोचर होनी बाहिये थी, यदि उस अभिज्यक्ति के लिये भी अन्य अभिज्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है तथा उसके सिये भन्य की, तो भनवस्था-दोव हो जाता है। जयतीय द्वारा मान्य कारहाता के प्रत्यय का इध्टिकोहा यह है कि यदि उत्पत्ति के कारहा का प्रस्तित्व

प्रुत्तत्वाज्ञानेऽपि तत्संस्थान-विशेषत्व-रूप घटत्वा-ज्ञानेन घटस्तत्वतो न ज्ञाता इति
 व्यवहारात् । —'तात्पर्य-चित्रका' पु० ८७१ ।

है तो उत्पत्ति होती है और यदि विनास के यवेष्ट कारण का सस्तित्व है तो उत्पत्ति होती है तथा यदि विनास के यवेष्ट कारण का सस्तित्व है तो विनास होता है। एक 'सर-विवास' की उत्पत्ति नहीं होती है क्योंकि उसकी उत्पत्ति का यवेष्ट कारण नहीं है तथा 'सास्यन्' का विनास नहीं होता क्योंकि उसके विनास का मी यवेष्ट कारण नहीं है।'

शंकर का सातवां प्रविकरण (सूत्र २१-२३) : इस वापित का उत्तर इस प्रकार देता है कि यदि ब्रह्मन् भीर 'जीव' में अभेद है तो यह बात विचित्र है कि ब्रह्मन् स्वयं को जरा-मरए बादि के वशीभूत करे सबवा स्वयं को इस शरीर के कारागृह में बन्दी बनाये। इस बापत्ति के उत्तर में यह निर्देश किया गया है कि सच्टा बीर जीव एक समान नहीं हैं क्योंकि पश्वादुक्त ग्रज्ञान के कारण केवल सीपाधिक अस्तित्व का प्रति-निभित्व करते हैं, बत: एक ही बहान के बस्तित्व के दो रूप हैं-बहान एवं 'जीव' । मध्य के बनुसार इस ब्रधिकरण का बनिप्राय ईश्वर के अब्ट होने के पक्ष में तथा स्वयं जीवों को लब्टा मानने वाले मत के विषक्ष में विवेचन का उपक्रम करना है। उनके भनुसार यह ग्रविकरण 'सूत्रों' २१-२६ से निर्मित हैं, किन्तु शकर के धनुसार वह 'सूत्रों' २४ व २५ से निर्मित है, जिनका उनके मत में यह बर्ब है कि विविध शक्तियों के बस्तित्व के कारण यह सम्भव है कि एक बह्मन से बनेकात्मक सृष्टि उत्पन्न हो। पुनः शंकर के अनुसार 'भूत्र' २६-२८ से नवें अधिकरण का निर्माण होता है जिसका आशय यह स्थापित करना है कि शरीर-रहित ब्रह्मन से इस जगत की उत्पत्ति सम्मव है। मध्य के लिये बाठवाँ ब्रधिकरण उनकी गणना के बनुसार २८ वें 'सूत्र' से ब्रारम्म होता है और ३२ वें तक विस्तृत । मध्य के अनुसार इस अधिकरए। का उद्देश्य विष्णु के सर्व-सध्टारन के विरोध में दी गई युक्तियों का खण्डन करना है। इस प्रकार वह इस भापत्ति का लण्डन करता है कि यदि ब्रह्मन् बिना किसी उपकरण के सृष्टि-रचना करता तो एक तिनके भादि की रचना मे उसका सम्पूर्ण भस्तित्व अन्तर्पस्त हो जाता । ईश्वर में विविध प्रकार की शक्तियाँ होने के कारण सब कुछ सम्भव है। शंकर के अनुसार 'सूत्र' ३०-३१ से दसवां अधिकरण बनता है और वे यह स्थापित करते हैं कि बह्मन् में सर्वे शक्तियाँ है तथा वह इन्द्रियों की सहायता के बिना प्रत्येक कार्य को सम्पन्न कर सकता है। 'सूत्रों' ३३ व ३४ (शंकर की गराना के अनुसार ३२ और ३३) से एक नवीन प्रधिकरण बनता है जो यह स्थापित करता है कि यदापि उसकी (ब्रह्मन् की) समस्त कामनाएँ पूर्ण हैं तथापि वह सर्व प्राशियों के कल्याण के हेतु केवल लीला ही सीला में इस जगत की सृष्टि करता है। इस ग्रधिकरण की शंकर द्वारा दी गई

यस्य व विनाश-कारएं विद्यते तत् सदापि निरुध्यते, न च खर-विषाएं जन्मनि
 भारम विनाशे वा कारणमस्ति इति तथोर्जनन-विनाशाभावः ।

द्वितीय मान के द्वितीय बच्चाय में, जो बारतीय चितन के बन्य सम्प्रदायों के सबंक के लिये प्रयुक्त हुमा है, मध्य भीर संकर बहुत सीमा तक सहस्त है। केवल बारहवे अधिकरण के सम्बन्ध में कोई यद्यार्थ मतनेय उत्पन्न होता है, जिसकी सकर मानवत-सम्प्रदाय करते हैं। मध्य और उनके अनुवायी 'पचराव' की प्रामाणकता को न्यायोचित ठहराने का प्रयास करते हैं तथा तवनुसार इस प्रक्रियण की व्यास्था करते हैं, पर संकर उचकी मागवत-सम्प्रदाय के सम्बन्ध कर के स्थान के स्थान्या करते हैं।

द्वितं।य भाग का तीसरा बच्याय एक ऐसे बिधकरण से प्रारम्य होता है जिसमे 'प्राकाश' की उत्पत्ति की सम्भावना के सम्बन्ध में विवेचन धारम्म किया गया है. क्योंकि इस विषय पर उपनिपद-पाठों के दो विरोधी समृह उपलब्ध हैं। मध्य के अनुयायी दो प्रकार के 'बाकाश' में विभेद करते हैं. विश्व शुन्य के रूप में 'बाकाश' तथा तत्व के रूप में 'धाकाश' उनके धनुसार उपनिषद पाठों में केवल पश्चादक्त की ही उत्पत्ति का उल्लेख है, पर पूर्वोक्त का नित्य के रूप में वर्गान किया गया है। इसरे, तीसरे, चौथे, पांचवे एवं छठे ग्रधिकरणों का सम्बन्ध 'वाय्', 'सत्' ग्रथवा ब्रह्मन, ग्रान्न एव पृथ्वी की उत्पत्ति से है तथा यह माना गया है कि केवल बहान ही उत्पत्ति-रहित है भौर प्रत्य प्रत्येक वस्तु उससे उत्पन्न हुई है। ये प्रधिकरण मध्व धौर शंकर में प्राय: एक समान ही है। सातवा अधिकरण मध्य के अनुसार यह स्थापित करता है कि विष्णु न केवल जगत का सच्टा है वरन उसका सहारक भी है। किन्तु शंकर के भनुसार इस अधिकरण का कथन यह है कि तत्वों की कमिक उत्पत्ति स्वय उनकी उत्पादन शक्ति के कारण नहीं होती, बल्कि स्वयं ईश्वर की उत्पादन शक्ति के कारण होती है। बाठवाँ बाधकरण यह मानता है कि तत्वों का विनाश जिस कम से उनकी उत्पत्ति हुई थी उसके प्रतिलोभ कम में घटित होता है। मध्य इस ग्राधिकरण का यही ग्रर्थ स्वीकार करते हैं। नवाँ ग्रविकरण मध्य के ग्रनसार यह विवेचन करता है कि क्या यह सत्य है कि विनाश के सब उदाहरण उनकी उत्पत्ति के प्रतिसोम कम में षटित होने चाहियें तथा इसका स्वीकारात्मक निर्शय दिया जाता है, एक यह धापत्ति कि चूँकि 'विज्ञान' की उत्पत्ति 'मनस्' से होती है और फिर भी पश्चादुक्त का विनाश पहले होता है, इसलिये इन दोनों का प्रपवाद मानना चाहिये सही नहीं है, क्योंकि बास्तव में 'विज्ञान' की उत्पत्ति 'मनस्' से नहीं होती । 'मनस्' के पवार्य और 'मन्त:-करण ' के रूप में दो मर्च होते हैं तथा 'विकान' सन्द के मर्च भी 'पदार्च' एवं 'सवबोध' होते हैं। जहां 'विकान' की 'मनस्' से उत्पत्ति बताई गई है वहां उसका केवल सामान्य दंग से 'प्रवबोध' के प्रयं में प्रयोग किया गया है जिसकी 'श्रालीचन' से उत्पत्ति होती है, किन्तु शंकर घपनी व्याख्या में इस ग्रधिकरण को केवल १६ वें 'सूत्र' से निर्मित मानते हैं (जबकि मध्व इस ग्रधिकरल में १५ वें भीर १६ वें 'सूत्रीं' का समावेश करते हैं) भौर कहते हैं कि इन्द्रिय-शक्तियों की उत्पत्ति से तत्वों के उत्पत्ति-कम में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। मध्य के दसवें अधिकरण सर्थात १७ वें 'सूत्र' के घनुसार यह माना गया है कि विष्णु का कोई विनाश सम्मव नहीं है। शंकर के अनुसार यह अधिकरण अर्थात् १६ वां 'सूत्र' यह स्वापित करता है कि जन्म एवं मृत्युका कथन केवल शरीर के लिये किया जा सकता है ब्रात्मन के लिये नहीं। ग्यारहवें प्रधिकरण (संकर के प्रनुसार १७ वां 'सूत्र') का वर्ष यही है कि 'जीव' का जन्म केवल एक विशेष अर्थ में ही सत्य है, क्योंकि वस्तुत: 'बीव' का न जन्म होता है बीर न मरण होता है। १० वें और १६ वें 'सूत्रों' से निर्मित व्यारहवां अधिकरण मध्व के अनुसार यह मत प्रस्तुत करता है कि सभी जीवो की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है। मब्ब के बनुसार बारहवा ब्रधिकरए। ('सूत्र' २०-२७) 'जीवों' के माप का विवेचन करता है। उनके अनुसार इस अधिकरण के मत में जीव आकार में परमाण-वीय है और सर्वश्यापि नही है। एक स्थान में रहकर भी वह सम्पूर्ण शरीर को मनुप्राणित कर सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक दीपक सपने गुरा प्रकाश के द्वारा एक कमरे को प्रकाशित कर सकता है, क्योंकि एक द्रव्य प्रपत्ने गुरा के कारण परिव्याप्त हो सकता है। मध्य के अनुसार तेरहवां अधिकरए। (२७ वां 'सूत्र') जीवों की भनेकता का कथन करता है। चौदहवां श्रधिकरता ('सूत्र' २८-२६) यह प्रदर्शित करता है कि ब्रह्मन् भौर 'जीव' में मेव है। मध्य का पन्द्रहवां प्रधिकरण यह बताता है कि यद्यपि जीव ईश्वर से उत्पन्न होते हैं तथापि उनका विनाश नहीं होता । जीव बहान के प्रतिबिम्ब के सदश हैं, ग्रतएव वे तब तक स्थित रहने चाहियें जब तक ब्रह्मन् स्थित है और इसलिये वे नित्य होने चाहियें। जिन 'उपाधियों' के द्वारा ये प्रतिबिम्ब सम्भव होते हैं वे दो प्रकार की होती हैं, 'बाह्य' तथा 'स्वरूप'। 'बाह्य' उपाधि का

<sup>ै</sup> जीवतीर्थ द्वारा यहाँ प्रकाश के स्वरूप के सम्बन्ध में एक विवाद साड़ा किया जाता है भौर यह निष्यय किया जाता है कि प्रकाश एक गुरा के स्वरूप का है न कि द्वस्य के स्वरूप का।

विनाश हो जाता है, किन्तू स्वरूप उपाधि का नाश नहीं होता ।" इस प्रकार जीवो का बहुत्त् से एक साथ ही ऐक्य भी है और भिन्नता भी है, वे बपने अस्तित्व के लिये ईश्वर पर निर्मर करते हैं तथा स्वरूप में उसके समान हैं। सीसहवां स्विकरण जीवों के चित् एवं विश्वद्ध बानन्द स्वरूप की स्थापना करने का प्रयास करता है, किन्तु वे गुल केवल मोक्ष की सवस्था में ही ईश्वर के प्रसाद से अपनी पूर्णता में अभिव्यक्त होते हैं तथा हमारी साधारण धवस्थाओं में वे मानों 'धविद्या' से बाच्छादित रहते हैं। समझवां अधिकरणा 'जीव' के कार्य की स्वतंत्रता एवं ईदवर के चरम कर्तत्व में सामंजस्य स्वापित करने का प्रयत्न करता है। ईश्वर ही 'जीवों' से उनके पूर्व 'कर्मों' के अनुसार कार्य करवाता है, जो 'अनादि' हैं। अत: यद्यांप इश्वर ही सब 'जीवों' से उनके समस्त कार्य करवाता है, तथापि वह अपने निर्देशन मे उनके पूर्व 'कर्मी' से सवालित होता है। बठारहवां बधिकरता यह स्थापित करने का प्रयास करता है कि यद्यपि 'जीव' ईश्वर के अंश हैं तथापि वे उसी सर्व में अंश नहीं हैं जिस सर्व में अंश-धवतार, मस्त्य-धवतार बादि हैं, क्योंकि जहाँ पश्चादुक्त 'स्वरूपांश' हैं वहाँ पूर्वोक्त स्वरूपांश नहीं हैं (जीवानामस्वरूपांशत्वम्), क्योंकि यद्यपि वे मंत्र हैं तथापि ईश्वर से मिल हैं। उन्नीसवां अधिकरण वह कहता है कि 'जीव' ईश्वर के प्रतिविम्ब मात्र हैं।

पर संकर के मत में दन 'सुन्नो' से सर्वया भिन्न व्याख्याओं की प्राप्ति होती है। इस प्रकार बारहवां प्रयिक्तरण (जून १०) यह कवन करता है कि सुपुर्ति में भी वेत्तर होता है त्या उत्त सदस्या में बान का समान दस कारण से होता है कि उत्त में कोई ऐसा विषय नहीं होता कि उत्त में मान के प्रकार दस्त करण से हीता है कि उत्त में में वेदिया माना वाद के विषयामानाइ हु। ते तहका प्राप्त किया जा सके विषयामानाइ हो। ते तहका प्रकार (सून १०-२२) उनके मता- जूसार दस प्रवन का विवेचन करता है कि बचा वन पार्ट में वेत्तते हुए जिनमें प्राप्तन के पतायन का कवन किया गया है, हमें प्राप्तन को परमाल्वीय मानना बाहिट प्रवचा क्या जले स्वाप्त के सर्वन्यायकत्व के पक्ष में निर्माण के वेत्तायक मानना चाहिये प्रवचा क्या जले सर्वन्यायकत्व के पक्ष में निर्माण के वेत्तायक मानना चाहिये प्रवचा क्या उत्त सर्वन्यायकत्व के पक्ष में निर्माण के तेते हैं क्योंकि उत्तका बहुन से जासत्व है। चौरहवी प्रविक्त प्रप्त प्रवच्चा करके के उत्तरान्व उत्तक्ष क्या में निर्माण करते हैं उत्तरान्व उत्तक्ष क्या माना व्यक्त में स्वाप्त के उत्तरान्व उत्तक्ष प्रवच्चा कर के स्वाप्त के स्वाप्त के कर्ताल के पत्र में निर्माण करते हैं स्वाप्त वह माना प्रवच्चा कर में विवाप क्षार्य है। चौरहवी विवाद है स्वाप्त करते करता है स्वाप्त कर के स्वाप्त के कर्ताल के पत्र में निर्माण करते हैं स्वाप्त कर के स्वाप्त के कर्ताल के पत्र में निर्माण करते हैं स्वाप्त के कर्ताल के पत्र में निर्माण करते हैं स्वाप्त के कर्ताल के पत्र में निर्मण क्षा है हमीर वह मानत

<sup>&</sup>lt;sup>9</sup> जीबोपाधिद्विधा प्रौक्तः स्वरूपं बाह्यैव च,

बाह्योपाधिर्मयं याति मुक्ताबन्यस्य तुस्यितिः। -'तत्व-प्रकाशिका' पृ० ११६।

एवं जीव-स्वरूपत्वेन मुक्तः पूर्वमपि सतो ज्ञानानन्देन ईश्वर-प्रसादे-नामिब्यक्ति-निमित्तैन सानन्दी भवति, प्रागमिब्यक्तत्वेनानुभवाभावप्रसंगात् ।

है कि 'वृद्धि' एवं इन्द्रियों केवल उपकरत्त एवं उपसाधन है। फिर मी पन्नहर्षे स्विकरत्त ('यूव' ४०) में शकर सात्मन के इस कहुँ व्ह ने वार्थ नहीं वरण सानिव्हर्यों, वृद्धि सादि की उपाधन की उपस्थित में नियम स्थापित करने का प्राथम करते हैं (उपाध-क्यांध्यावेनेव सात्मन: करते हैं (उपाध-क्यांध्यावेनेव सात्मन: कर्तुं वं न स्वामाविकम्)। सोलहर्षे स्विकरत्त ('यूव' ४१-४२) में शकर इस तथ्य को स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं कि हैक्दर स्थाफियों को उनके पूर्व कर्मा के स्वाप्त प्रयान करता है। तपहवां स्वाप्त प्रयान करता है। तपहवां स्वाप्त प्रयान करता है। तपहवां स्वाप्त प्रयान करता है कि जीवों के परस्पर येद सौर जीवों एवं ब्रह्मन् के मेद को केवल प्रतिवन्त्र, प्रवक्तां के परति में स्वाप्त प्रयान करता है। का जीवों के परस्पर येद सौर जीवों एवं ब्रह्मन् के मेद को केवल प्रतिवन्त्र, प्रवक्तांक्षक त्यांधन प्रयाम से केवल क्षा का प्रतिवन्त्र, प्रवक्तांक्ष केवल से क्षा का प्रतिवन्त्र त्यांचे में के एक ही है तथा केवल सीमाकारक उपाधियों की उपस्थित के द्वारा हो उनमें मेद का सामास होता है।

चतुर्व ग्रध्याय के प्रथम माग का पहला अधिकरण शकर एवं मध्य दोनों के अनुसार बह्मन् से 'प्राराों' के उद्गम का वर्शन करता है। " मध्व का दूसरा अधिकरएा जिसमें शकर के पाठ के तीसरे 'सूत्र' का समावेश होता है, ब्रह्मन् से 'मनस्' की उत्पत्ति का विवरण देता है। चौथा 'सूत्र' जिससे मध्य के तीसरे अधिकरण का निर्माण होता है, यह मानता है कि 'वाक्' भी बह्मन् से उत्पन्न होती है, यद्यपि जब 'वाक्' का प्रयोग वेदों के लिये किया जाता है तब हम उसकी नित्यता का कथन सुनते हैं। पाचवें भीर छ ठे 'सूत्र' जिनसे चौथा अधिकरण निर्मित होता है, 'प्राणों' की सख्या के सम्बन्ध में विभिन्न पाठों के बाद्यय का विवेचन करते हैं तथा यह मानते हैं कि वे सख्या में बारह हैं। सातवें 'सूत्र' से निर्मित मध्य का पाचवां प्रधिकरए। इस मत का कथन करता है कि 'प्रारा' स्वरूपतः परमारावीय हैं और सर्वव्यापक नहीं हैं, धतएव उनके बह्यन् से उत्पन्न होने के विचार के प्रति कोई प्रापत्ति नहीं हो सकती। छठे ध्राधिकरए। की निर्मित करने वाले 'सूत्र' = भौर ६ ब्रह्मन् से 'प्रासों' की उत्पत्ति का प्रदर्शन करते हैं। सातवे अधिकरण को निर्मित करने वाले 'सूत्र' १० और ११ यह प्रदर्शित करते हैं कि 'मुख्य प्रारा' भी प्रपनी उत्पत्ति एव स्थिति के लिये बह्मन् पर निर्मर करते हैं। १२वें 'सूत्र' से निर्मित भाठवें अधिकरण में यह माना गया है कि मुख्य 'प्राण्' की 'दृतियाँ' सेवकों के समान हैं, झतः उनके व्यापार भी वास्तव में ब्रह्मन् से व्युत्पन्न होते हैं। १३वें 'सूत्र' से निर्मित नवां अधिकरण 'प्राण्' के 'परमाण्वीय' स्वरूप के लिये दिये गये पाठगत प्रमाएगो की पुनराइति करता है। सूत्रों १४-१६ से निर्मित दसवां अधिकरए। इस मत का कथन करता है कि इन्द्रियाँ ब्रह्मन् के उपकरए। हैं यद्यपि एक

<sup>ै</sup> यह प्रिकरण, शंकर के प्रनुसार केवल 'बार सूत्रों' से निर्मित है, और मध्य के प्रनुसार प्रथम तीन 'यूत्रों' से। इनमें से तीसण 'सूत्र' (श्रविज्ञानुपरोधाच्य) शकर हारा दिये गये 'ब्रह्म-युत्रों' के पाठ में प्रनुपस्थित हैं।

हुरस्य वंग है वे 'जीव' के भी उपकरण मानी जा सकती हैं। १७वें से ११वें सूत्रों हारा निर्मित ग्यारह्वा घषिकरण इस मत का स्वय करता है कि तेरहवें प्रवा 'मुख्य प्राय' के खरितरक स्वय सब बारह 'प्राय' हिन्दा ही हैं। इनमें तथा 'मुख्य प्राय' में सन्तर यह है कि इन सन्य प्राणो का कार्य यदिष पुस्थतया बहान् पर निर्मन करता है तथापि वह 'जीव' के प्रमत्न की भी सपेक्षा रखता है (इंक्यर-प्रवक्षा हि इन्द्रियाएं) प्रवृत्तित् वीक-प्रयायोचिक), किन्तु 'मुख्य प्राण' का व्यापार किसी मां प्रकार से जीवों के प्रमत्न की सपेक्षा नहीं रखता (मुख्यप्रायएस प्रवृत्तित् न पुष्क-प्रयत्नाचेक्षया। बारहृत्वं स्विकरण (२०वा' पुत्र') वह प्रविक्त करता है कि हमारे सब सारीरो की खुद्धित भी बहुग् से होती है। धंतिम स्विकरण इस मत का प्रतिपादन करता है कि हमारे सारी एक तत्व से नहीं बहिक पांच तत्वों के निर्मत है।

परन्तु शंकर के बनुसार इस अध्याय को नौ अधिकरेंगों में विमक्त करना चाहिये जिसमें से प्रथम का विवरण पहले ही दिया जा चुका है। दूसरे ग्रधिकरण सूत्र (५-६) का यह मत है कि इन्द्रियाँ ग्यारह हैं न कि सात, जैसाकि सात 'प्राएगे' की सादृहयता के भाधार पर कुछ विद्वान मानते हैं। तीसरे भधिकरए। (७वें 'सूत्र') का कथन है कि इन्द्रियों सर्थ-ज्यापक नहीं हैं, जैसाकि सांख्य के धनुयायी मानते हैं, किन्तु परमास्त्रवीय स्वरूप की हैं। • चौथे ग्रधिकरस् (दवें 'सूत्र') का कथन है कि ग्रन्थ किसी भी 'प्रारा' की माँति 'मुख्य प्रारा' ब्रह्मन् का विकार है। पाचवें स्रधिकररा (सत्र १-१२) का कथन है कि 'प्रारा' केवल 'वायू' नहीं है बस्कि उसका पाच एकार का ग्रारमगत विकार है और उसके सामान्य कार्य-व्यापार की व्याख्या पृथक्-पृथक् 'प्राग्गो' के व्यक्तिगत कार्यों के उल्लेख द्वारा उचित रूप से वैसे नहीं की जा सकती जैसे एक पिजरे की गति की व्यास्था उसमे बन्द पक्षियों के सम्मिलित प्रयत्न के आधार पर की जा सकती है, क्यों कि 'प्रार्गा' के कार्य किसी मी प्रकार से सम्मिलित प्रतीत नहीं होते। जिस प्रकार इच्छा, कल्पना भादि मनस् की पांच भवस्थाएं होती हैं, उसी प्रकार पांच 'प्रारा' मुख्य 'प्रारा' के विकार मात्र हैं। छठे ग्रधिकररा (१३वें 'सूत्र') का कथन है कि यह मुख्य 'प्राग्' स्वरूप ने परमाग् वीय है। सातवें अधिकरग् ('सूत्र' १४-१६) का कथन है कि प्रार्गों के कार्य-व्यापार में उनकी सध्यक्षता कतिपय देवता को द्वारा की जाती है, और फिर भी वे जीवो के उपसोग के लिये ही होते हैं। बाठवें बिकरएा ('सूत्र' १७-१६) का कथन है कि इन्द्रियाँ (कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ) मुख्य 'प्रार्ग' के विभिन्न 'तत्वान्तर' है। नवे अधिकरण (सूत्र २०-२२) का कथन है कि 'जीव' स्रप्टा नहीं है, स्रप्टा तो ईश्वर ही है।

#### अध्याय १७

# मध्व-दर्शन की एक व्यापक समीक्षा

## तत्व-मीर्मासा

सम्ब का दर्शन का सभी बारएगाओं को स्वीकार करता है, सर्थात्, त्रव्य, गुए, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, स्वीं, सांक, साहद्य बीर समान ! " प्रव्य की सिरमावा विश्व कर में की बाती है। ' एक 'प्रस्थ परिष्याम एवं 'प्रिम्मिक्टिक प्रवा हा दोनों की हॉन्ट से उपादान कारण होता है। इस प्रकार कारत तो परिष्याम के सबीन है, जबकि देश्वर स्वयवा बीवों की केवन समिन्यक्ति हो सकती है, कि सबन के स्वा किया सकते हैं, किन्तु उनका कोई परिष्यामी परिवर्तन नहीं हो चकता करते, प्रविचा के सम्बन्ध में महत्त्व करता है। इस प्रकार के स्वा कि कर स्वा कि स्व कर से प्रकार की स्वा कर से प्रवा कि स्व कर से प्राची परिवर्तन में होते हैं भीर वह समिन्यक्ति का विषय भी बनती हैं। इस्प बीच कहे

ईश्वरः प्रकृतिजींको कहं केति चतुष्टयम् पदार्थाना सम्मिधानात तत्रेथो विष्णुरुष्यते ।

किन्तु मध्व-दर्शन का वर्तमान विभावन, जिसमें दस पदार्थ स्वीकार किये गये हैं, इससिय किया गया है कि वैशेषिक एवं श्रन्य मतों ने इसी प्रकार के विभाजन एवं वर्गीकरण का प्रयोग किया है।

"प्रच्या' की एक धन्य परिमाचा जी दी गई है जब 'जायवत तालयं' के द्वितीय लच्छ में उसे एक प्रतियोशिता की बौड़ के विषय के रूप में परिचाधित क्यिया नया है तथा उसका उन्लेख 'मण्य-सिद्धानत-सार' में भी किया गया है। इस प्रकार यह कहा गया है 'द्रच्या दु दवस्-प्राप्यं द्वयोविववसानयोः पूर्व नेवाभिसम्बन्धाराकासस्तु प्रदेशतः।'

किन्तु इस परिमाया की साथे विस्तृत व्याख्या नहीं की यह प्रतीत होती है। इस काल्पनिक व्युप्पत्यात्मक सर्व में कोई दार्शनिक भावार्थ डूंडना-कदापि न्याय-सगत नहीं है।

<sup>&</sup>quot;त्तर्य-संस्थान्" (पृ० १०) में कहा गया है कि 'तस्य' वो प्रकार का होता है, 'स्वतंत्र' और 'सस्वतंत्र,'। अत्यत्र 'आध्य' में कहा गया है कि 'यदार्थ' चार होते हैं, सर्थात् ईश्वर, 'प्रकृति,' 'जीव,' और 'यह':

काते हैं, सम्बंत, परमात्मन, सक्सी, जीव, सन्वाकृतकास, प्रकृति, तीन गुल, महत्, सहंकार, बुद्धि, मनस्, इत्तिय, भूत, मात्र, सविद्या, वर्ले, संघकार, वासना, काल एवं प्रतिक्रस्य ।

नध्य के गुरा स्वरूप में बैसे ही है बैसेकि बैधिविकों के गुरा, रिश्तु उनमें सम, इया, तिरिक्षा, सन, सम, तक्या, माम्मीयं, सीन्दर्ग, सीर्य, सीर्य, सीर्य मासि मानसिक पूर्णों का समावेश समिद्रार्थ माना गया है, स्वरूप नुराते में न केवल कंहरिवासी सीक्य के चौबीस गूर्णों का समावेश होता है गरए सनेक सम्य गूर्णों का भी।

'कमं' वे हैं जो प्रत्यक बघवा ध्रारणक रूप से पुष्प' घड़वा 'पाप' की ब्रोर के जाते हैं। कोई मी कमं नैतिक हॉप्ट से पूर्णत: उपाणीन नहीं होते, उम्मीपुत्वी गति सारि जिन कमों को हम 'उपाणीन कमं' मान सकते हैं वे जी अप्रत्यक्ष रूप से पुष्प ध्यावा पान के कारण होते हैं। 'कमों' का सामान्यत: तीन कमों में विमाजन किया जाता है-'विहत' धर्यात् वतक ब्रारा व्यविष्ट, निषिद्ध, धर्यात् उसके ब्रारा विजत तथा 'उपाणीन' धर्मात् उसके ब्रारा धर्मात्यत्र, निषद्ध, कर्यात् उसके ब्रारा विजत तथा 'उपाणीन धर्मात् उसके प्रत्या धर्मात्य के होते हैं तथा परिष्यन्त केवत पांच प्रकार का ही नहीं होता, जैसाकि वैशिषक मानते हैं, प्रियु क्षेक प्रत्य प्रकार का भी होता है।' ईस्वर में विख्यान सुचिद, प्रवय प्रवार के कर्म निरस्य होते हैं धर्मार उसके स्वरूपनु होते हैं (स्वरूपनुता:), उसमें पुष्टि प्रीर प्रवय के विरोधी कर्म सिंदय तह सकते हैं, पर वार्त यह है कि जब एक व्यक्त रूप में होत व हुएरा धर्म्यक रूप से रहे।' धनित्य वस्तु में सिंदत कर्म स्वरूप साम्यक रूप से होते व सुपरा धर्म्यक रूप पर स्वरूपने पर साम्यक हमें सिंद जनक स्वरूपने साम सकता है।

सागामी प्रदन प्राता है 'जाति' स्वयंत सामान्य प्रत्ययों के सन्बन्ध में, जिन्हें न्याय-वैधीयक एक घोर नित्य मानते हैं। मध्व-स्टप्यदाव में इनको केवल 'जीवों' के समान नित्य प्रत्यों में ही नित्य नागा बाता है, किन्तु सनित्य हत्यों में उनको नायवान माना बता है तथा जिन व्यक्तियों में वे दिवस होते हैं उन तक ही विधिष्ट रूप से परिसीमित माने बाते हैं। नायवान व्यक्तियों में ऐसे कोई जाति-प्रत्यय नहीं

पहाँ सहितवादी वैवेषिक मत का वर्णन किया गया है जिसके धनुसार कमें पांच प्रकार का होता है, यह माना नया है कि वह वैवेषिक मत जिसके धनुसार साधारस्य सरलरेखीय गति (गमन) से इतीय गति (अनस्य) धणवा झन्य प्रकार की गतियों की प्राप्ति की जा सकती है धायत्तिवनक है, क्योंकि इतीय गति सरलरेखीय गति की उपजाति नहीं है, सत्युव 'कमें' का पांच वर्गों में किया गया वैवेषिक वर्गीकरस्य भी धपयित माना गया है।

<sup>ै</sup> मुध्टि-काले मुख्टि-किया व्यक्त्यात्मना वर्तते, धन्यदा तु शक्त्यात्मना एवं संहार-कियापि । — 'मध्व-सिद्धान्त-सार,' 9० ४ ।

होते जो उन व्यक्तियों के नष्ट हो जाने के पश्चात् भी शेष रहते हैं। इस मत के विरोध में एक यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि स्वायी जाति-प्रत्ययों के अस्तित्व को स्वीकार न किया जाय तो 'ब्याप्ति' का निरूपण करना झसम्मव हो जायगा झौर फलत: बनुमान मी बसम्भव होगा। मध्य की बोर से यह उत्तर दिया जाता है कि अनुमान 'साहरय' के आधार पर सम्भव होता है तथा उसके निये नित्य जाति-प्रत्ययों की स्वीकृति भावश्यक नहीं है भीर यही बात शब्दों के अर्थ के निरूपए। के सम्बन्ध में भी लागू होती है। जब कुछ विषयों को एक विशेष नाम से सम्बोधित किया जाता है तो उस नाम के द्वारा उन भन्य वस्तुओं को भी संबोधित किया जा सकता है जो उस नाम से मूलतः सम्बंधित पूर्व विषयो से सत्यधिक साम्य रखती हों। 'जाति' (सामान्य-प्रत्यय) एवं 'उपाधि' (सीमित करने वाली प्रवस्था) मे भी यह प्रन्तर बताया जाता है कि पदवादुक्त तो वह है जो घरने निरूपण के लिये किसी घन्य प्रमुख प्रत्यय के निरूपण पर निर्भर करती है, जबकि पूर्वोक्त वह है जिसका निरूपण अपरोक्ष होता है तथा किसी अन्य प्रत्यय के निरूपशापर निर्मर नही करता। र उदाहरलार्य, नाय का सामान्य प्रत्यय (गोत्व) तत्काल एव अपरोक्ष रूप में ज्ञात किया जाता है, किन्तु 'प्रमेयस्व' का सामान्य-प्रत्यय केवल उन वस्तुक्यों के पूर्व ज्ञान के द्वारा ही जात किया जा सकता है जो प्रमा के विषय हैं। इसलिये प्रमेयत्व का सामान्य-प्रस्पय 'उपाधि' कहा जाता है सौर पूर्वोक्त 'जाति' कहा जाता है। स्रागे यह स्रापत्ति उठाई जाती है कि यदि एक जाति के सर्वव्यक्तियों में एक ही समय मे विद्यमान एक नित्य सामान्य प्रत्यय के विरोध में भापत्ति की जाय, तो यही भापत्ति साहस्य की स्वीकृति के विरोध में भी उठाई जा सकती है जो एक ही समय में अनेक व्यक्तियों मे स्थित माना जाना चाहिये। इसके उत्तर में यह कहा गया है कि मध्व-दर्शन में दो भ्रथवा देतीन व्यक्तियों के मध्व में सादृश्य का सम्बंध उस प्रकार से सम्बंधित भ्रनेक व्यक्तियों में एक समानतः स्थित माना जाता है, किन्तु उनमें से किसी एक व्यक्ति में पूर्णंत: स्थित नही माना जाता । जब दो अथवा तीन समरूप कहे जाने वाले पदो का शस्तित्व होता है तब सादृष्य का सम्बन्ध एक इ्यकीय श्रथवा त्र्यकीय सम्बध के समान

भतुगत-यमं विनापि बादशेन सबंज क्याप्वारियहसम्भवावन पूपः एतत्वदशस् च वाह्न-वाप्य इत्य एवं-क्रमेश व्याति-महः 'एकस्य धर्मो के प्राधार के विना भी 'व्याति' का निक्षण साहस्य के शाचार पर सम्मव है; यथा, यह पूछ है प्रीर उसके सदय बस्तुएं वाह्न के सार्वारत है, प्रादि।'

<sup>-</sup>मध्व-सिद्धान्त-सार, पृ०६।

 <sup>&#</sup>x27;इतर निरूपणाभीन-निरूपणकत्वमुपाभि-लक्षणम्' तथा 'भ्रम्य-निरूपणाधीन-निरूपणालं जातित्वम् ।

होता है जो उन परस्पर झाथित पदों के मध्य नर्तमान रहता है \* बत: घनेक पदों के सम्भ का सारदय-सम्बन्ध एक नहीं होता तरन् एक धपना दूसरे पर के हप्यिकीश के बनुसार मनेक होता है। व का व के साथ सादश्य व का घ के साथ सादश्य से मिश्र होता है (मिश्रमिल्स सादश्यन् रित पिंडन्)।\*

**बाब** हम मध्य सम्प्रदाय के 'विशेष' के सिद्धान्तों को लेते हैं। वह मानता है कि प्रत्येक ब्रब्य उसमें पाए जाने वाले प्रत्येक गुरा से सम्बन्धित असंस्य विशेषों से निर्मित 🚜 होता है। इस प्रकार जब गुगों और उनके द्रव्यों के सम्बन्ध के प्रति प्रका खड़ा होता है, यथा, घट से रग मादि का सम्बन्ध, तब यदि कोई गृक्ष द्रव्य से एक रूप होता तो उस गुल के विनाश का अर्थ होता द्रव्य का विनाश तथा द्रव्य एवं गुल का निर्देश करने बाले सब्द पर्यायवाची होते, किन्तु ऐसा नहीं है, साथ ही साथ यह कठिनाई भी इसी मान्यता के बाबार पर हुल की जा सकती है कि प्रत्येक गुरा के बावय के बनुरूप विशिष्ट 'विशेष' होते हैं। 'विशेषो' एव उनके द्रव्य के यथातय सम्बध के प्रति मतभेद हैं-कुछ के अनुसार उनका द्रव्य के साथ 'अभेद' होता है, कुछ के अनुसार 'भेद' होता है और कुछ के मत में 'भेद' और 'सभेद' दोनो होते हैं (भेदाभेद)। गुराो एवं द्रव्य के सबध के प्रति चाहे कोई भी यत स्वीकार किया जाय, विरोध से बचने के लिये 'विशेष' के सिद्धान्त को स्वीकार करना पडेगा। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में जितने हथ्टिकालो प्रथवा गुलों की व्यास्था करना धमीच्ट होता है उनके धनुरूप अगीलत 'विशेष' होते हैं, किन्तु प्रत्येक 'विशेष' के लिये आगे और 'विशेष' नहीं होते, क्योंकि ऐसा मानने से धनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। ईश्वर के विविध बाह्य गूरों की सतोषजनक व्याख्या करने के लिये उसमे नित्य 'विशेषो' को स्वीकार करना अनिवास है। विमुनित्य 'ब्राकाश' के साथ घट ब्रादि सान्त विषयों के सयोग की सम्भावना की व्याख्या करने के लिये 'प्राकाश' में विशेषों के ग्रस्तित्व को स्वीकार करना भाव-इसक है। उपयुक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'विशेषों' की स्वीकृति केवल उन धवस्थाओं में भावश्यक होती है जहाँ दो सत्ताक्षो, यथा, इञ्च और गुर्गों भादि के ग्रमेद ग्रीर भेद की व्याख्या ग्रन्यचा सर्ताचलनक ढंग से नहीं की जा सकती। इन भवस्यामों के लिये 'विशेषो' का सिद्धान्त कुछ ऐसे कल्पित विशेषों भवता भवयवी की प्रस्तावित करता है जिनके उल्लेख से सम्पूर्ण द्रव्य का उल्लेख किये विना गुरा के संयोग की व्याख्या की जा सके। किन्तु यह बात परमाश्युक्षों में 'विशेष' के झस्तित्व के

एक-निकपितापराधीकरएा-इत्तित्वेन त्रि-विकम-स्थायेन तत्स्वीकारात्, प्रतियोगित्वानु-योगित्वादिवत् । —बही, पृ० ६ ।

मतो गगलादि-विमु-हब्यस्य घटादिना सयोग तदभावोभय-निर्वाहको विशेषोऽनन्य-गरमा स्वीकरस्तियः । —वही, पु० ६ ।

सम्बन्ध में लागू नहीं होती, क्योंकि परमाणुषों में घरववों की सता स्वीकार की वा सकती है, तथा कियी 'विशेष' की मानवा के दिला भी उनके स्वय परमाणुषों के साथ संयोग की सरततापूर्वक व्याच्या की वा सकती है। कियी सन्य वस्तु की ठुकता में एक परमाणु लागुतक इकाई माना वा सकता है, किन्तु यह कोई कारण नहीं है कि वर् स्वयं प्रप्ते प्रययमां की प्रपेशा महत्तर स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये। यदि परमाणुषों के प्रययम नहीं होते तो उनका दसों घोर से परस्पर संगठन सम्भव नहीं होता।' इसिलिये परमाणुषों में 'विशेष' को स्वीकार करते वाले वैशेषिक मत को स्वयुक्त करना पढ़ेगा। यहाँ यह स्मरण रकता समीचीन होगा कि वैशेषिक के प्रमुवार एक ही 'मूल' के परमाणुषों में तथा जोवों में भी ऐसे विशिष्ट प्रन्तर होते हैं कि उनका योगियों बारा एक दूसरे से विभेषीकरण किया वा सकता है। स्वयं परमाणुषों में स्थित इन घंतिम मेदों को क्याद सम्बद्धा के विश्वारक 'विशेष' की सन्ना देते हैं। 'विशेष' की यह सम्बपारणा यौर उसकी उपयोगिता मध्य-सम्प्रदाय में पाई जाने बारी विशेष' की यह सम्बपारणा यौर उसकी उपयोगिता मध्य-सम्प्रदाय में

न्याय-वैवेषिक सम्प्रदाय में स्वीकृत 'समवाय' ना सम्बंध मध्य-सम्प्रदाय द्वारा प्राय: उन्हीं कारणों से धरवीकृत किया जाता है जिनके शाबार पर 'जहा-पूनी' पर लिखित शकर के 'आध्य' में उसकी अस्वीकृत किया पया है। 'न्याय-वैशेषिक का मत है कि कार्य में कारण की तथा इक्ष्म में मुणों की धर्मिक्यफि स्पटत: एक सम्बच्च के स्वक्ष्य की होती है और चूंकि यह सम्बच्च 'संयोग' का सबय नही होता उसलिये वह एक पूचक सम्बच्च प्रवाद 'प्राय (प्राय (प्रताद कर्मुव) प्रताद सम्बच्च होना वाहिये। किन्तु इणी प्रकार स्वय' समावाय' (यदा, 'इह तन्तुषु पटसमावाय') वाव में भी किली धर्म्य वस्तु में किसी सबय में दिनम असीत हो सकता है, अतएव उसको सम्बच्धित करने के विश्वे प्रस्य सम्बच्चो की धानवस्वका पद सकती है। यदि ऐसे धरम्य सम्बच्चो की ओगी के बिना भी समबाय का सम्बच्च उसी रूप में सम्बच्चित हो सकता है जिस रूप में एक पूरा भी दब्ध वर्षयों की श्रेगि के सम्बच्चित हो सकता है जिस रूप में एक पूरा भी दब्ध वर्षयों की श्रेगि के सम्बच्चित हो सकता है जिस रूप संप्रकार सम्बच्च के स्वय देखा की श्रेगि के सम्बच्चित हो सकता है हिस स्वयं संविविद्य के पूर्ण एक दुब्य की पूर्ण एक दब्य तथा तथा है। इस प्रकार हमें सम्बच्चित हो सम्बच्च से पूर्ण एक दुब्य की पूर्ण एक दुब्य तथा उसके दरस्य सम्बच्य से पूर्ण हमें सम्बच्य सम्बच्य प्रवाद की स्वय स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं साव स्वयं से पूर्ण हमें सम्बच्या स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं से पूर्ण हमें सम्बच्य स्वयं स्वयं स्वयं से पूर्ण हमें सम्बच्य सम्बच्ये स्वयं स्वयं से पूर्ण हमें सम्बच्ये स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं से पूर्ण हमें सम्बच्ये स्वयं स्वयं स्वयं से पूर्ण हमें सम्बच्ये स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं से स्वयं स

भ्रत्यापेक्षया परमागुर्वेऽपि न्वावयापेक्षया महत्वोपपत्तः । कि च परमागोरवयवान-गीकारे तस्य दशदिक्वमिसम्बन्धो न स्यातः । —मध्य-सिद्धान्त-सार, पृ० १०।

प्रस्मद्-वितिष्टाना योगिना निर्लेषु तुत्वाकृति गुरा-क्रियेषु परमाणुषु मुकारमधु च प्रत्य निमित्ता सम्मचाखेच्यो निमित्तेस्यः प्रत्याचारं विलक्षणोऽत्य इति विवस्तरोऽत्य प्रत्यय-व्याइतिः देख-काल-विवकृषे च परमाणु त एवायगिति प्रत्यमित्रानं च मर्वात ते प्रत्या विवेषाः । — प्रश्वस्त्याध-माण्य, ५० ३११-२२ ।

रूप में स्वीकार करना पड़ता है। इसी कारल 'श्रंशी' सन्बन्धो या श्रक्षों झयवा दोनो से मिन्न एक पूबक् पदार्थमाना गया है।

एक प्रथक पदार्थ के रूप में 'शक्ति' चार प्रकार का ग्रस्तित्व अप्रती है: (१) इंश्वर में स्थित रहस्यमय अथवा 'अचिन्त्य-शक्ति' के रूप में, (\*) 'कारश-शक्ति' श्रयवा 'सहज-शक्ति' जो स्वमावतः सर्व वस्तुधो में स्थित रहती है धौर जिसके द्वारा वे सर्व प्रकार के परिवर्तनों को उत्पन्न कर सकती है, (३) किसी वस्तु में एक नवीन प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न की गई एक शक्ति जिसे "धावेय-सन्दि" करूर जाता है, यथा, एक मूर्ति में 'प्रतिष्ठा' सम्बन्धी कर्मकाण्डीय प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न की गई शक्ति धौर (४) बाब्दों की महत्वपूर्ण शक्ति (पाद-शक्ति)। अभाव तीन प्रकार के बताये गये हैं:-(१) उत्पत्ति होने से पूर्व कमाव (प्रागामाव), (२) नष्ट होने के पश्चात् अभाव (ध्वंसामाव), (३) झन्यत्व के रूप सभाव में (श्रन्योन्याभाव), यथा, एक 'जग' का एक घट में समाव होता है और एक घट का एक 'जग' में। सतः यह सभाव मेदों से एक रूप है जो सर्व वस्तुओं के स्वरूप माने जाते हैं। अब वस्तुओं का विनाश हो जाता है तब उनके भेदों का भी विनाश हो जाता है। किन्तु ईश्वर एवं जीवों, जीव एवं जीव, धजीव एवं धजीव, धजीव एवं ईश्वर तथा धजीव एवं जीवों के मध्य पन-भेद सर्व नित्य होते है, क्योंकि नित्य वस्तुक्रों के भेद नित्य होते हैं और प्रनित्य वस्तुक्रों के भेद अनित्य होते हैं। "वीचे प्रकार का स्नभाव, 'श्रत्यम्तामाव' वह स्नमाव है जो शश-शृ ग के समान ग्रसम्भव सत्ताओं में पाया जाता है।

इस सम्बद्धाय में ईश्वर धववा परमात्मन् धनन्त जुलो का पूर्णेत्व माना जाता है। बहु उदग्ति, स्थिति, प्रत्या, नियम्स, झान, बम्पन, मोक्ष धीर 'बाहुदिन' का कत्ता है। वह तर्यम है भीर सर्व सब्ब ध्याने व्यायकतना एवं प्रमुक्त धार्य-में उसका हो उल्लेख करते हैं। वह समस्त मौतिक वदायों, जीवो एव 'प्रकृति' से पित्र है तथा उसका घरीट झान एव धानन्द से निर्मित है धीर पूर्णेत: स्वतंत्र है यदान उसके विविध रूप हो सकते

विशिष्टं विशेषण्-विशेष्य-तत्सम्बन्धातिरिक्तमवश्य भगीक्तंव्यम् ।

<sup>--&#</sup>x27;मध्य-सिद्धान्त-सार' पृ० ११ । भै मेदस्तु सर्व वस्तुनां स्वरूप नैजमञ्जम् । --वही, पृ० २० ।

किन्तु जयतीयं घपनी 'त्याव-मुखा' १. ४. ६ (विकित्रस्त, पृ० २२२) में यह मानते हैं कि मेद (बाहे वे नित्य वस्तुघो में हो झववा धनित्य वस्तुघो में हो) नित्य होते हैं। 'त च कदािय पदार्थानामन्योत्य-तादात्य-वसित्य हति चानित्यानामपि भेदो नित्येव हत्याञ्चः। पचानाम तीर्थ मी घपनी 'यन्य-पाय-रात्तावसी' धमवा 'यनुख्यात्यान' में हसी विचय पर ठीक यही मत स्वते हैं (१. ४. ६) विनाशिनोऽपि घटारेर पर्य-मेच्यो भेदः पर वाहम्मयुग्तप्रस्तां-वाजीविजातिकारियां-प्रयुग्तन्यनः।'

हैं (यथा 'वासुदेव', 'प्रद्युम्' झादि में) तथापि उसके ऐसे सर्व रूप उसके समस्त गुर्हों की पूर्ण झमिल्यक्ति होते हैं।

जीव स्वमावतः सज्ञान, दुःल, मय सादि दोवों से मिलन होते हैं तथा वे क्यान्तर के चक्र के वसीभूत होते हैं। वे मुक्ततः तीन प्रकार के होते हैं:—सर्गत् वे वो 'मुक्तियोग्य' होते हैं, यथा, देवमरण जैसे बहुमा, वायु स्नादि, स्रवता नारद स्नादि जैसे
क्षित्र मिल्, स्ववत्त के तसे समाद, स्नवता स्वयत्य मानव, ये प्रसायण जीव
हैंदर का सत्, चित्, सानवः एवं सारम्य के रूप में चिन्तन करते हैं। केवल दितीय
वर्ग के जीव पुनर्जन्म के वतीभूत होते हैं सीर स्वर्ग के सुक्षों एवं पृथ्वी एवं नरक के
दुःशों का उपमोग करते हैं। दानवों, मेतों सादि के समान जीवों का तृतीय वर्ग
हीता है। इन जीवों में से प्रत्येक जीव सम्य प्रत्येक जीव से निक्त होता है तथा मोक्त
होता है। व्यन-स्वयते पुष्पों, योग्यतासों, इच्छाओं सादि में एक दूसरे से निक्त
होते हैं।

धव हम सम्भक्त झाकाश पर विचार करते, जो शृष्टि सौर प्रसय कात में एक कर रहता है (धव्याकृत धाकाशो विन्-क्यः)। हो, यह 'मृत' के कम ने 'साकाल' से मिक्स है विसे 'भूताकाश' कहा गया है सौर जो 'तमस्' सहंकार की उपज है तथा सीमित है। दिक् के कर में 'साकाश' भूत्यत्व एवं नित्य है।'

मध्य-सम्प्रदाय में 'प्रकृति' को बी मौतिक बयत के उपादान-कारण के रूप में स्वीकार किया गया है।' काल उन्हों मुद्रा जाय है तथा प्रन्य सर्व बस्तुमों की उत्पत्ति उनके उन क्रिकिय पिदर्वनों के द्वारा होती है वो 'महत्' कार्य प्रवास प्रवास में प्राप्तम होते हैं। 'मृकृति' को गहुँ एक 'हम्प्रो' के रूप में स्वास किया गया है बीच मध्य-सम्प्रदाय में उसे माया नामक ईक्वर की सहस्वरों के रूप में माना गया है वर्षा वह 'सोप-मुक्त' 'ज़र' एवं 'परिलामी' कही गई है तथापि वह देश्वर के पूर्ण नियंत्रण में होने के कारण उनकी रूप हम्बा प्रम्या विक्त मानी जा सकती है (हरेर स्थ्यायवा सम्प्र)। यह 'महत्ति' बगत के सिये सर्व बन्यनों का कारण होती है (जन स्था-सम्प्र)। 'सर्व प्राण्डियों के नित्तक होते हैं। वह सीन पुणों की भी जननी है (गुलश्वायुवादान-मूता)। यह माना जाता

भूताकाशातिरिक्ताया देश-काल परिच्छित्रायास्तार्किकाद्यभिमत-दिशा ऐवास्माकम व्याङ्गताकाशत्वात् ।

<sup>-</sup>तात्पर्य-चन्द्रिका, २, ३, १ (पृ० ६१२)। -न्याय-सुघा, २, ३, १।

साक्षात् परम्पर्या वा विद्वोपादानं प्रकृतिः । —पदार्थं संग्रह १३ ।

 <sup>&#</sup>x27;न्याय-सुषा' और 'ब्रनुक्यास्थाम' २, १, ६ (पृ० २१) पर सन्-याय-रत्नावली ।

<sup>\* &#</sup>x27;भागवत-तात्पर्यं,' ३, १०, ६ (पू० २६) ।

है कि महा मृष्टि-रचना के समय केवल 'श्रकृति' का ही सस्तित्व या, धन्य किसी वस्तु का नहीं। उस समय ईश्वर ने अपनी मृजनात्मक इच्छा से 'प्रकृति' में से तीन समूहों में 'सत्व' 'रजस्' भौर 'तमस्' को उत्पन्न किया । " यह कहा जाता है कि 'रजस्' 'तमस्' से दुगना होता है और 'सत्व' 'रजस्' से दुगना होता है। 'सत्व' अभने विशुद्ध रूप में स्थित रहता है। 'रजस्' एवं 'तमस्' सदा एक दूसरे मे तथा 'सत्व' में मिश्रित रहते हैं। इस प्रकार 'सत्व' न केवल इस विशुद्ध रूप में धस्तित्व रखता है, बल्कि मिश्रित 'रजस्' घौर मिश्रित 'तमस्' के बंश के रूप में भी बस्तित्व रखता है। मिश्रित 'रजस्' में 'रजस्' के प्रत्येक माग के लिये 'सत्व' के सौमाय और गुम्रस् का सौवां माग उपस्थित रहते हैं। मिश्रित 'तमस्' में 'तमस्' के प्रत्येक माग के लिये 'सत्व' के दस भाग और 'रजस्' का दसवां माग होते हैं। जगत के 'विलय' के समय दस माग 'सस्व' में सीट जाते हैं और एक माग 'रजस्' में तथा एक माग 'तमस्' मे रह जाता है। तीन 'गुलो' की उत्पत्ति के तुरन्त पश्चात् जब उत्पन्न हुए तब 'रजम्' की सम्पूर्ण राशि का 'तमस्' में मिश्ररण हो जाता है 'महत्-तस्व' की उस्पत्ति होती है, 'महत्-तस्व' 'रजस्' के नीन मानो एव 'तमस्' के एक भाग से निमित्त होता है। बायामी परिएगमों के सम्बन्ध मे 'महत्-तत्व' 'सत्व' कहलाता है। " 'महकार' (जो 'महत्' के तुरन्त पश्चात् ब्युत्पन्न होता है) में 'सत्व' के प्रत्येक दस भागो के लिये 'रजस्' का एक भाग तथा 'तमस्' का दसवां माग होताहै। उसके 'तमस्' मागके 'सत्व' से 'मनस् अकादि उत्पन्न होते हैं। 'रजस्' माग से दिन्द्रयाँ उत्पन्न होती हैं, भीर 'तमस्' से महाभूत उत्पन्न होते हैं। वे प्रारम्भ में 'तन्मात्राबों' बयवा महाभूतों में बन्तनिहित एवं ब्रामिब्यक्त शक्तियों के रूप मे प्रकट होते हैं, चूँकि 'ब्रहंकार' में त्रिविध विकास की सामग्री निहित रहती है, इसलिये वह 'वैकारिक' तेजस' और 'तामस्' कहा जाता है। 'तत्व-सख्यान' मे 'बुद्धि-तत्व' ग्रौर 'मनम्-तत्व' का 'ग्रहंकार' से ऋमशः विकसित होते हुए दो पदार्थी के रूप मे कथन कियागया है। इस गराना के ब्रनुसार 'महन्' से लेकर चौबीम पदार्थ इस प्रकार हैं-'महन्,' 'बहकार,' 'बुद्धि,' 'मनस्' 'दस इन्द्रियौ' पांच 'तन्मात्राए' भौग 'पच-भूत'। <sup>3</sup> जैसे 'बुद्धि' दो प्रकार की होती है, ग्रयनि पदार्थ के रूप में 'बुद्धि'

¹ 'मध्व-सिद्धान्त-सार' पृ० ३६।

मध्यात्रामं द्वारा लिखित मायवत-तारार्य ३, १४। इस घवतराहा में मौतिक 'सार्व' को 'भी' देवी कहा गया है, मौतिक 'रवबर्' को 'भू' तथा मौतिक 'तमस्' को 'तुर्गा' कहा गया है, मौर जो देवी इन तीनों को धमने मुल के रूप में रखती है वह 'यहातसमी' कहाताती है।

श्री विकास-कम में 'बुद्धि-तत्व' के स्थान के सबंब में कुछ मतमेद प्रतीत होता है। प्रभी प्रस्तुत किया गया मत 'तर-संस्थान' (पृ० ४१) में पाया जाता है। 'मत-पृष्टम महान् घहं बुद्धिर मनः खानि दश मात-मुतानि यंच च, धौर सत्यवमं यति

भौर ज्ञान के रूप में 'बुद्धि' वैसे ही 'मनस्' भी दो प्रकार का याना गया है, पदार्थ के रूप में 'मनस्' और इन्द्रिय के रूप में 'मनस्'। इन्द्रिय के रूप में वह निस्य एवं क्रनित्य दोनों है। वह ईश्वर, लक्ष्मी, बह्या तथा अन्य सर्व जीवों में उनके स्वरूप (स्वरूप-भूतम्) अथवा आत्मन् के रूप में नित्य होता है। ईववर, ब्रह्मा, जीवों आदि में अनिस्य 'मनस्' पांच प्रकार का होता है, 'मनस्,' 'बुद्धि,' 'अहंकार,' 'चित्त' और 'चेतन' जो 'मनस्' की दृत्तियां अथवा ध्यापार भी माने जा सकते हैं। इनमें से 'मनस्' वह है जिसके कारए। 'संकल्प' और 'विकल्प' होते हैं। 'बृद्धि' वह है जिसके कारए। किसी निश्चय पर बाने का व्यापार होता है निश्चयात्मिका बुद्धि। 'झहकार' वह है जिसके व्यापार के द्वारा प्रसत् को 'सत्' समक लिया जाता है (अस्वरूपे स्वरूप मांत:), कौर स्मृति का कारए। 'चित्' है। इन्द्रियां बारह हैं, जिनमें पांच क्रानेन्द्रियाँ, पांच कर्में न्द्रियाँ 'मनस्' और 'साक्षीन्द्रिय' का समावेश होता है, तथा 'बुढि,' 'मनस्' के भन्त-गैत ली जाती है। इन्द्रियो पर दो हिन्टकोएगों से विचार किया गया है, अर्थात्, उनकी प्रवल 'तेजस्' सामग्री के दृष्टिकोए। से, तथा इन्द्रियाँ होने के दृष्टिकोए। से । प्रपनी सामग्री के विकास-कम में उत्पन्न पदार्थ होने के नाते वे नाशवान है, किन्तू इन्द्रियों के रूप में वे ईक्चर तथा सर्व प्रारिएयों में नित्य है। इन इन्द्रियों के शारीरिक ध्रवयव सर्व नाग्नवान प्राश्चियों में नाशवान ही होते हैं। प्रतः प्रज्ञा (साक्षी) प्रपराक्ष रूप में सुल भीर दुल, मज्ञान, काल एवं दिक का प्रत्यक्षीकरण कर सकती है। इस 'साक्षी' के द्वारा विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त व्वनियो, रंगो ग्राप्त की ज्ञानेन्द्रिय-सामग्री का अपरीक्ष प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। जानेन्द्रियां के क्षेत्र से अतीत सर्व वस्तुओं का श्रात भगवा भज्ञात रूप में 'साक्षी' द्वारा भतर्ज्ञान प्राप्त किया जाता है। वस्तृतः

हारा जिलित टीका में इसका समर्थन किया गया है। यह 'कट' ?-३-१० के महुकूल भी है। किन्तु 'मध्य-विद्वारात-सार' में मध्य के 'माध्य' से उद्भुत एक प्रवतरण में कहा गया है कि 'विज्ञान-तर' (जो संमवतः 'बुद्धि-तरव' ही है) 'महत्-तरव' से उत्पन्न होता है तथा उससे किर 'मनम्' उत्पन्न होता है, भीर मनस् से इन्द्रियां उत्पन्न होता है, भीर मनस् से इन्द्रियां उत्पन्न होती है, इत्पादि।

विज्ञान-तत्वं महतः समुत्पन्न चतुर्मुं बात्,

विज्ञान-तत्वाच्च मनो मनस्तत्वाच्च खादिकम् ।'

पद्मनाम सूरि प्रपने 'पदार्थ-संबद्ध' में जिस प्रकार इस कठिनाई को हल करने का प्रयत्न करते हैं वह यह है कि 'बुद्धि-तस्य' सीधा 'यहत्-तस्य' से उद्दुश्त होता है, किन्तु वह 'तेयस् महंकार' के साह्चयं में विकसित होता है (तेयसाहकारेख़ उपिता) । इससे 'तस्य-सच्यान' में दी गई 'यहकार' की पूर्ववर्ततता की व्यास्था हो जाती है। हा, 'बुद्धि' दो प्रकार की होती है, ज्ञान के रूप में (ज्ञान-रूप), ग्रीर पदार्थ (तस्य) के रूप में ।

साक्षी-कान' को मंत:अवात्मक जान का एक विजेव सायन मानना और विदेयत: काल एवं विव के प्रत्याक्षिकरण के लिये उठि म्यांतिकार्य मानना, मण्ड-दर्शन का एक महत्तपूर्ण विविध्य तक्षण है। वकर वैद्यान में 'साक्षी' बनिर्वाच्य 'क्षान्य'-योजि के रूप में
स्वीकार किया गया है वो 'स्वान' ते माच्युतित हो सकता है, यहणि स्वयं 'प्रवान'
स्वी स्वाच्यं स्वरूप, मनिवा के रूप में 'साक्षी' हारा प्रकट किय, जाता है।' मण्य
मानते हैं कि 'साक्षी' की मतःअवा के हारा एक व्यक्ति प्रपन्न दिन्नत-स्वान तथा 'पहुन्'
के रूप में यपने वारस्मन की सत्यता का निरीक्षण करता है। इस मन के मनुवार
मानत्व का सम्याजित्यण मनम् की किया के कारण, इस्त्र मन के मनुवार
प्रात्म का सम्याजित्यण मनम् की किया के कारण, इस्त्र मन्त्र की प्रवास
(मनोनुमव) के कारण नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा होवा तो एक व्यक्ति मनन् की
क्रिया मयवा मानसिक व्यापार के फलसक्ष्य स्वयं भागने मात्यन्य रप्त मी सदेह कर सकता
मा, केन्तु देश कमी नहीं होता, मत्य व स्व स्वीकार करना पड़ना है कि मात्यन का
प्रविधिकरण 'साक्षी' तेमक किसी मन्य मनःअक्षा के कारण होता है। इस प्रकार
'साक्षी' हमें सदा योग रहित एवं निश्चत स्याग र पहुँचाता है, किन्तु जहाँ कही जान
में विवेद-व्यन्त्य किया होती है तथा दोध को सम्मावना होती है, तो यह मानसिक
मनुनव के कारण डारण प्रवास माना जाता है।'

मध्यवाद में 'तन्मात्रामों' को पांच स्थूल 'भूतों' की सूक्त्म सामग्री के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह ध्यान रव्यना चाहिये कि 'श्रहकार' मौर 'बुद्धि' तिस्व

जैमाकि यह रचना भी मकेत करती है, 'बाकर वेदाना' में 'साक्षी' के स्थान के सम्बन्ध में चार मत है। इन प्रकार 'तद्य-शूद्धि माननी है कि वह वहा की ज्योति है जो मानी 'त्रीव' में मिल्यक होती है, 'विरान-रिपिका' मानती है कि वह दिवर है जो सर्व जीवों में स्वय को मिल्यक करता है, 'वेदान्त-कीमुदी' मानती है कि वह केवल ईरवर का एक रूप है, एक तटम्य सता है जो जीव की समस्त कियायों में एकरूप रहती है तथा प्रत्याय एव घररोस रूप में प्रतुप्त होती है, किन्तु वह उसको माल्यहारिक सरी वाली 'याविया' मी है। 'कुटस्य-वीप' उसे 'जीव' में युव चैत्रस्य की एक घरियत्तेनशीन ज्योति मानता है जो मर्व धवस्याघों में एक समान रहती है सतएप 'साक्षी' कहनाती है।

गत्-प्रसादाविद्यादि स्फुरत्येव दिवा-निश्चतनःव्यपह्नुतेऽविद्या नाज्ञानस्यास्ति दण्करम् ।

<sup>-</sup>बद्देत-ब्रह्म-सिद्धि, पृ० ३१२ ।

<sup>&#</sup>x27; 'यत् क्वचिद् व्यभिचारि स्यात् दर्धनं मानसः हितन्।' 'श्रनुव्यास्थान' एव स देवेदसो गौरो न वा परमाणुः गुरुत्वाधिकरशांन वा इति सक्षयो मानसः।

<sup>-</sup>मध्व-सिद्धान्त-सार, पृ ०४४।

एक प्रकार के सूक्त मौतिक पदार्थ माने जाते हैं जिन्हें निष्कित 'परिएगम' युक्ति राश्चियों के रूप में समका जा सकता है।

'धिविचा' एक धमावात्मक 'क्रम्य' है जो ईस्वर की इच्छा से हम सबके स्वामायिक चेत्रम को धान्छादित कर देती है। " किन्तु कोई एक सामान्य 'धिवचा' नहीं होती जो चिनिक ध्वतिमाने प्रकट होती है। तत्त नह हमारे वैपक्तिक ध्वतिम का निर्देश करती है, " कि एक सामान्य ध्वता का, जो खिकांचा मारतीय दर्जनो में पाई जाती है, इस प्रकार प्रत्येक ब्यांक की धपनी दिखान्य प्रतिनिक्ष कि प्रकार प्रत्येक ब्यांक की धपनी दिखान्य प्रतिनिक्ष कि प्रकार प्रत्येक ब्यांक की धपनी दिखान्य प्रतिनिक्ष 'धिवचा' होती है।

'काल' का सर्वव्यानी बाकाख (धव्याकृत बाकाख) से सह-भस्तित्व होता है, तथा वह 'फकृति' के उत्पादान से सीधा उत्पक्त होता है, बदः 'प्रकृति' से स्थूत्यक्र सम्य प्रवाद के श्रीक प्राथमिक शस्तित्व रखता है। वह स्वय मे मस्तित्व रखता है (स्वतत) भीर दिक् के समान भन्य समस्त बस्तुमी का 'श्राधार' है, तथा वह सर्व विवयों की उत्पत्ति का सामान्य कारण है।

'भीको' का निरंध करने के लिये 'अतिबन्ध' का एक नवीन प्रकाश का अभाव। । 'भीको' का निरंध करने के लिये 'अतिबन्ध' का एक नवीन प्रस्थय प्रस्तुत किया गया है, जो ईक्वर से पुणक् कोई सस्तित्व नहीं रख सकते, तथा जो इसकी इच्छा से स्वतन्त्र है, की कि अवस्थार नहीं कर सकते, और इच्छा एव भावना से पुक्त चैतन सत्तार

भनु-बृहस्थलादयस्तु ग्रह्कारात्परिमाशातां हीनेन मनस्तत्वेन स्वोधित-परिमाशे परिमित-वेम-पर्यन्तमबन्धितम् विच्यु पद्मान्त सीम-पूर्व तु बृद्धि-तत्वस्तरिमा-एतो हीनेन मनस्तत्वेन परिमित-वेम-पर्यन्तं ग्रविस्थतं विच्यु पद्मतः वस्त्यावयस्तु माकाण-बायु-मादि प्रूते : अनेशः परिमाशातो दकाहीनेः परिमित-वेश-पर्यन्तम स्थित विष्णु योग्यतानुवारत्य पद्मान्तः ।

<sup>&#</sup>x27;सन्-न्याय-रत्नाव सी' ग्रीर 'मध्व-सिद्धान्त-सार,' पृ० ४६० ।

वतः परमेववर एव सत्वादि-गुग्मय-प्रविद्या विरोधित्वेन प्रविद्या स्वाधीनया प्राकृत्या प्रविन्त्याभूतया स्ववक्त्या जोवस्य स्वप्रकाशम् प्राप् स्वरूप वैतन्यसप्या च्छादयति ।

<sup>-- &#</sup>x27;जिज्ञासा' विषय पर 'न्याय-सुधा'।

यह प्रापत्ति मान्य नहीं है कि यदि काल 'प्रकृति' के उपादान से निर्मित होता है तो फिर 'यहर्त' मादि का विकास कहीं से होगा, क्यों कि काल केवल 'प्रकृति' के कुछ मंत्रों से ही विकसित होता है, तथा उक्क मन्य बावों से बन्य पदायों का विकास होता है: 'तथंक म्याप्तानां किंतपर-प्रकृति-सुरुमाखां कालोपादनस्वन्, कतिप्याना सहस्-माख-उपादानलां किंतपयानां कृत-करण, प्रकृत्ता क्रांत्र है: 'तथंक म्याप्तानां किंतपर-प्रकृति-सुरुमाखां कालोपादनम् ।

<sup>--</sup>मध्व-सिद्धान्त-सार, पृ० ६४।

होते के कारण प्रतिवार्यतः उसके समान हैं, यदापि वे प्रतिविम्ब हैं, तथापि वर्षण में सामारण प्रतिविम्बों की मांति नाशवान नहीं हैं, वरन् नित्य हैं (प्रतिविम्बस्तु विम्बादिना भूतसत्-सदयः।

मध्य-वर्धन न्यूनाधिक न्याय-वैशेषिक की वाँति ही 'युखों' को स्वीकार करता है, जनमें परस्पर अन्तर तिक भी दार्थनिक महत्व के नहीं हैं। को उल्लेख योग्य हैं उनका अनुवर्धी परिच्छेदों में उल्लेख कर दिया जायगा।

### प्रमाख (सत्य ज्ञान के साधन)

'प्रमारा' का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि 'प्रमारा' वह है जो किसी ज्ञान के विषय को अपने यथायं रूप में ब्राह्म बनाने (यथायं प्रमास्तम्) । " 'प्रमास्त' का कार्य-व्यापार इसमें निहित है कि वह अपरोक्ष (साक्षात्) अथवा परोक्ष (असाक्षात्) रूप में ज्ञान की उत्पत्ति के द्वारा किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाता है (ज्ञान-जननद् वाव क्रेयता-सम्पादकत्वेन) । एक 'श्रमास्' के दो कार्य-व्यापार होते हैं, सर्वात् (१) किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाना (ज्ञेय-विषयीकरएा), तथा (२) उस वस्तु की ब्रेयता का सम्पादन करना (ब्रेयता-सम्पादन)। जहाँ तक किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाने के कार्य-व्यापार का सम्बंध है, सर्व 'प्रमारा' उसका प्रत्यक्ष सम्पादन करते हैं, केवल द्वितीय कार्य-व्यापार के सम्बंध में 'केवल' और 'धनु' नामक दो प्रकार के 'प्रमाणो' में यह अन्तर होता है कि केवल पूर्वोक्त ही उसका अपरोक्ष रूप में सम्पादन करता है, और केवल पश्चादक ही उसका परोक्ष रूप में सम्पादन करता है (परम्परा-क्रम) । इन दो कार्य-ब्यापारों से एक 'प्रमाख' का 'प्रमाखा' (ज्ञाता) तथा 'प्रमेय' (क्षेय) से अन्तर स्पष्ट हो जाता है, क्यों किन तो जाता और न जेय जान के निमित्त कारए। कहे जा सकते है, यद्यपि वे किसी बर्च में कारएगें के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं, तथा न वे किसी वस्तु को ज्ञान का विषय बनाने के कारण होते है। हमारा ज्ञान किसी भी रूप में एक ज्ञान के विषय में रूपान्तर नहीं करता, किन्तु जब

<sup>&#</sup>x27; 'पदार्थ-सग्रह,' पु० १६३।

सध्य द्वारा प्रपने 'प्रमाण सक्षण' मे दी हुई प्रमाण को परिभाषा का जयतीर्थ घपनी
'प्रमाण-पडित' में यह विस्तरण करते हैं-जेयमनतिकस्य वर्तमान यथाविष्यतमेव
क्रेय यहिषयीकरोति नान्यथा तत्रप्रमालान्। (पृ० ८)।

जनार्दन द्वारा 'प्रमाण-यद्वति' पर लिखी गई । —'जयतीर्य-विजय-टिप्पणी ।
 वही । और भी 'केवलं विषयस्य क्षेयत्वं क्वानमुपाधितया करणं तु तज्जनकतया

वही । भीर भी 'केवलं विषयस्य क्षेयत्वं ज्ञानमुपाधितया कररां तु तज्जनकतय। सम्पादयन्ति इत्येतावन्त विशेषमाश्रित्य केवलानुप्रमाश-भेदः समर्थितः।'

<sup>-</sup>न्याय-सुषा, २, १, २ (१० २४६) ।

एक वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह ज्ञेय बन वाती है। सत्यता (यथार्थता), जिसका मर्य है ज्ञान की भपने विषय के साथ यथार्थ अनुरूपता, मुख्यतया केवल ज्ञान में ही पाई जाती है (ज्ञानस्येव मुख्यतो यथार्थ्यम्) । ज्ञान के साधन केवल परीक्ष रूप में इस बाधार पर सत्य (यवार्य) कहे जा सकते हैं कि वे यवार्य ज्ञान के जनक होते हैं (यथायं-ज्ञान-जनक-यथायं)। किन्तु फिर भी यह परिवाषा साधनों पर भी उचित रूप से लागू होती है, क्योंकि वे मी इस अर्थ में 'यथार्थ' हैं कि वे मी विषय की ओर ठीक उसी प्रकार उत्मुख होते हैं जिस प्रकार उस विषय का जान । जहाँ तक वे ऐसे सम्यक विषय की बोर उत्मुख होते हैं जिसका हमें सम्यक ज्ञान होता है, उनका कार्य क्षेत्र ज्ञान के विषय के क्षेत्र अथवा विस्तार अनुरूप होता है। अतः यह स्पष्ट है कि 'प्रमाए।' दो प्रकार का होता है। यथार्य ज्ञान के रूप में प्रमाए। (केवल प्रमाए।) तथा ज्ञान के 'साधन' के रूप में 'प्रमाख' (बनु प्रमाख)। यह 'केवल प्रमाख' पुन: दो प्रकार का होता है-'चैतन्य' के रूप में और 'इत्ति' के रूप में । इस चैतन्य का जयतीय द्वारा उत्तम 'मध्यम' एवं 'ग्रथम' (उत्तम-मध्यमावम), सत् मिश्रित, व श्रसत् के रूप में बर्गन किया गया है, बुत्ति भी प्रत्यक्ष, अनुमान व 'आगम' के रूप में तीन प्रकार की होती है। 'धन प्रमाख' भी प्रत्यक्ष अनुमान व आगम के रूप में तीन प्रकार का होता है। एक प्रदन यह खड़ा होता है कि क्या 'प्रमाख' पद का प्रयोग किसी ऐसे सत् ज्ञान के लिये किया जा सकता है, जिसमें सयोग से सत्यता चटित हो गई हो (काकतालीय) तया सत् ज्ञान की उचित प्रक्रिया द्वारा प्राप्त न की गई हो । इस प्रकार, उदाहरए। के लिए, एक व्यक्ति केवल कल्पना के बाबार पर यह कह सकता है कि उसके मित्र की जेब में पाच शिलिंग है, तथा यह ज्ञान वस्तुतः इस तथ्य के बनुरूप हो सकता है कि उस मित्र की जेब में पांच शिलिंग हैं, किन्तु यद्यपि यह ज्ञात सत् है, तथापि, इसे 'प्रमारा' की संज्ञानहीं दी जासकती, क्यों कि यह स्वयं वक्ता के निश्चित ज्ञान से फलित नहीं हुआ है, बल्क उसने केवल एक कल्पना की बी जो एक प्रकार का संशय मात्र है (वक्तुर् ज्ञानस्य सशयत्वेन अप्रसंगात्) । यह बात उस अवस्था में भी लागू होती है जहाँ कोई व्यक्ति एक भ्रामक 'हेतु' के भ्राधार पर भनुमान का निर्माण करता है, यथा भ्रम से माप अथवा वाष्य को वृत्र समक्षकर उससे धन्ति का धनुमान लगाना ।

'प्रमारा' की जान के विषयों के साथ अनुरूपता (नवायें) के रूप में की गई इस परिभाषा का मूल्य इस तथ्य में पाता जाता है कि उसमें पूर्व सत्य अनुमान की 'स्पूरित' का मी तथ्य जान के रूप में समाचेण हो जाता है, जबकि पारतीय दर्धन के प्रस्य अधिकांश तंत्रों की प्रवृत्ति सपनी परिसाषा का निर्माण इस बंग से करने की होती हैं कि स्पूरित

<sup>&</sup>lt;sup>9</sup> वही।

<sup>ै</sup> वही, पृ० २५०।

को प्रयोजनपूर्वक "प्रमाख" गिन वाले के स्विकार से वंधित रक्का जा सके। "
साविकताब द्वारा सपनी "प्रमाख-तिका" में स्मृति को "प्रमाख" की परिशाबा से
बहिष्कत करने के निये दी गई शुक्त कर तथ्य पर भावारित है कि "मृति एक ऐसा
सात है जो केवल पूर्व द्वारा के सरकारों से उत्पक्ष होता है (पूर्व विद्वान-संकार-पात्रक सात है जो केवल पूर्व द्वारा के सरकारों से उत्पक्ष होता है (पूर्व विद्वान-संकार-पात्रक स्वन्नम्य का उत्तेख नहीं कर तकता।" वे पहचान (प्रत्यक्तिता) का स्मृति से
सप्तर्यक्त करते हैं स्थोकि प्रत्यक्ति को सुन्व सात-सामधी में सरक्ष हैं-द्वय-सम्पर्क का
सपत्रक्त करते हैं स्थोक प्रत्यक्ति को सुन्व सात-सामधी में सरक्ष हैं-द्वय-सम्पर्क का
सपत्रकत करते हैं स्थोक प्रत्यक्ति को स्वन्न के "पारावाहिक क्षान" छन, भी प्रपत्रक्ति करते
हैं, स्थोंकि प्रविचित्र करते हैं-द्वय-सम्पर्क का
साविद्य होता है, किन्तु "प्रमाख" की परिमाया से स्मृति का अपवर्वन केवल
इंक्तिय-सम्पर्क के सत्यक्त पुद्ध स्मृति तक हो सीमित है। समिप्राय यह है कि जो
सान केवल पूर्व सान पर निमंद करता है भवता उत्ती से उत्पन्न होता है वह हमारे सान
में प्रत्यक्ष कर से योगदान नहीं देता, सत्यक्ष वह 'प्रमाख' नहीं है।

जिस कारए। से जयतीर्ष स्मृति के समावेश का भाग्रह करते हैं यह यह है कि स्मृति भी जान के विषय के भनुकल हां सकती है भारपन उसे वैष क्य से 'प्रमाए' कहा जा सकता है। यह हो सकता है कि जब मैं एक विषय का स्मरण करता है वह कराविन्त वस्तक कि सिद्धान न हां भाग्या उसका अस्तित्व समाय हो जा हो, किन्तु इससे 'प्रमाण' के रूप मे स्मृति की सच्यता पर कोई प्रमाय नहीं पढ़ता, क्योंकि सम्प्रि स्मृति को सच्यता पर कोई प्रमाय नहीं पढ़ता, क्योंकि सम्प्रि स्मृति को सच्यता पर कोई प्रमाय नहीं पढ़ता, क्योंकि सम्प्रि को झार कि विषय स्मृति के झार कि तिस्तित समुन्त के सम्प्र उसका स्मित्तव्य सम्प्र या। यदि यह पुलिस सी साथ कि स्मृति क्यांक सम्प्र उसका स्मित्तव्य समय था। यदि यह पुलिस सी साथ कि स्मृति स्मृति काल में विषय उसका स्मित्तव्य समय या। यदि सह सुनिस सी साथ स्मृत के उसका स्मृत को अस्तव्या में नहीं होता जिस समस्या में नह सुनुकन

<sup>ै</sup> यहाँ जयतीयं 'मनिध्यवायं-गन्तृ प्रमाश्यम्' तथा 'मनुत्रृति: प्रमाश्यम्' के रूप में मीमांबा द्वारा दी गई परिमायाओं का उल्लेख करते हैं। प्रथम तो कुमारिल की की परिमाया का उल्लेख करती है धीर द्वितीय प्रशाकर की। कुमारिल 'प्रमाश्य' की यह परिमाया देते हैं (विशाकि 'क्लोक-मीतल' के 'प्लोक्स-मुझ' क० में प्याया जाता है) कि प्रमाश्य वह हुई ज्ञान (ट्वं विज्ञानम्) है जो उल्लेख हो (उल्लेखन्) तथा सम्य ज्ञान से समन्य दही (नाणि ज्ञानानरेश संवादम् ऋच्छति)। द्वितीय परिमाया प्रभाकर की है जो सालिकनाव की 'प्रकरण पंचिका' ने उद्धुत की गई है, पृठ ४२: 'प्रमाश्यम् सन्द्रमुति:'

स्मृतिहिं तिदल्युपजायमाना प्राची प्रतितिसनुष्ट्यसाना न स्वातंत्र्येण अर्थे परिष्ठितन्ति इति न प्रमाणम् ।

काल में था; इसलिये स्मृति सत्य नहीं है, तो उस दशा में बनुमान अथवा शब्द पर माबारित भूत सथवा अविच्य विषयक सर्व ज्ञान प्रसत्य हो जायगा क्योंकि धनुमित मूत एवं मविष्य की घटनाएँ धनुमव-काल में कदाचित् विद्यमान न हों। यदि यह युक्ति दी जाय कि पूर्व ज्ञान का विषय अपनी अवस्था परिवर्तित कर लेता है अतएव श्रपनी सम्पूर्णता में स्मृति के विषय के रूप में निर्देशित नहीं किया जा सकता तो इस युक्ति से सर्व 'प्रमाणों' की सत्यता नष्ट हो जाती है, क्यों कि किसी भी वस्तु को उसकी सम्पूर्णता में सबं प्रमाखो का विषय नहीं बनाया जा सकता। यह भी आपत्ति नहीं उठाई जा सकती कि यदि वस्तु प्रपनी प्रवस्था परिवर्तित नहीं करती है तो स्मृति को उसका ऐसी वस्तु के रूप में परिब्रहरण करना चाहिये जिसने ब्रपनी ब्रवस्था परिवर्तित नहीं की है। यह भी मान्य नहीं है, क्योंकि स्मृति किसी विचय का इस रूप में परि-प्रहुला नहीं करती है मानो उसने अपनी अवस्था परिवर्तित न की हो, बल्कि इस रूप में कि 'उस काल में वह वैसी वी' (तदासम् तद्दशा इति) । स्मृति इस प्रक्त के सम्बन्ध में सर्वया उदासीन होती है कि एक विषय ने अपनी अवस्था परिवर्तित की है अथवा नहीं। चूँकि स्मृति यथार्थ वस्तुगत तथ्यों के अनुरूप होती है अतः उसे सत्य मानना पड़ता है तथा वर्तमान परिभाषा की यह विशिष्टता है कि उसमें स्मृति का एक सत्य 'प्रमाख' के रूप में समावेश होता है, जैसा अन्य दर्शन-तत्रों मे नहीं किया गया है। 'प्रमासा' के रूप में स्मृति की सत्यता इस तब्य से सिद्ध हो जाती है कि लोग अपने समस्त व्यवहारों में उसका सत्य ज्ञान के रूप में प्रयोग करते हैं तथा मनुष्यो द्वारा कैवल सत्य कान का उल्लेख किया जाता है (लोक-व्यवहार)। प्रत्यक्षादि प्रमार्गो की सत्यता को सिद्ध करने का सार्वभीम लोक-व्यवहार की चरम साक्ष्य के मितिरिक्त भ्रम्य कोई साधन नहीं है।°

इसके प्रतिरक्ति, मनु के पुनीत लेकनों की प्रायाजिकता वो वेदों के सस्कृत प्रतिमाय पर प्रायादित है और इस्तियों वे 'स्कृति' कहलाते हैं। पुनः, यह पुक्ति जी सही नहीं है कि स्कृति में कोई सत्यता नहीं है क्योंकि उससे हमें किसी कास की प्रार्थत नहीं होती (निफ्क्सा), क्योंकि सत्यता समुख्यता की त्याह्य पर निमंद करती है, कत्यत्यकता पर नहीं। सत्यता का प्रमान (प्रधायाच्य) इत्त्रियों के दोष समझा राज्यन्य व्यापात (वायक प्रत्यत) से स्पष्ट हो जाता है। वह भी ध्यान रखने की सात है कि स्कृति सर्वया निफ्सन नहीं होती; केंसे, युक्यम वार्तों की स्कृति सुक्तर होती है तथा संस्कारों की भी सबस कराती है (संस्कार-पटन)। पुनः, वह पुक्ति दी जाती

न ह्यस्ति प्रत्यक्षादि-प्रामाण्य-साधकमन्यद् लोक-व्यवहारात् ।

<sup>-&#</sup>x27;न्याय-सुघा', २. १. २ 'ग्रविकरता', पृ० २३१ ।

<sup>ै</sup> ते हि श्रुस्पादिनानुभूतार्थं स्मृत्वा तत्-प्रतिपादकम् ग्रन्थमारवयति ।

है कि 'प्रमास' वहीं कहा जा सकता है जिसमें किसी नवीन वस्त के ज्ञान का समावेश हो. ग्रतएव स्पृति में नवीन ज्ञान का समावेश न होने के कारण उसे 'प्रमाण' नहीं बिना जा सकता । यदि यह अपेक्षित है कि एक ज्ञान का विषय 'प्रमारा' हो तो नित्य सत्ताएँ, जिनके सम्बन्ध में कोई नवीन ज्ञान नहीं हो सकता, 'प्रम'णु' की विषय नहीं हो सकती । यदि नवीन ज्ञान सम्बन्धी बावश्यकता ज्ञान के व्यवशे के प्रति नहीं किन्तु केवल ज्ञान की विधि अथवा प्रक्रिया के प्रति उल्लेख करती है ऐसा माना आय. तो किसी विषय के धारावाहिक प्रत्यक्षीकरण में समाविष्ट ज्ञान (शारावाहिक ज्ञान) 'प्रमास' नहीं माना जा सकता । हाँ, बौद्ध दार्शनिक यह उत्तर दे सकते हैं कि प्रत्येक नवीन क्षरा में एक नवीन विषय उत्पन्न होता है जिसका प्रत्यक्षी करण किया जाता है। सांख्य यह मान सकते हैं कि प्रत्येक नवीन क्षरण में सब विषय एक नवीन परिवर्तन अथवा 'परिसाम' के मानी होते हैं, किन्तु एक मीमांसक क्या उत्तर देगा ? उसके बनसार विषय (यथा, घट) समस्त कमिक क्षणों में एक समान बना रहता है। यदि यह यक्ति दी जाय कि कमिक क्षाणों में स्थायी किसी विषय के ज्ञान में प्रति क्षाण एक नवीन काल-तरव का समावेश होता है तथा इस तथ्य के बावजूद कि जान का विषय क्रमिक क्षरणो में स्थायी बना हुआ है उक्त काल-तत्व की नवीनता में ही ज्ञान की नवीनता निहित हो सकती है, तो यही युक्ति स्मृति के पक्ष में भी दी जा सकती है, क्योंकि वह वर्तमान काल में विषयों को अभिन्यक्त करती है तथा अतीत काल में घटित मनुमव के प्रति सकेत करती है (स्मृतिरिप वर्तमान-तत्-कालतया मनुभूतम अर्थम तीतकालतावगाहते) । जयतीर्थ मानते हैं कि 'प्रामाष्य' तथा इस भावस्यकता में कि विषय साहवर्य के द्वारा अथवा साहवर्य एवं किसी व्याषाती उदाहरण के अभाव के द्वारा पूर्व काल में अनुपाजित हो (अन्धिगतायें), कोई मनिवास सम्बन्ध बताना सम्मद नहीं है, क्यों कि प्रथम ग्राधार पर तो 'प्रामाण्य' से सम्बन्ध रखने वाली ग्रन्य कई वस्तुओं को 'अनिधिगत' मानना पड़ेगा, जो वे नहीं है और द्वितीय आधार पर कम से कम 'धारावाहिक ज्ञान' की स्थिति में लागू नहीं होता। क्यों कि धारावाहिक ज्ञान में कमिक क्षरणों में नवीन ज्ञान न होने के बावजद भी उनको 'प्रमाण' माना जाता है।

यदि यह घापित की बाव कि एक 'प्रमाण' का यह क्यापार कैसे हो सकता है कि वह पूर्व बात विषय को हमें बात करवारों (अधिगतम् एवार्थन् विश्वययदा प्रमाणेन पिष्टं पिष्ट क्याप्ति), तो इस धापित का अर्थ क्या है? इसका यह धर्च नहीं हो ककता कि एक बात विषय के सम्बन्ध में ब्राये कोई बात उत्पन्न नहीं हो तकता, क्यों कि न तो बात, बात से विरोध में होता है और न बात का धमाव बात को उत्पन्न करने वाली सक्स्वामों का माय होता है। एक बात विषय के ब्रितीय ब्राय की उत्पन्न के तियोध में निष्कत्वता के साधार पर उठाई मई धापित का वहते हो से उत्तर दिया जा चुका है। न यह कहा बा सकता है कि एक 'प्रमाण' किसी क्षम्य बस्तु पर प्रथम सम्बन्ध शान पर बाचारित नहीं होना काहिये, दयोंकि यह बाक्षेप बनुमान पर भी लागू होगा जिसे सब विद्वान 'प्रमारा' के रूप में स्वीकार करते हैं। श्रतः 'प्रमारा' की परिमाणा इस प्रकार दी जानी चाहिये कि उसमें स्मृति का समावेश किया जा सके। चलरिशेषाचार्य 'प्रमारा' में स्मृति के समावेश के समर्थन में एक ब्रज्ञात अति-पाठ की उद्भृत करते हैं। वयतीय उन सकारात्मक तकों का, जो उनके धनुसार 'प्रसाएा' में स्मृति के समावेश का समर्थन करते हैं, संक्षिप्त कथन करते हुए कहते हैं कि स्मृति सस्य (यथार्थ) होती है। जब एक विषय एक समय विशेष एव स्थान विशेष में एक निविचत स्वरूप लिये हुए चेतना में मासित होता है तथा वास्तव में उस काल भीर स्थान में उसी स्वरूप का होता है, तब यह ज्ञान सत्य श्रयवा यथार्थ होता है। स्मृति हमें ठीक इसी प्रकार का ज्ञान देती है, 'उस समय वह ऐसा था।' यह तथ्य नहीं है कि उस समय वह ऐसा नहीं था। स्मृति अपरोक्ष रूप से 'मनस्' द्वारा उत्पन्न की जाती है और 'संस्कारो' के माध्यम से उसका विषय से सम्पर्क होता है। संस्कारों के द्वारा मनस् विषय विशेष के सम्पर्क में बाता है (संस्कारस् तु मनसस् तद्-ग्रर्थ-सन्निकर्ष-रूप एव)। यह आक्षेप किया जा सकता है कि स्मृति द्वारा निर्देशित विषय कई परिवर्तनों को सहन करने तथा मध्यान्तर मे अपने पूर्वावस्थागत श्रस्तित्व को समाप्त कर देते के कारण, वर्तमान स्मृति अपने विषय का परिग्रहण नहीं कर सकती, इसका उत्तर यह है कि उक्त बाक्षेप में कूछ बल बबस्य होता है यदि मनस से किसी घन्य साधन की सहायता के बिना विषय के परिव्रहल की बाशा की जाती, किन्तू ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार जानेन्द्रियां केवल वर्तमान काल में कियाशील होने पर भी प्रत्यमिका की प्रक्रिया को सस्कारों की सहायता से कर सकती हैं, उसी प्रकार यह स्वीकार किया जा सकता है कि ननसुभी संस्कारों की सहायता से उस विषय का निर्देश कर सकता है जिसने अपनी पूर्व अवस्था में परिवर्तन कर लिया है।

'प्रमाख' के प्रत्यव को मारतीय दर्शन में एक प्रति महत्वपूर्ण विषय माना जाता है। 'प्रमाख' खब्द शुक्ततवा दो लिक्न प्रचौं में प्रयुक्त किया जाता है, (१) प्रसत्य प्रथमा भागक सज्ञान से निश्न एक सत्य मानसिक क्रिया के प्रयं में ग्रीर (२) उन

स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिक्यमनुमान चतुष्टयम्
 प्रमाशामिति विज्ञेय धर्मावयें मुमुक्षाः । —प्रमाशा-चन्द्रिका, पृ० ४ ।

संस्कार-सहकृतम् मनः धननुभूतामपि निङ्क्त-यूर्वाबस्या विषयीकुर्वत स्मरणम् अन्त्रयेत् इति को दायः, वर्तमान विषयाणि अपि इन्द्रियाणि सहकारि सामध्यति कासान्य-सम्बन्धियामपि गौचरयन्ति, यथा संस्कार-सहकृतानि सोयमित्यतीत-वर्तमानस्य विविध्टविषयप्रत्यमिज्ञा-सामगानि प्राकृतेन्द्रियाणि मनोष्टिति-जानं जनयति ।

<sup>-&#</sup>x27;प्रमास्त-पद्धति', पृ० २४ ।

सावनों प्रया परिस्थितियों की सस्थिति के प्रयं में वो जान की उत्पत्ति करते हैं।
पत्त्वादुक्त प्रयं में 'प्रमाण' का विवरण प्रयम साथ के पू० ३३०-२ में दिया वा चुका
है। ज्ञान के सावनों के रूप में 'प्रमाण' की व्याक्ष्या के सम्बन्ध में परस्प विरोधी
सन्द प्रकारण से पाये बाते हैं कि विचिव वर्षन-उन ज्ञान के दक्क. ए 'दं उद्यम के
सम्बंध में विधिक्ष दिष्किण प्रपाले हैं। इद प्रकार न्याय-वर्षन,कारलों की ऐसी
संस्थिति के रूप में 'प्रमाण' की परिमाया करता है वो ज्ञान ('उपलिब्ध' प्रयवा 'प्रजा')
को उत्यक्ष करती है। स्पृति के कारलों को 'प्रमाण' से केवल इस ज्ञाविक सामार
पर प्रपर्वाति किया जाता है कि तोग 'स्पृति' सब्द का प्रयोग त्यक्तार-जन्य ज्ञान
(संस्कार-माज-क्रमन्त) का निर्देश करने के सिबे करते हैं वार्च वर्षका 'प्रमा' अपवा
स्था जान से विभेद करते हैं, जो प्रमा विवयों के प्रमुख्य होता है।'

किन्तु जैन रासेनिक विषय को समिन्यक्ति के निर्देश (स्वोपदर्शकरव) को 'प्रमा' मानते हैं, तथा इस बात में उनका बौद्ध-सत से सन्तर है जो विषय की वास्तविक प्राप्ति के रूप में 'प्रमा' की परिमाया करते हैं (सर्प-प्राप्तकरव)। ये व्याप ज्ञान के प्रमुक्त में किए गए प्रयास के द्वारा तथा तदनुसार विषय को प्राप्ति की जा सकती है, तथापि ज्ञान का व्यापार केमन उसके हारा अमिन्यक्त विषय के निर्देश में ही निष्ठित होता है।

प्रमा-साधनं हि प्रमास्त न च स्कृतिः प्रमा लोकाधीनावधारस्यो हि सक्दाध-सम्बंधः, लोकश्च सस्कार मात्र-जन्मनः स्कृतेकास्यानुष्यविध्यमर्थाव्याप्तिचारिस्यी प्रमामाष्ट्ये नस्मात् तद्दै-पेतुः प्रमासम्बद्धाः ।

<sup>–</sup>तास्पर्य-टीका, पृ० १४।

प्रवृत्ति-मूला तृपादेयार्थ-प्राप्ति नं प्रमाणाचीना तस्याः पुरुषेण्छाधीन प्रवृत्ति-प्रमयत्वात् । —प्रमय-कमल-मार्तण्ड, पृ० ७ ।

अ यद्यय्य अनेकस्यात्कान-अत्यात् प्रवृतौ अर्थ-प्राप्तिक्तपापि पर्यालोक्यमानस्थ-प्रदर्शकत्वमेव ज्ञानस्य प्रापकत्व नान्यम् । —वही ।

यहाँ बीढों के विरोध में की गई टीका न्यायमूर्ण नहीं है, क्योंकि 'प्रवर्तकर्स' का मर्थ उनके लिये 'प्रयाजन्त मी है, वयधि उनके विधार में 'प्रमाश-व्यापार' के द्वारा सुचित किमा-योजी की परिसमाप्ति तभी होती है जबकि विषय पार्थ) बस्तुतः प्राप्त हो जाता है। प्रत्यम प्रवचा विश्वान' तो केवल विषय को प्रष्ठक करता है, तथा जब विध्य की मान्य करता है, तथा जब विध्य की मान्य जाता है और विषय की मान्य जाता है और विषय की मान्य की जाती है। विषय की बास्तविक प्राप्ति केवल हती मर्थ में महत्वपूर्ण है कि वहाँ मन्त में निविचत करता है कि 'विश्वान' सही है प्रयादा नहीं, क्योंकि जब 'विश्वान' के ठीक सनुक्य विषय की उपलब्धि हो जाती है तब 'विश्वान' मही कहा जा सकता है।

<sup>-&#</sup>x27;स्याय-बिन्दु-टीका,' पृ० ३, ४।

बतः जैन दार्शनिकों के बनुसार 'प्रमा' 'स्वार्थ-परिच्छित्ति' बथवा विषय के मान-चित्रस् के समनुत्य है, और उसका तात्कालिक साधन बयवा 'प्रमास' वह ज्ञान की बात्मगढ मान्तरिक बमक है जो उक्त वस्तुगत 'मर्थ-परिच्छित्ति' भयवा विषयों के निर्धारश को उत्पन्न करती है। ° हाँ, 'स्वावं-परिच्छिति' 'क्वान' का व्यापार मात्र प्रतीत होती है मतएव एक मर्थ में उससे एकरूप है, तथा इस प्रकार 'प्रमाख' ज्ञान से एकरूप है। किन्तु चूँकि यहाँ वस्तुगत निर्देशन को 'प्रमा' का सार-तत्व माना गया है, ब्रत: 'ज्ञान' धयवा ज्ञान की आन्तरिक अभिव्यक्ति उसका साधन अववा 'प्रमाश' माना गया है, धीर न्याय-दर्शन द्वारा मान्य ज्ञान की उत्पत्ति के बाह्य मौतिक साधनों श्रववा उप-साधनों को बहिष्कृत कर दिया गया है। ज्ञान की बारमाभिव्यक्ति ही तत्काल वस्तुगत निर्देशन एवं वस्तुगत निर्धारण को उत्पन्न करती है, तथा बन्य उपसावनों की संस्थिति ('साकत्य' अथवा 'सामग्री') केवल ज्ञान के माध्यम से ही उसकी उत्पन्न कर सकती है। " बत: केवल ज्ञान ही सबसे प्रत्यत्र एवं तास्कालिक पूर्व-साधन माना जा सकता है (साधकतम)। ऐसे ही कारएगों से जैन-दार्शनिक सांस्थ-मत को अस्त्रीकृत करते हैं जिसके बनुसार 'प्रमारा' इन्द्रियों का व्यापार है (ऐन्द्रिय हत्ति) तथा प्रभाकर मत की भी अस्बीकृत करते हैं जिसके अनुसार 'प्रमारा' जान के व्यापार मे जाता द्वारा अचेतन-स्तर पर की गई प्रक्रिया है।3

इस सन्बन्ध में इस बात पर ध्यान देना रुचिकर है कि वर्मोतर द्वारा स्पष्ट किया गया बौद्ध-मत, जैन-मत के निकटलम था गया है स्थोकि उसमें 'प्रमाल' एवं 'प्रमास-फल' का 'प्रान' में एकीकरत्य कर दिया गया है। इस प्रकार वर्मोत्तर के अनुसार 'प्रमास्य' का प्रमं है विवय के प्रमाय से उत्पन्न प्रस्यय बीर विवय का साइस्य, तथा प्रस्यय बपाया ''तान' को 'प्रमास-फल' कहा गया है, यद्यपि जान तथा उसे उत्पन्न करने बाले विषय का साइस्य स्वयं उस जान के व्यतित्वक नहीं है।' यह साइस्यता

धन्य-निरपेक्षतवा स्वार्थ-परिच्छित्तिसाधकमस्वाद ज्ञानमेव प्रमास्सम् ।

<sup>-</sup>प्रमेय-कमल-मातंण्ड, पृ० ५।

त्याय-दर्शन के 'प्रमाश' सम्बन्धी 'सामग्नी'-सिद्धान्त के खण्डनार्थ जैन-पुक्तियों के लिये देखिये ।
 -प्रमेय-कसल-मार्तण्ड, पृ० २-४ ।

१ त्तेनेन्द्रिय-इतिः प्रमाश्वमित्यनिदयानः सास्य प्रत्यास्थात एतेन प्रभाकरोऽन्यथं तथात्व-प्रकाशको ज्ञातृ-व्यापारोऽज्ञानक्योऽपि प्रमाशामिति प्रतिपादयन् प्रतिव्यूदः पतिपत्तव्यः।

भ यदि तर्हि ज्ञानम् प्रमिति रूपत्वात् प्रमाश्-फलम् कि तर्हि प्रमाश्मित्वाह, धर्षेन सह यत् सारूपं ग्रस्य ज्ञानस्य तत् प्रमाश्मिह ननु ज्ञानादव्यतिरिक्तं साहस्यम् तथा च सति तदेव ज्ञान प्रमाश्मम् तदेव प्रमाश्मकत् ।

<sup>--&#</sup>x27;न्याय-बिन्दु-टोका,' पृ० १८ ।

'प्रमाल' कही वादी है क्योंकि इसी साहस्थता के कारण अनुभव के विषय-विधेष का निर्वेश्व सम्मव होता है, नीलत्व का ज्ञान प्रत्यय की लित्व से साहस्यता के कारण ही सम्मव होता है।

'स्वार्ष-प्रमाणम्' के कप में मान हारा दी गई 'प्रमाण' की बरिनावा का सर्व है-यह विवक्त हारा एक विषय सपने नवार्ष स्वक्रम में बात किया जाता है। उसको उत्पन्न करने नाता हायन नाह्य इंदिय-सम्पर्क स्थापि हो सकता है कि यहाँ 'सनुस्माणं कहा गया है सीर को न्याय-दर्शन की 'सामसी' के सनुक्ष है, उपा 'साकी' की संत्रप्रमा के सान्तः प्राप्त की 'सामसी' के सनुक्ष है, उपा 'साकी' की संत्रप्रमा का प्रमाण का प्रयोग (केसल प्रमाण), जो सास्त्रपुर से एकक्ष्य है। इस प्रमार यह प्रमाल य वैनों के सारसान्य इंप्टिकोस एवं न्याय के वस्तुनिक्ट इंप्टिकोस) का सामंत्रप्त है।

#### स्वत:-प्रामाएय

'पम्प-दर्शन में 'दसाः प्रामाण्य' सिद्धान्त का कर्ष है 'वाली' हारा जन कान को स्था समस्त्रा जिसे सह योगें सपना धन्य समाधानें व प्रास्तिव्य होकर पहुंच करे।' 'पाओं 'एक बुडिमान एवं चेतन सरकाकर्ता है जो दिक एव दूरण का धन्य:-प्रशासक प्रयक्ष कर सकता है, धीर जब दूरल इतना होता है कि उससे यह संख्य उत्पक्ष हो जाय कि उससे योग ने करावित् प्रत्यक्षिकरण के दसक्य को प्रमासित कर दिया हो, तो बुडिमान धन्य: प्राप्त कर्ता बूटि के यथ से धन्यना निर्णय स्थित कर लेता है, और तब 'तससे नामक स्थित उत्पक्ष हो जाती है।' धन्ये 'तर्क-राध्य' में व्यावस्ति (तस्य-निर्णय' के टीकाकर की माथा में इस बाध्य को यह कहरूर धनिव्यक्त करते हैं कि 'वाक्षों हो साम एवं उचकी प्रमाणिकरा योगों को बहुण करने की क्यात रखता है कि वाक्षों हो साम एवं उचकी प्रमाणिकरा योगों को वहण करने की क्यात रखता है, तथा प्रतिवद्ध होने पर मी बह सम्पन्न सम्ता बनारे रखता है किन सम्बन्ध उसका प्रमोण नहीं करता।' वब प्रामाणिकता के प्रति सम होता है (प्रामाण्य-भ्रम), तद 'वाली

दोषाध्यप्रतिचद्धेन झान-ब्राहक-साक्षिणा
 स्वतस्त्वं झानमानत्विन्ग्गिति-निषमो हि नः । —'युक्ति-मस्लिका' १, ३११ ।

यतो दूरत्व-दोवेश स्व-मृहोतेन कुष्टित:,
 न निश्चिमीति प्रामाण्यं तत्र ज्ञान-महेऽपि स्व देखस्य-विप्रकर्षो हि दूरत्वं
 स च साक्षिणावर्गं हित् शब्यते यस्मादाकाशस्याकृतो ह्यासी ।

<sup>-</sup>बही, १. ३१३, ३१४।

साक्येसा ज्ञानं तस्त्रामाण्यं च विषयीकतुँ क्षत्रः,
 किन्तु प्रतिबद्धो ज्ञानमात्रं गृहीत्वा तत्-प्रामाण्य-ग्रहस्थाय न कमते ।

<sup>–&#</sup>x27;तर्क-ताण्डव,' पृ०७।

निष्क्रिय बना रहता है और मनस् अपने सासक्ति आदि माशवेगों से प्रमानित होने के कारत हुन्यस्थक कर बैठता है, तथा कसत: प्रामक प्रत्यक तरक होता है। अपने साम की प्रमानित होने हैं। अपने साम की प्रमानित होने हैं। अपने साम की प्रमानित होने हैं। अपने साम की प्रमानित होती है सबसे कोई ऐसा प्रतियोग न हो निक्के कारण 'यनस्' के फ्रामक प्रत्यकों के हारा उसकी प्रक्रिया में हस्तक्षेप हो। अतः यविष प्रमान एवं संख्य उत्पन्न हो सकते हैं, तथाणि यह सम्भव है कि साम का अपून्य करते स्थय साम तथा उसी काल में अपने बीव-रिहत समस्त प्रकृत क्यारारों में उसकी प्रामालिकता का भी प्रत्यक न करे, बन्यवा किसी समस्त प्रकृत क्यारारों में उसकी प्रमानित करता है, भी विक्रोम-जनक प्रमान हो वह 'साक्षी' की 'यहन वाक्ति को प्रभावित करता है, भीर उस अवस्था में समस्त होरा संक्षम एवं प्रस्ता प्रस्ति होती। कित्तु कही कही कित्तु कही कही सी मिला प्रस्ता में समस्त होरा संक्षम एवं प्रस्ता की स्त्रा स्थानित हो होती है। कित्तु वहीं कही सी मो कोई विक्षेप-जनक प्रभाव सक्ति नहीं होती हैं, वहीं 'साक्षी' साम एवं उसकी प्रमानित होती हैं। कित्तु कही कही हैं। हैं साम प्रस्ता में साम एवं उसकी प्रमानित होती हैं। से साम प्रस्ता में साम एवं उसकी प्रमानित हो होते हैं, वहीं 'साक्षी' साम एवं उसकी प्रमानित होती हैं।

सोमांसा भीर वेदाला में बात के स्वतः-प्रामाण्य की समस्या का सक्षिप्त विवेषन पहले ही है इस ब्यन के प्रयम भाग में किया वा चुका है। " जिस निषि से हम में, लिसी जान की प्रामाणिकता का प्रयस्त उदय होता है ध्यवना हमारे डारा किया जाता है (स्वतः-प्रामाण्य-जािक) और हम प्रपनी चेतना की प्रामाणिकता के प्रति जानकर होते हैं तथा जिस विविध से उक्त प्रामाणिकता बस्तुवन स्वाधार के स्वक्ष्य के कारण, स्वतः उत्पन्न होते हैं तथा जिस हम प्रपनी ने त्यान की प्रमाणिकता बस्तुवन स्वाधार के स्वक्ष्य के कारण, स्वतः उत्पन्न होते हैं (स्वतः प्रामाण्योवर्गित), उनमें जिमेदीकरण, फिया हम विवास से है कि हमारे प्रपन्न प्रवस्त प्रमुगान स्वय है, परवादुक्त का सम्बन्ध उस सिद्धानत से है का वस्तुवन्त उप प्रवस्त स्वतः उत्पन्न के प्रपन्न के उत्पन्न किया है वे उसकी उत्पन्न के प्रपन्न के प्रपन्न के प्रमाण्य सं 'प्रामाण्य' सम्द का प्रयोग 'प्रमार्थ स्वयस स्वयं के नैरियत्य के सर्थ में किया गया है।

ज्ञान-मीमांसा सम्बन्धी स्थिति में भेद के धनुसार हमारे ज्ञान की प्रामाशिकता के स्नात्मगत संप्रत्यक्ष का स्वरूप भी जिल्ल होता है। इस प्रकार प्रभाकर के धनुयायी

इस पर टीका करते हुए राषवेन्द्रयति लिखते हैं: 'प्रमाग्रस्य सहज-शक्ति-विषयस्यं प्रतिबन्धस्यले योग्यता प्रस्ति ।

मनसा न्वचिवत्रमावामिय प्रामाच्य ग्रहेण सर्वत्र तेनैव प्रामाच्य-ग्रहेणे स्टबरस-प्रसंतेन प्रमास्थेषु ग्रहीत-तत्-तत्-प्रामाच्यं स्टबरस्य निवसेन यावार्षस्य प्रामाच्य-ग्राहरूस्य साक्षिणो याव्यपपेशितत्वात् ।
 (श्रुक्ति मन्तिकां पर स्टोसस्तिके द्वारा रचित्र) ।

मारतीय दर्शन का इतिहास, माग १, पृ० २६८ टि० ३७२-४, ४८४।

ज्ञान को स्वयं-प्रकाशक मानते हैं, जिसका धर्य यह है कि ज्ञान के प्रकाशन के किसी भी क्षरण में ज्ञान के विषय एवं ज्ञाता के प्रकाशन का समावेश होता है। इस मत के धनुसार किसी भी प्रकार की ज्ञातता (ज्ञान-प्राहक), यथा 'मैं घट के प्रति चेतन हैं,' स्वयं में इस नैविजत्य का भी समावेश करती है कि उक्त ज्ञातता अन्य किसी वस्तु की बपेक्षा के विना सत्य है (ज्ञान-बाहकातिरिक्तानपेक्षत्वम्)। पर कुनिरिल के बसुयायी 'ज्ञान' को प्रमुखातीत एवं प्रतीन्त्रिय मानते हैं जो केवल संज्ञान की मानसिक प्रवस्था (ज्ञातता) यथा, 'मैं बट के प्रति बेतन हूँ,' से बनुमित किया जा सकता है तथा इस मत के बनुसार चूंकि मानसिक अवस्था ही एकमात्र ज्ञात वस्तु है, बत: ब्रांश उससे धनुमित किया जाता है भौर उससे संलग्न प्रामाशिकता उक्त धनुमान के कलस्वरूप ही भात की का सकती है। चूंकि एक विशेषु प्रकार की 'ज्ञातता' होती है, बतः सत्य ज्ञान होना चाहिये। जब बनुमान होता है तब ज्ञान से सम्बन्ध प्रामाखिकता केवल शामासी ही हो सकती है, इसलिये वह विशेष प्रकार की 'ज्ञातता' के बाखार पर किये गये धनुमव पर बाधित रहती है (यावत्-स्वाध्यानुमिति-बाह्यत्वम्) । इस मत के अनुसार जब हम एक विषय के मासित होने पर उसे जात करते हैं तब उससे उत्पन्न परिस्थिति का विश्लेषण यह है कि वह ज्ञान का एक स्वायी इकाई के रूप में विभेदीकरण करता है जो उचित इन्द्रिय-सम्पर्क छादि के साहचर्य के विशेष-विशेष प्रकार की ज्ञातता की उत्पन्न करता है जिनमें विशिष्ट एवं विशेष 'विषयता' (भयवा 'कमैता') समाविष्ट रहती है, यथा 'मैं एक घट को ज्ञात करता है।' इस मत में विषयता ज्ञान की उपज होने के कारए। ज्ञान से एकरूप नहीं हो सकती। यह ध्यान मे रखना चाहिये कि 'विषयता' एक रहने पर भी (यथा, 'भूमि पर एक घट' तथा 'घट पर भूमि' एक-रूप नहीं हैं, यद्यपि घट एवं भूमि से सम्बंधित विषयता एक समान ही है) सम्बन्ध-भेद के कारण उक्त विषयता के स्वरूप में महत्वपूर्ण अन्तर हो सकते हैं। ऐसी अवस्थाओं में यह मत प्रस्तुत किया जाता है कि विषयता ज्ञान मे मिन्न होती है, ज्ञान 'निस्य' सत्ता है, विषयता एक समान रहने पर भी सम्बन्धों का भेद (प्रकारता) ज्ञातता के स्वरूप में भेद उत्पन्न कर सकता है, बत: प्रत्येक 'झातता' का धर्थ होता है प्रपने विशिष्ट सम्बन्धी सहित प्रत्येक विशिष्ट 'ज्ञातता' केवल यह 'ज्ञातता' ही साक्षात् एवं तत्काल प्रत्यक्ष की जाती है। इसलिये ज्ञान एक अनुभवातीत सत्ता है जो इन्द्रिय गम्य नहीं बन सकता (भ्रतीन्द्रिय), परन्तु केवल ज्ञातता को भनुकूलित करने वाले एक तत्व के रूप में अन्मित किया जा सकता है। ज्ञातता की उत्पत्ति उसकी प्रामाशिकता के प्रत्यय तथा उसको धनुकूलित करने वासे 'ज्ञान' की प्रामाखिकता को उत्पन्न करती है।"

<sup>ै</sup> गगेश की 'आष्ट्र-चिन्तामिल्' पृ० १६-१=। किन्तु जैसाकि मधुरानाथ 'प्रामाण्यवाद' पर 'तत्व-चिन्तामिल्' की बपनी टीका (पृ० १४४) में संकेत करते हैं, धनुषान 'इस ज्ञातता घटत्ववति चटत्व-प्रकारक-ज्ञान-जन्या घटत्ववति चटत्व-प्रकारक-जातता-

परिवर्तित होती हुई जातता की धवस्थाओं से मिल्र 'जान' के धनुमवातीत अस्तिस्व को स्वीकृत करने की बायरयकता कदाचित् 'ज्ञान' के रूप में एक ऐसी नित्य बारमनिष्ठ सत्ता की ध्यवस्था करने की इच्छा से उत्पन्न होती है जो स्वयं में एकरूप रहकर अन्त-तोगत्वा ज्ञातता की सर्व अवस्थाओं को निर्धारित कर सके। मीमांसा के एक अन्य महत्वपूर्णं व्यास्थाकार मुरारि मिश्र के मत में वस्तुनिष्ठ ज्ञान (यथा, घट का ज्ञान) के परवात् स्व-निष्ठ धारम-वेतना उत्पन्न होती है जो विषय के ज्ञान को भारमन् से सम्बंधित करती है (धनुक्यवसाय), भीर यही 'धनुव्यवसाय' ज्ञान के शन्तिम रूप को निर्मारित करता है जिसके फलस्वरूप उसकी प्रामाणिकता का धन्तर्ज्ञान उपलब्ध होता है। प्रभाकर, कुमारिल एवं मुरारि मिश्र के इन तीनों प्रकार के 'स्वत:-प्रामाण्य' को समाविष्ट करने के लिये गंगेश द्वारा श्रपनी 'तत्व-विन्द्वामणि' में एक व्यापक परिमाचा निम्न प्रकार से वी गई है: किसी ज्ञान की प्रामाणिकता (उस सवस्था के सतिरिक्त जहाँ ज्ञान का जिय्यात्व ज्ञात होता है, यथा, रजत का वह ज्ञान मिथ्या है) उसकी ज्ञान-प्राहक सामग्री के सम्पूर्ण संगठन के द्वारा सूचित की जाती है, तथा केवल उसी के द्वारा सुचित की जाती है। इस परिमाधा के मूल्य का विवेचन करते हुए व्यासतीय उसकी शब्द-रचना में कई दोष बताते हैं तथा यह कहकर उसकी झालोचना करते हैं कि 'स्वत.-प्रामाण्य' सिद्धांत की परिमाधा देते समय इस धर्त का धारोपण करना दोषपूर्ण है कि ज्ञान उसी 'सामग्री' के द्वारा सूचित किया जाना चाहिये जो उसकी प्रामाखिकता को उत्पन्न करती है, न्योंकि यह शर्त तो 'परतः प्रामाण्य' सिद्धात में भी पूरी हो जाती है, क्योंकि उसके बनुसार भी किसी ज्ञान की प्रामाखिकता को सूचित करने वाली 'सामग्री' वही होती है जो उस ज्ञान की उत्पत्ति को सम्मव बनाती है।3 व्यासतीर्थ

त्वात्'के रूप का नहीं होता है, बल्कि 'श्रहं ज्ञानदान् ज्ञाततावस्त्रात्'के रूप का होता है।

ज्ञानस्यातीन्त्रियतया प्रत्यक्षा-सम्प्रवेन स्व-जन्य-ज्ञातता-निवकानुमितिसामग्री स्व-निष्ठ-प्रामाण्य-निवचयिता इति माट्टा: ज्ञातता च ज्ञाता इति प्रतीतिसिद्धी ज्ञानो-क्षजन्य-विचय-सम्वेत: प्राकट्यापरनामा क्षतिरिक्त-पदार्थ विकेय: ।

<sup>-&#</sup>x27;तत्व-चिन्तामिंग' के 'प्रमा गा-वाद-रहस्य' पर मयुरानाय, पृ० १२६

<sup>(</sup>एशियाटिक सोसायटी का संस्करण)।

तदप्रामाष्य-गाहरु-गावज्ञान-गाहरु-दामग्री-गाहात्वम् । -वही, पु० १२२ ।
 ितन्तु 'शान-गाहरु-दामग्री' तीन मीगांवा-मत्तों में मिन-मिन्न है पर्यात्
प्रमाकर-मत में स्वयं प्रकाश ज्ञान, माह-मत में बतुमान, तथा 'धतुस्वदसाय' के रूप
में शारम-मैतना युरारि मित्र के सत में ।

तथा च यावति प्रामाष्यविषयिका शामग्री तद्-श्राह्मत्वं स्वतस्त्विमत्युक्तं स्यात्, तथा च एताद्यस्वतस्त्वस्य परतस्त्वपक्षवा सत्वात् सिद्धशायनम् ।

<sup>−&#</sup>x27;तकं-ताण्डव,' पृ० १२ ।

हारा प्रस्तावित 'स्वतः-प्रामाष्य' की गरिमाचा गरेख हारा घपनी 'ताव-विन्तामिएं' में दी गई हुसरी वैकलिष्य परिमाचा ते सहस्त है: यह बान को उत्पन्न करने वाली सामग्री को स्वेतक रुपते हों तो सहस्त है: यह बान को उत्पन्न करने वाली सामग्री को स्वेतक रुपते हों तात की स्वतः प्रामाणिकता उपका वह लक्षण है वो किसी ऐसे जान के द्वारा वहण नहीं क्रिया काता है विवक्ष विषय कह सामग्री हो विवक्ष में प्रामाणिकता को मात्री है, स्वांत, वहीं जान वो किसी विषय को बहुण करता है उसी किया के हारा, किसी सम्पन्न व्यवहित प्रक्रिया में प्रतिषट हुए विना, उसकी प्रामाणिकता को भी प्रहुण कर लेता है। 'हम देवींगे कि यह मत 'स्वतः-प्रामाण्य' सम्बन्धे मात्री हम प्रति प्रतिप्रति की मत्री के स्वांत के प्रति प्रतिप्रति की मत्री हम ति की प्रति प्रति हम प्रति हम ति स्वांत के प्रति प्रतिप्रति हम ति स्वांत के स्वांत करता है। 'हम विकास को ने के प्रति प्रतिप्रति हम ति स्वांत है । 'सा प्रति हम प्रति हम प्रति हम ति स्वांत करता है। 'सा स्वांत करता हम स्वांत करता है'। चित्र मत्री से स्वतः स्वाग्य का जात हो। सी स्वांत स्वांत हम स्वांत करता है'। चित्र मात्री करता हम सामग्री हम सामग

व्यावतीर्थ इत तत पर बन देते हैं कि दोशों एवं बांकाओं की धनुवास्त्रित में (दोन-संकाधिना अतास्करितः) किही बहलुपत तथ्य की झात्मपत कनुशूर्ति वपनी प्रमाणिकता इत्यं लिये हुए होती है। वे निर्देश करते हैं कि यह कहना सही रही हैं कि विषय के बहुत्तर तृष्ट है इत्यं स्थापक के वार्क्यूप सी प्रशिक्त का कारण प्रमान जाना चाहिये, क्योंकि यह पुविदित हैं कि ऐसे इत्यिय-सम्पर्क के बारकुष सी यदि कुनिनरीक्षण को उत्यक्त करने वाले वीभ वीभा वाले होती है। यह समाण कहीं मिक्ट उनपुक्त है कि स्थापना कहीं मिक्ट उनपुक्त है कि स्थापन समाणी से ही हो हान की प्रमाणिकता को उत्पक्त नहीं कारण मिक्ट हो है, क्योंक स्थापन सम्पर्क होता है अधिक का उत्पक्त नहीं कारण स्थापन करता। है सोचों का समाण मी हान की प्रमाणिकता को उत्पक्त नहीं करता। है दोशों का समाथ मी हान की प्रमाणिकता को उत्पक्त नहीं

तज्-ज्ञान-विषयक-ज्ञानाजन्य-ज्ञान-विषयत्वमेव स्वतस्तम् ।

<sup>-</sup>वही, पृ० १५ और 'तस्व-चिन्तामिए' पृ० १२२।

श्रासतीर्थं द्वारा स्वीकृत 'स्वतः-प्रामाध्य' की उपयुंक परिशाघा 'तत्व-चिन्तामित्य' में एक ऐसी परिमाचा के रूप में दी गई है विवसे मीनांचा की तीनों बाबाधों के मतों में सामान्य सहमति है (सठ-त्रय-साचारत), उत्तमें 'तद-तान-विषयक' सब्द को 'ज्ञातानुवन्धिविषयतायम' के रूप में एक विशिष्ट व्याक्या का समावेश होता है। (वेसिये-मयूरानाय की टीक, पु॰ १४४)।

<sup>&</sup>quot; 'तकं-नाण्डव' पु व व न-६०।

बोबों का समाव तो केवल एक निवेवात्मक तत्व है जो नि:संदेह समिवार्य है किन्तु किसी भी प्रकार से स्वतः-प्रामाण्य की उस सकारात्मक अनुभूति का निर्माणकारी तत्व नहीं है, जो ज्ञान की सामग्री से तत्काल एवं अपरोक्षत: उत्पन्न होती है।° दोवों की उपस्थिति में भी संयोग हो सकता है। किन्तु सर्व भ्रामक ज्ञान दोवो की उपस्थित के कारए। उत्पन्न होता है, क्योंकि उस दशा में ज्ञान का विषय हमारे समझ विद्यमान नहीं होता, तथा उससे वास्तविक इन्द्रिय-सम्पर्क नहीं होता । श्रतः मध्व के श्रनुयायी 'परत:-कप्रामाण्य' के सिद्धान्त को मानते हैं, जिसका उनके मतानुसार यह अर्थ है कि श्रमामाणिक ज्ञान के समस्त उदाहरण ज्ञान की सामग्री से मिल श्रन्य कारणों (श्रवीत् 'दोबों') से उत्पन्न होते हैं। <sup>3</sup> इस प्रसंग में वादिराज अपनी 'युक्ति-मल्लिका' में यह निर्देश करते हैं कि दोषामाय ज्ञान की सामग्री का विशेषक लक्षण होने के कारण स्वयं में प्रामाखिक ज्ञान (प्रमा) का एक स्वतंत्र कारख नहीं माना जा सकता। सामान्य व्यवस्थाको में किये गये प्रत्यक्षीकरण के ब्रधिकांश उदाहरणों में हमे सत्य ज्ञान प्राप्त होता है, तथा केवल विशेष परिस्थितियों में ही सक्षय होता है और संवीक्षण की आय-रयकता प्रतीत होती है। यदि ज्ञान के प्रत्येक चरण में उसकी प्रामाणिकता के संबंध में शंका होती, तो 'मनवस्था' दोष उत्पन्न हो जाता, मतएव हम किसी ज्ञान की प्रामाशिकता एवं निश्चितता की कदापि अनुभूति नहीं कर पाते। \* व्यासतीर्थ न्याय के सहका मत मे पाये जाने वाले अनवस्था दोष पर भी बल देते है, जहाँ झान की प्रामाणिकता सनुवर्ती बाह्य परीक्षणो द्वारा निश्चित की जाती है (परतस्त्वानुमान) वे निर्देश करते हैं कि हमारे ज्ञान की प्रामाशिकता का निश्चय हमें कार्य में प्रवृत्त करता है (प्रामाण्य-निश्चयस्य प्रवर्तकत्वम्) । पर, यदि प्रत्येक ज्ञान की प्रामाशिकता का अन्य ज्ञान के द्वारा परीक्षास करना पडे तो स्वमावतः अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। <sup>६</sup> किन्तु 'साक्षी' अपनी अवस्थाओं, अपने सुख-दु:ख को साक्षात् एवं तत्काल कात करता है, तथा ज्ञान के ऐसे संदेहरहित स्वत:-प्रामाण्य उदाहरएों मे संशय की कोई सम्मादना नही रहती।

दोषाभावस्यापेक्षितत्वेऽपि प्रमा-जनन-शक्तिः सहाया । —वही पृ० ६६ ।

<sup>ै</sup> उक्तं हि विष्णु-नत्व-निर्णय-टीकायां दोषामाबोऽपि न प्रामाण्यकारणम्, यादण्डिक-संवादादिषु सत्यऽपि दोवे प्रमा-क्षानोदयात् । —वही, पृ० ६६ ।

³ वही, पृ० ह= । 'विष्णु-तत्व-निर्णय' मी, पृ० २ ।

<sup>&</sup>lt;sup>५</sup> 'युक्ति-मल्लिका,' क्लोक॰ ३४३-७०, तथा उस पर रचित सुरोत्तमतोषं की 'भाव-विलासिनी' ।

<sup>&</sup>quot;तर्क-ताण्डव," पृ० ४१–६ ।

वही, पृ०४६-५०।

## ब्रान्ति और संशय

ज्ञान के स्वत:-प्रामाध्य का उपरोक्त विवेचन हममें स्वमावत: मध्य के भ्रम-सिद्धान्त तथा भारतीय दर्शन के अन्य सम्प्रदायों द्वारा स्वीकृत अन्य अम सिद्धान्तों को कांडित करने की उसकी विधि के सम्बन्ध में जिल्लासा उत्पन्न करता है। मध्य-दर्शन में किसी विवय के बन्यवा-जान को भ्रम कहा जाता है (बन्यवा-विज्ञानस एव भ्रान्ति). धीर भ्रम का 'बाख' 'सम्यग-जान' के उदय के द्वारा भ्रामक बाकार के मिध्यात्व को जात करने में निहित होता है। इसका तात्पर्य यह है कि अग वह जान है जिसमें एक वस्तु बन्य वस्तु के रूप में मासित होती है, जो असतु है वह सतु के रूप में मासित होता है, तथा जो सत् है वह बसत् के रूप में भासित होता है। अस दोषों से प्रमावित इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। दोष केवल विरोध ही उंत्पन्न नहीं करते, वे विषय का एक गलत प्रदर्शन भी उत्पन्न कर सकते हैं. अव: वे न केवल अनिरीक्षण के लिए बल्कि कनिरीक्षण के लिए भी उत्तरदायी होते हैं। बाद बात यह है कि ज्ञान का विषय केवल वही हो सकता है जो किसी प्रकार उसकी उत्पत्ति को प्रमावित कर सके. शक्ति के सम्बन्ध में रजत के एक भामक शान में रजत असत होने के कारण ज्ञान की उत्पत्ति में कोई माग नहीं ने सकती, प्रतएव वह ज्ञान का विषय नहीं बन सकती। इसके उत्तर में जयतीयं कहते हैं कि एक असत वस्तु भी ज्ञान का विषय बन सकती है। हम सभी धतीत की घटनाम्रो को भनुमित करते हैं तथा वस्तुम्रों का उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में उल्लेख करते हैं जिनका अस्तित्व दीर्घकाल से समाप्त हो चुका है। ऐसे उदाहरएगे में यह कहा जा सकता है कि ग्रसत् वस्तुओं ने ज्ञान को उत्पन्न नहीं किया है किन्तु उसको निर्धारित (निरूपक) किया है। यह माना जा सकता है कि ऐसे निर्धारण के लिये उस बस्त के तात्कालिक श्रस्तित्व को प्रवंग्रहीत नहीं किया जाता. वयोंकि उसको ऐसे प्रत्यय सकल्पना, अथवा ज्ञान तक सीमित समक्षा जा सकता है जिसके अनुरूप किसी वस्तुगत सत्ता की उपस्थिति अथवा अस्तित्व के प्रति कोई उल्लेख नहीं होता । यह प्रापात उठाई जा सकती है कि एक विषय के ट्राप्ट-प्रत्यक्ष की अवस्था में यह निश्चित है कि वह विषय द्वारा इन्द्रिय-सम्पर्क के माध्यम से उत्पन्न किया जाता है, परन्तु सुक्ति में रजत के अम की धवस्था में रजत वस्तुत: धनुपस्थित होती है, प्रतएव उसका कोई इन्द्रिय-सम्पर्क नहीं हो सकता. और फलत: उसका कोई इंटि-प्रत्यक्ष सम्भव नहीं हो सकता। इस आपत्ति का यह उत्तर दिया गया है कि दृष्ट दृष्येन्द्रिय ही शक्ति के सञ्जिक्षं होने के कारण एक ऐसे संज्ञान को उत्पन्न करती

<sup>&#</sup>x27; 'न्याय-सूघा,' पृ० ४६ ।

<sup>&</sup>lt;sup>३</sup> वही पृ०स०४⊏।

है वो उसे सर्वेचा प्रस्तु रजत के रूप में प्रद्र्शित करता है। ' जयतीयं कहते हैं कि
यह चुक्ति देना समीपीय नजहीं है पार्ट एक विषय के विना जान हो सकता है, तो
कोई मी ज्ञान विश्वसनीय नहीं है पार्ट एक विषय के विना जान हो सकता है, तो
कोई मी ज्ञान विश्वसनीय नहीं हो सकता, क्योंकि सामान्यतः ज्ञान स्कटमानाम्य होता
है (बीत्समिक ज्ञानानां प्राप्ताच्यन्) । धारमनेतन कर्ता (सांत्री) किसी प्रस्य प्रक्रिया
प्रस्या कर्ता की सम्प्रस्थना के विना प्रस्यक्षीकरत्य करता है धीर स्वयं के प्रति समानिक
व्यवस्थाओं की प्रामाशिकता को प्रमाशित करता है। यह प्रपरोक निवस्त प्रयुद्धा
प्रस्य विश्वसाय विस्तर्भी हम बेतन प्रस्यकार्त्ताधी के नाते उन सभी प्रस्याभी में प्रपुद्धा
करते हैं जिनमें उत्पन्न ज्ञान कुनिरोक्षण प्रयुद्धा प्रस्ता काता है। " एक प्रमाक
प्रस्त्यक की प्रस्तवन में (पणा, रजत के रूप में खुक्ति) एक बस्तु का प्रस्त्र के प्रस्तवन की प्रमान
प्रस्त्यक की प्रस्तवन में (पणा, रजत के रूप में खुक्ति) एक बस्तु का प्रस्त्र के प्रस्तवन की
प्रमान की प्रस्तुत हो, तथा चलका ऐसा होना प्रपोक्त कर में प्रस्त्रक नियम वाता है, तथा चलका ऐसा होना प्रपोक्त कर में प्रस्त्रक नियम वाता हो, यह चलका हो किया वाता तो
रजत को दूक्ति सामा मनुष्य चुक्ति को उठाने के लिये क्यों मुकता ? रजत का भ्रामक
प्रस्त्रक नी प्रस्तुत ने प्रसाम प्रस्त्रक की विश्व क्यों मुकता ? रजत का भ्रामक
प्रस्त्रक नी प्रस्तुत के प्रसाम प्रस्त्रक से विश्व नहीं होता ।

णुक्ति-रज्ज के अस के सम्बन्ध में सीमांशा-मत जिसके अनुसार वह रजत एव स्पृति की मुक्ति के प्रश्यक तथा उनमें विश्वेष करने की धसमयंता से निर्मित्त होता है— के विरोध में तर्फ देते हुए जमती में कहते हैं कि ऐसे उदाहरणों से रजत के मामास में स्पृति के कोई सक्षण नहीं होते, तथा रह निष्या विश्वास से उत्तक किया की आपक्षा केवल एक स्पृति-प्रतिमा एव एक हस्य प्रश्यक के मेद के धविषेक के द्वारा ही नहीं की जा सकती। दो बस्तुधों में धविषेक को समाविष्ट करने वाला एक कोरा निषेध किसी आफ्ति को किसी निर्मयत वरण की प्ररूपा नहीं दे सकता। इसके धतिरिक्त, यदि कोई व्यक्ति स्वृति-प्रतिमा के यथा-तथ्य एक प्रश्यक्त के यथा-तथ्य क्य के प्रति

शंकर सम्प्रदाय के द्वारा दी नई अम की व्याक्या के विरोध में जयतीय धायह करते हैं कि यह मत भी सही नही हैं कि बुक्ति-रकत 'धनिवंचनीय' है, क्योंकि इस धनिर्मवंचनीय स्वरूप का धर्म यह होगा कि यह न यत है, न धनत है और न सस्तद है। इसमें से प्रयम एवं धनिनम विकल्पों को तो मध्य-यत के धनुसार मी स्वीक्षण किया जाता है। दिवीय मत सही नही हो सकता, क्योंकि यह धस्वीकार नहीं किया वा सकता कि ससत् रकत को हमारे समक्ष उपस्थित होने का धानास हुआ था। यह

श्रुक्तिका-सश्चिक्ष्ट दुष्टिमिन्द्रियं तमेव अस्यन्तासद्वजतामेन अवबाह्मानम् शानं जनयति । —न्याय-सूथा, पु० ४८ ।

वही, पृ०४८।

उत्तर दिया वा सकता है कि उक सामाख दोवों की उपस्थित के कारण हुमा था, क्योंकि वो ससत् था रह हात का विश्व पत हुँ बन सकता था, उत्तर वेंबालि संकर के सत्तुवासी बानतर है कि "प्यविष्ठान" 'हर्ट का सान एक सत्तर स्वत्यकरण-धरी है, तो फिर कोई दोच कैसे हत्त्वकेष कर सकता है?' यदि वह सन्विचनीय है, को फिर पुत्ति-त्यक प्रयासीकरण के समय सत् भीर उनके पश्चात् प्रसुप्त को स्वास है होता है, तथा वह किसी मो काल में प्रविचनीय मोधित क्यों नहीं होती ? हरके प्रतिरिक्त संकरवादी के लिये यह स्वास्त्र क्या करनी हरकर होगी कि समय करनी हरकर होगी कि समय क्या है।

वादिराज प्रपनी 'वृक्ति-मस्विका' में निर्देश करते हैं कि शावारएं। प्रथमिकरण में भ्रांत भरने समुख एक सता, 'दर' के सम्मक्ष में भ्रांती कु जिसे 'विकेश्य' माना का सकता है, तथा परिस्था माना का का निर्देश के साथ जोडात्म का सम्मक्ष होता है। किन्तु भागक प्रथस में 'उत्तर' का सक्षण विशेष्य 'दर' से सम्बंधित नहीं होता, भ्रतएव 'वा प्रथम प्रयास के इत्तर के बात जोडात्म कहीं की जा सकती, भ्रतएव उक्त भागक जान की स्वास माना के स्वास प्रयास के स्वास प्रयास का कि नहीं की जा सकती, भ्रतएव उक्त भागक जान की स्वास नहीं मानवर की जा उक्तो है कि वह दोशो की जयरिवात के कारएं। उत्तर होता है। इतित थ्यार्थ जान एवं भ्रामक जान की भ्रत्याम नहीं भागवर वा की सकता है की सम्मा क्षान साम की स्वास की है कि वह दोशो की अवस्था में 'जात-समसी' निम्म-मिन्न होती है, पूर्वोक्त भ्रवस्था में 'जात-समसी' सोम-समस्र होता है। 'दंधि' का प्रमाद होता है। 'दंधि' का भ्रमाव हिता है। सामा का निर्देशिक सम्बर्ण होने के कारण उपनयान का एक बात कार करता नहीं कारावा जा सकता होने के

यह बताना बावस्थक है कि सम्यम्झान का दो ब्रग्य प्रकार के झान, घर्षांतु, भ्रामक झान (विषयोच ) एवं स्थाय में हस तथ्य के वारल विशेष होता है कि केवल वहीं निविश्त एवं निकस्थ कार्य को प्रवृत्त करने की योग्यता रखता है। है कुझ बिद्वानों का कवन है कि संसय पांच प्रकार का माना जा सकता है। " प्रथम तो वस्तुधों के

भायावादि मते अधिष्ठान-क्षानस्य ग्रन्तःकरण इत्तित्वेन् सत्यत्वान् न दोष-जन्यत्वम् । -वही, पृ० ५६

<sup>&</sup>lt;sup>२</sup> युक्ति-मल्लिका, गुग्-सौरभ, इलोक ४६०-५००।

अवधारमात्वं च निष्कम्प-प्रवृत्ति-जनन-योग्यत्वम् । जनार्वन की 'जयतीर्थ-विजय'

<sup>-</sup>प्रमारा-पद्धति पर एक टीका, पृ० १०।

<sup>&#</sup>x27; 'न्याय-सूत्र' १. १. २३ की ब्याख्या करते हुए वास्त्यावन वह विचार प्रकट करते हैं कि संवय पांच प्रकार का होता है-ब्राचाँत 'सवान-धर्म,' 'न्यानेक घर्म,' 'विप्रतिपत्ति'

समान सक्षणों के निरीक्षण के कारण होता है, जैसे, कुछ दूरी पर एक मनुष्य जितना कंचा पदार्थ देखकर कोई व्यक्ति एक वृक्ष के ठूंठ और एक मनुष्य दोनों को स्मरए। करने में प्रवत्त हो सकता है, तबा प्रत्येक के असाधारण धर्मों, धर्यात वृक्ष के छेदों, रक्ष व कठोर पृष्ठ मादि भौर मनुष्य के सिर, हावों भौर पैरों की गति का विभेदीकरण करने में असमय होने के कारए। वह स्वभावतः संशय कर सकता है कि 'क्या वह एक वक्ष का ठंठ है अथवा एक जनुष्य है ?' दूसरे, एक व्यक्ति यह देखकर कि 'आकाश' का विशेष लक्षरण (बसाधारण वर्म) सन्द है, यह संशय कर सकता है कि क्या सन्द, शब्द के रूप में नित्य है। तीसरे, यह देखकर कि सांस्य और वैशेषिक मतों के बनुयायी इन्द्रियों के 'भौतिकत्व' के सम्बन्ध में परस्पर विरोध (विप्रतिपत्ति) करते हैं, यह मशय हो सकता है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं अथवा नहीं। चौथे, जब एक कुएं को खोदने के परचात् हमें जल प्राप्त होता है (उपलब्धि) तब यह संशय हो सकता है कि क्या वहाँ जल पहले से या तथा खोदने की प्रक्रिया से केवल प्रकट हुआ, अथवा क्या वह मस्तित्व मे नहीं वा किन्तु सोदने की प्रक्रिया से उत्पन्न हुमा। पांचवें, ऐसी एक जनअति हो सकती है कि अमुक वृक्ष में एक प्रेत का निवास है, पर जब हम वहाँ जाते हैं भीर उसे नहीं देखते (अनुपलब्धि) तब यह सशय हो सकता है कि क्या मेत वस्तुत: वहाँ या किन्तु स्वयं को झहरय बना लेने की अपनी शक्ति के कारण वह देखा नहीं गया, अथवा क्या वह उस बुक्ष में कोई अस्तित्व ही नहीं रखता था। परन्तु अन्य

<sup>&#</sup>x27;उपनिवर्ध थीर 'धनुष्विवर्ध' के द्वारा उरुष्क सचय, जिनमें से प्रथम दो तो समान एवं प्रसमान सहसान से बहुनिक्छ बटनाए हैं तथा धनिनम दो जान तो उपनिवित्त एवं प्रमुद्धानित की धारतिकिट अहरनाएं हैं। उपनिवित्त एवं प्रमुद्धानित की धारतिकट अहरनाएं हैं। उपनिवित्त प्रमुद्धानित की धारतिकट अहरनाएं हैं। उपनिविद्धानित के स्वाप्त के साम के बत प्रथम नीन प्रकार के सवध्यों अपनीत 'साम कि स्वत्त प्रथम नीन प्रकार के सवध्यों अपनीत 'साम कि स्वत्त प्रथम नीन प्रकार के साम के स्वत्त प्रथम नीन प्रकार के साम के स्वत्त प्रथम नीन प्रकार के होने का कथन करते हैं, धानतिक (यथा, वस कोई यह सवेह करता है कि ज्योतिविध की से प्रविच्धानित्र की ने अविच्धानित्र की साम क्या करते हैं, धानतिक (यथा, वस कोई यह सवेह करता है कि ज्योतिविध की से प्रविच्धानित्र की में, एक विवेष उदाहरएंगें में सत्य वार्दि की सीन अपनीतिविध नी के प्रविच्धानित्र की स्वत्त वार्दि के साम का स्वत्त है अपनी नहीं। और बाह्य (यथा, वस कोई यह सवेह करता है कि उसके सम्भूत सिर्ध हिट्ट एक सुवह है ध्रममा (यथा, वस कोई यह सवेह करता है कि उसके सम्भूत सिर्ध है)। बाह्य सवय पुतः दो प्रकार का होता है, (१) अब विषय प्रमूर्णीत में देखा जाता है, तथा (२) अब उसका के दक एक मान ही देखा जाता है है तथा है उसका के दक एक मान ही देखा जाता है है तथा है।

<sup>–&#</sup>x27;न्याय-कन्दली, पृ० १७५–६।

विद्वान चौथे ग्रीर पांचवें, 'उपलब्धि' ग्रीर 'धनुपलव्धि' सम्बधी प्रकारों को प्रथम प्रकार, प्रयांत समान वर्ग (साधारण वर्ग) के प्रत्यक्षीकरण में समाविष्ट करते हैं तथा इस प्रकार केवल तीन प्रकार के संघय को ही मानते हैं। किन्तू जयतीर्थ का विचार है कि 'ग्रसाधारण धर्म' एवं 'वित्रतिपत्ति' सम्बंधी, धन्य दो प्रकारो का नी प्रथम प्रकार में समावेश किया जा सकता है. क्योंकि एक बसाबारण धर्म स्वर्ध दो वस्तकों के स्मरण को प्रेरित नहीं कर सकता जिससे संशय उत्पन्न होता है। यह जानना कि शब्द माकाश का मसाधारए। वर्म है, कोई ऐसे दो पदार्थों का स्मरए। करना नहीं है जिनके मध्य संशय हो. तथा संशय के पूर्व दो पदार्थों का स्मरण होना बादरेशक है। साधारण धर्म भावात्मक धथवा धभावात्मक हो सकते हैं। इस प्रकार 'ब्राकाश' में एक तो ऐसे गुराों की श्रेशी होती है जो ग्रानित्य वस्तुम्रों में नहीं पाये जाते (नित्य-व्यावत्वल-विशिष्टम् बाकाश-गुरात्वम और बनित्य व्यावत्तत्व-विशिष्टम् बाकाश गुरात्वम्) । यह संशय हो सकता है कि क्या शब्द, जो बाकाश का एक बसाबारता वर्म है, 'बाकाश' के उन गुर्गी मे से है जो 'झाकाश' एव नित्य वस्तुओं में समान हैं, धववा 'झाकाश' झानत्य वस्तुओं में समान हैं। बत: यह सदाय भी प्रथम प्रकार के सदायों, बर्बात् 'साधारए। धर्म' के प्रत्यक्षीकरण ने सम्बंधित संशयों के अन्तर्गत माना चाहिये। मध्य के भनुयायी अपने 'विशेष' के सिद्धान्त के कारण एक ही बस्त में दो विरोधी गर्मा की श्रीरायों के प्रस्तित्व पर सहमत हो सकते हैं। इसलिये परस्पर विरोधी मतो अथवा विप्रतिपत्तियों की स्थिति में भी सभय भौतिक एवं अभौतिक पदार्थों में साधारण धर्मों के प्रत्यक्षीकरण के द्वारा उत्पन्न माना जा सकता है, झतएव एक व्यक्ति यह सवाय कर सकता है कि इन्द्रियाँ कुछ गुराो में भौतिक पदार्थों के समान होने के काररा भौतिक है अथवा अन्य गुराो में समीतिक पदार्थों के समान होने के कारण समीतिक हैं। इसलिए मध्य-दर्शन के मनुसार स्वाय केवल एक प्रकार का ही होता है। जयती थं कहते है कि वैशेषिक मत के अनुयायियों के विचार में सशय और अम (विषयंग) के अतिरिक्त दो प्रकार का मिथ्या ज्ञान होता है, प्रवृति अनिविचतता (अन्यवसाय) और स्वप्न । अन्यवसाय संशय से मिश्र नहीं हैं, क्योंकि वह दो बस्तुओं के मध्य में दोलन नहीं होता, बल्कि मनन्त सम्भावनाम्रो के मध्य में होता है; यथा, यह बुक्ष कौनसा है ? जयतीर्थ कहते हैं कि उदाहरणों में अनध्यवसाय को ज्ञान कहा ही नहीं जा सकता, वह तो जिज्ञासा-मात्र है, (सज्ञा-विषय जिज्ञासा-मात्रं)। इस प्रकार, यदापि मैं यह जानता है कि यह वक्ष मुक्ते ज्ञात अन्य वक्षों से भिन्न है, तथापि मैं उसका नाम नही जानता और उसके सबंध में जिज्ञासा करता है। अधिकांश स्वप्न अवचेतन स्मृति-सस्कारों के कारण उत्पन्न होते

जैसाकि पहले उल्लेख किया जा चुका है, यह 'न्याय-सूत्र' १-१-२३ पर उद्योतकर कामत है।

हैं, बत: जहाँ तक उन संस्कारों का संबंध है वे मिप्या नहीं हैं। मृटि हमारी इस संकल्पना में निहित है कि कोरी स्त्रृति-प्रतिमाए उस समय बाता वाहिये। सम्मानमा रखती हैं, बतायब यह अंश प्रमा (विषयंय) समझा बाना चाहिये। सम्मानमा (जिसे उहाँ मी कहते हैं) को भी एक प्रकार का प्रमा ही मानना ,चाहिये जिसमें कई बत्तुओं में से एक की सम्भावना स्विक होती हैं (पदा, यह बहुत सम्मव है कि वह बहुत मनस्य है जो मनान के बहुत बहा वां)।

उपरोक्त से यह स्थप्ट हो जाता है कि यहाँ सख्य को दोलन की एक मानधिक इत्ति माना जाता है, दार्शनिक जिल्लासा एवं प्रमुतंश्यन में उसके महस्त्र, संस्थयनार धीर समानोत्त्रना से उसके सम्बन्ध की पूर्यतः उत्तेशा की जाती है। वास्त्यायन, उद्योतकर भीर क्लाल के वर्गकित्त्य वहाँ कोई महस्त्र नहीं रखते। सार्यव संस्थ को उसी क्य में मानना प्रिका उपराक्त है जिल्ल क्या में जनतीय ने माना है।

## 'मेद' की प्रतिरचा

ईश्वर एव जीव का मेर हमारी घोर से हम प्रश्वक्ष करते हैं तथा इस्वर की घोर से वह प्रश्वक करता है। इसे बात है कि इस उससे मित्र हैं तथा वह जानता है कि वह हमसे भिन्न है, क्योंकि यद्यांत हम इंस्वर का प्रश्वकीकर एव नहीं कर सकते हैं तथा पि हम उसके उस्वरूप में हमारे येद को प्रश्वक कर सकते हैं, येद की प्रश्वक करने का यह वर्ष प्रतिवादित नहीं होता कि जिससे मेद प्रश्वक किया जाता है उसका मी प्रश्वक होता चाहिये, इस प्रकार, एक व्यक्ति एक शिवाब का प्रश्वक किए बिना भी यह कह सकता है कि वह जानता है कि एक स्वार एक प्रशाब नहीं होता।

पुनः, ब्रह्मन् से जीवों के भेद को अनुमान द्वारा इस आवार पर भी प्रमाश्यित किया जा सकता है कि जीव दुःख व पीड़ा के विषय होते हैं, जो ब्रह्मन् नहीं है। भ

 <sup>&#</sup>x27;प्रमारा-पद्धति,' प० १०--१३, और उस पर लिखी गई 'जयतीयं-विजय' भी।

इस परिच्छेद की सामग्री व्यासतीय के 'भेदोज्जीवन' तथा श्रीनिवास की 'व्याक्या-धकरा' से ली गई है।

अस्तियोगिक-पदार्थ-प्रत्यक्षे न प्रतियोगि प्रत्यक्ष तन्त्रम् .....क्तम्भः पिशाचो न इत्यादौ व्यक्तिचारात ।

<sup>-&#</sup>x27;भेदोज्जीवन,' पृ० १३।

भीवो ब्रह्म-प्रतियोगिक-यिन-सत्ता-सत्ताक-भेदाधिकरस्यं ब्रह्मण्यनुसंहित-दुःक्षा-नुसंबातृत्वाद् व्यतिरेकेस् ब्रह्मचत् ।

<sup>-</sup>वही, पृ० १५ ।

चौर वंकि बहान भीर बीव स्थायी निख सत्ताए हैं इसलिये उनका परस्पर भेद मी नित्य एवं यथार्थ है। यह तर्क दिया जा सकता है कि दृ:स की पीड़ा सोपाधिक चारमन् को होती है न कि मुद्ध चैतन्य को; यह सुद्ध चैतन्य 'जीव' है, भीर चूंकि पीड़ा केवल जब तक होती है तब तक कि उपाधि रहती है; इसलिये उपाधि के लिरोहित होने पर भेद भी अंततोगस्वा तिरोहित हो जाता है, अतएव वह यथाई नहीं हो सकता । परन्त मध्यों द्वारा स्वरूप में सीमिन इन जीवों को मिच्या नहीं माना जाता, झतएव जनके स्वरूप पर शवलम्बित मेद भी मिथ्या नहीं है। जीवों और ईश्वर के स्वरूप में एक निरव एव यथार्थ भेद होने के कारला, मर्वात यह कि पूर्वोक्त दु:स की मोगते हैं पर परवादक्त नहीं भोगता, दोनों में कदापि समेद नहीं हो सकता । जीव केवल 'जीवत्व' के जाति-प्रत्यय के उदाहरण मात्र हैं, जो पून: इब्य का एक उप-प्रत्यय है, बीर इब्य सत्ता का उप-प्रत्यय है। यदि जीवों में रंग आदि द्रव्य के गुए। नहीं होते तथापि जनमे कम से कम एक, दो, तीन ब्रादि के सख्यात्मक गूए। होते हैं। यदि यह एक बार स्थापित हो जाता है तो उससे इस मत का खंकर के मत से विभेद हो जायगा जिसके अनुसार जीव स्वय-प्रकाश चैतन्य है और जो भेद-रहित अहैतबाद को जन्म देता है। जीव को एक जाति-प्रत्यय के रूप में मानने का अर्थ यह होगा कि विभिन्न जीव जानि-प्रत्यय के उदाहरण होने के नाते परस्पर समान भी हैं भौर मिस्र मी हैं (क्योंकि प्रत्येक जीव सम्य सर्वजीवों एवं ईक्वर से सक्या की ट्रव्टि से मिन्न पृथक् व्यक्ति है। शकर-सम्प्रदाय के अनुयायियों की भान्यता है कि जीवों में कोई ग्रन्तर भेद नहीं होता, तथा ग्राभासी भेद 'ग्रतः करण' नामक तात्कालिक प्रभाव डालने वाली सत्ता के कारए। उत्पन्न होता है, जो जीवों में प्रतिबिम्बत होता है तथा जीवों के स्वरूप मे ब्रामासी भेद उत्पन्न करता है, यद्यपि यथार्थ में ऐसा कोई भेद नहीं होता, किन्तु व्यासतीयं श्राग्रह करते हैं कि सत्य दूसरे पक्ष में निहित है, तथा जीवो के भेद ही यथार्थ में उनसे सम्बंधित प्रतःकरणो एव शरीरो में विभेद करते हैं। उपनिषद भी इस मत के पक्ष में हैं कि ईश्वर जीवों से भिन्न है, तथा व्यासतीय यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि उपनियद-पाठों के शहैतवादी आशय को सिद्ध करने का प्रयत्न श्रसफल सिद्ध किया जा सकता है।

किन्तु मेद की यह प्रतिरक्षा चित्तुक द्वारा प्रपनी 'तत्व-प्रदीपिका एव नृशिहाधम मुनि द्वारा प्रपने 'मेद-चिक्कार' मे, धन्य विद्वानां द्वारा किये यये मेद के स्वतन की तुमना में निर्वेच प्रतीत होती है। वित्तुक मेद के प्रथय एवं उसको संकल्पक करने की समस्त विमन्न सम्मव विचित्रों में नीचे बच्चे करते हैं; वस्तुमो के 'त्यक्य' के क्य में मेद, 'फ्रायोग्यामाव' के क्य में मेद (यदा, षट पट नहीं है, पट एक घट नहीं

वे 'द्वा सुपर्गा' झादि उपनिषद् पाठ का उल्लेख करते हैं।

है), पुष्तस्त्र' के स्पामें भेद 'बंबप्य' मे स्पामे भेद और विभिन्न लाग्यों के विविध पदार्थों में प्रतिस्थक्क मेद (फिल्न लक्ष्य-मोगियन-भेद), किन्तु ज्यावतीर्थ उन युक्तियों का समीवीन उत्तर देने का कोई प्रयत्न नहीं करते। इन नेलको द्वारा भेद के प्रत्या का जो खंडन किया जाता है उसका उदाहरण, प्रस्तुन इति के प्रथम माग में पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है।"

भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग १, पृ० ४६२ ।

### अध्याव २८

# मध्व का तर्कशास्त्र

#### प्रत्यश्च

विषयों से ययार्थ सनुरूपता के रूप में प्रमास की परिजाया पहले दी वा चुकी है, लगा यह मी बता दिया गया है कि वह यो बता में विकासित किया जाता है, फैक्स प्रमास्य थीर 'यनुप्रमास्य'। 'फेक्स-प्रमास्य' वह है जिससे ज्ञान के विषयों का घररोक्ष एवं तत्काल का प्रपाद क्या का प्रपाद के प्रवाद के प्रमास्य के प्रमास करता होती है।

र्षेष्ठवरज्ञान सक्ष्मीआसं योगिआनं ग्रयोगिआनं चेति ।

प्रत्यक्ष, ग्रनुमान ग्रीर सब्द (मागम) । किसी दोव-रहित ज्ञानेन्द्रिय के एक दोव-रहित विषय के साथ सम्पर्क को प्रत्यक्ष कहते हैं। विषय प्रत्यधिक दूरी, प्रत्यधिक समीपता, प्रत्यविक लघुता, मध्य में झाने वाले बवरोब, बपने समान वस्तुझों के साथ मिश्रित होने, प्रमिष्यक्त होने, तथा धन्य वस्तुष्रों के सदश होने (साहस्य) के कारए। दोषपूर्ण हो जाते हैं। जानेन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं, जाता (सासी) की मन्त:-प्रजात्मक शक्ति जो उसी के स्वरूप की होती है, तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, श्रवश एव 'मनस्' नामक साधारण ज्ञानेन्द्रिया, धन्तः प्रजातमक शक्ति के विषय धातम-स्वरूप एवं उसके धर्म, धविद्या, 'भनस्' एवं उसकी इत्तियों, सबं बाह्येन्द्रियों का शान, मुख-दु:बादि, काल एवं झाकाश होते हैं। ' 'दश्येन्द्रिय रग-युक्त बड़े पदार्थों का प्रस्थक्षीकररण करती है, भौर मनस् सर्व ज्ञानेन्द्रियों एव स्मरशा-ज्ञाक्ति का भवीक्षक होता है। 'मनस्' के जिन दोषों के कारए। त्रुटियाँ होती हैं वे मावावेग एवं सासक्तिया है तथा सन्य ज्ञानेन्द्रियों के दोष पांडु-रोग बादि जैसी व्याधियाँ, और शीशे बादि जैसे मध्यवर्गी माध्यम के विकर्षसात्मक प्रभाव होते हैं। साधारस क्रानेन्द्रियाँ 'मनस्' की वृत्तियो को उत्पन्न करती है। अनिन्द्रियाँ उन यत्रो की मांति होती हैं जो ज्ञान के विषयो से सम्पर्क स्थापित करते हैं। अन्त-प्रकारमक शक्ति भी अपने कार्य स्थापारों के कारण (वह प्रपने स्वरूप से एकरूप रहकर भी 'विशेष' के कारण पृथक् अस्तित्व भी रखती है) विषयों के सम्पर्क में समसी जा सकती है। यद्यपि बन्तप्रज्ञात्मक शक्ति सदा ऐन्द्रिय-निरीक्षणों की सामग्री को सही-सही जात करने में समर्थ होती है, तथापि यह भावस्थक नहीं है कि उसका निर्णय सदा वस्तुगत रूप से सत्य हो । ईश्वर एव योगी-जनों में वह भारमगत एवं वस्तुगत दोनों रूपों में तथ्यों के अनुरूप होती है, साधारण व्यक्तियों में वह एक उदाहरए। विशेष में वस्तुगत बशां के धनुरूप हो सकती है अथवा नहीं भी हो सकती है, भववा अन्य सन्दों में, उसकी सामग्री वस्तुगत तथ्यों के भनुरूप हो सकती है अथवा नहीं भी हो सकती है, किन्तु वह क्षानेन्द्रियो द्वारा उपस्थित की गई सामग्री को जात करने में सदा सही होती है।

जयतीर्थं न्याय के अनुवायियों द्वारा मान्य छः प्रकार के सम्पर्क (सिन्नक्षं) की आवश्यकता का परिहार करते हैं। उसे ऐसा होना आवश्यक भी है क्योंकि मध्य-दर्शन

इतिद्य-सब्देन ज्ञानेन्द्रयं गृह्यते, तद् द्वि-विशं प्रमातृ-स्वरूप प्राहृत च तत्र स्वरूपे-निदय साक्षीरपुष्पते, तस्य विषय धारम-स्वरूप तद्-वर्णः प्रविद्या-मनस्-तद्-वृत्तयः बाह्येन्द्रिय-मान-स्वादयः कालम्याङ्ग्ताकाशस्य ।

<sup>–</sup>प्रमाण्-पद्धति, पृ० २२ ।

वही, पु०२६।

दे॰ मारतीय दर्शन का इतिहास, माग १ (प्रथम संस्करण), पृ॰ ३३४ ।

में 'समझाय' सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया गया है, सीर न यह स्वीकार किया गया है कि सस्तुओं भीर उनके पुणों में कोई भेद होता है (जुल्लुम्ब-मनेद) हस्तिए क्वतीयें के सुनुसार इनियन-मन्यर्क एक ही घटना के कर में सम्पन्न होता है, एक मीर तो इस्तियें कि गुणों भीर वस्तुओं में कोई भेद नहीं होता, इसरी भोर दर्शालये कि मारक्त्य एवं उसके बनी का मना-प्राप्त सत्ता हारा बपरोक्ष प्रवक्ष किया जाता है वया मनत्युं के सम्पर्क की कोई सावस्थानका नहीं होती, अवश्व न्याय के अनुवाधियों द्वारा प्रस्तावित क्षः मनार के सम्पर्क की स्वी कार करने की कोई सावस्थवका नहीं होती.

पुन:, हमें विदित ही है कि न्याय-दर्शन 'निविकस्प' और 'सविकस्प' ज्ञान में विभेद करता है, इस दर्शन के धनुसार निविकत्य ज्ञान का अर्थ है विषय का स्वयं में ऐसा सरल सज्ञान जो भाठ प्रकार के प्रत्यवात्मक विकल्यों से रहित हो अर्थात्, द्रश्य-विकल्प, यथा 'एक दंड को रखने वाला' (इब्य-विकल्पो यथा दंडी), गूरा-विकल्प, यथा 'धुक्ल' (मुरा-विक त्पो यथा धुक्लः), किया-विकत्प, यथा 'वह जाता है' (किया-विकल्पो यथा गच्छति), जाति-विकल्प, यथा 'गौ' (जाति-विकल्प ेयथा गौ:) विशेष-विकल्प, यथा 'परमाणुमो के चरम विशिष्ट लक्षरण होते हैं जिनके कारए। योगीजन एक परमारा का अन्य परमारा से विभेद करते हैं (विशेष विकल्पो येथा विशिष्ट: परमारगुः), समवाय-विकल्पः यथा, 'एक पट में तन्तु' (समवाय-विकल्पो यथा, पट-समवायवन्तान्तन्तवः), नाम-विकल्प, यथा 'देवदत्त नामक मनुष्य' (नाम-विकल्पी यथा देवदत्त), ग्रभाव-विकल्प, यद्या 'भूमि पर घट का ग्रमाव है' (ग्रमाव-विकल्पो यथा षटा मानवद् भूतलम्) । किन्तु जयतीयं कहते हैं कि निविकल्प और सविकल्प प्रस्यक्षों के इन विभेदों में से एक को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे 'विशेष' एव 'समवाय' नामक दो पदार्थों की मान्यता पर बाधारित है, जो दोनों बमान्य हैं। किसी प्रत्यक्ष का नाम भी पदचात् के क्षण में कियाशीन स्मृति के द्वारा भात किया जाता है तथा किसी सत्ता का श्रमाव स्वय उस सत्ता की स्मृति पर निभेर करता है। बद्यपि ये सर्व प्रत्यक्षीकरण के प्रथम क्षण में उत्पन्न नहीं होते, तथापि चूंकि द्रव्य, गूरा, किया धादि जैसे कुछ प्रत्यय प्रत्यक्षीकररा के प्रथम क्षरा में बहरा किये जाते हैं. इसलिये 'निविकल्प प्रत्यक्ष' के शस्तित्व की कल्पना करने का कोई कारए। नहीं है। समस्त प्रत्यक्ष सविकल्प होते हैं। न्याय का यह मत सही नही है कि किसी विषय की उपयोगिता अथवा अवांखनीयता की अनुभूति प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप होती है, क्यों कि इनकी उपलब्धि बनुमान द्वारा की जाती है। "जब एक मनुख्य एक कटि से बचता है तब उसका कारए। यह है कि वह अपने अतीत के अनुभव से यह निर्ह्णय कर लेता है कि वह उसे दु:स पहुँचाएगा, जब वह किसी वाखनीय वस्तु की धोर प्रवृत्त

 <sup>&#</sup>x27;न्याय-मजरी', पृ० ६७-७१।

होता है तो ऐसा वह झतीत में उसके वांझनीय होने की बनुभूति पर धाक्षारित भनुमान से करता है।

#### त्रनुमान

धनुमान का कारए। एक दोषरहित तक होता है (विसके द्वारा उसकी सहवर्षिता के सामार पर किसी वस्तु का अभिनिष्दय किया वा सकता है) । व्यवतीय द्वारा इस साहवर्ष प्रयान व्यारित के स्वष्टन का प्रपृत्वक व्यारित (भिनामान) के कर में वर्णन किया गया है। व्यावतीय का 'तकंताकव' में मामह है कि इस प्रमृषक व्यारित का सर्थ वस्तुत: ऐसे अनुमृत का बोच होना चाहिए जो आपक्र आपता अथवा उपपित को होरित करे (प्रपृत्वति)। वह एक विशेष देश-काल-संवव में पतुनृत वस्तु किसी अप्य देश-काल-संवव में पतुनृत वस्तु किसी अप्य देश-काल-संवव में पतुनृत वस्तु किसी अप्य देश-काल-संवव में पतुनृत वस्तु किसी प्रयाद काल-संवव पर्म पतुनृत वस्तु किसी प्रमृत काल-संवव में पतुनृत वस्तु किसी प्रमृत काल-संवव में पतुनृत वस्तु किसी प्रमृत वस्तु किसी प्रमृत काल-संवव में पतुनृत वस्तु किसी प्रमृत काल-संवव में पतुनृत करा है। 'व

स्थापतीर्ष का सावह है कि सनुमान के दस मत का समर्थन मध्य ने प्रपते 'प्रमाल-स्वरण' में में किया है, जहां वे बहुत हैं कि तथ धनुमान के नमत्त्र उपहरिएों में धनवेष-विश्व (परिकेश) प्रावश्यक विषि होती है। ' किसी सत्य अनुभव के सत्य में धनुपपत्ति के कारण ही एक धनुमान को प्रक्रियों में साम्य की धावश्यकता विद्व होती है। ' अवतीर्ष ने घपनी 'प्रमाल-पदित' में ध्वापित' की वस्तुत: 'प्रविनामाव' के कम में परिमाया दी है, इस धपुषक् आांग्त का सभी उदाहरिएों में धमावान्य, प्रमात् 'माध्य' प्रयवा धनुमित वस्तु के धमाव के कम में परिमाय प्रविन होती है तो के भाग के कम में परिमाय प्रविन होता है। सकत्य ते स्थापित होता है। किया वा सकता, क्यांकि ऐसी स्थितियों भी होती है जिनमें ऐसे निवेधात्मक उदाहरिएगों के धमाव के वावजूद भी धनुमान कर प्रवाहरिएगों के धार्यित की अपाति को उपरोक्त होते हो, धतः ऐसे 'केवनान्यमी' धनुमान के उदाहरिएगों के धार्यात को उपरोक्त परिमात्म (त्रिस क्यांग्ति को धार्यित को उपरोक्त परिमात्म (त्रिस क्यांग्ति को धार्यात को उपरोक्त परिमात्म (त्रिस क्यांग्ति को धार्यात्म के प्रमात के प्रवाहरिएगों के धार्यात को उपरोक्त परिमात्म के बावश्यक के लिए निवेधात्म उदाहरिएगों के धार्यात को उपरोक्त परिमात्म के बावश्यक के लिए निवेधात्म उदाहरिएगों के धार्यात को उपरोक्त परिमात्म के बावश्यक के लिए निवेधात्म उदाहरिएगों के धार्यात को अपरोक्त परिमात्म के सावश्यक के बावश्यक उदाहरिएगों के धार्यात को अपरोक्त की धावस्थकता होती है, लागू नहीं होगी। हेतु धीर साध्य में किसी प्रकार के धावस्थवकता होती है, लागू नहीं होगी। हित्र धीर बीर साध्य में किसी प्रकार के धावस्थवकता होती है, लागू नहीं होगी। हित्र धीर धीर धावस्थवकता होती है, लागू नहीं होगी। हित्र धीर धीर साध्यक्त के धावस्थवकता होती है, लागू नहीं होगी। हित्र धीर धीर साध्यक्त परिपाल के धीर धीर साध्यक्त के धीर धीर साध्यक्त साध्यक्त

यद्देश-काल सम्बन्धस्य यस्य यद्देश-काल सम्बन्धन येन विनानुपपत्तिस्तिस्यव तेन सह व्याप्ति: ।
 -'तर्क-ताष्डव' (पां० लि०, पू० १)

परिशेषोऽर्यापत्तिरनुमानमित्यविशेषः ।

<sup>-&#</sup>x27;प्रमाग्-लक्षग्' और 'प्रमाग्-लक्षग्-टीका' पृ० २७।

अनुमानमपि धावस्यकानुपपत्यैव गमकम् ।

<sup>-&#</sup>x27;तर्क-ताण्डव' (पां० लि० पृ०२) ।

सवकाश्विक लाक्यर्य का जो व्याप्ति की एक घर्षारहार्य प्रवस्था के कय में प्राग्नह नहीं किया वा सकता; क्योंकि किसी प्रवेश कियके माग में नदी में बाढ के प्रत्यक्षीकरण के करारी वानों में बर्चा का पनुमान कि निवार्षित कर्षी वाली व्याप्ति कोई सबकाधिक समीपता नहीं हैं। प्रतः प्रनुमान को निवार्षित कर्षी वाली का प्रमुख लक्षरण एक प्रकार्य धनुभव की धनुष्पत्ति है निसके कारण प्रमुमित बस्दु की माग्यता प्रावस्थक हो जाती है। इसी का जाह्य-य-निवस्य के रूप में बी बस्केग किया गया है। प्रान्ति एक् पूत्र के सुपरिचित उदाहरण में धनि जे समान के सर्व उदाहरणों में पूत्र के प्रमान के निक्शाधिक एवं नियत लाह्य-दें के रूप में जिस निवस का वर्णन किया गया है वह भी धनुष्पत्ति का ही एक उदाहरण है। यह नियम फीवनान्यों प्रमुमान के उदाहरणों में भी समान बन वे नागू होगा, न्यांकि वहाँ भी माग्यता प्रनिवार्थ नियह हो जाती है।

व्यासतीर्थ गरेश द्वारा अपनी 'तत्व-चिन्तामरिए' मे दी गई अनुमान की परिमाणा का विस्तार से लंडन करते हैं, जहाँ वे साध्य और हेत् के सह-भस्तिस्व (सामाना-विकरण्य) के रूप मे व्याप्ति की व्यास्था करते हैं तथा साथ ही इस शर्त का उल्लेख करते हैं कि पूर्वोक्त के समाय के प्रत्येक उदाहरता में पश्चादृक्त का भी समाय होता है। 'केवलान्वयी' मनुमान में ऐसे निषेधात्मक उदाहरणा उपलब्ध नही होते जिनमें हमें साध्यामान के उदाहरकों में हेत्नामान के उदाहरकों का भी परिचय हो सके (साध्यामाव-वदव सित्वम्) । यदि यह कठिनाई नही होती तो गंगेश प्रसन्नतापूर्वक सबं साध्याभाव के उदाहरलों में हेतू के निरूपाधिक एव नियत समाव (साध्यामाव बदवृत्तित्वम्) के रूप में 'व्याप्ति' की परिभाषा दे देते । किन्तु उपयुक्त कठिनाई के कारण गगेश हेनु और साध्य के 'सामानाधिकरण्य' के रूप मे व्याप्ति की परिभाषा देने का बाध्य हो गए जिसमें हेतु की यह विदेशवता भी अवताई गई है कि वह उन सभी सम्भव ग्रवस्थाओं के ग्रभाव का निधान होता है जो 'साध्य' के साथ उसके समाना-धिकरए। को असिद्ध कर सके। "इस प्रकार की परिमाण के निर्माण में गगेश की मुक्त इस तथ्य में निहित है कि उनके विचार में हेतू का साध्य में सर्वे ब्यापी अस्तिस्व ही पश्चादक के पूर्वोक्त से अनुमान के लिये यथेष्ट होता है, पर शर्त यह है कि हेत् विश्वद्ध हो तथा किसी अन्य उपाधि की उपस्थिति से मिश्चित न हो । हेत् मे मिश्चित

प्रतियोग्यसमानाधिकरण्-यसमानाधिकरणात्यन्तामान-प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न यस्र मवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्य व्याप्तिः।

<sup>- &#</sup>x27;तत्व-चिन्तामिण्,' माग २, पृ० १०० (१८८८ का संस्करण, विक्लियोपेका इण्डिका)।

धन्य उपाधियों की उपस्थिति के कारण ही साध्य के साथ उसका सर्वधानी समाना-धिकरण सिंद्ध हो सकता है, यतः यदि उनका निराकरण किया वा सके तो साध्य में हेतु का सर्वध्यापी प्रस्तितल ही पूर्वोक्त एवं पश्चायुक्त में व्याध्वि-सम्बन्ध स्थापित करते के लिये योष्टर होगा।

पर व्यासतीये यह निर्देश करते हैं कि ब्रनुमान के सभी उदाहराखी में हेतु की साय में उपस्थित सार्वमोग रूप से साथ मही होती । यदा, नियमे मानों में नदी के सन में बाद से उपरि मानों में नदी है सन में बाद से उपरि मानों में नदी है तो के ब्राह्म में हेतु का बाय के साथ मों है सबसायत सह-बादित सामानाविकरण्य) नहीं होता, यही बात दह अदुमान के सामानाविकरण्य) नहीं होता, यही बात दह अदुमान के सामानाविकरण्य। नहीं होता, यही बात दह अदुमान के सामानाविकरण्य। नहीं होता, यही बात दह अदुमान के सामानाविकरण्य। नहीं होता वात है। इस प्रकार के सर्वाहराखों में त्या वार्च कर प्रकार के सर्वाहराखों में त्या वार्च कर प्रकार के सर्वामान की, बदा सर्वोत्तम केन से परिमाना दी वा सकती है, अत्यत्य वह सर्व प्रकार के सर्वमान की, बदा सर्वोत्तम केन से परिमाना से स्वाहराखों में त्या का स्वाहराखों में स्वाहराखों में त्या होने के स्वाहराखें में स्वाहराखों में स्वाहराखों में स्वाहराखों में त्या होने के स्वाहराख पर्व मानाव्या हो। के स्वाहराख पर्व मानाव्या हो से की स्वाहराख पर्व मानाव्या हो। के स्वाहराख पर्व मानाव्या एक मोना वर्ग की मीति मिल्या सता होने के का माराख मानाव्या हो। के स्वाहराख परिष्ठ में स्वाहराखा मानाव्या हो। इसका व्यासतीय यह उत्तर देते हैं कि मिल्य का सकती है कि सावाव्या पर स्वाहराखा पर स्वाहराखा पर स्वाहराखा स्वाहराखा

यह स्पष्ट है कि व्याप्ति का यह द्रष्टिकोश व्याप्तियों द्वारा प्रतिपादित सिकाल-का एक प्रवृत्तरी विकाल-वरण है। क्वांकि जयतीये प्रपत्ती 'अगाल-व्यति' में व्याप्ति का 'प्रतिनामांत्र' के क्या में वर्षान करते हैं, विकाल वे 'साहच्ये नियार' के क्या में त्या स्व्यप्तिचारी सम्बन्ध (अव्याप्तिचरितः सम्बन्धः) के रूप में ची व्यास्या करते हैं। ' किन्तु जनादंन 'प्रमाल-प्रवृत्ति' वर अपनी टीका में मानते हैं कि जयतीये के इस 'साहच्ये-निवम' की व्यास्या व्याप्ति' की 'अपुत्रपत्ति' के यसे में करनी चाहिये, इसके स्वातिरक्त प्रह मी सक्के निवे स्पष्ट है कि वयतीये की उपरोक्त परिमादा का प्रिमेशेत व्यासतीये का व्याप्ति-सम्बन्धी वत है, तथा वे स्वपने सत की पुष्टि इस निर्देश के द्वारा

इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात् केवलान्वयि सनुमानम् ।

तत्र साध्यामावस्य असत्त्वादेव साध्यामावे सति साधनस्य योपपत्तिस्तदमावरूपानु-पपत्तेः सत्त्वान्, मन्मतेऽज्ञामास्त्रिकस्यापि निषेषप्रतियोगित्वात् ।

<sup>-</sup>तकं-ताण्डव (पां० लि०, पृ० ६) ।

<sup>&#</sup>x27;प्रमारा-पद्धति,' वृ० ३० ।

करते हैं कि 'प्रमास-सक्षस' भीर 'प्रमास-सक्षस' पर अपनी टीका दोनों में जयतीय ने 'परिशेष:' एवं 'मर्थापत्ति' का मनुमान में समावेश किया है, क्यों कि उनके विचार में इनकी विधियाँ लगभग स्वय धनुमान की विधियाँ ही हैं। किन्तु इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि 'परिशेष' और 'धर्षापत्ति' भी अनुमान के प्रकार हैं. न कि यह कि उनमें समाविष्ट 'ग्रनपपत्ति' की विधि ग्रनमान के एकमात्र सम्बाब्य प्रकार के रूप में स्वीकार की जानी चाहिये। यदि वे ऐसा सोचते तो वे निक्चय ही उसका उरूनेख करते तथा व्याप्ति की बपनी परिमाषा को 'साहचर्य नियम' तक सीमित नहीं रखते । चलरिशेषाचार्यं जो श्रद्धापूर्वक जयतीर्थं के पद-चिह्नो का अनसरस करते हैं और प्राय: उनकी माथा की भी पुनराइत्ति करते हैं, जयतीयं के इस नियत शहनयं की 'जहां शुक्र है वहाँ भ्रान्त हैं के रूप में व्यास्था करते हैं, किन्तु वे यह कहरे हैं कि इस नियत साहचर्य का ग्रथं केवल हेत् का साध्य से एक नियत सम्बन्ध-मात्र है (श्रत्र साहचर्य हेतो: साध्येन सम्बन्ध-मात्र विविक्तितम), न कि केवल एक ही स्थान में उनका ग्रस्तित्व (सामानाधिकरण्य) । यहाँ साहचर्य का ग्रवं है साध्य के साथ अन्यमिचारी सम्बन्ध (म्रव्यमिचरित साध्य-सम्बंधो व्याप्तिः), ग्रौर वही 'व्याप्ति' कहलाती है। वे गगेश की 'व्याप्ति' की उपरोक्त परिभाषा का उल्लेख करते हैं, और यह निर्देश करते हैं कि व्यान्ति की यह परिमाषा धनमान के उन उदाहरखों में लागू नहीं होगी जहाँ कोई अवकाशिक साहचर्य न हो (यथा, नदी के निचले मागो में पानी की बाढ़ से ऊपरी भागों में वर्गा होने का अनुमान)। <sup>3</sup> ऐसे उदाहरएों के बल पर यह निर्देश करते हैं कि व्याप्ति की साहबर्य (सामानाधिकरण्य) के रूप में परिभाषा नहीं दी जा सकती, किन्नू वह एक ऐसा ब्रध्यमिचारी सम्बन्ध है जो विशिन्न स्थानों में विद्यमान एक कारमा एव कार्य के मध्य स्थित हो सकता है। इन उदाहरको के बल पर चलरि-शेषाचार्य साहच्यं से रहित व्याप्ति की सम्मावना (व्यधिकरण-व्याप्ति) के पक्ष में तक देते है, मतएव व्याप्ति की एक अनिवार्य अवस्था के रूप में साहचर्य के परित्याग का पक्ष-पोषसा करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्यासतीय ने इन कथनों से लाम उटाया ग्रीर चलरि शेषाचार्य के 'ग्रब्यमिचारी सम्बन्ध' से संतुष्ट होने के स्थान पर

अन्पपलेव्याप्तित्व च प्रमाण्-लक्ष्मे परिश्लेषार्यापपिः अनुमाविशेषित्यत्रार्या-पत्तिरिवानुमानमपि प्रावस्यकानुपपत्यैव गमकमित्युक्तत्वात् ।

<sup>-&#</sup>x27;तर्क-ताण्डव' (पा० लि० पृ० १-२)। 'प्रमास-लक्षसःटीका' मी, पृ० ५-७।
ै तुलना कीजिये 'विशेष-व्याप्ति' माग में गयेक द्वारा दी गई 'क्याप्ति' की वैकल्पिक

परिभाषा से-'यत्सम्बन्धिनावच्छेदक-स्पवत्त्व यस्य तस्य सा ध्याप्तिः । -तत्त्व-चिन्तामण्णि, भाग २, ५० १५६ ।

³ न त समागाधिकरण्यमेव।

<sup>- &#</sup>x27;प्रमास-वन्द्रिका' पु० ८ छ ।

इस 'प्रस्थानिवारी सम्बंब' की 'धनुपर्पात' नामक निश्चित सम्बन्ध के रूप में व्याख्या की !

#### तर्क

सनुवान को उत्पन्न करने वाली बानिष्ठ किया के संघटक के रूप में विद्यमान निवारिक दोलन को 'लक्षे सबवा 'उन्नें कहते हैं।' सपने 'प्याय-पूत्र' में गौरिक्य उसका वर्षान तरप के झान को प्रार्थित को द्वर्षिट से किये पये नक्षे के रूप में करते हैं विस्तर्य यह निवारित करने का प्रयास समाविष्ट होता है कि किसी तरप्य में एक पर्य-विशेष पाया जाता है, तथा यह प्रयास उक्त निवारिष्ठ के हेतु से सम्बन्धित समुधित पृच्छा पर सावारित होता है। यथा, जाताओं के रूप से सारवाओं के स्वयन्त से संविधित सप्य को जानने की जिल्लासा होती है कि क्या ने व्यर्तासवील है सपया उत्पत्तिन स्वयं है प्रयास उत्पत्तित होते होता होता होती है कि क्या ने व्यर्तासवील है सपया उत्पत्तिन सित्त हैं। यदि वे उत्पत्तितील होते तो समस्य उत्पत्तिवील क्ष्यों को भीति विनाश के भाषी होते, तथा सपने कर्म-कल का उपयोग नहीं करते। यदि वे उत्पत्तितील के

'न्याय-मंजरी' (प० ४८६) मे ब्रयन्त द्वाराभी 'तर्क' का 'कह' के प्रथं में प्रयोग किया गया है। जयन्त कहते हैं कि 'ऊह' के रूप में उसका व्यापार निबंस विकल्प को निर्वल बनाने में ब्रौर फलत सबलतर विकल्प की सम्भावना की सबल बनाने में, तथा इस प्रकार पश्चादक्त विकल्प की निश्चितना के सत्य ज्ञान की उत्पत्ति मे सहायता देने मे निहित होना है। यहाँ 'तक' के ग्रर्थ का 'ग्रनुमान' मे विभेद करना मावश्यक है, जो 'तर्क' का वर्ष 'ब्रह्म-सत्र' २ १. १२ (तर्का-प्रतिष्ठानात.....) मे है, तथा तर्क-विज्ञान (ज्ञान्वीक्षिकी), जो चौदह विद्याओं मे से एक है (विद्या-स्थान), के रूप में 'तर्क' के प्रयाग से भी उसका विभेद करना भावस्थक है। 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' १ ३ 'न्याय मजरी' भी, प० ३-४। सांस्य के लिये ऊह शब्दो प्रथवा वाक्यों के प्रथं को निर्वारित करने के लिये मान्य मापागत नियमों के प्रयोग की प्रक्रिया है, (युक्त्या प्रयोग-निकल्सामूह.), वही, ए० ५००। यहाँ 'कह' का लगभग 'अनुमान' के प्रयं मे प्रयोग किया गया है भीर इसलिये वह एक 'प्रमागा' है। किन्तु यहाँ 'न्याय' में 'ऊह' स्रथवा 'तर्क' सम्यक्-झान एव सशय के बीच की दशा होती है। इस प्रकार जयन्त कहते हैं: 'नदेप मीमामक-कल्यमानो नोहः प्रमाण-अ्वतिरेकमेति प्रमाण-सदेहदशान्तरान्वर्ती तु तकः कथितोऽत्र शास्त्रे' (पु० ५६०)।

<sup>° &#</sup>x27;प्रमाश-चन्द्रिका' प्०⊏ क्र, ६।

कहरव च मानसरव-स्थाप्यो जाति-विशेष
 'तकंयामि' इत्यनुसव-सिद्धः । - 'विश्वनाष-दृत्ति' १, पु० ४० ।

तो वे भपने कर्म-फलों का उपभोग करने एव पूनर्जन्म के लिये सदा भस्तिस्व में बने रह सकते हैं। बत: पूनर्जन्म को प्राप्त होने वाला एव बपने सभी कर्म-फलो को भोगने वाला बात्मन् ब्रनिवायंतः उत्पत्तिरहित होना चाहिवे । वात्स्यायन कहते हैं कि 'तर्क' न तो स्वीहर्त 'प्रमाशों' में समाविष्ट किया जाता है बौर न वह एक पृषक् 'प्रमाशां' ही है, किन्तु वह एक ऐसा व्यापार है जो 'प्रमाशों' के सत्य ज्ञान को निर्धारित करने में सहायता देता है। इपने 'तर्क-भाष्य' में केशव मिश्र की प्रवृत्ति तर्क को संशय में समाविष्ट करने की है। किन्तु बाबम् मट्ट बापनी 'तर्क-दीपिका' में क्रुने हैं कि यद्यपि 'तक' की गराना 'विषयंग' मे करना उचित है तथापि चुँकि वह 'प्रमाराों' की सहायता करता है बत: उसकी पृथक गराना की जानी चाहिये। " धनुमान में तर्क की उप-योगिता इस बात में निहित है कि वह मन को साध्य में हेतु के अस्तित्व के 'व्यभिचार' के उदाहरलों को समाव के प्रति साध्यस्त करता है तथा इस प्रकार हेतु एवं साध्य की व्याप्ति के प्रत्यय के निर्माण में सहायक होता है। विश्वनाथ कहते हैं कि 'नक' 'हेनु' के 'व्यमिचार' के सम्बाब्य उदाहरलों के सम्बन्ध में सक्षयों का निवारला करता है (यथा, यदि भूम का अस्तित्व किसी ऐसे उदाहरए। मे होता जहाँ विद्वि नहीं हो तो विद्वि धूम का कारण नहीं होती) ग्रीर इस प्रकार 'व्याप्ति' के ज्ञान की श्रमुक बना देता है, प्रतएव धनुमान की किया से प्रत्यक्ष रूप में नहीं बल्कि अप्रत्यक्ष रूप में (पारम्परया) सहायक होता है। विद्वनाय सागे यह कहते हैं कि ऐसा 'तर्क' पौच प्रकार का होता है, अर्थान् 'श्रात्माश्रय' दोष (यथा, यदि इस घटे का बान इस घट के ज्ञान से उत्पन्न होता है, तो वह इस घट से मिन्न होना चाहिए), 'बन्योन्याश्रय' दोष (यथा, यदि यह घट ज्ञान-जन्य ज्ञान का विषय है तो वह इस घट से भिन्न होना चाहिए), 'चक्रक' दोष (यदि यह घट-जन्य किसी ग्रन्थ वस्तु से उत्पन्न होता है तो वह

<sup>ै</sup> न्याय-सूत्र, १. १. ४० और उस पर वास्स्यायन की 'द्वत्ति'।

तकों न प्रमास्त-संगृहितो न प्रमास्तान्तरम्,
 प्रमास्तानामनुबाहकस्तावज्ञानाय परिकल्पते ।

<sup>-</sup>वात्स्यायन-भाष्य, १. १. १।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> 'तर्क-भाष्य,' पृ० ४४।

र तर्क-दीपिका, पृ० == ।

व्यभिचारञ्चानाभावसम्यादकत्वेन तकंस्य ब्याप्तिश्रहे उपयोगः ।
 'दीचिति' पर 'मवानन्दी' 'न्याय-कोव' से उद्धत, पाद-टिप्पसी, प्र० २६२ ।

तथा च पूमो यदि बङ्किव्यामचारी स्थात् बङ्किबन्यो न स्थातित्यनेन व्यभिचार-सका-निरासे निरकुषेन व्याप्ति-जानेन अनुमितिरिति परम्परवा एवास्य उपयोगः ।

<sup>-</sup>विश्वनाथ-वृत्ति, १. १. ४०।

बट-जन्य ग्राप्य वस्तु ते जन्य किती मी वस्तु से फिल है), 'धनवस्ता' दोव (यया, यदि 'पट' तासक जाति-प्रयय वसस्त घटों का उल्लेख करता है तो वह घट-जन्य वस्तुषों का उल्लेख नहीं कर सकता), 'प्रमाश-बाधितार्क प्रसान' दोव (यदि घूम बह्नि के समाव में प्रस्तित्व रखता है, तो वह बह्नि-जन्य नहीं हो तकता धपवा यदि पर्वत बह्निमान नहीं होता)।'

स्वार्ति-प्रस्वय के निर्वाह्म में 'तर्क' की प्रक्रिया की स्वास्थ्य करते हुए मध्युरानाय कहते हैं कि वह कोई बिह्न के वर्क कात उदाहरएगें में मुक्त का मिरतल देककर तथा सिंत्रिहित स्वानों में पूम का प्रमान देककर मी यह निरम्बण करे कि पूम बिह्न के उत्पक्ष होता है। प्रमान देककर मी यह निरम्बण करे कि पूम वहित्र के विद्यार होता है। वेवाहित भीवाहित कराय होता है। वेवाहित भीवाहित होता है। वेवाहित होता है। इतानिय यह पूम कती बिह्न के और न निर्वाह्म के उत्पक्ष होता है। इतानिय यह पूम कती बिह्न के और न निर्वाह्म के उत्पक्ष होता है। वह स्वया यह क्या नहीं हो तकता। किन्तु यदि यह वंका हो कि स्था पूम निर्वाह्म के उत्पक्ष होता है, यूप ना वह कभी-कभी बिह्म के समय में भी विद्यामान हो मकता है प्रमान वह तियी 'हिंदु' के बिना (पहितुक्ष) उत्पक्ष होता है, तो हम में से कोई भी किया में प्रवृत्त होने कि ए पूम के सर्व वताहरूगों में बिह्न के स्वयंवक स्वर्थ का प्राणित नहीं कर पार्ट के स्वर्थ वताहरूगों में बिह्न के स्वयंवक स्वर्थ का स्वर्थ होता है, तो हम में से कोई भी किया में प्रवृत्त होने के तिय कर सर्व वताहरूगों में बिह्न के स्वर्थक सन्तित्व के प्रत्यंव की प्राणित नहीं कर पार्ट के स्वर्थ वताहरूगों में बिह्न के स्वर्थक सन्तित्व के प्रत्यंव की प्रत्यंव की प्रत्यंव निर्वाह के स्वर्थ के स्वर्थ की प्राणित नहीं कर पार्ट के स्वर्थ वताहरूगों में बिह्न के स्वर्थक सन्तित्व के प्रत्यंव की प्रत्यंव की स्वर्थ के स्वर्थ वताहरूगों में बिह्न के स्वर्थक सन्तित्व के प्रत्यंव की स्वर्थ के स्वर्थ की प्राणित नहीं कर पार्ट के स्वर्थ वताहरूगों में बिह्न के स्वर्थक सन्तित्व के प्रत्यंव की प्रत्यंव की स्वर्थ की स्वर्थ के स्वर्थ के स्वर्थ की स्वर्थ के स्वर्थ की स्वर्थ के स्वर्थ के स्वर्थ के स्वर्थ के स्वर्थ की स्वर्थ के स्वर्थ के स्वर्थ की स्वर्थ के स्वर्थ के स्वर्थ के स्वर्थ के स्वर्थ के स्वर्थ की स्वर्थ के स्वर्थ के स्वर्य के स्वर्य के स्वर्थ के स्वर्थ के स्वर्थ की स्वर्थ के स्वर्य के स्वर्थ के स्वर्य के स्वर्य के स्

भवम तीत्र में से प्रत्येक के 'बां'त' 'उत्पत्ति' एव 'स्थिति के निर्वेशातुसार तीन प्रकार होते हैं। इस प्रकार 'अस्ताध्य' का जिबिक उदाहरण होगा (१) एतर्- घट-बान प्रयोतत-यट-क्या स्तातितर्-घट-मिन्न स्वात्, (२) घटोऽम्म स्वयेत इ घट-बार- स्वात्, एवर्-पट-मिन्नः स्वात्, (२) घटोऽम्म स्वयेत इ घट-बार- स्वात्, एवर्-पट-मिन्नः स्वात्, (२) घटा घटेष्ट्रस्ट मृतः, स्वात्, त्यात् स्वयः स्वात-अस्य-झान-वय्यः स्वात् । 'अस्य मे स्वतं इ घट-बार-अस्य-झान-वयः स्वात् । प्रत्यंति मे 'वक्षक' का उदाहरण- घटांचं ववेतद्-घट-वय्य-वय्य-वयः स्वात् एत् पट-वय-व्यव्यात् । प्रत्यंति मे 'विक्षक' का उदाहरण- घटांचं ववेतद्-घट-वय्य-वय्य-वयः स्वात् पत्यंति एत्-पट-वय्य-वय्य-वयः स्वात् पत्यंति पत्य-वयः पत्यः पत्यः पत्यः पत्यः पत्यः प्रत्यः प्रत्यः पत्यः प्रत्यः प्रत्यः प्रत्यः प्रत्यः प्रत्यः प्रत्यः पत्यः प्रत्यः प्रत्यः प्रत्यः प्रत्यः प्रत्यः प्रत्यः पत्यः प्रत्यः प्रत्यः पत्यः प्रत्यः पत्यः प्रत्यः पत्यः पत्य

<sup>-&#</sup>x27;विश्वनाथ बृत्ति' १. १. ४० I

(सर्वरव स्व-किया-व्याचातः)। ' 'तकं' नामक विचारधारा केवल तमी व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण में सहायक हो सकती है जब बनेक विधानात्मक एवं निषेधात्मक उदाहरणों का वस्तुतः निरीक्षरण किया जा चुका है तथा एक बन्तःकालीन निश्चितता प्राप्त हो चुकी है। अन्त:कालीन निश्चितता प्राप्त हो जाने पर भी जब तक कन उपरोक्त 'तर्क' के द्वारा स्पष्ट नहीं हो जाता तब तक 'सवाय-घारा' कदाचित प्रवाहित हो सकती है।" गंगेश कहते हैं कि यह बाग्रह नहीं किया जा सकता कि उक्त विवि के द्वारा व्याप्टि-प्रत्यय के निर्माण के परवात् भी कदाचित् सशय उत्पन्न हो सकते हैं कि विश्व भूम का कारए। नहीं है सथवा भूम बहेतुक है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो बाव भूम की इच्छा होने पर विह्न को 'नियत' रूप से प्रज्वलित नहीं करते, श्रववा क्षुवा-निवारण की इच्छा होने पर मोजन नहीं करते या अन्य लोगों तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिये शन्दों का प्रयोग नहीं करते । इस प्रकार के नियत प्रयत्न स्वय यह प्रकृष्ट करते हैं कि इन अवस्थाओं में कोई 'शंका' नहीं होती, क्योंकि यदि 'शंका' होती तो यह प्रयत्न ऐसे नियत नहीं होते। यह सम्भव नहीं है कि ब्राप इस शंका में रहते हुए भी कि बह्वि धूम का कारए। है या नहीं नियत रूप से घूम की प्राप्त के लिये विद्व को प्रज्वलित करें। ऐसी धवस्थाओं में शका का बस्तित्व धूम की इच्छा होने पर वहिंह को प्रज्वलित करने के भाषके नियत प्रयास के व्याचात में होगा, शकाओं को तभी तक स्वीकार किया जा सकता है जब तक उनका स्विक्या से व्याघात (स्विक्या-व्याचात) न हो।

किन्तु श्रीहर्ष बेदान्त के टॉल्टकोस्स से दुक्ति देते हुए सका निवारस में तर्क की त्यापता की सब्दोक्डत करते हैं। उनका साम्यह है कि यदि यह कहा जाम कि तर्क से सी उदाहरसों में प्रतिवार्धत: कंकाओं का निवारस करता है तथा किसी विशेष क्यापित-प्रत्यव के निर्माप से सहायक होता है, तो यह कमन स्वय किसी प्रत्य व्यापित-प्रत्यव पर सामारित होना चाहिये और वह किसी सन्य पर इस प्रकार 'सानवस्या' टांब उदलब होता है। पुतः, यह तथ्य कि हम बिह्न पर चुन के सावयीय साइच्ये को नातते हैं तथा सन्य किसते पे तस्य के बह्न में सावयीय कर में स्थित नहीं देखते जिसका बिह्न से मुण्य के समान सावयामित साइच्ये हो नहीं कर सह करता

<sup>° &#</sup>x27;तर्क' के प्रति गगेश एव उस पर मधुरानाय की टीका।

<sup>~</sup>तस्व-चिन्तामस्सि, माग २, पृ• २१६-२८ ।

<sup>&</sup>lt;sup>९</sup> वही, पृ० २२०, देखिये कामास्थानाव की टिप्पस्ती एव पृ० २२८ भी।

तदैव ह्यमाशंक्यते यस्मिन्न माश्वक्यमाने स्वक्रिया-व्यावातो न भवतीति, त हि सम्भवति स्वयं बङ्क्रपादिक धूमादि-कार्थ्याचं नियमत उपादसे तस्कारण तन्तिया-सक्यते च ।

कि उसमें ऐसा कोई तत्व स्थित नहीं है जो वस्तुत: धूम का कारगा हो (यद्यपि भामासतः बिद्ध ही उसका कारए प्रतीत हो)। हमारा प्रत्यक्षीकरए। केवल उन समस्त वस्तुओं के श्रस्तित्व श्रयवा श्रनस्तित्व को प्रमाशित कर सकता है जो डिव्ट-प्रत्यक्ष की साधारण अवस्थाओं में दृष्टिगीचर हो, वह उन अवस्थाओं से अनियन्त्रित सत्तामों के भाव ग्रथवा ममाव के सम्बन्ध में कुछ नहीं बता सकता श्रथवा हम केवल यही कह सकते हैं कि बह्नि के समाव में एक विशिष्ट प्रकार के धूम के झस्तित्व का श्रमाद होता है। हम यह नहीं कह सकते कि सभी प्रकार के भूम का अभाव होगा, क्योंकि यह सम्मद है कि कोई बन्य प्रकार का कारण विद्यमान है जो ऐसे विशेष प्रकार के घूम को उत्पन्न करता है जिसका हम मदतक प्रत्यक्षीकरण नहीं कर पाये हैं. केवल अप्रत्यक्षीकरण यह सिद्ध नहीं कर सकता कि ऐसा विशेष प्रकार का धूम सर्वथा धास्तित्व नही रखता, क्योंकि प्रत्यक्षीकरण केवल उन सत्ताओं पर लागू होता है जो प्रत्यक्षीकरण के योग्य हों तथा तत्सम्बन्धी प्रवस्थान्ना से निर्धारित हो, श्रतएव उन सत्ताको पर लागू नहीं किया जा सकता जो उन बबस्थाओं के अन्तर्गत नहीं लाई जा सकती। ' 'तर्क,' जो कि 'स्वित्रया-व्याचात' की मान्यता के द्वारा सक्षय का निराकरण करता है तथा जो इस प्रकार व्याप्ति का समर्थन करता है, स्वय व्याप्ति पर आधारित न होने के कारण स्वभावतः अपने उक्त कार्यं को करने भे असकल रहेगा, न्यांकि यदि यह मान लिया जाय कि ऐसा माधारहीन 'तर्क' व्याप्ति की स्थापना करता है, तो यह स्वय एक 'व्याचात' होगा। उदयन ने कहा था कि यदि शका के अभाव के होते हए भी भाप यह मान से कि मविष्य में शका उत्पन्न हो सकती है तो ऐसा केवल अनुमान के कारए। ही हो सकता है, बतः अनुमान प्रामाणिक है। 'नकं' के आधार में स्थित ब्याप्ति के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शकाधी को जताना ग्रावश्यक नहीं है नयों कि ऐसा करने से स्वित्रया-अयाचात की उत्पत्ति होयी, क्यांकि हम यह नहीं कह सकत कि हमें वां ख़ के घूम के कारए। होने में विश्वास है और फिर भी हमे उसमे शका है। कीहपं ने इसका उत्तर यह कहकर दिया था कि जहाँ साहचयं के व्यक्तिचार का अनुमव हों तो वहाँ उसी से व्याप्ति की मान्यता सञ्चयपुर्ण हो जाती है, जब साहचयं के व्यभिचार का कोई धनुभव न हो, तब श्रनिश्चित गकाओं का कोई ग्रन्त नहीं हो पाता, क्यों कि ऐसी भज्ञात शंकाओं की समाप्ति तभी होती है जब साहचयं के किसी विजिष्ट क्यमिचार की सूबना हो, बत: किन्हीं परिस्थितियों से 'तर्क' के द्वारा शंकाओं का

तददर्शनस्य भ्रापाततो हेत्वन्तर प्रयोज्यावान्तरजात्यदर्शनेन भ्रयोग्यत्या भ्रविकल्प्य-त्वादप्युपपत्तेः, यदा तु हेत्वान्तर-प्रयोज्यो भूमस्य विशेषो द्रश्यते तदासौ विकल्पिष्यते इति सम्भावनाया दनिवारत्वात् ।

<sup>-</sup> श्रीहर्षका 'संडन-सड-साद्ध,' पृ०६८०।

तिवारणु नहीं किया वा सकता। 'विवार मुक्यतः इस बात पर है कि जहीं श्रीहर्ष कांस्यतः संकामों के कारणु 'तक' में विकास करने में हिचकते हैं, वहीं उदयन का विचार है कि सर्विद हम दनने निरामावादी हो जाएंगे तो हमें घपनी समस्त कियामों को स्वित्त करता पड़ेता। कियु उनमें से कोई मी सम्मावना के मध्यदातों माने का विवेचन नहीं करता जो हमें किया की धोर प्रेरित कर सके और फिर भी खिळ प्रामाणिक सनुसान के रूप में स्वीकार न किया जा सके। पर वर्षमान उदयन के उपरोक्त स्तोक पर टीका करते हुए नेथा का उल्लेख करते हैं जिनके मनुसार 'तक' के हारा म्याप्त-अस्यय का निर्माण नहीं हो सकता। 'दे

परन्तु व्यासतीयं का 'तकं-ताष्मव' ये घाषह है कि 'तकं' व्यास्त-प्रत्य केल घर्षपहां धावस्था नहीं है। हम 'तकं में श्रीक्या के दिता धारत पुरुषों में अबा के द्वारा प्रथम पूर्व-तम के घनुमार्थे से प्रांत वस्तात स्कारों के हारा घाषा स्वस्ता सर्व-नाम्य मत की सम्मात के द्वारा व्यालि के प्रत्यय की प्रांत्त कर सकते हैं, किन्तु वे बर्धमान के उपरोक्त कथानुसार गरेश द्वारा माग्य 'तकं-व्यवस्त्री मत के घरिया में से स्वस्ता प्रतात होते हैं क्योंकि वे यह मानते हैं कि 'तकं' प्रत्यक्ष कम में व्यापित की स्थापना में तहायक नहीं होता। वे कहते हैं कि 'तकं हमें प्रत्यक कम में

शका चेदनुमास्त्येव न चेब्छका ततस्तराम् व्यापानाविधराशका तकः शकाविधर्मतः।

'कुसुमाजलि,' ३, ७ ।

श्रीहर्ष ने इसका उत्तर उदयन के शब्दों में थोडा-सा परिवर्तन करके निम्न प्रकार से दिया--

> व्याघातो यदि शकास्ति न चेच्छका ततस्तराम् व्याघाताविषराशका तकः शकाविधः कुतः।

> > –'लंडन-लंड-साद्य,' पृ० ६६३ ।

गगेश सुभाव देते हैं कि श्रीहर्ष में 'व्याघात' शब्द का वर्ष साहचर्य का व्याम. चार है (सहानवस्थान-निवय), जबकि उदयन में उसका वर्ष प्रवीक्या-व्याघात: है। किन्यु जैसाकि व्यावतीर्ष बताते हैं, उक्त शब्द को श्रीहर्ष ने भी पत्रवादुक्त व्रायं में विद्या जा सन्ता है।

उदयन का क्लोक निम्नलिखित था:

<sup>~&#</sup>x27;तकं-ताण्डव' (पा० लि०, पृ० २४) ।

भन्नास्मितितृवरताः, तकों न व्यान्ति-बाहकः किन्तु, व्यभिवार-क्रानाभावसहकृतं सहवार-दर्शनम्।

<sup>-</sup>प्रकाश, ३, प्र०२६।

अयाप्ति की स्थापना में सहायता नहीं देता, क्योंकि साहचर्य के व्यक्तिचार के समाव के ज्ञान से साक्षेप तत्सम्बन्धी व्यापक अनुमन (भूयो-दर्शन) के द्वारा व्याप्ति का साम्रात् ब्रह्मण कर लिया जाता है। वाचस्पति भी लगभग इसी मत को मानते हैं जब वे यह कहते हैं कि भूयो-दर्शन-जनित संस्कार की सहायता से इन्द्रिय ही व्याप्ति के स्वामाविक सम्बन्ध को ग्रहण करती है। व्यासतीर्थ कहते हैं कि उपाधियों के सभाव का निर्घारण जो कि 'तर्क' का एक व्यापार है, केवल कुछ प्रकार के अनुमान में भावश्यक होती है, उसकी सदा अपेक्षा नहीं होती। यदि उसकी सदा आवश्यकता होती तो 'तक' समस्त व्याप्ति-प्रत्ययो के लिये वर्षेक्षित होने के कारण और व्याप्ति 'तक' का भाषार होने के कारण 'अनवस्था' दोष की उत्पत्ति हो जायगी। अ यदि साहचर्य के व्यक्तिचार का ज्ञान न हो तो साहचर्य के उदाहरलों से ही साक्षी तस्काल व्याप्ति के प्रत्यय का निर्माण कर लेता है। \* इसलिये भावस्यकता केवल साहचर्य के व्यक्तिचार की शकाओं के निवारए। की है (व्यक्तिचार-शका-निवृत्ति-द्वार)। किन्तु ऐसी शंकाएं क्वचित् ही (क्वचित्कैव) खड़ी होती हैं, सदा नहीं; तथा इन कदाचित्क शकामी की निइति के लिये कभी-कभी ही 'तक' के प्रयोग की झावस्यकता पड़ती है। यह यूक्ति नहीं दी जा सकती कि शंकाकों की सम्भावना सभी प्रवस्थाकों में बनी रह सकती है बतएव सभी उदाहरलों मे 'तर्क' के प्रयोग की बावश्यकता होती है, क्योंकि प्रश्न चठाया जा सकता है कि क्या ऐसी शंकाएँ हमारे मन में स्वय उत्पन्न होती हैं बथवा वे दूसरों के द्वारा उत्पन्न की जाती हैं? प्रथम मान्यता के अनुसार हम अपने ही हाथों ... स्रमवा पैरो के प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध में शंकाएँ कर सकते हैं, अध्या हम अपनी ही शकाओं के प्रति शकाए कर सकते हैं, जिससे शकाएँ भी प्रप्रामाशिक हो जाएँगी। बदि यह माना जाय कि धन्य विकल्पों के सुभव से ही शंकाएँ उदित होती हैं, तो यह स्वीकार करना पढ़ेगा कि कई अवस्थाओं ने ऐसे विकल्पों का कोई सुभाव नहीं दिया भागगा भवता उनमें से एक की सम्मावना का ऐसा प्रवस सुमाव दिया जा सकता है कि शंकाओं के लिये कोई सक्सर उत्पन्न न होगा। श्रतः यह स्वीकार करना होगा कि भनेक उदाहरलों में हमें कुछ कोटि के साहचर्य मे स्वाभाविक विश्वास होता है

<sup>ै</sup> प्रपि व तर्कों न साक्षाद् व्याप्ति-बाहकः भूयो-दर्धन-व्यक्तिचारादर्धन-सहकृत-प्रत्यक्षे-र्खैन तद्द-प्रहलात्। –'तर्क-ताण्डव' (पां० लि०, पृ० २०)।

भूगो-दर्शन-जनित-संस्कार-सहितमिन्द्रयभेव स्वामाविक सम्बन्ध-प्राहि ।
 —तात्पर्य-टीका ।

श्रीहर्ष की आपत्तियों का विवरण देते समय यह पहले ही बता दिया गया है।

भ घटच्टे व्यक्तिपारे तु सामकं तदित स्कुटं ज्ञायते साक्षिर्णवाद्धा मानवघो न तद् सबेत्।

<sup>-</sup>तर्क-ताण्डव, (पां**० लि०, पृ० २१)** ।

जहां स्वयं कोई शंकाएँ उत्पन्न नहीं होती (स्व-रसिक विश्वासस्यावश्यकत्वान न सबंत शंका). कोई भी व्यक्ति बाजीवन बविरल शंका-वारा से सकान्त नहीं देखा जाता (त चाबिरल-लग्न-शका-धारा-धनुभूयते) । द्वितीय मान्यता के आधार पर भी कोई यह नहीं कह सकता कि संशय सदा उत्पन्न हो सकते हैं। धुम और बिल्ल के सम्बन्ध में कोई यह सुकाव नहीं दे सकता कि विद्व से मिन्न कोई अन्य सती भी हो सकती है जो धम का कारए। है, क्योंकि यदि यह सत्ता इन्द्रिय-प्राह्म होती तो उसका प्रस्थकी-करता हो जाता और यदि वह इन्द्रिय-प्राह्म नहीं होती तो कोई प्रमाश नहीं दिया जा सकता था कि एक इन्द्रियों से प्रगोचर सत्ता का प्रस्तित्व है अथवा हो सकता है। क्योंकि यदि श्रीहर्ष सर्व वस्तुओं के प्रति इतने संशयपूर्ण है तो यह निर्देश किया जा सकता है कि 'मर्डैत' के पक्ष में दिये गये प्रमाशों में सहस्र दीव हो सकते हैं भीर द्वैतवादियों की युक्तियों में सहस्र अच्छी बातें हो सकती हैं, अतएव इन शंकाओं के फलस्वरूप ग्राप स्वयं भवने भद्रैत मत की स्थापना में किसी निष्कर्ष पर नहीं पहेंच सकते। यदि एक व्याप्ति में निश्चय उत्पन्न होता है तो संशय की ग्रानिश्चित सम्भावना-मात्र से ब्याप्ति की सत्यता के सहज निष्यय का प्रतिबन्ध नहीं होता । यदि आप स्वयं क्षधा-निवृत्ति के लिये भोजन करते हैं, तो आप यह नहीं राह सकते कि ब्राप फिर भी गंका करते है कि मोजन करना कदाचित क्षया-निवृत्ति का कारण नहीं हो सकता । उसके श्रतिरिक्त, यह श्रायह करने से क्या लाभ होता है कि शकाशो की सम्भावना सदा बनी रहती है ? क्या इसका तात्पर्य सब अनुमान अथवा समस्त व्याप्त-प्रत्ययो की प्रामासिकता को नष्ट करना है ? अनुमान की उपयोगिता को स्वीकार करने का इच्छक कोई मी व्यक्ति उसको स्थापित करने के साधन-व्याप्ति-प्रत्यय को नष्ट करने का नहीं सोच सकता । यदि व्याप्ति की स्थापना नहीं हो पाती ता वेदान्ती को पता लगेगा कि उन वैदिक बहुतवादी शब्दों के सभी को समभता सम्भव नहीं है जिनके द्वारा वह भद्दैनवाद को स्थापित करने का इच्छक है। पुन: यदि अनुमान की प्रामाशिकता को स्थापित करना है तो ऐसा अनुमान के द्वारा ही किया जा सकता है, प्रस्थक द्वारा नहीं। अनुमान के बिना वेदान्ती न तो किसी बात को स्थापित कर सकता या और न अपने प्रतिपक्षियो बारा उसके सिद्धान्तों के विरोध में दिये गये कथनों का लण्डन कर सकता था। बनः यह प्रतीत होगा कि श्रीहर्ष एक अनुमान को ऐसे स्वापित करना चाहते हैं मानों कल्पित शंकाओं का कोई मय नहीं है

<sup>&#</sup>x27; तर्क-ताष्डव, पृ० २२-३।

वही, पु॰ २४।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> न हि ग्राझ्-संशय-मात्रं निश्चय-प्रतिबन्धकम्, न च उत्पन्नस्य व्याप्ति-निश्चयस्य बलवद् बाधकमस्ति येन ग्रीत्संगिक ग्रामाध्यमपोश्चेत ।

<sup>–</sup>वही, पृ० २४ ।

भीर फिर भी केवल कहने मात्र के लिये यह कहते हैं कि सर्व धनुमान में शंकाओं के अस्तित्य की सम्मावना बनी रहती है।

उपरोक्त विवेचन से जो बुख्य बाते कालित होती हैं वे यह है कि जबकि सीहर्ष यह पुक्ति देंगे कि किछी ब्यारित-प्रस्त्रक की प्रामाणिकता को सतर से बानने वाली काकामी का तर्क निवारण नहीं कर सकता सीर जब नैयामिक यह मानेंगे कि व्यारित-प्रस्त्रकों से संकाणों को निवहत करने के सपने व्यापार के कारण तर्क लिए तर्क से सुन्नान-प्रक्रिया से संकाणों को निवहत करने के सपने व्यापार के कारण तर्क से सद्भान-प्रक्रिया को संग्रेश स्वीकृत्र कारणा वर्ष के स्वीकृत किया जाता है, ज्यारित में ही सो प्रस्ता वह के स्वाप्त स्वीकृत के सर्वाप्त को संग्रेश सच्चे वाला क्रिया जाता है, स्वीकृती प्रदा वह कहना सत्य नहीं है कि तर्क सर्व स्वाप्त के सर्वाप्त के स्वाप्त के स्वप्त वह स्वाप्त के स्वाप्त के स्वप्त के स्वप्त वह स्वाप्त के स्वप्त के स्वप्त

<sup>°</sup> वही, पु०२४-३१।

किस्तु यह मही कहा जा सकता कि त्याय अनुमान के सर्व उटाटरणों में 'तर्क' की भावस्थकता का भावह करेंगे। प्राचीन न्याय-नेवक इस विषय पर स्पष्ट कर में कुछ नहीं कहते, किन्तु विषयताल प्राची 'मुक्तावली' में कहते हैं कि तर्क केवन उन्हों उदाहरणों में भावस्थक होता है कहीं व्याप्ति-प्रस्थक निर्माण में महेह हो। जहां कि उत्तर मही हो बही 'वर्क' की काई भावस्थकता नहीं होती (अब स्वते वाका नावतरित तक न तकस्थितापित)। 'मुक्तावली', १३०।

किन्तु 'मुक्तावली' १३७ पर ध्रयनी 'टीका' मे दिनकर के विचार मे 'तर्क' दो प्रकार के होते हैं, सदाय-परियोधक एव ब्याप्ति-प्राहक (तर्कश्व दिविविधों सत्रय-परिशोधका व्याप्ति-प्राहतक्व)। पर यह उत्तर दिये गये वर्षमान के मत से प्रस्थक्ष विज्ञेष्ठ में हैं।

इस विषय पर 'हिल्दू रमायन-बाल्त का प्रतिहास' (१० ०६४) से बार पीर मीर पाप द्वारा 'तर्क' के विषय में त्रार सीर के संक्षिप्त उल्लेखां का विवरण सही शब्दों में नहीं दिया गया है। वहीं वे कहते हैं-तर्क' श्रवता 'उन्हें इस प्रकार, प्रकृति में तिकृत्वात एक कारणता के उन सिद्धान्तों के उपनय द्वारा विशेष श्रामानों से सरवापन एवं न्याय-सर्गति की स्थापना को कहते हैं, जो स्वयं 'पूर्यो-वर्शन' तथा एकक्प्यता प्रयान कारणता के अविश्वत विशेष श्रामानों के श्रामित्वय पर निर्मेर

ग्रव्यतक व्यासतीर्थ ने 'तर्क' शब्द का प्रयोग 'न्याय' द्वारा स्वीकृत ग्रथं में किया है भीर उस धर्ष में प्रयोग करते हुए उन्होंने यह प्रदक्षित किया है कि शंकाओं का निवारण व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण के लिये अपरिहार्य नहीं है। किन्तु उनके अनुसार 'तर्क' साध्यामाव के कारण साधनामाव के ज्ञान की अनिवार्य उत्पत्ति में निहित है, इस हिटकोए। से देखने पर वह 'अनुमान' से एकरूप हो जाता है। जयतीर्थ भी भ्रपनी 'प्रमारा-पद्धति' में कहते हैं कि 'तर्क' का भर्य है किसी विशेष धर्म प्रथवा वस्तू (साधन) के प्रत्यक्षीकरण करने अथवा अंगीकार करने पर किसी प्रन्य वस्तु (साध्य) की अनिवास मान्यता को स्वीकार करना (कस्यचिद् धर्मस्थांगी कार्शिन्तरस्यापादनं तर्कः) । यह मगीकार करने पर कि पर्वत मे बिह्न नहीं है, हुमें भ्रानवार्यतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसमें घूम नहीं है, यह 'तक' है और 'झनुमान' भी है। इस प्रकार 'तक' वह प्रक्रिया है जिसके द्वार। एक परिकल्पना की मान्यता स्वमादले निष्कर्ष की सरवता को सिद्ध करती है। डमलिये यह एक 'प्रमाश' ग्रयवा ज्ञान का प्रामाशिक गाधन है और इसे सक्षय अथवा निष्या जान नहीं माना जाना चाहिये, जैसाकि कुछ न्याय-लेखको ने किया, प्रथवा जैसाकि भ्रम्य न्याय-लेखको ने माना, इसे सशय भीर 'निर्णय' से मिल नहीं समकता चाहिये। इस प्रकार व्यासतीयें के धनुसार 'तकं' का दोहरा व्यापार होता है, एक तो शकाखी के निवारक एव बन्य प्रमाणा के सहायक के कर में भीर दूसरा अनुमान के रूप में। व्यासतीर्थ जो मुख्य बात उदयन (जो यह मानते है कि तक का उपयोग केवल खनिष्ट मान्यताओं का निवारसा करना है) भीर वर्षमान (जो यह मानते हैं कि तर्क का उपयोग केवल माध्याशाव के सदेह का निवारण

करते है (भूयो-दर्शन-जनित-सम्कार-सहितमिन्द्रियमेव स्वाभाविक सम्बन्ध-प्राहि वाचस्पति)। इस प्रकार 'तर्क' 'सदेह'-निवारण में भी सहायक होता है।

<sup>&#</sup>x27;व्याप्ति' प्रत्यत के निर्माण-मार्ग को साफ करने में उसके कार्य व्यापार पर : 'मार्ग-माधन-डोरेला तर्कस्य ताक-बानामंत्र्वामह विवासतम्'। 'व्याय-मजरी' पृठ ५६६ देखिए । मजुरानाथ मी निर्देश करते हैं कि 'तर्क' का कार्य-व्यापार ऐसे स्याधारों को प्रदान करना है कि मध्य उन्पक्त न हो सके, किन्तु वह 'व्याप्ति-ग्राहक' नहीं होता (तर्क 'शकानुत्यत्वी प्रयोजक:—)।

<sup>-&#</sup>x27;'तत्व-चिन्तामस्त्रि', मात्र २, पु० २४० पर मधुराराय ।

''प्रमास्त्र-च्रति', पु० ३६ छ । मन्त्रते तु बगीकृतेन साध्यायावेन गष्ट धर्मगीकृतस्य माधनात्रास्त्र-च च्यापकृत्य-प्रमा वा माध्यामावायीकार-निमत्तक-साधनामावस्यायी-कर्त्तस्यस्त्रमा वा तक्येतीजेन इति खुल्यस्या तर्कः ।

<sup>–</sup>तर्क-ताण्डव (पां० लि० पृ०७६)।

पर्वतो निधू भत्वेनांगीकर्तव्यः निरम्निकत्वेनांगीकृतत्वाद् हृदवितित्यत्नुमानमेव तर्कः ।

<sup>–</sup>वही, पृ० ८४।

करना है। के विरोध में कहते हैं नह यह है कि यदि 'कर्ड' युव की उपस्थिति में काम्य (बिंह्न) के समाय को मानदान में निहित मीतिक सर्वर्गत सवना तथ्यों की प्रसम्मानस्वार ने निहित मीतिक सर्वर्गत स्वन तथ्यों की प्रसम्मानस्वार ने निहत है। ते केंद्र व्यवस्थ सनियद मानदामों का मी निवारण नहीं होगा और यदि वह उनकी गएना करता है तो उठते नवीन जान की उपस्ति होती है, वह स्वृत्यान वे एक्क्य है सीर स्वयं एक 'प्रमाएं है।' 'तर्क एक निवेधा-रमक प्रमुवान माना वा सकता है, यथा, 'यदि वह बांक्स से दिह होता तो वह पुत्र के तिहत होता, किन्तु वह ऐका नहीं है।' इस प्रकार का निवेधात्मक स्वृत्यान होने के निते वह एक स्वतन्त्र सनुमान होने के नाते वह एक स्वतन्त्र मानदामें है।' इस प्रकार का निवेधात्मक स्वृत्यान होने के निते वह एक स्वतन्त्र सनुमान होने के नाते वह एक स्वतन्त्र सनुमान होने को स्वत्र किया वा सकता है स्वत्र उत्तर सरसा में उत्ते उत्तर हारा सात सितिएक साथाय माना वा सकता है (प्रमाण्यानामनुवाहक) ने के त्यत्र करवा सात सत्त्र वहन्त्र को पुतः प्रमुवान हारा लुद्ध बनाया वा सकता है।' वैशांकि पहले बचाया जा चुका है सन्य उत्तहरूषों में संका-निवारण का उत्तरका उत्तरोग बना रहता है, किन्तु सर्वेष उत्तर है। हमनिया (सन्यवाह्यण्यान), जो सनुयान का भी विद्यान है।'

#### व्याप्ति

सम्कृत में 'व्याप्त' सम्द एक संबा है निसकी ज्युराति 'व्याप्' यातु से हुई है। साध्य (यया, बिह्न) मुन के सब उदाहरणों में व्याप्त होता है, सर्थात, साध्य का इत भूम के हत से छोटा नहीं होता है तथा उसके परिवेध्वत कर देना है, इसार्यय साध्य प्रयापक कहलाता है धीर हेतु (यथा, प्रमु) 'व्याप्य' कहलाता है। इस प्रकार पुम एव बिह्न के उदाहरण में उनमें समुक सम्बन्ध (सब्वित्याप्ता-सम्बन्ध ) है, तथा पूर्वोक्त ज्याप्य' कहलाता है। प्रयाप्त प्रवाप्ता स्वाप्ता स्व

किं च परमते तकंस्य कि विषय-परिशोधने उपयोग, किं उदयन गेत्या धानिष्ट-प्रसजनत्व-मात्रेण उपयोग, किं वा वढंमानादि-रीत्या साध्यामाव-सदेह-निवसंतेन ।

<sup>--</sup> बही, पृ० ६२।

\* साधनानुमान विनेव यदि निर्मानकः स्थात्ताहि निर्मामः स्थात्त्वा चार्य निर्माम इति
तर्क-स्थानुमानेनैवाग्निसिद्धेः। -- वही, पृ० ६०।

साक्षादन्यवानुपपत्ति-प्रमापक-तर्क-विषय-कृत-विरोधस्य सत्वात् ।

<sup>-</sup>वही, पृ० ⊏€।

जब एक अनुष्य विद्वा एवं धूम के श्रन्तित्व का निरीक्षरए करता है, तब वह अपने मन मे महज ही विचार करता है, 'क्या इसी स्थान में बिह्न एव बूम साथ-साथ दृष्टि-गोचर हाते है, जबकि ग्रन्थ स्थानों में और श्रन्थ कालों में एक की उपस्थिति दूसरे की उपस्थिति का अपनर्जन करती है, अथवा क्या वे साथ-साथ पाये जाते है,' फिर अनेक उदाहरणों का निरीक्षण करने पर वह पाता है कि जहाँ धुम है वहाँ विह्न है भीर जहाँ विद्धा नहीं है वहाँ घूम नहीं है तथा कम से कम कुछ उदाहरणों में विद्ध है किन्तु घूम नहीं है। इन निरीक्षणों के पदचात इस प्रकार के विचार उत्पन्न होते है-'चुं कि, यद्यपि स्रनेक उदाहरणों में बिह्न का थुम के साथ साहचर्य है और कम से कम कुछ उदाहरणों में जहां थ्रम नहीं है वहां बिद्ध पाई जाती है, इसलिये क्या थ्रम,-यद्यपि मुक्ते ज्ञात सब उदाहरगों मे वह विहा के साथ ग्राम्तत्व रखता है, कभी उसके बिना ग्रस्तित्व रखता है अथवा क्या वह सदा विद्वा से साहचर्य रखता है ?' पूनः यह विचार उत्पन्न होता है कि भूम का विद्वा से सम्बन्ध बार्ड ईथन (बार्डन्थन) द्वारा निर्धारित होता है, जिसे एक 'उपाधि' कहा जा सकता है. अर्थात् यदि यह उपाधि नहीं होती तो बिह्न का धुम से भीर धूम का बिद्ध से निरपेक्ष साहचर्य होता। यह उपाधि धूम के सब उदाहरएगे में ग्रस्तित्व रखनी है किन्तु बह्धि के सब उदाहरसों में नहीं। जहाँ साहबर्य इस प्रकार की उपाधि से निर्धारित नहीं होता, वहाँ वह सार्वभीम रूप में पारस्परिक होता

इसिलिये यह उपाधि 'गर्वत मे बूच है चूँकि वहाँ झिन है' अनुमान को असस्य बना देगी।

है। कुछ ऐसे गुरह हैं जो वह्नि भीर भूम में उसवनिष्ठ हैं (यथा, वे दोनों प्रमेय हैं, यदा, प्रमेयत्वम्) भौर इनके द्वारा सम्बन्ध निर्धारित नहीं हो सकता । कुछ मन्य गुख हैं जो बूम झथवा विह्न में नहीं पाये जाते हैं तथा इनसे भी सम्बन्ध निर्धारित नहीं हो सकता । ईंधन की बार्ड ता की उपस्थिति-रूप उपाधि ही अपने समाव से बिह्न को घूम से विलग कर सकती है, पर बूम को बह्नि से विलग नहीं कर सकती। यदि ऐसी कोई उपाधि होती को बह्नि के सब उदाहरुएों में विद्यमान होती परन्तु धूम के सब उदाहरें में नहीं होती, तो पूम से बिद्ध का अनुमान उतना ही दोषपूर्ण होता जितना बिह्न से भूम का अनुमान । अब, जहाँ तक हमने निरीक्षण किया है, ऐसी कोई उपाधि नहीं है जो बह्दि के सब उदाहरखों में उपस्थित हो किन्तु धूम के सब उदाहरखों में न हो, यह भय भवेष है कि कुछ ऐसी उपाधियाँ हैं जो हमारी इन्द्रियों के लिये सति सूक्म हैं, क्यों कि यदि वह अन्य प्रमाशों द्वारान तो प्रत्यक्ष की जाती है और न शात की जाती है (प्रमाणान्तर-वैद्य), तो यह शका उत्पन्न नहीं हो सकती कि वह फिर मी किसी प्रकार अस्तित्व रख सकती है। अत. जब हम सतुष्ट हो जाते हैं कि कोई उपाधियाँ नहीं हैं, तब नियत व्याप्ति के प्रत्यय का उदय होता है (अविनाभाव-प्रमितिः)। प्रतः नियत ब्याप्ति को ऐसे व्यापक अनुभव की सहायता मे प्रत्यक्षीकरण द्वारा ग्रह्ण किया जाता है जिसके साय उपसाधनों के रूप में साहचर्य के अपवाद के ज्ञान का ग्रभाव तथा उपाधियों के ग्रमाव का निश्चय कियान्वित रहता है। जब एक बार धूम ग्रीर ग्रन्नि के परस्पर नियत सम्बन्ध को ग्रहल कर निया जाता है, तब जहाँ भूम का प्रश्यकीकरण होता है वहाँ वह्नि को प्रमुमित किया जाता है। विश्वाप्ति-प्रत्यय के निर्माण का यह वर्णन न्यूनाधिक न्याय-मत के समान ही प्रतीत होता है, वहाँ भी अपवाद के अभाव के ज्ञान के रहित साहचर्य का प्रत्यक्षीकरण व्याप्ति-प्रत्यय के निर्माण को प्रेरित करता है।

शही व्यासतीर्ष कहते हैं कि उपाधियों के समाय का समिनियम्य उन स्विकास उचाहरूलों में सावस्थक होता है जहाँ उनके सम्माय्य स्वित्सर के प्रति सकारों हो, किन्तु वर्ष उनाहरूलों में उनकी स्वरिद्धानित का साधह नहीं करना चाहिए, वर्षों कि इस स्वार्ष में उपाधियों के समाय का प्रतिनियम्य स्वार्णत के निर्वारण पर सामारित होने के कारण तथा वह उपाधियों के सभाव के पूर्व स्विनियम्य पर सामारित होने के कारण "पनवस्था" दौष उत्पन्न हो जायमा । या तु पढतपुर्वाधि-निष्ययस्थ सहकारित्योक्ति, ता तु उपाधि-स्वारम्यामाया न तु सार्विकासियास स्थ्या उपाध्यासाविन्ययस्य स्वारित-सारेखा-तक्षित्रियन-नवस्थापातात् । '

<sup>⊸&#</sup>x27;तर्क-ताण्डव' (पां∘ लि० पृ० २२) ।

<sup>&</sup>quot; 'प्रमास-पद्धति', पृ० ३१-५।

<sup>&#</sup>x27;व्यभिचार-ज्ञान-विरह-सहकृतं सहचार-दर्शनं व्याप्ति-ग्राहकम् ।'

## श्रनुमान में झानमीमांसात्मक प्रक्रिया

न्याय का मत है कि जब धूम एव विद्वि के मध्य स्थित ब्याप्ति-सम्बन्ध से परिचित कोई व्यक्ति एक पर्वत पर धूम देखता है तो वह व्याप्ति-सम्बंध का स्मरण (ब्याप्ति-स्मरता) करता है कि वह धुम बिल्ल से निबत एवं निरुपाधिक सम्बन्ध रखता है। फिर दोनों प्रत्ययों का सम्बन्ध स्थापित होता है, बर्बात, वह कुल, जिसका विद्व से निरुपाधिक नियत सम्बन्ध है, पर्वत में विद्यमान है। ज्ञान का यह तीसरा संस्तेषसा ही हमें पर्वत मे विहा के धनुमान की मोर प्रेरित करता है। 'न्याय-सुघा' का प्रनुसदरा करते हए व्यासतीय यह यक्ति देते हैं कि उपरोक्त वत उन सभी उदाहरपों में सत्य हो सकता है जहाँ हेतू को बिना देखे व्याप्ति का स्मरण होता है बज़ौ यह त्रिविध संश्लेषण स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु प्रमाकर यह मानते हैं कि समरत प्रनुमान दो प्रथक तर्क-थाक्यों से मग्रसर होता है तथा संक्लेवला की कोई भ्रमेका नहीं रहती। दो तर्क-वाक्य हैं 'घूम विक्त से व्याप्य हैं' भीर 'पर्वत विक्तमान है। ' प्रभाकर का मत है कि चैंकि इन दो तर्क-बाक्यों में निरूपित ज्ञान समस्त अनुमान से नियस एव निरुपाधिक रूप में पूर्व भाना चाहिए, इसलिए यह विश्वास करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि उनका मंदलेयण अनुमान का कारण है, क्योंकि वस्तुत: ऐसा कोई संदलेयण बटित नहीं होता । परन्त व्यासतीयं युक्ति देते हैं कि इस प्रकार का विश्लेषसा धनुमान एव प्रत्य मानसिक प्रक्रियाची, यथा प्रत्याह्वान चादि में एक यथाये मनी-बैज्ञानिक अवस्था होता है। इसके अतिरिक्त, यदि धुम (जिसके साथ विद्वा नियत क्प से उपस्थित पाई गई थी) और पर्वत में ब्रब देखे गये धूम की एकक्पता की दो तक-बाक्यों के सब्लेवरा के द्वारा स्थापना नहीं की जाती तो न्याय-वाक्य में बार पद हो

<sup>&#</sup>x27;तत्व-चिन्तामिंग' पृ० २१०। जैसाकि पहले ही ऊपर वर्शन कर दियागया है, स्थाप्ति के प्रति वैच संकाए 'तर्क' द्वारा दूर की जा सकती हैं।

<sup>&#</sup>x27;प्याय-सुवा' का भनुसरण करते हुए व्यासतीय 'उपायि' की 'साध्य-व्यापकरथे सित साधनाव्यापक उपायिरिता' के क्य में परिभावा डेते हैं, तथा वे 'साध्य-सम-व्यापनत्ये नित साधनाव्यापक उपायि:' के क्य में चंदिक की परिभावा और 'पर्यवसित-साध्य-व्यापकरले सित साधनाव्यापक उपायि:' के क्य में संबेध की परिभावा के प्रति वापाल उठाते हैं। किन्तु, जैसी कि उत्तर व्याक्या की जा चुकी है, इन विमन्न परिभावामों द्वारा निविष्ट समिन्नाय नही है। उक्त विभेद ताकिक समया वर्षन-सम्बची होने के बनाय साधिकर एवं पाधिकरपूर्ण प्रविक्त है। 'उपायि' पर समस्त विवेचन को देखिये व्यासतीय के 'लई-राष्ट्रव' (पांठ ति० १० ४५-६१) में 1 ''यथं पूर्मा बह्नि क्याप्य' सम्बचा 'यद्गि-व्याप-प्रयक्तन स्वयिति'।

काते, प्रताएव वह बोचपूर्ण हो जाता। 'पुनः अनुमान में निहित विचार का संचलन इस प्रकार के संक्षेत्रपण की प्रपेक्षा रखता है जिसके बिना दोनों तर्क-वाक्य सम्बन्ध-रहित एवं स्वैतिक (निर्दाधाक) वने रहेंगे और कोई धनुमान फलित नहीं होगा।

## श्रनुमान के सम्बन्ध में विभिन्न विचार

धनुमान तीन प्रकार का होता है-(१) कार्यानुमान-कारए। का कार्य से धनुमान, यथा विद्व का धूम से धनुमान, (२) कारलानुमान-कार्य का कारल से अनुमान, यचा वर्षा का घरते हुए बादलो से अनुमान, (३) अकार्य-कारखानुमान-कारख-कार प्रकारों से एक मिन्न स्तर का बनुमान, यथा रस से रूप का बनुमान (रसे रूपस्य)। एक अन्य दृष्टिकोसा से अनुमान दो प्रकार का होता है-(१) हुन्ट, जहीं अनुमित पदार्थ 'प्रत्यक्ष-योग्य' होता है, बचा विद्वका घूम ने धनुमान, भीर (२) नामान्यतो-हब्ट जहाँ वह 'प्रत्यक्ष-योग्य' नही होता (प्रत्यक्षायोग्य), यद्या रूप के प्रत्यक्षीकरण से वर्धु-इन्द्रिय का बनुमान । 'हरूट' एव 'ब्रहरूट' में बनुमान का यह विमाजन एक बन्य इच्टिकोए। से भी किया जा सकता है। यथा, जब दो वस्तुओं के मध्य व्याप्ति के साक्षात् निरीक्षरण के बाधार पर अनुमान किया जाना है (यथा, यिह्न भीर धूम), तब वह 'इप्ट' कहलाता है, किन्तु, जब एक धनुमान समानना धथवा साहरयना के ग्राधार पर किया जाता है तब वह 'सामान्यतो-इच्ट' कह्नाता है, यथा यह अनुमान कि जैसे हल चलाना बादि, फसल की उत्पत्ति का प्रेरित करते हैं वैसे यज्ञ भी न्वर्गीय सुख्ता को उत्पन्न करते हैं क्योंकि उनमें यह साहक्य है कि दोनो प्रत्यन के फल है। पुन. भनुमान दो प्रकार का माना जा सकता है-(१)साधनानुमान-एक प्रमा से दूसरी प्रमा का धनुमान, यथा, बह्नि का धूम से, (२) दूषस्मानुमान-मिथ्या ज्ञान का धनुमान, यथा यह धपने निष्कर्ष को सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि इसका अनुभव ने व्याधान होता है। 'पून: कुछ विद्वान् मानते हैं कि अनुमान नीन प्रकार का होता है (१) उपस्थित मे पूर्ण धन्वय के बाधार पर (जहाँ व्यक्तिरेक का कोई उदाहरण सम्भव नहीं होता), (२) पूर्ण व्यक्ति-रेक के प्राधार पर (जहाँ कोई बाह्य बन्वय का उदाहरण सम्भव नहीं होता), (३) संयुक्त अन्वय और व्यतिरेक के बाधार पर, इस दृष्टिकोग्। से वह 'केवलान्वयी' (ग्रसम्मान्य-व्यतिरेक), 'केवलव्यतिरेकि' (ग्रसम्मान्य-ग्रन्वय), ग्रीर 'ग्रन्वय-व्यतिरेकि' (संयुक्त अन्वय-व्यतिरेक) कहलाता है। इस प्रकार 'सब श्रेय पदार्थ वाच्य है' तर्क-

एव च किचित प्रमेय बिद्ध-व्याप्य पर्वतक्ष्य प्रमेयवान इति ज्ञात-प्रयमित्र करिचन् वर्मो बिद्ध-व्याप्यः पर्वतक्ष्य प्रमाविति विज्ञ-किति परस्पर-वर्तनामिज्ञ ज्ञात-द्वयमिप नामुमिति हेतुः ।

<sup>-</sup>तर्क-ताण्डव, (पा० लि० पृ० ६८)।

बाक्य प्रथम प्रकार के सनुमान का एक उदाहरण है, क्योंकि कोई क्यंतिनेक का उदा-हरण सम्मय नहीं हैं विश्वके नम्बन्य में हम यह कह सक कि यह एक जेय पदार्थ नहीं है तथा बाष्य भी नहीं है, 'सब प्राख्या रहीर यात्मामों से सम्प्रक होते हैं 'तर्क-बाक्य सितीय प्रकार के प्रनुमान का एक उदाहरण है। इसको केवल व्यतिरंक के उदाहरणों इारा ही सिद्ध किया जा सकता है, जैसे 'ये क्य स्ताए जो धात्मामों से सम्प्रक नहीं हैं प्राणवान नहीं हैं, 'क्योंकि उक्त तर्क-वाक्य में समस्त धन्य के उदाहरणों का समावेश हो बाता है, इतिलए विचाराधीन तर्क-वाक्य के धार्तिरक्त कोई धन्यय के उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। तृतीय प्रकार का एक साधारण प्रकार का घनुमान होता है उत्ते ध्यान्ति की सनुभूति धनवा गुबं व्यतिरंक दांगो प्रकार के उदाहरणों द्वारा होती है।

अनुमान दे। प्रकार का और कहा गया है—पहला 'स्वावे' कहाँ अवर्'स्त सहित हेतु का ज्ञान हमारे मन में स्वतः उत्पन्न होता है, और दूसारा 'परार्थ' जहाँ उक्त ज्ञान ग्रन्य लोगों की जिला के लिए होता है। ग्रनमान के ग्रवयथी के सम्बन्ध में स्थास-तीर्थ प्राचीन न्याय-लेखको (जग्न-नैयायिक) के दस-वाक्यो के मत. उत्तरवर्ती न्याय-लेखकों' के पाँच वाक्यों के मत. मीमांसा के तीन वाक्यों के मत बीद बीदों के उदाहररा एव उपनय-सम्बन्धी (उदाहरस्पी-पनयऋ) दो बाक्यो के मन का विवेचन करते हैं। व्यासतीर्थका धाग्रह है कि चैकि इन मधटक बाक्यों का मुख्य व्यक्तियों को एक व्याप्ति-विदेश का स्मारण करवाने में ग्राथवा जो व्यक्ति उसे नहीं जानते थे उनमें एक जिज्ञासा उत्पन्न करवाने में निहित हैं, इमलिये अनुमान जिन परिस्थितियों में किमा जा रहा है तदनसार अथवा अनुमान करने वाले ब्यांक्त की मनःस्थिति के अनुसार केवल उतने ही बाक्यों की बावब्यकता होती है जितने उद्देश्य पूर्ति में सहायक होते हैं--धतएव ऐसे उदाहरण हा सकते है जिनमे केवल प्रतिज्ञा हेत एव उदाहरण ही बावव्यक हाते हैं, ऐसे उदाहरण हो सकते है जिनमें केवल हेत् से संयुक्त प्रतिशा की बावदयकता होती है (बरिन व्याप्त-धुमवान पूर्वताऽस्निमानित हेनुगर्ब-प्रतिक्षा), प्रथवा, जब कुछ उदाहरेगों में निवाद में प्रतिका पूर्वबहीत होती है, तब केवल हेतू ही मावश्यक होता है, इत्यादि । इसलिये अनुमान के लिये वावश्यक सघटक वाक्यों की सस्या के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं होता परिस्थिति-विशेष पर भी निर्भर करना है कि दो, तीन अववा अधिक वाक्यों की बावव्यकता है।

जिज्ञासा-सशय-अक्य-प्रांथ्यः प्रयोजन-मञ्जयिनरामाः प्रिनेजा हेतुदाहरणापनयिन-गमनानि इति दशावयवा उनि जरन्तेयायिका बाह्न ।

<sup>--&#</sup>x27;तकं-नाष्ट्रव' ।

विवादेतैव प्रतिक्रा-मिद्धी कृतः पर्वताऽस्मिमानिति प्रको ग्रामि-व्याप्त-धूमबस्वादिति
 तेतु-मानेशा वा । —नक्र-ताण्डव (पां० नि०, पृ० १०) ।

क्यतीर्थ और श्रास्तीर्थ दोनों ताकिक दोशों के विभावन (उपपत्ति-बोद) पद एक सम्बा विषेक्षन करते हैं तथा तत्तम्बन्धी न्याय-विभावन की झालीचना करते हैं, विक्रमु उनका श्रीक दार्थनिक महत्व न होने के कारण गुभ में उन्हें छोड़ देने की प्रवृत्ति होती है।"

#### शब्द

मध्य और उनके अनुयायियों ने केवल तीन प्रकार के प्रमालो को स्वीकार किया प्रवर्ति प्रत्यक्ष, धनुमान एव वेदों का साध्य। प्रत्य तत्रों में स्वीकृत प्रत्य समस्त प्रमास, जैसे 'प्रयोगित,' 'सम्भव' धादि केवल धनुमान के ही प्रकार बताये गये हैं।" वेदों मे स्वतः स्वतंत्र ज्ञान का बल है, ऐसा माना गया है। वे 'झपीरुवेय' और 'नित्य' हैं। वे ज्ञान के प्रामाशिक साधन हैं और फिर भी चूँकि उनकी प्रामाशिकता किसी मनुष्य की वाणी से व्युपत्स नहीं है, सतः उनको सपीरुवेय मानना चाहिये। परन्तु यह सिद्ध करने का कोई प्रयास नहीं किया गया कि वेद प्रामाशिक ज्ञान के साधन हैं, पर चूंकि उनकी प्रामाणिकता पर किसी भी हिन्दू-सम्प्रदाय द्वारा सदेह नहीं किया गया था इंसलिये उसको शान्य समऋ लिया गया, और फिर यह युक्ति दी गई कि चुँकि वे किसी की वास्ती से उत्पन्न नहीं हुए बत: वे ब्रपीरुवेय एव नित्य हैं। न्याय के इस मत के विरोध में कि वेदो का ईश्वर ने मुजन किया है उनकी अपीरुषेयता को स्थापित करने का प्रयास किया गया था। व्यासतीयें की युक्ति है कि एक सर्वज्ञ मत्ता को वेदों का रचितता मानकर परोक्ष रूप से उनकी प्रामाणिकता मानने से ता उनकी अपरोक्ष प्रामास्मिकता स्वीकार करना अच्छा है, क्यों कि यह निश्चित नहीं है कि ऐसे रचियता भी मिच्या कथनो के द्वारा मानव-जाति को खुलने का प्रयास नहीं करेंगे। **बुद्ध स्वयं ईश्वर के अवतार हैं** लेकिन फिर भी उन्होंने जनता का मिथ्या उपदेशों से इतना। परम्परा भी ईववर को वेदो का रचियता नही माननी। यदि उनकी सृष्टि हुई होती तो वे बौद्धों एवं जैनो के धर्म-बास्त्रों के समान ही होते। यदि धर्म-कास्त्रों के महत्व का निर्ण्य उनको मानने वालो की सक्या में किया जाता तो मुस्लिम धर्म-शास्त्रों का वरिष्ठ स्थान होता। ईश्वर को वेदों का महोपाध्याय माना जा सकता है क्योंकि वह उनका प्रथम बक्ता एव उपदेशक है। उसने उनकी सुध्ट नहीं

देखिये 'प्रमाशा-पद्धति,' पृ० ४८-७६ 'तर्क-ताण्डव'

<sup>(</sup>पा० लि० पु० ११४ और मार्ग)। \* प्रमासा-मद्धति, पु० ६६-६०।

पौरुषेय-सन्दाप्रमास्त्रकत्वे सनि सप्रमास्त्रकत्वात् ।

<sup>-</sup>तकं-ताब्हव (पा० लि०, पृ० १००) **।** 

को तथा वह उनको नित्य स्वरण रखता है, घठः धवदो के वैदिक कम के नष्ट होने की कोई सम्मावना नहीं है। साधारणतया तथ्यों की प्रामाणिकता का बाबा उनको समित्र्यक करने वाले मक्ती से प्रतिम होता है तथा परवाहुक पूर्वोक्त पर स्नामित रहते हैं, किन्तु वेदों में सक्द एवं सवतरखों में एक ऐसी प्रामाणिकता होती है जो तथ्यों है स्वप्तिम है तथा उनसे स्वर्तन है। इस प्रकार मध्य-यत न्याय घषवा सोमांसा मतों से सबहमत होते हुए दोनों का साध्यस्य करता है।

### अध्याव ११

# द्व'तवादियों और मद्र'तवादियों के मध्य विवाद

## जगत के मिथ्यान्व पर व्यामतीर्थ, मधुसद्दन और रामाचार्य

वेदान्तियों का आग्रह है कि जगत-प्रपच मिथ्या है। किन्तू मिथ्यात्व के स्वरूप से सम्बंधित विवेचन में प्रविष्ट होने से पूर्व वेदान्तियों को मिथ्यात्व की परिभाषा देनी चाहिये। प्राचीन वेदान्तियो द्वारा पाँच प्रमुख परिभाषाएँ दी गई है, उनमें से पहली यह है कि मिथ्यास्व वह है जो सन् एव असत् दोनों का ग्रन्थन्ताभाव हो (सरवास्थन्ता-भावत्वे सति ग्रसत्वात्यन्ता-भावत्व-रूप विशिष्टम)। कन्त व्यामतीर्घ का प्राप्तह है कि चैकि इनमें से एक दूसरे का निवेध है इसलिये दोनों का मयुक्त कथन विमध्य-नियम के विषय होगा सतएवं साहम-विरोधी होगा और सस्य दोनों को प्रथक प्रथक स्वीकार किया जा सकता है, पर इस तथ्य से यह स्थापित नहीं होता कि उनकी सयुक्त स्वीकृति की जाय (यया, क्षण और काग प्रथक-प्रथक सस्तित्व रखते है, पर शाम-शांग का कही भी भस्तित्व नहीं होता)। इसका मधुनुदन यह उत्तर देने है कि विमध्य-नियम सत् भीर असन् के प्रत्येक उदाहरण में लागू नहीं होना। इस प्रकार मिध्या धामास जहाँ तक मासिन होते है वे मन है, और जहाँ नक उनका धनस्नित्व है वे धसन हैं, मन का अपवर्जन हमे अनिवार्यतः समन पर नहीं ने बाता और इसका विलोग भी सस्य है। इसका 'तरंगिशी' के लेखक द्वारा दिया यथा प्रत्युत्तर यह है कि शकरवादी स्वय यह कहते हैं कि यदि एक वस्तु का फ्रांस्तरव नहीं है तो वह आसित नहीं हो सकती, जिससे प्रदक्षित होता है कि वे स्वय विमध्य-नियम को स्वीकार करते है तथा जैसाकि तर्क-शास्त्र सन और असन के किसी भी एव प्रत्येक सम्बन्ध-विशेष के परीक्षरा मे प्रचुर प्रदर्शन करता है उक्त नियम के बल को ग्रस्वीकृत नहीं किया जा सकता । शकरवादियो द्वारा दी गई मिथ्यास्व की दूसरी परिभाषा यह है कि मिथ्यास्व बह है जिसके ग्रस्तित का ग्रामान होने पर भी उसका तीनों कालों में निषेध किया जा सके (प्रति-पन्नापाध तैकालिक निषेध-प्रनियोगित्व) । इसका व्यासतीयं उत्तर

<sup>° &#</sup>x27;न्यायमृत,' पृ० २२।

देते हैं कि यदि निषेध सत्य है तो यह सत्य वस्तु ब्रह्म के समग्रत्य मस्तित्व रक्सेगी मौर इस प्रकार चरम प्रदेतवादी सिद्धान्त सण्डित हो जायगा (निषेधस्य तत्त्रिकस्वे प्रदेत-हानि:), यदि निषेत्र केवल एक सीमित रूप से (व्यावहारिक) असत्य अथवा सत्य है तो जगत-प्रपंच सत्य हो जायगा। पुन:, इस निषेध का बस्तुन: धर्य क्या है? तथाकथित ग्रामास एक उपादान कारल से उत्पन्न बताए जाते हैं तथा थे प्रत्यक्षीकरला के समय सत् रूप में प्रत्यक्ष किये जाते हैं, और यदि यह माना जाय कि फिर भी उनका कोई प्रस्तित्व नहीं है, तो काल्पनिक शक्ष-शु ग की मौति वे सर्वथा प्रसत् होने वाहिये। यदि यह माना जाय कि जगवामास का शश-शुग श्रादि कल्पित सताश्रों से यह भेद है कि वे पूर्ण-रूपेण अनिवंचनीय हैं नो उत्तर यह है कि स्वय 'अनिवंधनीय' पद उनके स्वरूप का वर्णन कर देता है। पुनः, जो पूर्णतः श्रसत् है वह किसी प्रकार से ज्ञान में मासित नहीं हो सकता (अमतः अ-प्रतीताव्), अतापृत उसके प्रति उल्लेख करना अथवा उसे किसी भी प्रकार से किसी अन्य वस्तु ने सम्बंधिन करना सम्भव नही है। शकरवादी स्वयं यह मानते हैं कि जो असत् है वह ज्ञान मे भासित नही हो सकता (असन चेन न प्रतीयेत), और इस प्रकार वे स्वय असतु वस्तु के ज्ञान में आसास-मात्र ही नहीं हाती। फलत: यदि बह्मन सदा ज्ञान में बवाधित रहता तो उस प्राधार पर उसकी यथार्थता का अभिवचन नहीं किया जा सकता था। पूनः यह सत्य नहीं है कि शहा-शृग की माँति सर्वधा असत् एव काल्पनिक वस्तुओं का निर्देश करने वाले शब्द कोई ज्ञान उलाल नहीं करते, क्योंकि वे भी एक प्रत्यय को उत्पन्न करते हैं, साधारण भ्रमो एव काल्पनिक तस्तुचो मे यह बन्तर है कि जहाँ साधारए। भ्रमो का भाषिष्ठान सरम एव प्रामाणिक होता है, वहाँ काल्यनिक वस्तुचो का कोई चिधिव्टान नहीं होता । मत , चूंकि काल्पनिक वस्तृएँ भी चेतना की विषय बनाई जा सकती हैं, इसलिये वे ज्ञान में असतु के रूप में मासित होती है। वैदिक पाठ 'असतु ही प्रारम्भ में अस्तित्व रखना था' (बसदेव इदमब बासीत्) मी इस तच्य की माध्य देता है कि 'बसत्' सत् के रूप में मासित हो मकता है। फिर ग्रसतुकी यह परिभाषा नहीं दी जा सकती कि वह मात्र 'सत्' तथा 'म्रनिर्वाच्य' से मिन्न होता है, क्यों कि पश्चादुक्त को 'म्रसत्' के प्रत्यय के द्वारा ही समभा जा सकता है तथा इसका विलोग भी सत्य है। इस प्रकार 'असत' की यह परिभाषा दी जा सकती है कि वह उस मत से मिन्न है जिसका सबंब त्रिकाल में निषेध कदापि नहीं किया जा सकता (सार्वत्रिक-त्रैकालिक-निषेध-प्रतियो-गित्व-रूप-सदस्यस्यैव तत्वाच्च) । यदि 'अनिर्वाच्य' की यह परिमाषा दी जाय कि श्रनिर्वाच्य वह है जिसका त्रिकाल में निषेध किया जा सकता है, तो वह स्वय असत् से एकरूप हो जाता है। असन् की भी यह परिमाधा नहीं दी जा सकती कि असत् वह है जो किसी व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता, क्योंकि शुक्ति-रजत भी, जिसे असत स्वीकृत किया जाता है, एक सभान्त व्यक्ति में उसे बहुए। करने के प्रयास को उत्पन्न करने में महायक हो सकती है और इस प्रकार उसमे एक तरह की प्रवृत्ति-

सामध्यं मानी जा सकती है तथा विश्व ब्रह्मन्, जिसे घरम सत्ता माना जाता है, स्वयं किसी प्रकार के व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति करने में असमर्थ होता है। पूनः मिध्यात्व धयवा असत की यह कहकर परिमाधा नहीं दी जा सकती कि उसका अपना कोई स्वरूप नहीं होता. क्योंकि यदि ऐसा होता तो यह नहीं कहा जा सकता था कि मिथ्यात्व का निवेध स्वयं उसके स्वरूप पर लाग होता है और न मिथ्यात्व का स्वरूप स्वय मिच्या माना जा सकता है. क्योंकि ऐसी व्याक्या केवल मिच्यास्व के प्रथं की पारिमाधिक मान्यता पर भाषारित होगी. और उससे विवादग्रस्त विषय का कोई स्पष्टीकररा नहीं हो पायगा. क्योंकि यदि तथाकथित सत्ता का स्वरूप अपने देश एवं काल में बना रहता है तो उस स्वरूप को स्वय में मिथ्या कहना अर्थहीन होगा। ऐसी मान्यता का तात्पर्य यह भी होगा कि व्यावहारिक कशनता में सहायक वस्त एवं उसमें सहायक न होने वाली वस्तु मे कोई विभेदीकरण नहीं किया जाता है, यदि ऐसी बस्तु जो देश काल में बनी रहती है तथा व्यावहारिक उद्दश्य की पूर्ति कर सकती है भीर मिथ्या कही जा सकती है, तो सतु और असतु में कोई भेद नहीं रहेगा यदि ऐसा होता तो सत् का सभाव तत् के समान ही पट का कारण कहा जा सकता था। इस प्रकार पूर्ण असत की यह परिमाणा दी जा सकती है कि पूर्ण असत वह है जिसका सर्वत्र त्रैकालिक निवेध किया जा सकता है (सर्वत्र त्रैकालिक-निवेध-प्रतियोगित्व)। यह भी नहीं माना जा सकता है कि असतु इसीलिये पूर्ण निषेष का विषय नहीं बन सकता क्योंकि वह असत है. जैसाकि झानन्दबोध के 'न्याय-मकरन्द' मे कहा गया है. क्योंकि यदि एक पूर्ण निवेध का कोई विषय नहीं हो सकता नो ऊपर दिये गये इस कारण 'क्योंकि वह असत है'-का स्वय कोई विषय नहीं होगा, अतएव वह लागू नही होगा। इसके ग्रतिरिक्त, जैसे माबात्मक सत्ताभी का निषेध किया जा सकता है, वैसे भावारमक सत्ताक्रों का उल्लेख करने वाले विशिष्ट निषेषों का भी निषेध किया जा सकता है और इस प्रकार वे अपने अनुरूप स्वोकारात्मक अभिवचनों को प्रेरित कर सकते हैं। पन:, यह मी स्वीकार किया गया है कि विशिष्ट भावात्मक सत्ताए 'प्रागमाव' की स्थिति से अपने अनुरूप निषेषों के निषेध द्वारा अस्तित्व में आती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि नकार अथवा निषेध अपनी प्रक्रिया तथा निषेध के व्यापार के लिये मनिवार्यतः मावात्मक गूर्गो ग्रथवा सत्ताओं की अपेक्षा नही रखता। उक्त विवेचन का एकमात्र निष्कषं यह है कि यदि मिथ्यात्व का अयं ज्ञान में मासित होने वाली किसी वस्तू का पूर्ण निषेष है तो उसका आध्य यह है कि किसी भी सत्ता का श्रमिवचन नहीं किया जा सकता, क्योंकि मिच्या श्रथवा सत्य का श्रमिवचन केवल ज्ञान में भासित सत्ताक्यों पर लाग होगा तथा उस दशा में ब्रह्मन की सत्ता भी सोपाधिक हो जायगी, अर्थात् जहाँ तक वह ज्ञान में सासित होती है। पून:, पूर्ण निषेध (सर्वत्र त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगित्वं) का काल्पनिक सत्ताम्रो से विभेद नहीं किया जा सकता । भौर यदि जिगदाभास पूर्ण निवेच का विषय होता तो उसकी स्थिति काल्पनिक सत्ताम्रों से तनिक भी वरिष्ठ नहीं होती (यथा, शवा-वांग)।

मिच्यात्व की परिभाषा के विरुद्ध व्यासतीय की आपत्तियाँ यह हैं कि यदि मिच्यारव यथायं है तो उससे इतवाद लक्षित होता है और यदि मिच्यारव मिच्या है तो उससे जगत की यथार्थता की पून: स्वीकृति लक्षित होती है। इनके उत्तर में मध्सूदन करते हैं कि चैंकि निषेध स्वयं (जहाँ तक उसके चरम ग्राधिकान का सम्बन्ध है) ब्रह्मन से एकरूप है. इसलिये मिध्यात्व की यथार्यता से बैतवाद लक्षित नही होता, क्योंकि निवेध की यथार्थता से उस दृश्य-घटना की यथार्थता लक्षित नहीं होती जिसके निवेध का निवेध समस्त दृष्य-घटनाधों के निवेध द्वारा किया जा चुका है। उसमें केवल उतनी ही यथार्थता है जितनी समस्त दृष्य-घटनाओं के अधिष्ठान, ब्रह्मन में अन्तर्निहित है। पुन:, मिध्यास्व के मिध्यास्व से जगदामास की यथार्थता की स्वीज्ञति लक्षित नहीं होती, क्योंकि शुक्ति-रजत के उदाहरण में यद्यपि यह ज्ञात होता है कि न केवल वह मिथ्या था किन्तु, चैकि उसका सर्वथा अस्तित्व ही नहीं था, वह कभी अस्तित्व नहीं रखता है एव कदापि बस्तित्व नहीं रक्लेगा और उसके प्रति मिच्यास्व का कथन भी मिथ्या है, इसलिये वस्तुत: शक्ति-रजत की यथार्थ के रूप में पुन: स्वीकृति नहीं की जाती । यह मानना गलत है कि मिथ्यास्व का मिथ्यास्व प्रथवा निषेध का निषेध सब दशाओं में पुनः स्वीकृति होता है, केवल उसी दशा में निषेध का निषेध स्वीकृति होता है जब यथार्थना एव निषेध का एक ही स्तर होता है तथा उनका क्षेत्र एकरूप होता है, किन्त, जब उनके ग्रयं का क्षेत्र मिन्न होता है, तब निषेध के निषेध द्वारा एक स्वीकृति लक्षित नहीं होती। भागे यह निर्देश किया जा सकता है कि जब निषेध के निषेध द्वारा मावात्मक सला की पून: स्वीकृति ग्रमित्रेत होती है, तब निषेष का निषेध स्वीकृति को प्रेरित करता है। पर, जब एक निवेध मावात्मक सत्ता एवं निवेध (जो स्वयं एक प्रथक सत्ता माना जाता है) दोनो का निषेध करता है, तब द्वितीय निषेध स्वीकृति को प्रेरित नही करता। जगदाभास का निषेध सुक्ति-रजन के निषेध की मॉति जगदाभास की यदार्थता का स्वरूप से (स्वरूपेग़) निषेध होता है। यह तथ्य कि जगत्-प्रपंच 'धक्रान' की एक उपज माना गया है तनिक भी यह लक्षित नहीं करता कि वह स्वरूपत. मिथ्या नहीं हो सकता, क्योंकि जो ग्रपने स्वरूप से ही मिथ्या है वह मिथ्या ही रहेगा, चाहे वह उत्पन्न हो अथवा न हो । शक्ति-रजत के निषेध ('यह रजत नहीं हैं) का अर्थ यह है कि शक्ति-रजत वास्तविक रजत से अन्य है, अर्थात, यहाँ निषेष अन्यत्व का है (अन्यो-अन्य-अभाव)। पर जब यह कहा जाता है कि 'यहाँ

तत्र हि निपेश्वस्य निषेषे प्रतियोगि-सत्यमायाति, यत्र निषेशस्य निषेप-बुद्ध्या प्रतियोगसास स्ववस्थाप्यते, न निषेप-मात्र निषेश्वते, यथा रखते न इद एजतमिति मानान्तरिमद न सरजदियाति झानेन ग्वतः स्ववस्थाप्यते । यत्र तु प्रतियोगि निषेप-योडग्रयोगिर निपेश्वनत्र न इतियोगियात्रस्य ।

<sup>-</sup>बर्देत-सिद्धि, पु० १०४-६।

कोई रजत नहीं है.' तब निषेध सभाव का होता है, और उसके द्वारा सामास के मिथ्यात्व का निविचत रूप से कथन किया जाता है (सा च पुरोवर्ति-रजतस्यैव ब्यावहा-रिकमन्यन्तमावम विषयी-करोति इति कष्ठोक्तमेव मिथ्यात्वम्), जबकि पूर्वोक्त उदाहरसा में मिथ्यारव केवल लक्षित होता है (इद शाब्द-निर्दिष्टे प्रोवित्त-प्रातीतिक रजत-शब्द-निर्दिष्ट-व्यावहारिक-रजत-भ्रन्योन्य-भ्रमाव-प्रतितेर भ्राधिक मिष्यात्वम्)। अब, रजते यदि जगत-प्रपच का निषेध किया जाता है ('यहाँ कोई जगत-प्रपंच नहीं है') तब, चंकि बन्य कही भी कोई जगत-प्रपंच नहीं है, बतः निषेध के द्वारा जगत-प्रपंच का पूर्ण ग्रमाद लक्षित होता है, ग्रमीत जगत-प्रपच का वैसा ही भ्रमाव है जैसा किसी काल्पनिक सत्ता का, यथा, शक्ष-शंग होता है। इस आपत्ति का कि 'अनिबंचनीय' के रूप में जगदानुभव के पूर्ण धमाव धीर काल्पनिकता (तुच्छ) के रूप मैं पूर्ण धमाव में धन्तर होता है यह उत्तर है कि पक्षादक्त का तो कहीं भी प्रातीतिक ग्रामास भी नहीं होता, जबकि पूर्वोक्त बाधित न होने तक वस्तुत: सत् के रूप में भासित होता है (क्वचिदं मध्य उपाधी सत्वेन प्रतीस्थनहरूवमत्यन्त मसत्व यावद बाधम प्रतीतियोग्यत्वं प्रातीतिक-सत्वम) । इस सम्बन्ध में भागे यह भी ब्यान रखना चाहिये कि जो निषेध मिथ्यात्व को उत्पन्न करता है उसका निषेध की गई सामग्री के समान ही मम्बन्ध उसके समान ही विस्तार व क्षेत्र होना चाहिए (येन रूपेरा यद-प्रधिकररात्या यन प्रतिपन्न तेन रूपेरा तन् निष्ठ-बत्यन्त-सभाव-प्रतियोगित्वस्य प्रतिपन्न-पदेन स्वित्यात, तच्य रूप सम्बन्ध विशेषोऽवच्छेदक विशेषहच)। द इसके स्रतिरिक्त, शकरवादी प्रभाव को एक प्रथक पदार्थ के रूप में स्वीकार नहीं करते, बल्कि समाव को जिस साक्ष्य मे वह प्रकट होता है उसके निरपेक्ष स्वरूप से एकरूप मानते हैं। ब्रह्मनु में कोई गूरा नहीं होते. बत्यव इसका यह बर्च नहीं है कि उसका एक निषेधारमक स्वरूप होता है क्योंकि, ध्रधिक प्रथक निषेधों के कारण समस्त गुर्गों के निषेध का धर्म केवल ब्रह्मन का विश्व स्वरूप होता है। अनन्तता श्रादि तथाकथित भावात्मक गुरगो के आरोपो का मर्थ भी मिध्यात्व एवं सान्तता के विपरीत गुराो का समाव होता है, जिससे धन्त-तोगत्वा बहान के विशव स्वरूप के प्रति प्रत्यावर्तन सक्षित होता है थादि (ध्रविकरसा श्रतिरिक्त-श्रमाव-श्रम्यपगमेन उक्त-श्रियात्व-श्रभाव-रूप-सत्यत्वस्य विरोधात ) 13

रामाचार्य प्रपत्ती 'तरिवाली' मैं मधुमूदन के मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'प्रागभाव' के निषेध के प्रतिरिक्त धमाव के निषेध का प्रयं स्वीकार होता है, ध्रतएव

<sup>&#</sup>x27; 'बर्देत-सिद्धि,' पृ० १३०-१।

<sup>&</sup>quot; 'मद्रैत-सिद्धि,' पृ० १५१।

वही, पु० १५६ ।

चूँ कि कोई नीसरा विकल्प सम्भव नही है, इसलिये एक सत्ता के निवेध का निवेध के .. ग्रामिवार्यन: स्वीकृत ही होता है। पुन:, मधुसुदन का यह कथन आधारहीन है कि भ्रम. मिथ्या रजत के यथार्थ रजत के रूप में भासित होने में निहित है. क्यों कि जिस उपादान कारण से मिथ्या रजत की उत्पत्ति हुई वह यथार्थ रजत के उपादान कारण से मिन्न होता है। मिथ्या रजत का मस्तित्व तभी समाप्त होता है अब मिथ्या रजत के उपादान कारण-रूप प्रज्ञान का निवारण करने वाले सत्य ज्ञान का उदय होता है (प्रातिमासिकस्य स्वोपादान-ज्ञान-निवर्तक-ज्ञान-विषयेखीव वा तादारम्य प्रतीतेश्च): जहाँ एक ही उपादान काररण दो प्रथक आभामो को उत्पन्न करता है (यथा, पट एवं क्वेतता). वहां उनके तादात्म्य की प्रतीति हो सकती है। परन्तु, क्ब नपादान कारगा सर्वथा भिन्न होते है तब उनसे उत्पन्न सत्ताकों के तादातम्य की प्रतीति कदापि नहीं हो सकती। पन: मध्मदन द्वारा यह बाग्रह किया गया है कि जिस निबंध के द्वारा मिथ्यात्व निर्मित होता है वह उन्ही उपाधियो एवं सम्बन्धों से प्रतिबन्धित होना चाहिये जिनमें भावारमक सत्ताएँ प्रतिबन्धित थी, किन्तु यह निरर्धंक है, क्योंकि इस प्रकार का प्रतिबन्धन इस सत्य को चुनौती नहीं दे सकता कि झमाव के निषेध का सर्थ स्वीकृति होता है, जबतक कि विमध्य-नियम की परिधि से बचने के लिये किसी तीसरे विकल्प के ग्रस्तिस्य का कोई निविचत प्रमास नही दिया जाता।

व्यामतीर्थं करते हैं कि मिष्यारक की परिमापा यथार्थतों के पूर्ण निषेष के क्य म नहीं दी जा सकती, क्यांकि जवनक निष्यं का प्रश्नं नहीं समक निया जाता (बढ़ाक न्यांक्रंता का ये जूला नहीं किया जा करता और इसका विलोम मी स्वय है। यहाँ विवाद का विषय यह है कि क्या खुलि-रजत का स्वस्थ कियो क्या जाता है मयबा जसकी यथार्थना का निषेण किया जाना है। पूर्वोक्त विकस्य दम सामार पर सस्बोहत क्या जाना है कि यदि उसको स्वोकार कर निया जाय तो अयथक्त की समुख जुलि-रजत के मांस्युक्त की बेनना की व्याच्या करना कांठन हो जायबा, क्योंक, विक्तु वह पूर्णतः समत् होती तो उसका साथान् अरव्यक्तिकरण नहीं हो सकता था। किन्तु जतने ही बल में यह निर्देश किया जा मकना है कि दूसरा विकल्प मी मानाय है, क्योंकि, जब पुलि-रजत का प्राथकीकरण किया गया या विकल यथायों के स्वया के कर से प्रथक्त किया गया था और यदि ऐमा है तो उस यथावता के कियो किया का स स्वयं के कर मा स्वयं है कि यदि एक बार स्वयं निया क्या हो कि दुलि-रजत की स्वयं के कम एक सार्थक यथावंश है और एक निरक्षेत्र स्वयं का हरे विवेध किया जा स्वयं के कम एक सार्थक यथावंश है और एक निरक्ष स्वयं तो का विवेध किया निर्वेश क्या मा सकता है कि दिखा कर स्वाद किया निर्वेश कर स्वाद की स्वाद किया निर्वेश किया मा स्वाद कि स्वित्य किया महता है कि दिखा कर स्वाद किया किया निर्वेश कर स्वाद की स्वाद निर्वेश कर स्वाद की स्वाद की स्वाद की स्वाद की स्वाद की स्वाद कर स्वित्य क्या स्वाद की किया किया स्वाद कि स्वाद किया किया किया किया स्वाद किया की स्वाद की स्वाद की स्वाद की स्वीकार कर निया स्वाद किया की स्वाद किया की स्वाद की स्वाद की स्वाद की स्वाद की स्वाद की स्वाद किया की स्वाद किया की स्वाद की स्वाद की स्वाद किया की स्वाद किया की स्वाद की

<sup>&#</sup>x27; 'न्यायामृत-तरमिग्गी', प्०१६ (ग्र.)।

<sup>ै &#</sup>x27;तरगिग्गी', पु० २०।

जायगातो सनवस्थादीय उत्पन्न हो जायगा, क्योंकि इस प्रकार के प्रश्न पूछे जा सकते हैं कि क्या निरपेक्ष यथायंता निरपेक्ष रूप से निरपेक्ष है अववा सापेक्ष रूप से निरपेक्ष है। पुन: मिथ्यात्व की यह परिभावा दी जाती है कि मिथ्यात्व वह है जो ज्ञान द्वारा ज्ञान-जन्य व्यापार से नष्ट हो सकता है। किन्तु व्यासतीय ऐसी स्थिति को स्वीकार नहीं करते और कहते हैं कि अतीत की घटनाओं एव वस्तुओं का ज्ञान मिथ्या होने पर मी तथाकथित सन्यक्तान से नष्ट होने की प्रतीक्षा किये बिना स्वत: ही नष्ट हो जाता है, यह अनुभव भी नहीं किया जाता है कि रजत शक्ति के झान द्वारा नष्ट की जाती है। मागे यह माग्रह किया जाता है कि शुक्ति का सम्यक्-झान त्रुटि का निरा-करण करता है, जो बृटि होने के नाते सत्य थी और इससे यह प्रदर्शित होता है कि ज्ञान न केवल मिथ्यात्व का निराकरण करता है वरन सत्य बस्तुत्रों का भी निराकरण करता है भीर इस कारण में उपरोक्त परिमाणा मिथ्यात्व की एक सन्य परिमाणा नहीं हो सकती। इसके प्रतिरिक्त, जब एक अम का निराकरण होता है तो वह निराकरण ज्ञान के व्यापार के कारण नहीं होता, किन्तु उसकी प्रत्यक्षनिष्ठ अपरोक्षता के कारण होता है (अपरोक्ष-अध्यासम्प्रति ज्ञानस्य-अपरोक्ष-तया निवर्तकत्वेन ज्ञानत्वेन अनिवर्त-करवाच्च)। पुन:, यदि मिध्यात्व की यह परिभाषा दी जाय कि मिध्यात्व वह है जो उस ज्ञान के द्वारा नष्ट किया जाता है जो मिथ्यास्व के उपादान कारण को ही नष्ट कर देता है (स्वोपादान धजान-निवर्तक जान-निवर्त्यत्वं), तो धापनि यह होगी कि यह परिभाषा चनादि भ्रम पर लागू नहीं होती। इसी प्रकार यह माना जा सकता है कि निथ्यात्व की इस परिभाषा का भी व्यवदन किया जा सकता है कि मिथ्यात्व वह साभास है जिसकी उस स्थान में प्रतीति होती है जहाँ उसका सभाव है (स्वात्यन्त ग्रभावश्रविकरराँव प्रतीत्यमानत्व), क्योंकि, जैसाकि पहले निर्देश किया जा चुका है हम सभाव को सापेक्षतः यद्यार्थ असवा मिच्या मार्ने नदभूसार ही कई स्नाप-त्तियाँ उठ लडी होती हैं। पून:, यदि मिथ्यास्व की यह परिभाषा दी जाय कि मिथ्यात्व वह है जो सत् और ग्रसत् दोनो से जिल्ल है, तो चूँकि जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, ससत् का अर्थ पूर्ण सभाव होता है, इसलिये सामास समया अम की अ्यास्या नहीं हो पायगी। यदि उसकी यह परिभाषा दी जाय कि मिध्यास्व वह है जो ज्ञान के द्वारा नष्ट होता है, तो उससे उसकी धनित्यता सिद्ध होती है, किन्तु उसका मिथ्या स्वरूप सिद्ध नहीं होता (धी-नाश्यत्वे अनित्यता एव स्यात् न मृषात्मता) ।3

मिय्यात्व की इस परिभाषा के विरुद्ध, कि मिथ्यात्व वह है जो ज्ञान के द्वारा नष्ट किया जा सकता है, व्यासनीय की झापत्ति के उत्तर में मधुसूबन कहते हैं कि उक्त

 <sup>&#</sup>x27;न्यायमृत', पृ०३६ (व)।

वही, पृ० ४० ।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> वही, प्० ४१।

परिभाषा का वास्तविक सर्थ यह है कि वह सत्ता जो अपने कारण-पक्ष एव कार्य-पक्ष दोनों में झान के उदय के कारगा नब्ट हो जाती है मिच्या होती है। यद्यपि घट कार्य-पक्ष में लाठी के प्रहार से नष्ट हो जाता है, तथापि मृत्तिका के बर्तन के रूप मे अपने काररा-पक्ष में नष्ट नहीं होता। शक्ष-शंग का कोई भी अस्तित्व नहीं होता, अत: उसका ग्रमाव ज्ञान के द्वारा उत्पन्न नहीं होता है। पुनः, चूं कि शुक्ति-रजत चेतना में मासित होती है और सम्यक ज्ञान के उदय होने के तत्काल पहचात नच्ट हो जाती है. इसलिये उसका विलयन जान के कारण होना चाहिये। यह कहना भी गलत नही है कि मिथ्यात्व का ज्ञान के द्वारा ज्ञान-जन्य व्यापार से निषेध होता है, क्योंकि उत्तर-बर्ती ज्ञान पूर्वयत्ती ज्ञान का ज्ञान-जन्य व्यापार से निषेध नहीं कर्ता, अपित अपनी उत्तरवित्ता के कारण ऐसा करता है, अतएव मिट्यास्व की यह परिमावा, कि मिट्यास्व वह है जिसका जान के द्वारा केवल जान-जन्य ब्यापार से निषेध होता है. स्पष्ट क्रय से उत्तरवर्ती ज्ञान द्वारा पर्ववर्ती ज्ञान के निवेध के उस उदाहरण से ५थक बनी रहती है जिसके प्रति उक्त परिमाषा का गलत हम से विस्तार सम्भव माना गया था। पर यह निर्देश करना उचित होगा कि मिथ्यात्व का ज्ञान द्वारा निषेध परोक्ष रूप में नहीं बल्कि साक्षान एवं तत्काल रूप मे किया जाता है (वस्नुतस्तु साक्षात्कारत्वेन ज्ञान-निवर्त्यत्वं विवक्षितम्)।

इसका रामावार्य यह उत्तर देते हैं कि स्वय मुद्दुदन ही यह कहते हैं कि स्वयाल की इत परिपाण का, कि मिष्याल वह है जिसका आन के हारा निषेष हो सक, मर्थ है हान के उदय के काए किसी कथा की स्वयिद्धित का मामान्य विरह्म (ज्ञान-प्रकुट-प्रविद्धाल) के स्वयाल के समान्य विरह्म (ज्ञान-प्रकुट-प्रविद्धाल) है कि क्या स्वयाल के स्वयाल का स्वयाल के प्रवाल के स्वयाल के प्रवाल के स्वयाल के

ज्ञानत्व-व्याप्य-घमॅण् ज्ञाननिवर्त्यत्विमत्पपि साधु, उत्तर-ज्ञानस्य पूर्व-ज्ञान-निवर्तकस्य न ज्ञानत्वव्याप्यधर्मेण् किन्तु इच्छादि-साधारऐगोदीच्यात्मविशेषगुण्यतेन उद्दीच्यत्वेन वेति न विद्य-साधनाष्टि ।

<sup>-&#</sup>x27;ब्रवैत-सिदि' पु० १७१-२ ।

वही, पु० १७८।

पर जानु नहीं होगी। इसरे विकल्प में, सर्वात् वरि 'जामान्य' सब्द विरह का विकेष्य ही, तो यह निर्देण किया जा सकता है कि सकरवादी एक विशेष सता के समान से मिक्ष एक सामान्य समान (विद्युष्ट) को करादि प्रसीकार नहीं करता। इसके सितिरक्त, पूँकि शुक्ति-रवत का स्वरूपतः निष्या होने के नाते निषेष किया जाता है, इसितये यह नहीं कहा जा सकता कि उतका सामान्य समान (सर्वात् कारण व कार्य दोनों क्यों के) जात के उदय के कारण हुमा, क्योंकि उसको सत् के रूप में क्यों सिर्माक्यों नहीं क्या जाता है। ' पुन:, पूँकि, जैसाकि व्यासतीय बता चुके हैं कि शुक्ति-रवत के समान स्रोर सस-मूंग के सभाव में कोई सन्तर नहीं होना चाहिले, दसनिये यदि शुक्ति-रवत का समाव झान के उदय के कारण बनाया जाता है नो शत-गृन का समाव मी झान के कारण कहा जा सकता है।

'द्वस सपने सभाव के सामय में सामाय' (स्वायन-समाव-सांकर-एवंज प्रतीय-मातव) स्वया 'स्वय सपने सस्तित्व के सामय में समाय' (स्वायन-तिष्ठ-स्वयन-समाव-प्रतियोगितवा) के कप में मिष्यात्व की परिप्रावा का समये करते हैं, ए मधुमूत्व-कहते हैं कि चूकि एक सत्ता के एक ही काल में बाद स्नीय सभाव दोनों हो सकते हैं, स्वः उसके एक ही स्थान में माव सीए समाव दोनों हो सकते हैं। इतका रामावार्य सह उसके एक ही स्थान में माव सीए समाव दोनों हो सकते हैं। इतका रामावार्य में स्वत्य तरे ते हैं कि यदि यह सपीकार कर निया जाता है तो माव भीर समाव में कोई भेद नहीं रहता तथा व्यावहारिक स्वनुष्य में कोई स्थवस्था नहीं रहती (क्या तांत मावामावयोर उच्छानका स्थान इति स्थावहारिकपणि स्थवस्था न स्थान्), फलत हैनबार सीर उसका समाव स्वत्यनार एकस्य हो जापी सीए सहैतवारी जान ईनवारी चेतना का निवारण करने में समय रहेता।

सद से मिम्रता के रूप में मिम्पाल (सट्-विविक्तस्य मिप्पाल्य) की पोचवी परिमाण के समर्थन में ममुद्दन सन् के प्रस्तित्व की यह परिमाण तेने हैं कि वह जान के ब्रारा सिंद होता है भीर दोणों के द्वारा सिंद नहीं होता । मन् की परिमाण में सापे संबोधन करते हुए वे कहते हैं कि वह दोणों द्वारा प्रसिद्ध न किसे हुए प्रमाणों के द्वारा सन् प्रतीत होता है। इस विधेयता के द्वारा वे कास्पनिक सत्ताम्री एव ब्रह्मन् का प्रपार्थन करते हैं, क्योंकि कास्पनिक सत्ताम् मन् के मण में प्रनीत नहीं होती और ब्रह्मन् प्रवार सन्य में सन् है तथापि वह किसी ऐसे मनन् का विषय नहीं बनता जिने वह मन् प्रनीत हो सावा-प्रकारक-प्रतीति-विषयनामाथान्।।

सन् की यह परिभाषा दी गई है कि वह 'प्रमाण-सिद्ध' होता है ध्रीर सर्वाधित होता है। इसके प्रति रामाचार्यकी यह आपनि है कि बहान् किन्ही प्रमान्।ों का

शक्ति-रजतादेरवस्थियत्गीकारे स्वरूपेण निषेचोक्त्ययामनञ्च ।

<sup>-</sup>तरांगमी, पृ० २२।

विक्य नहीं होता, जबकि सर्व प्रभाशो द्वारा सिद्ध वयत् का ग्रन्त में वाथ हो जाता है।

व्यासतीयं द्वारा यह प्रकृत उठाया जाता है कि क्या मिध्यास्य का बाच होता है धयवा वह धवावित रहता है। यदि वह धवावित है तो मिध्यादर सत हो जाता है भीर बहैतवादी सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। यदि उत्तर में यह कहा जाय कि मिध्यात्व का भ्रम के अधिष्ठान ब्रह्मनू से तादात्म्य है तो 'प्रपंची मिध्या' वाक्योश का सबं यह है कि जगत-प्रपंच का बहान से तादात्म्य है और इसका हम रिरोध नहीं करते, क्यों कि बहानु सर्व-ज्यापक होने के काररा उसका एक धर्य में जगत-प्रपंच से तादारम्य होता है। इसके घतिरिक्त यदि मिध्यात्व का ब्रह्मन से तादात्म्य हो तो बेह सामान्य युक्ति दोव-पूर्ण होगी कि वे ही वस्तुएँ मिय्या हैं जो प्रज्ञेय हैं, क्योंकि मिथ्यास्य का बहात से तादारम्य होने के कारण वह स्वय बाप्रक्रेय होगा। यदि मिच्यास्य का बाध होता है तो वह भारम-बाध्य है तथा जगत सत हो जायना । यदि पुन: यह बाग्रह किया जाय कि मिथ्यात्व का ब्रह्मन् से तादारम्य नहीं है, किन्तु उसका द्वितीय निषेध अथवा मिथ्यात्व के अधिक्ठान रूप ब्रह्मन् की सना से तादारम्य है, तो भी इसका उत्तर यह होगा कि हमारा परिप्रश्न स्वयं इस प्रश्न पर केन्द्रित है कि क्या द्वितीन निवेध स्वयं बाधित होता है सबवा अवाधित रहता है और यह सुविदित है कि चूं कि सबंत्र अध:-स्थित तरव शुद्ध चैतन्य है, बत: द्वितीय निवेध की सब:-स्थित सत्ता का ऐसा कोई पृथक ग्रथवा स्वतंत्र ग्रस्तित्व नहीं होता जिसके सम्बन्ध में कोई ग्रभिवचन किया जा सके। यह स्पष्ट है कि यदि प्रथम अवस्था में मिध्यात्व के ब्रह्मन के साथ तादात्म्य होने का कथन अर्थ-हीन है, तो उसका दितीय निषेष में अष:-स्थित शुद्ध चैतन्य के साथ तादारम्य स्थापित करके उसके विस्तार का प्रयास वस्तृत. किसी नवीन अर्थ को प्रेरित नहीं करता । यदि यह फिर बाबह किया जाय कि चुकि खुक्ति-रजत विच्या है बत: मिथ्यास्य जो उस शक्ति-रजत का एक बसे है ग्रानिवार्यतः मिथ्या होगा. यदि हुव्य मिथ्या है तो उसका धर्म धनिवार्यत: मिथ्या होगा, धतएव इस मिथ्यात्व का मिथ्यात्व शक्ति-रजत की यथार्थता की पून: स्वीकृति नहीं करता । च कि दोनो मिध्यात्व उस द्रव्य के मिध्यात्व पर भाश्रित हैं जिससे वे कुशात्मक हुन्टि से सम्बन्धित हैं, इसलिये निषेध के निषेध का अर्थ स्वीकृति नहीं होता । निषेध के निषेध का अर्थ स्वीकृति तभी हो सकता है जबकि द्रव्य यद्यार्थ हो । किन्त यह स्पष्टत, एक सम्भ्रान्ति है, क्योंकि द्रव्य के अमाव से धर्मों का समाव तमी फलित होता है जब उक्त धर्म द्रव्य के स्वरूप पर भाश्रित हो, किन्तु मिथ्यात्व इस प्रकार भाश्रित नहीं होता, क्योंकि वह जिस द्रव्य का

<sup>&#</sup>x27; 'तरंगिग्गी', पु० २३ ।

जल्लेस करता है उसके स्वाभाविक रूप से प्रतिकृत होता है। <sup>क</sup> इसके मितिरिक्त, यदि चुक्ति-रजत का मिथ्यारव केवल इसीलिये मिथ्या हो जाता है कि वह मिथ्या रजत से सम्बंधित होता है, यद्यपि व्याधात के बनुमव के कारण उसकी स्वीकृति की जाती है-तो वह सब वस्तुयों की बाधार-भूत सत्ता बहान से बन्ततोगस्वा सम्बंधित होने के कारण समान मौचित्य से सत् कहा जा सकता है, अथवा दूसरी मोर शुक्ति मिथ्या रजत से अपने साहचयं के कारण समान भौचित्य से मिथ्या कही जा सकती है तथा असत् भी सत् से सम्बंधित होने के कारण सत् हो जायगा और इसका विलोम भी सत्य होगा। दसके बितिरित्त, शकरवादियो द्वारा शुक्ति-रजत शक्य-शृंग की भौति पूर्णत: बसत् नही मानी जाती, बतएव मिच्यात्व उसके साब बपने साहचर्य के कारण पूर्णत: **प्रसत्** नहीं माना जा सकता। पुनः, यह युक्ति कि मिष्यास्य के घस्तिस्य का स्तर वही नहीं है जो उसके द्वारा उल्लिखित जगत-प्रपच का होता है धतएव मिध्यास्त की स्वीकृति चरम प्रद्वैतवाद को ठेस नहीं पहुँचाती, गलत है; क्योंकि यदि मिय्यास्य का केवल सापेक्ष झस्तित्व (ब्यावहारिक्त्वे) है तो हमारे प्रतिदिन के झनुसब का जगत, जो उसके विरोध में है भीर जो प्रत्यक्षीकरण द्वारा प्रमाणीकृत होता है, परम सत् माना जाना चाहिये । इस प्रकार हमारी पूर्वोक्त झापत्ति बनी रहती है कि यदि निच्यात्व सवाधित हो तो पढ़ैतवादी सिद्धान्त की क्षति होती है, यदि बाधित हो, तो जगत् सत्य हो जाता है। <sup>2</sup>म

म मुद्दुदन कररोक साथित का पूर्वोक उत्तर देते हैं कि वह स्वीकृति और निरेष की सप्ता का स्तर िक्स होता है, तब निर्वय के निषय में स्वीकृति धर्मान्तिहित नहीं होता । यदि निषेष एक ब्यावहारिक सत्ता के उत्तरिक्ष करता है, तो ऐसा निषेष एक काल्यनिक सत्ता की स्वीकृति का धरहरखा नहीं करता । इस प्रकार एक ही सत्ता विषिक्त धर्मों में स्त्य एवं मिध्या हो सक्ती है। स्यूयुत्त आ में कहते हैं कि वह निषेष एक दिवारिक कारण होता है, तब निषेष का निषेष एक स्वीकृति नहीं है। सकता । यहीं शुक्ति और उत्तरे वसे वीन कारण स्वीकृत नहीं है। सकता । यहीं शुक्ति और उत्तरे वसे दोनों का उनके उत्तरानिक्त धानासी समुद्रीने

-वही, पृ० ४७ ।

धर्म्यसस्ये धर्मासस्यं तु धर्मि-सत्वासापेळ-धर्म-विषयम्; मिध्यात्वं तु तत्प्रतिकूलम् ।
 -'न्यायामृत', पृ० ४४ ।

वही पृ० ४५।

<sup>ः,</sup> अध्यात्वं यद्यबाध्यं स्यास्त्यदद्वैत-मत-क्षतिः मिथ्यात्वं यदि बाध्यं स्यात् जगत्-सत्यत्वमापतेत् ।

परस्यर विरह-हमस्वेऽपि विवम-सत्वाकयोर
 विरोधात् व्यावहारिक-मिष्यात्वेन व्यावहारिक-सत्यत्वापहारेऽपि काल्यनिक-सत्यत्वानपहारात् ।

<sup>–&#</sup>x27;ग्रहैत-सिद्धि', पृ० २१७।

नत्य के शुणु के कारण निषेष होता है। इस प्रकार निडरतापूर्वक यह कहा जा सकता है कि एक हाथी में प्रस्व एवं गौ दोनों का निषेष किया जा सकता है।

इसका रामाचार्व यह उत्तर देते हैं कि तत् धीर धसत् स्वमावतः एक दूसरे का सप्तवंत करते हैं, धतप्व उनका निषेष किसी सम्य विशिष्ट वर्ष के कारण नहीं होता। सन् धीर ससत् परस्पर व्यावसंक होते हैं यह बंकरवादी भी अंगोकार करते हैं बवकि वे "मार्या" को सदस्पर्दाववसण करते हैं।"

जगत के मिध्यास्य को स्थापित करने वाली एक महत्वपूर्ण युक्ति इस तस्य पर माधारित है कि जगत् दृश्य है, सभी दृश्य बस्तुएं स्वप्नानुभवों के सदृश हैं, सभी दृश्य बस्तुएं स्वप्नानुभवों के सहस मिथ्या होती हैं। इस सम्बन्ध में ज्यास्तीर्थ यह विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं कि दुश्यत्व शब्द का क्या वर्ष हो सकता है। अई वैकल्पिक श्रधों को उपस्थित किया जाता है उनमें से प्रथम को 'इत्ति-ब्याप्यत्व' कहा जाता है, सर्पात् वह जो एक मानसिक इत्ति की सामग्री हो । इस प्रकार शंकरवादियो को यह कहते हुए कल्पित किया जाता है कि वे समी वस्तुए जो मानसिक इत्ति की सामग्री बन सकती है निध्या होती हैं। इसका व्यासतीय यह उत्तर देते हैं कि बहान भीर आत्मन भी कम से कम किसी मानसिक इत्ति की सामग्री बनने चाहिए, श्रतएक यदि शकर-बादियों की युक्ति को स्वीकार कर लिया जाय तो बहान भी मिथ्या हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मन अपने सुद्धस्य में किसी मानसिक इस्ति का विषय नहीं बन सकता तथा वह ऐमा तभी बन सकता है जबकि वह 'सज्ञान' से सम्बन्धित हो, तो इसका उत्तर यह है कि यदि बहानु अपने खुद्धत्व में स्वय को चेतना में अभिव्यक्त नहीं कर सकता है तो वह अपनी स्थापना कदापि नहीं कर सकता तथा ऐसा सिद्धान्त ब्रह्मन् के स्वय प्रकाश स्वरूप से प्रत्यक्ष विरोध में जाता है। पूनः, यह भाग्रह किया जाता है कि यद्यपि बहान स्वयं-प्रकाश है तथापि वह किसी मानसिक इति का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि स्वय यह उक्ति कि 'ब्रह्मन खुद्ध एव स्वयं-प्रकाश' है ब्रह्मन को शाब्दिक झान का विषय बना देती है, यदि इस उक्ति का कोई तात्पर्य नहीं है तो वह निरर्थक है। इसके अतिरिक्त यदि 'अज्ञान' से सम्बंधित बह्यान को एक मानसिक-इति का विषय भाग निया जाय तो वह उक्त साहचर्य के द्वारा उस मानसिक सामग्री का एक प्रग बन जायगा, धतएव स्वय भी एक विषय बन जायगा । यह नहीं कहा

<sup>&#</sup>x27; भद्रैत-सिद्धि', पृ० २१३।

न तावत् परस्पर-विरह्ण्ययोरेकिनवेष्यता— श्रवच्छेदकाविष्ठस्य सम्भवति त्वयापि सत्यत्विमध्यावयोः परस्पर समुख्वये विरोधात् विस्यता सवनद् वेत्रकथ्यसाक्ष्यवेश्रमंगीकाराच्याः

<sup>-&#</sup>x27;तरंगिसी,' पृ० २६।

जा सकता कि यह भाषति ब्रह्मन् पर लागू नहीं हो सकती क्योकि ब्रह्मन् केवस साहचर्य में ही विषय बन सकता है और अपने स्वरूप से नही, क्योंकि, चुँकि अनिदिचत स्वरूप की वे नित्य एवं इन्द्रियातीत सत्ताएं जो स्वयं चेतना की सामग्री नहीं बन सकती किन्तू केवल अपने साहचर्य के रूपों मे ही उक्त सामग्री वन सकती हैं समान अवस्थाओं से नियंत्रित होती हैं, इसलिये उस कारण से बह्यन् को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। पुन:, यह मानना गलत है कि जब एक वस्तु ज्ञात की जाती है तब उस मानसिक इति की सामग्री का वही आकार होता है जो उक्त वस्तु का है, क्योंकि हम एक शश-श्रंग को एक शाब्दिक संज्ञान के द्वारा यह माने बिना जात कर सकते हैं कि मानसिक इति का वही साकार है जो शक्ष-युंग का है। सतः यह मान्यता पूर्णतः असत्य है कि चेतना की सामग्री का वही आकार होना चाहिये जो उसके विषय का होता है। यह ब्रह्म-ज्ञान के सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि अनन्तता किसी भी चेतना की सामग्री नहीं बन सकती । चतः यह कहना कि एक वस्तु किसी चेतना की सामग्री है केवल यही अर्थ रखता है कि वह चेतना उस वस्तु का उल्लेख करती है (तद-विषय-स्वमेव तदकारत्वम्) । पेसा होने के कारण प्रत्यक्षीकरण की यह झवस्था पूर्णतः धनावश्यक है कि भौतिक वस्तु पर ग्रध्यारोपित मानसिक इति में शब चैतन्य प्रति-बिम्बत होना चाहिये । अतः यह बापित अवैध है कि सभी दृश्य वस्तए दृश्यस्व के कारस मिच्या है।

इसके प्रति मधुसूबन का उत्तर यह है कि बुढ चैतन्य जो सदा स्वय-प्रकाश है कि विदान का विषय कदापि नहीं बनदा । वह केवल 'स्क्रान' के स्थानतरुपों के साहुत्य में बेतना का विषय मांवारत होता है ता जेवल 'स्क्रान' के स्थानतरुपां है। ज्ञान की तामधी बन तकते हैं। इस प्रकार सर्व परिस्थितियों में सुढ चैतन्य स्वय-प्रकास हहता है और स्वयं में कदापि सामधी नहीं बन सकता । मधुसूबन आसतीर्थ ज्ञारा निर्देशित इस्तर्य की डितीय आयाव्या (फल-आयाप्यतः) के प्रतिरक्ति प्रस्य समी आयाव्या (फल-आयाप्यतः) के प्रतिरक्ति प्रस्य समी आयाव्या कि स्वीकार करते हैं कि एक प्रविक्त कही थालोकना के विवे यह प्रदेशित होगा कि सब्द-जन-होत्त का प्रविक्त करते हैं कि एक स्वर्ण करते हैं स्वर्ण करते हैं कि एक स्वर्ण करते हैं स्वर्ण करते स्वर्ण करते हैं स्वर्ण करते हैं स्वर्ण करते स्वर्ण करते हैं स्वर्ण करते हैं स्वर्ण करते हैं स्वर्ण करते हैं स्वर्ण करते स्वर्ण करते हैं स्वर्ण क

¹ 'न्याबामृत', पृ० ५७।

आसतीयं द्वारा दो गई 'दस्यत्व' की निर्दिष्ट व्याक्याएं सात प्रकार से की गई हैं— किमित हथवत्वन, हर्ति-व्याप्तत्व ना, कत-व्याप्तत्व ना, सामारण ना, क्वाबिर्-कर्यविद्यायत्वं ना, स्वय्यवहारे स्वातिरिक्त-संविदन्तरायेका-नियतिर्वा, सस्य-प्रकासत्वं ना।

काल्पनिक सत्ताओं के प्रति चेनन हो सकते हैं, तथापि वे उस कारण से मिथ्या नहीं कहे जाएँने, क्योंकि वे पूर्णतः असन् सत्ताएँ हैं जो न तो सत्य कही जा सकती हैं भीर न मिथ्या। भधुसूदन भागे दृश्यत्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि दृश्यत्व बहु है जिसमें एक सुनिश्चित स्व-प्रकारक सामग्री हो (स्व-प्रकारक-वृत्ति-विषयत्वमेव हत्त्वत्व)। 'स्व-प्रकारक' पद से उनका तात्पर्य किसी भी उपास्य वर्ग से है (मीपास्य: किष्वद धर्म:) तथा इस प्रकार वे बह्मन् का अपवर्जन करते हैं, जिसका अर्थ है उपास्य धर्म से रहित शुद्धत्व, दूसरी छोर निषेध के ज्ञान का भी यह कहकर वर्शन किया आ सकता है कि उसमें निवेधत्व का धर्म है। इस व्याख्या का प्रमाद यह होता है कि हृद्यश्य उन समस्त धनुभवों तक परिसीमित हो जाता है जो सापेश एव व्यावहारिक अनुभव की परिधि में झाते हैं। इक्यत्व के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास करते हुए मधुमुदन उसकी यह कहकर परिभाषा देते हैं कि दृश्यत्व वह है जो किसी रूप में शुद्ध चैतन्य का विषय होता है (चिद्-विषयस्व)। इसका आत्मन् मे तादात्म्य होने के कारए। वह द्वि-पद सम्बन्ध से रहित होता है। वस्तुओं के दृश्यत्व के अर्थ का आगे स्पष्टीकरए। करने के प्रयस्न में उसकी यह परिभाषा दी जाती है कि वह प्रकाशित होने के लिये स्वातिरिक्त बेतना की अपेक्षा रखता है (स्व-व्यवहारे स्वातिरिक्त-सविद्येक्षा-नियति-रूपं-द्वरयत्व) अथवा ग्र-स्व-प्रकाश रूप होता है (ग्र-स्व-प्रकाशत्व-रूपस्व दृष्यत्वम्)। अन. यह स्पष्ट है कि शुद्ध चैतस्य के अतिरिक्त कोई भी वस्तु प्रकाशित होने के लिये शुद्ध चैतन्य की अपेक्षा रहती है।

मधुद्दन का खड़न करने का प्रयास करते हुए रामाचार्य कहुं। है कि केवन "मधुद्दन यो" ध्यस्त्रफाशल की व्याप्ति के साधार पर हम यह नहीं कह सकते कि बुद्ध चैतन्य स्व-प्रकाश होता है, किन्तु यह निकर्ष तभी प्रान्त किया जा सकता कि यह जात हो कि जुद चैतन्य के कोई प्रधुद्धल 'नहीं होता। पुत्र', सस्व-प्रकाशास्त एवं प्रधुद्धता की व्याप्ति तभी ज्ञान की जा सकती है जब यह ज्ञात हो कि जनके विलोग 'युद्धल' एवं प्रसुप्त की व्याप्ति तभी ज्ञान की जा सकती है जब यह ज्ञात हो कि जनके विलोग 'युद्धल' एवं प्रसुप्त की व्याप्ति का ज्ञान और प्रधुद्ध चैतन्य के साथ सस्वप्रकाशस्त्र की व्याप्ति का ज्ञान और प्रधुद्ध चैतन्य के साथ सस्वप्रकाशस्त्र की व्याप्ति का ज्ञान और समुद्ध चैतन्य के साथ सस्वप्रकाशस्त्र की व्याप्ति का ज्ञान पर्त्य प्रस्त्रफाशस्त्र की व्याप्ति का ज्ञान परस्पर स्वनन हैं। 'विष्

<sup>&</sup>quot;मद्देत-सिद्धि, पृ० २६६।

न तायदस्वप्रकाशस्त्रासुद्धन्यभोध्यांच्यव्यापक-माव-गृहमात्रेस्य सुद्धे स्वप्रकाशता पर्यवस्यति किन्तु सुद्धेस्वप्रकाशस्त्रस्वयाच्यस्यायुद्धस्वस्य व्याहतौ क्षातायायेषः। तथा च व्यापक-व्यातिक-गृहायंमवद्य सुद्ध-न्नानम्। क्विस्त-प्रकाशस्त्राक्षुद्धस्योध्यर्थ-व्यापक स्वाप्तिक स्वर्षायस्य स्वर्षेक्षेति मष्ट्-कृटो प्रमान-कृतानाः। —त्यांमित्तः। नृहदत्य-स्वप्रकाशस्ययोः सुद्धं स्वर्षाय-व्यापक्षेत्रस्य स्वर्षेक्षेति मष्ट्-कृटो प्रमान-कृतानाः।

दिया गया है कि जगत-प्रयंच मिथ्या है क्यों कि वह जड़ है। अब यह जड़रव क्या है ? उसका लक्षण 'सजातस्व' 'प्रज्ञानस्व' के रूप में और 'मस्वप्रकाशस्व' सथवा 'धनात्मन्' के रूप में दिया गया है। यदि जड़त्व का प्रथम अर्थ स्वीकार किया जाता है तो यह निर्देश किया जा सकता है कि शंकरवादियों के अनुसार बहुन मिथ्या, और फिर भी वह बाता है. शुद्ध चैतन्य जो शंकरवादियों के अनुसार एकमात्र सत्ता है स्वयं बाता नहीं है। यदि यह सुमाव दिया जाय कि शुद्ध चैतन्य एक मिथ्या मान्यता के द्वारा झाता माना वा सकता है तो यह कहा जा सकता है कि मिथ्या मान्यता के द्वारा तो कोई भी मिथ्या तक सत्य बन सकता है लेकिन उससे कोई लाभ न होगा। जब कोई यह कहता है कि 'मैं' जो गोरा मनुष्य हूँ, जानता हूँ, तब शरीर सी झाता प्रतीत होता है, फिर भी उस कारण से शरीर को झाता नहीं माना जा सकता। द्विनीय व्याख्या, जो जड़रव की 'स्नज्ञान' के रूप में परिभाषा देती है, स्वीकार नहीं की जासकती, क्यों कि न्यावहारिक ज्ञान अकातः सत्य एव अंशतः मिच्या होता है। पुनः, इस सम्बध मे यह पूछा जा सकता है कि क्या भारमन् के ज्ञान में कोई सामग्री होती है ग्रथवा नहीं। बदि कोई सामग्री है, तो वह बनिवार्यतः एक ज्ञानात्मक किया का विषय होनी चाहिए. तथा यह बसम्मव है कि बारमन की ज्ञानात्मक प्रक्रिया बपनी किया को बारमन के प्रति प्रेरित करे। यदि उत्तर में यह ब्रायह किया जाय कि ब्रास्मनु मे कोई ऐसी किया नहीं होती जो स्वय की क्रोर प्रेरित हो, किन्तु यह तथ्य कि उसका आस्मन् के रूप मे विभेदीकरण होता है वही उसका स्वयं का ज्ञान है, तो इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि सर्वं वस्तुको का ज्ञान भी इसी तथ्य मे निहित है कि उनका उनके विशिष्ट धर्मी में विभेदीकरण होता है। पुनः, यदि भारमन् के ज्ञान मे कोई सामग्री नहीं होती तो उसमें कोई ज्ञान ही नहीं है। यदि कोई ऐसा ज्ञान स्वीकार किया जाय जो किसी विषय को प्रकाशित नहीं करता तो एक घट को मी ज्ञान कहाजासकताहै। इसलिए, यदि जइत्य की 'ग्रज्ञान' के रूप में परिभाषा दी जाय तो उपर्युक्त कारगों ने श्रारमन् भी सज्ञान होगा। इस सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना उचित होगा कि ज्ञान के लिए विषय भीर जाता दोनों की भावस्थकता होती है, अनुभवकर्ता एव अनुभूत वस्तु के बिना कोई अनुभव सम्मव नहीं है। पुन:, यदि आत्मन को झान मात्र माना जाय नी यह पूछा जा सकता है कि उक्त ज्ञान सस्य ज्ञान है अथवा भ्रम है। यदि वह पूर्वोक्त है तो चूंकि 'प्रविद्या' के रूपान्नरस प्रात्मन द्वारा ज्ञात किये जाते हैं प्रत. वे सस्य हो जाएगे। वह पश्चादक्त नहीं हो सकता क्योंकि ब्रात्मन दोषरहित है। श्रात्मन श्रानन्द माना जा सकता है, क्योंकि सांसारिक विषयों का अयावहारिक सूख ग्रानन्द नहीं माना जा सकता है, तथा कोई ऐसी विधि नहीं है जिसके द्वारा सुख प्रथवा ग्रानन्द के ऐसे बाबों को स्वीकार किया जा सके जो बात में परमानन्द की प्राप्ति करवा सकें, क्योंकि जब एक बार सुख के बाबों को स्वीकार कर लिया जाता है, तो स्वमावत: एक बाह्य तस्य प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार बड़त्व के कारण जगत का मिध्यास्य किसी भी प्रयं में क्रमान्य है।

इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि जड़त्व के द्वितीय और तृतीय धर्य, धर्यात् जो भ्रज्ञान है वह जड़ है भगवा जो भनात्मन् है वह जड है, बिल्कुस उपयुक्त होंने । व्यासतीर्थं द्वारा प्रस्तुत किये नये ज्ञान के प्रतिपादन को दोधपूर्ण बताते हुए मधुमुदन कहते हैं कि यदि ज्ञान की यह परिमाषा दी जाय कि वह एक विषय को प्रकाशित करता है तो मोक्ष की सबस्या मे भी विषयो का प्रकाशन होगा, जा ससम्भव है, ज्ञान का विषयों से बाह्य सम्बन्ध है, ग्रतएव मिध्या है। वृद्धि यह आपत्ति की जाय कि यदि मोश की बवस्था में कोई थियय प्रकाशित नहीं हाते तो बानन्द मी ग्रमिक्यक नहीं होगा. तथा उस दशा में कोई भी मोक्ष-प्राप्ति की परवाह न करेगा. तो उत्तर यह है कि मोक्ष की अवस्था स्वय आनन्द है तथा उसमें आनन्द की कोई पृथक श्रमिष्यक्ति नहीं होती । एक विषय का साहचर्य केवल इन्द्रिय-ज्ञान में प्रस्थक्ष किया जाता है, घारमन् के ज्ञान में इन्द्रियां का कोई साहचर्य नहीं होता, तथा यह माँग करना धनुचित है कि उस दशा में भी जान में विषयों का प्रकाशन होना चाहिए। जब यह कहा जाता है कि भारमन साक्षात ज्ञान-स्वरूप है, तो यह सुभाव भ्रमान्य है कि वह या तो सत्य होना चाहिए या असत्य क्योंकि सत्य और असत्य के रूप में ज्ञान का व्याव-तंक विभाजन केवल साधारण व्यावहारिक ज्ञान पर लागु होता है। किन्तु ज्ञान के रूप में भारमनु अनिर्धारित ज्ञान के समान होता है, वो न सत्य होता है भौर न बसत्य ।

किन्तु रामाचार्य कहते हैं कि यदि ज्ञान का विषयों से सम्बन्ध बाह्य है तो परम ज्ञान के उदय के समय झारम्य को क्या प्रमान विषय नहीं मानना चाहिये। यदि यह कहा जाय कि ऐसा केवल प्रत्यक्षीकरण के ज्ञान में होता है जहाँ विषय के भाकार की 'इति 'में कुछ वंतन्य प्रतिक्षीम्बत होता है, तो ज्ञान का विषय के साथ सम्बन्ध विषया हो जायमा, क्योंकि उस दशा में 'इति' की भावस्थकता एव उसमें चैतन्य का प्रतिविध्यक्त होता है जह के समय भी स्वीकार करना परेगा। यदा विषय के आत्र के आप के स्वयम में प्रतिविध्यक्त होता है, तो ज्ञान के उसर के समय भी स्वीकार करना परेगा। यदा विषय का ज्ञान के माथ सम्बन्ध बाह्य महीं हो सकता, मतपूष कित्या नहीं हो सकता। मतपूष्ट्यन के इस कथन के उसर में, कि जेसे नैयायिकों के भृतुसार यद्यित सामान्य और विषये परस्पर सम्बन्धित होते हैं तथापि प्रस्तय की दशा में विषये को के रहने पर स्वर्ण के इसर स्वर्ण के स्वर्ण के

<sup>&#</sup>x27; यह युक्ति कि जगत् अपने जड़त्व के कारए। मिध्या है 'तत्व-शुद्धि' में दी गई है।

होते हैं तब सामान्यों का जान विशेषों को मध्यों मन्तर्वस्तु के कर में स्वयं में समाविष्ट
प्रकार है। पूरा, दिषयों के जान से साइक्य का मध्ये यह नहीं है कि विषय जान को
उस्तम करते हैं, किन्तु यह कि जान विषयों से सम्मन्तित्व होता है। पुनः, यदि विषय से साइक्य का सर्थ यह माना साथ कि जान 'मितावार्यतः विषयों से उत्त्यस होता है,' प्रवचा गयि उसका घर्नावार्यतः यह धर्ष हो कि 'यह विषय जिस देख अपवा काल में मिताव रस्त्रे सही जान विषयान होता है,' तो अकरवादी भारत्य के आहेत को स्वित्त करने में सम्माय देशे । क्योंकि, पूँकि आहेत कहान में प्रतिदाव रखता है, इसिस्ये वह जीवारस्त्र के डारा उत्तरक नहीं किया बा सकता। और पुनः, यदि यह कहा बाता है कि जब-जब बहुन्य के साथ मार्डित होता है तब भारत्य के साथ मार्डित होता है, तो पूँकि जहान्य बचा मार्डित है इसिस्ये समस्य जीवारत्य पुक्त हो बार्यों, जीवारमाधों के मार्डित एव बहुन्य के मार्डित का निर्धारत्य भी धरमन्त्य होता। । धन दियय पृत्रिक क्या

यह यक्ति दी जाती है कि जो कुछ परिच्छिन्न कीर सान्त है वह मिथ्या है, यह परिच्छिन्नत्व देश, काल ध्रथवा ग्रन्य वस्तुत्रो द्वारा उत्पन्न हो सकता है (परिच्छिन्नत्व-मपि देशतः कालतो बस्तुतो वा) । इस सम्बन्ध मे ब्यासतीर्थ कहते हैं कि काल एव देश, काल एवं देश के द्वारा परिच्छित्र नहीं हो सकते, और यह इतना सत्य है कि परम सत्ता ब्रह्मन् के सम्बन्ध में भी प्राय: यह कहा जाता है कि वह मदा और सर्वत्र भन्तित्व रसता है. बत: काल भीर देश ऐसे सामान्य धर्म है जिनका धन्य वस्तको के प्रति श्रयवास्वय उनके प्रति निवेध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वाधस्पति का यह कथन पूर्णतः ब्रसत्य है कि जो कुछ भी किसी स्थान और किसी काल मे असत होता है वह उस कारण से सर्वत्र व सदा असत रहता है, तथा जो सत है वह मदा एव सर्वत्र सत् रहता है (यत सत तन सदा सर्वत्र सदेवं तथा च यत् कदाचिन कृत्रचिद् ग्रसत तत सदा सर्वत्र असदेव), क्यों कि यदि किसी विशेष काल में धनस्तित्व के कारण किसी भी धन्य काल में धस्तित्व ग्रसत्य बन सकता है, तो उस काल में श्रस्तित्व के द्वारा श्रन्य कालों में अनस्तित्व भी असत्य बन मकता है। यह कहना कि चंकि वह (यस्त) तब भस्तित्व में नहीं होगी, भनः वह भव भस्तित्व मे नहीं है, उनना ही नर्क-सगत है जिनना यह कहना कि चैकि वह अब- अस्तित्व में है, अत: तब अस्तित्व में होनी चाहिए। पून: देश-जन्य परिच्छिन्नत्व का क्या ग्रथं है ? यदि उसका ग्रथं है सर्व वस्तुग्रो से बसंयोग (सर्व-मूर्त्तासयोगित्वम्) बचवा चरम परिमाण का अनीवकरण (परम्-महत्-परिमाणानिधकरणत्वम्), तो ब्रह्मन् भी ऐसे ही स्वरूप का है, क्योंकि वह भी 'ग्रमग' है, तथा परिमाण के रूप में उसमें कोई गुण नहीं होना, यदि उसका ग्रथ

¹ 'न्यायामृत,' पृ० ७६ ।

सीमित 'परिमाल' का समिकरल है तो 'परिमाल' एक बुल होने के कारल एक गुल में नहीं पाया वा सकता, बतः गुरा परिच्छित्र नहीं हो सकते (गुरा-कर्मादी बुए। नंगीकारात्) । पुनः, काल-जन्य परिच्छिन्नता का 'खन्यस्व' के निषेध से साहचर्य स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योकि, यदि 'ग्रन्यत्व' के रूप में परिच्छिन्नता का कभी निवेध किया जायमा, तो जगत में सभी बस्तूएं एक हो जाएंगी। अब अन्य बस्तुओं के द्वारा परिच्छित्रत्व (जो परिच्छित्रत्व की तीसरी परिभाषा है) का अर्थ है 'मिन्नत्व,' किन्तु ऐसे परिच्छिन्नत्व का (शकरवादियों के अनुसार) प्रतिपादन के अनुमव-अगत में समाव होता है, क्योंकि वे मिन्नत्व की सत्ता का निरुप करते हैं। पून: मिध्यात्व से भिन्नत्व बात्मन् में भी बस्तित्व रखता है, इसलिये बानन्दबोध की यह युक्ति, कि जो वस्तुए विमक्त प्रस्तित्व रखती हैं (विभक्तन्वात्) वे उस का श्ला से मिथ्या है, बसत्य है। पून: यह मानना भी गलत है कि सत्ता का अपरिज्ञिन्नत्व इस तथ्य में निहित है कि केवल वही सार्वदेशिक रहती है जबकि अन्य प्रत्येक वस्तू परिवर्तित हो जाती है ब्रतान उस पर ब्रध्यारोपित समझी जानी चाहिये, न्योंकि जब हम कहते हैं कि 'एक घट मस्तित्व रखता है,' 'एक घट चलायमान होता है' तब घट मपरिवर्तनशील प्रतीत होता है, पर उसकी किया 'बस्तित्व रखता है' और 'बलायमान होता है' परिवर्तित होती है। जैसे 'भनेक' का 'एक' से साहचर्य होता है, उसी प्रकार 'एक' का 'ग्रनेक' से होता है, ग्रतः इस युक्ति से कोई फल नहीं निकल सकता जो कि धपरिवर्तनशील रहता है वह धपरिच्छित्र गव सत्य है, धीर जो परिवर्तनशील है वह मिष्या है।

इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि बूर्डि संकरवारी वानि-अस्त्यों को स्वीकृत नहीं करते थतः वह मानना मनत है कि एक बाय के सस्तित्व के सभी उदाहरखों में एक गौ-जाति होती है जो स्विप्त बनी रहती है, और यदि ऐसा नहीं है तो सम्य व्याख्या केवल यही है कि व्यक्ति बाते और वाते हैं तथा उस सत् के अनुभव पर धम्मारोधित होते हैं जो दस कारण एकमान सत्य है। अब पुत्र, वह सुक्ति दी जा सकती है कि सत्त् के रूप में बहान तथा 'ध्वान' से बाहत रहता है, उसका कोई प्रभेदासक बाकार नहीं होता, प्रत्युव वह सोचना मनत है कि अनत को बस्तुयों के हमार्ट स्वनुव स्वय महाद्मा स्वर्ण के रूप धमित्यक होता है। उसका उत्तर यह है कि बहान स्वय धनान से महाद्मा स्वर्ण के स्वर्ण की उस्तियों के हारा ही उनका स्वरूप कि मत्य का नात्र है, जब मनस् की डीता (सद-बात्यना ने बहान्य होता हो उनका स्वरूप कि मता है), जब मनस् वी डीत के रूपात्मत की प्रतिक्या हारा इन विधिष्ट बाकारों का नाय हो जाता है, तब इन बस्तुयों में प्रभाव्यक्त होता हम विधिष्ट बाकारों का नाय हो जाता है, तब इन बस्तुयों में प्रभाव्यक्त की स्वर्ण के रूप के रूप में सम्मत्यक्त इन्ह्यन् किसीभी इन्द्रियके द्वाराश्ययवाकिसीविजेष इन्द्रिय द्वारा प्रस्यक्ष कियाजा सकताहै।°

व्यासतीर्थं इस युक्ति का जडन करते हैं कि मिथ्यास्व ग्रंशो मे श्रशी के श्रगाय में निहित होता है। वे कहते हैं कि जहाँ तक इस मन का सम्बध है कि चेंकि प्रश और श्रशी का तादात्स्य होता है इस्तिए ग्रंशी श्रश पर माश्रित नहीं रह सकता, उनको कोई ब्रापत्ति नहीं है। यदि ब्रजी न तो ब्रजी पर शास्त्रित है और न किसी अन्य बस्तू पर ग्राधित है नो वह किसी पर भी ग्राधित नहीं हो सकता, किन्तू उस कारगा से वह मिथ्या नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह निर्देश किया जा सकता है कि प्रत्यक्षी-करए। यह बताता है कि सभी सन्नो पर साधित है तथा उनमें स्थित है, सतएब प्रत्यक्ष की साक्ष के अनुसार अयों में उसके अभाव को स्वीकृत नहीं किया जा सकता। प्रश्न यह उठता है कि क्या 'ग्रामाव' श्रथवा 'निवेध' सत्य है श्रथवा श्रसत्य, यदि वह सत्य है तो भद्रतवाद लण्डित होता है, भीर गदि वह असत्य है तो 'सभाव' का निषेध होता है, जो व्यासतीर्थ के पक्ष में होगा। अब यह आग्रह नहीं किया जा सकता कि 'समाव' का सम्तित्व शहैतवाद के लिए जातक नहीं हो सकता, क्यों कि निषेध में स्वीकृति का अतर्वस्त के रूप में समावेश होता है। पूत:, ब्रह्मत् का 'अद्वितीय' पद से निर्देश किया जाता है, इसमे श्रमाव का समावेश होता है, और यदि श्रमाव श्रसत्य है तो बह्मम् के प्रति उसका निर्देश मी धमस्य होगा । पुनः, बह्मम्, से किसी द्वितीय के निषेध का अर्थ न केवल माबात्मक सत्ताचो का निषेध हो सकता है बल्कि धमाबात्मक

न च क्यादि-हीनतया चाल्यव्यावनुपपत्तिः वाधिका इति वाच्यम्, प्रति-नियतैद्विय-प्राष्ट्रोध्येव क्याव्येका-नियमात्सर्वेद्विय-गाह्य तु सङ्-रूपं ब्रह्म नातो क्यादिहीनत्वेऽपि याक्ष्यस्वावनुपपत्तिः सत्यायाः परेरपि सर्वेद्विय-गाह्यस्वास्युपयमात् च ।

<sup>-</sup>श्रद्वैत-सिब्धि, पु० ३१८।

<sup>&#</sup>x27;तरंगिस्गी,' पृ० ५२।

सत्तामों का वो निषेच हो सकता है, वावात्मकता का सर्च होता है मशाव का मगाव। फिर यदि समाव को स्वीकार किया बाता है तो चूँकि उसके क्यों में से एक क्य स्वान्य होता है, प्रतः उसकी स्वीकृति का सर्च है समाव की स्वीकृति सत्तव है तवाद की स्वीकृति प्रतान है तवाद की स्वीकृति प्रतान है तवाद की स्वीकृति प्रतान है के स्वकृत की स्वीकृति मानात्म करना का वर्णन नहीं किया वा सकता तो यह मानता ही पड़ेगा किया मानात्म करना का वर्णन नहीं किया वा सकता तो यह मानता ही पड़ेगा किया मानात्म करना को स्वीकृत नहीं की स्वीकृत हो सो स्वीकृत हो से स्वीकृत प्रतान की स्वान्य स्वीकृत हो से स्वीकृत प्रतान प्रतान प्रतान स्वान्य स्वीकृत हो से स्वान्य न केवल प्रतान प्रतान की हारा वाधित होता है किन्तु वह तक के मी विरोध में है, चूँकि प्रणी सम्य कही भी विराण मान स्वान्य स्वान्य स्वान्य मान स्वान्य हो ।

पुतः, यह मन गनत है कि चूँकि झान के बिना कुछ भी धनिश्यक्त नहीं होता, स्रदः तथार्क्षपत बस्तुप झान के सिना कुछ भी नहीं है, बर्गोंक बस्तुप स्वय झान के क्य मे अनुभूत नहीं होती, किन्तु उन बस्तुयों के क्य में धनुभूत होनी हैं जिनका हमें ज्ञान होता है (बटस्य ज्ञानमिति हि धी: न तु खटो ज्ञानमिति)।

उपयुंक्त के उत्तर में मधुनूदन कहते हैं कि, चूंकि कारए। और कार्य के धनुकव की व्याच्या उनं मृत्र वर्ष को भावे बिना नहीं की ना सकती, सत. इत तप्तर के बावबुद मी कि उनये तादान है व्यावहारिक उद्देश्यों को टिप्ट से उक्त के द को पत्ते वास्त्र तर्पा के सावबुद मा कि उनये तादान है व्यावहारिक उद्देश्यों के टिप्ट से उक्त के द को पत्ते वास्त्र तर्पा के त्र देशे के त्र देशे हैं। पुनः, प्रथानीकरण का विरोध कोई बिरोध नहीं है, व्याविकरण का विरोध कोई बिरोध नहीं है, व्याविकरण का विरोध कोई है कि यदि धारी के वही प्रथा कि तम नहीं है। प्रधाने में मी नहीं है, वतः उनका धारित्वत बच्चाव्येय है, क्योंकि पर्याप प्रयोग के प्रधान के तम में बाते हैं। इतः उनका धारित्वत बच्चाव्येय है, क्योंकि पर्याप प्रयोग के तम के तम के व्यादानात्र का त्र प्रथा के प्रथा के तम हो ना तमें हो वा में के तम करने हैं। वात्र के विषय हो ने करने हो तम के तम के तम के तम के तम के तम हो ने मार्यन हो ने तम के तम के

तथा च प्रशिक्ष-रूप-हेतो रेतन्-तन्तुनिष्ठास्यन्ताभाव-प्रतियोगिस्य-रूप-साध्येन विरोध. ।

एतामिक्यात्यन्तामाय-प्रतियोगित्व हि गतसम्बेतत्वे प्रयोजकं न मवति, परमते केवलान्वयि-धर्म-मात्रस्य गृतस्ममवेतत्वापत्तेः

<sup>--&#</sup>x27;बर्द्देत-सिद्धि,' प्र• ३२४।

कुप्तरी वस्तु से धननेताल इस पर निमंद करता है कि पुत्रोंक का 'आगमान' 'पत्रमाइक में होना चाहिले (किन्तु एतन्-निरु-आगमान-अिवागितवादिकार)। आधारीमं की मह धारिति कि पटका तत्तुओं में आमान वसी हो सकता है जब तत्तु उसके संपटक संख मह धारिति कि पटका तत्तुओं में आमान वसी हो सकता कार्य का कार्य का कार्य का कारता में 'प्रामान प्रतियोगित' ही उनके समनेतत्त्व को निर्वाधित करता है, प्रतएम यह कहना उचित नहीं है कि पट का केवल ऐसे तंतुओं में बमान हो सकता है वो उसके संबदक संवा नहीं हों, क्योंकि पट के तत्तुओं से बमान हो बकता है वो उसके संबदक संवा नहीं हों, क्योंकि पट के तत्तुओं से बमान हो वहें यह नहीं है कि तत्तु पट के संवत्त की वर्त यह नहीं है कि तत्तु पट के संवटक संवा नहीं है, क्योंकि पट के तत्तुओं में पट के 'प्रामान' का बमान है।

स्थासतीर्ष के द्वारा एक यह सायित उठाई जाती है कि जिन कारणों से अवस् मिन्या कहा, बाता है उन्हीं कारणों से बहुन्य को मी मिय्या माना वा सकता है, क्योंकि बहुन् हुनारे समस्य समुम्मों का भ्रीष्ठान है भ्रतप्र मिय्या माना जा सकता है। इसके सम्बन्ध में मयुद्धन कहते हैं कि जहां तक बहुन्य का 'खान' से साहज्य है, बहुन्य निष्या है, किन्तु जहां तक वह हुमारे व्यावहारिक भ्रतुमव से भ्रतीत है, यह सत्य है। इसके भ्रतिरिक्त अवि कोई भ्रामाप्तृत सत्ता स्वीकृत न की आवागी तो समस्त जगत-प्रपंच मिन्या होने के कारणह हम बिचुट सुम्याध में प्रविष्ट हो जाएँगे। पुन:, यह भापति मी नहीं उठाई जा सकती कि बहुन्य एक सबन् तता से मिन्न होने के कारण, शुक्त-पत्रत के सहय है जो यद्यपि सन् नहीं है तथापि भ्रमन् तत्ता से सिम्म है। कारण मतत् सत्ता से नेय का भ्रम्य उत्त सत्ता से भेद है जो कही भी सन् के रूप में भाषित नहीं हो सकती, तथा उकसे वही सत्ता निम्म हो सकनी है जो कही एक सत् कहीं भी एक सत्त सत्ता के रूप में मासित नहीं होता।

सत् की सनेक प्रस्थायी परिनावाधों को अपना कर शासनीयं उन सबकों बोवपुर्व बताते हैं धीर कहते हैं कि बंकरवारी बाहूं जिस प्रकार से सन् की परिनावा है वह बगत की सता पर भी उसी प्रकार से लागू होगी। सबेथ में, बत्त की परिनावा इस प्रकार दी वा सकती है कि सन् वह है 'विवकत सर्व काल एव सर्व देश में निवेच महीं किया जा सकता' (खब देश काल-सम्बंधी-निवेच-प्रतियोगितवं सत्त्व)। उसकी इस रूप में भी परिनावा दी जा सकती है कि सन् वह है जो असत् से तिमन्न होने के कारण मिथ्या अध्यारीयण नहीं होता, खयबा सन् वह है जिसके प्रतिस्तव की कभी न कभी सालात् एवं सम्बन्ध प्रतीति की जाती है (धिनत्त-प्रकारक-प्रमाख-प्रति-कदाचिद् सालाव-विवयत्त्व)।

ब्यासतीर्थं द्वारा सत् की परिजाबा देने के उक्त प्रवास के उक्तर में मधुपूदन कहते हैं कि हमारा प्रत्यक्षीकरण का अनुमव निष्यास्व से मिल्ल अववा विरोध में सत्य को

पष्ठचानने में सर्वेचा वर्षेच होता है। "सत्य एवं मिय्यात्व परस्पर सम्बंधित होने के कारता उनकी पारस्परिक विरोध के द्वारा परिमाधा देने के सभी प्रयत्न चक्रक दोध से पूर्ण अतएव प्रवैष हो जाते हैं, सत की वे परिभाषाए भी गलत हैं जो किसी न किसी कप में सतु के धनुभव का उल्लेख करती हैं क्योंकि उनमें जिस सत की परिभाषा देनी होती उसी के प्रस्थय का पहले ही से समावेश हो जाता है। यह कहना भी गलत है कि जरात में उसी स्तर की उतनी ही सरवता है जितनी बहान में है. क्यों कि मिध्यास्य एवं सत्य का समतुल्य स्तर नहीं हो सकता। अब मिथ्यात्व की सर्व देश एवं त्रिकाल में ग्रमाव के रूप में परिमाया दी जाती है (सर्वदेशीय-त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगिन्वं). सत्य उसका विरोधी होता है। प्रत्यक्षीकरण के द्वारा हम ऐसे खरावे को ब्रहण नहीं कर सकते. शतएव उसके द्वारा हम श्रमाव के विरोधी, श्रयांत सन को भी ग्रहण नहीं कर सकते । यह तस्य धप्रासंगिक है कि कुछ वस्तुओं का कहीं न कही सन् के रूप में प्रत्यक्षीकरण किया जाता है, क्योंकि एक मिन्या आभास का भी ऐसा अस्थायी प्रत्यक्षा-त्मक प्रस्तित्व हो सकता है। न्याय-मत के प्रनुसार सामान्यों की प्रस्तित का एक विशेष ढंग होता है (सामान्य-प्रत्यासत्ति), जिसके द्वारा उन सामान्यों के बन्तर्गत झाने वाले सर्व व्यक्ति चेतना के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं तथा इसी साधन से निगमनात्मक श्रनुमान को उत्पन्न करने वाला आगमनात्मक सामान्यीकरण सम्भव होता है। इस मत ने अनुसार यह दावा किया जाता है कि यद्यपि एक सत्ता के समस्त धमावो का सबंदेश व काल में इंब्टि-प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता तथापि वे प्रस्तुतीकरण के उक्त साधन द्वारा चेतना के समक्ष प्रस्तृत किये जा सकते हैं और यदि वे इस प्रकार जेतना के समक्ष प्रस्तत किये जाते हैं तो उनका निषेष अर्थात सन भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

इसके प्रति ममुझ्यन का उत्तर यह है कि सामान्यों को प्रस्तुत करने का ऐसा कोई विशेष क्या नहीं होता है जिसके हाए उत्तके मध्वित्वत सर्व व्यक्ति भी चेतना के समस्य प्रस्तुत होते हैं, पर्याप्त नैयायिकां जारा व्यक्तित 'खासान्य-प्रसासत्ति' वैसे कोई प्रक्रिया नहीं होती। फिर वे ऐसी 'सामान्य-प्रस्थासत्ति' के विकट सास्त्रार्थ में प्रक्रम होते हैं और यह बताने का प्रयत्न करने हैं कि नियमनास्थक सनुमान न्याप्ति को निर्धारित करने वाले सामान्यों के विश्वयन लक्ष्यों के साहय्य के डाए सम्मन्य होते हैं, 'सा प्रकार यहि' सामान्य-स्थासतिन नहीं होती है और यदि वस देश काल में सर्वे

वक्षराद्यव्यक्ष-योग्य-मिव्यात्व-विरोधी-सत्वा निरुक्ते:।

<sup>-</sup>प्रदेत-सिद्धि, प्∘ ३३३-४।

व्याप्ति-स्मृति-प्रकारेख वा पक्षधमंता-कानस्य हेतुताः महानसियै पूमो पूमावेन
 व्याप्ति-स्मृति-विषयो मति, धूमत्वेन पर्वनीय-पुम-कानं वापि जातम्, तच्च सामान्य-

समाव एवं चेतना के समझ प्रस्तुत नहीं किये जासकते, तो उनका विरोधी सत् मी प्रत्यक नहीं किया जासकता।

रामाचार्य का उत्तर यह है कि यद्यांप ऐसे सभाव सर्व देख एवं वर्ष काल में इंत्रियां द्वारा अव्यक्ष नहीं किये वा तकते, तथापि कोई कारण नहीं है कि उनका विरोधी सत् अव्यक्ष नहीं किया वा तके, वन कोई घट देखता है तो प्रमुक्त करता है कि वह नहीं है भीर सन्तर कहीं नहीं है। हम निषेच किये गये पदायों को अव्यक्ष करते हैं न कि स्वयं निषेच को 1° वे साने कहते हैं कि यद्यांप खामाच्य-अव्यावत्तां को नहीं माना बाय, तथापि सप्रयक्ष समाय अनुमान द्वारा ज्ञान किये वा सकते हैं, अनग्रव यसुयुदन की यह सापानि दिविष सर्वच है कि जवतक खामाच्य-अव्यावत्तां को स्वीकार नहीं किया बाता ऐसे सभाव ज्ञान नहीं किये वा सकते तथा उनका विरोधी सन् भी प्रयक्ष नहीं किया वा सकता। "

समुद्रादन प्रापे कहते हैं कि प्रतुसन में 'साक्षी' की साक्ष्य केशन बनेमान वस्तुमां को मिष्यक करता है मीर इस प्रकार जवन के विषयों में सार्थक सप्तना है। किन्तु 'साक्षी' किसी प्रकार जन तहीं बता जनता कि उनका भविष्य में बाथ होगा घयथा नहीं, मदी: जब कहु-जान प्राप्त हो जनता है तब 'साक्षी' जयशनुमन के भावी निषेध की चुनीती देने में घसमये होता है।

स्थासतीर्थ ने बंदान्त की इस मान्यता पर धार्यान ती थे। कि शुद्ध चंतस्य ने एक-रूप एक सता है जिस पर नमस्त तथा-कवित विषयों के धारवार ग्या आत ही सामग्री सारोपित दक्षी है धी रूप सामान्य में यह निद्धा किया था कि नेवह कहा नन्य में कि एक षट प्रस्तित्व रखना है यह सिद्ध नहीं हो बाता कि नह घट घुंड नन् पर प्रध्या-रोपित है, क्योंकि खुद्ध सत्ता का कभी प्रस्थक नहीं किया वा मन्ता धीर मिथ्या धामातों के सहित समस्त नक्षणों को सत् के समान ही सत्ताः मक ध्यं मं मम्पन्न सावा वा सकता है।

सधुसुदन का सरल उत्तर यह है कि धनेक व्याष्ट्रियत मनाधो को मानने से यह कही श्रच्छा है कि तक स्थायी सत्ता मान नी जाय जिस पर विषयों के विविध क्यों का स्नारीपरण होता है। व्यासतीर्थ के इस कथन पर सधुसुदन साप<sup>र</sup>त उठाने हैं कि प्रस्थक्ष

लक्षस्यं विनेव, नावनेव प्रमुमिति-सिद्धैः,—प्रतिवीधिताव-ब्रेड्क-प्रकारक-जानादेव तस्सम्भवेन तदयं सकन-प्रतिवीधि-जान-जनिकायाः सामान्य प्रत्यासत्य-नुपयोगान् । —प्रदेत-मिद्धि, पृ० ३३८, ३४१ ।

<sup>&#</sup>x27; 'तरिगगी', पू॰ ६१।

वही, पृ॰ ६३।

प्रमास स्वरूपत. धनुमान से प्रबल होता है क्योंकि झनुमान जिन घनेक अवस्थाओं पर निर्मर करता है उनके कारण स्वय को स्थापित करने में मेद होता है । मधुसूदन कहते हैं कि जब प्रत्यक्ष प्रमास का बनुमान एव शब्द द्वारा व्याघात होता है (यथा, ग्रहों के लघु बाकार के प्रत्यक्षीकरण की अवस्था में), तब पूर्वोक्त का निषेध होता है। इसलिए प्रत्यक्ष को भी भपनी सत्यता के लिये अका विस्व एव अन्य प्रमाणो पर निर्मार करना पडता है तथा घन्य प्रमाखों को प्रत्यक्ष पर उससे अधिक निर्मर नहीं करना पहला जिलना प्रत्यक्ष को सन्य प्रमासो पर निर्मर करना पडला है। सतः यह सब प्रमारा मापेक्षत. श्राश्रित होने के काररा सत्यता में वैदिक शब्द से हीन हैं, जो मानव बारा निमित प्रनेख न होने के नाते स्वमायनः सत्यता का एक इसीकास्य प्रधिकार रखता है। यह सुविदित ही है कि तथ्यों के सत्य अनुभव की प्राप्ति के लिये एक इन्द्रिय के द्वारा किए गए प्रत्यक्षीकरण के साथ सामजस्य करना पडता है। जैसे, आग उच्या है' प्रत्यक्षीकरण में चालव प्रत्यक्षीकरण का स्पर्ध प्रत्यक्षीकरण के लाथ सामजस्य करना पडता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाशा प्रत्यक्ष-योग्य हाने के कारण उत्कृष्ट सरयता कर कोई ग्राधकार नहीं रखना, यद्यपि यह स्वीकार किया जा सकना है कि कई क्षेत्रों में प्रत्यक्षीकरण एक सज्जान का निवारण कर सकता है जो सनुमान द्वारा निवृत्त नहीं होना ।" यह आर्यान गलत है कि एक अनुमान-जन्य प्रमाश स्वय को स्थापित करने में शिथिल होने के कारण (चैंक वह कई तथ्यों पर आधित होता है), प्रत्यक्ष में मत्यता में हीन है, क्योंक प्रत्यक्ष प्रधिक इ त्यामी होता है, इसलिए सत्यता उचित परीक्षण एवं निर्देश्यता के प्रनुसन्धान पर निर्मर करती है न कि केवप द्रुतगा मिता पर । इसके ब्रनिश्क्ति, वृक्ति बनेक श्रनि-पाठ ऐसे है जो सर्ववस्तुधी के एकत्व की घोषाणा करते हैं जिनकी तकं-सगतता को जगत के मिध्यास्य को मान्यता के सिवा सिद्ध नहीं किया जा सकता और चुँकि ऐसी स्वीकृति के द्वारा सापेक्षता के क्षेत्र में प्रत्यक्षीकरण की सत्यता के स्वाभाविक अधिकार का अपहरण नही होता, इसलिए सापेक्षता के क्षेत्र में प्रत्यक्षज्ञानात्मक नत्यता का ग्रानियत्रित अधिकार स्वीकार करके नथा निर्पेक्षता के क्षेत्र में एकस्व की श्रांत-ज्ञानात्मक मत्यता का स्वीकार करके एक समभौता प्राप्त किया जा सकता है।

पुन:, आसतीयं का धायह है कि चूर्रिक धनुमान और शब्द-प्रमाण दोनो चाक्ष्य एव श्रवण प्रत्यक्षीकरण पर निर्मय करते हैं बत: यह सोचना गनत होगा कि पूर्वोक्त के हारा परचाइक्त का निष्क्रनीकरण हो नकता है। यदि प्रत्यक्षीकरण स्वतः सस्य

नापि अनुमानाद्यनिवर्तिनदिन्माहनादि-निवर्नकत्वेन प्रावल्यमेनावता हि वैधम्ये-मात्र मिद्धं।

<sup>—</sup>ब्रद्वेत-सिद्धि, पृ०३४४।

नहीं है तो समस्त अनुमान व सन्द प्रमाण समस्य हो जाएँगे, क्योंकि उनकी प्राप्त सामग्री प्रत्यक्षीकरण द्वारा प्रदान की जाती है।

इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि शब्द-प्रमाण प्रत्यक्षीकरण के द्वारा प्रदान की गई बात्त-सामग्री को चुनौती नही देता बल्कि उनकी तात्विक सत्यता को चुनौती देता है जिसे प्रत्यक्ष-ज्ञानात्मक झनुसव कदापि प्रदान नहीं कर सकता । केवल यह तब्य है कि एक ज्ञान दूसरे ज्ञान की पूर्ववितता के कारण उदित होता है उस ज्ञान के कम सत्य होने का कोई कारए। नहीं है, 'यह रखत नहीं वरन चुक्ति है' निर्णय इसलिए कम सत्य नहीं है कि वह तब तक उत्पन्न नहीं हो सकता था जब तक कि शुक्ति के रजत के रूप में प्रत्यक्षीकरण की एक पूर्व बृटि बटित नहीं होती। यह कहा जाता है कि डिन्डिय प्रमारा की सस्यता अनुरूपता पर आधारित एक आलोचनास्मक परीक्षरा के द्वारा निर्धारित की जाती है। इसके प्रति मधुसूदन का यह उत्तर है कि जहाँ तक अनुरूपना के भनुसार किसी चेतना की सत्यता का सम्बन्ध है, शकरबादी उसके विरोध में कुछ नहीं कहना चाहते। उनकी भापत्ति यह है कि चरम सत्यता भयवा चरम प्रवाधित्व किसी प्रालोचनात्मक परीक्षण के द्वारा ग्राभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। पूनः यह युक्ति वी जाती है कि यदि प्रत्यक्षीकरण असत्य है तो उसके द्वारा प्राप्त व्याप्ति-ज्ञान भी प्रसत्य है, प्रतएव सकल प्रनुमान प्रसत्य है। किन्तु यह गलत है, क्योंकि एक मिथ्या तक के द्वारा भी एक नत्य अनुमान सम्भव हो सकता है, एक भ्रामिक प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित वस्तु के भ्रस्तित्व का भ्रमुमान लगाया वा सकता है। इसके भ्रतिरिक्त प्रमारा की प्रसत्यता (प्रनुमानात्मक प्रथवा प्रत्यक्षज्ञानात्मक) मे ज्ञात बस्तु की प्रसत्यता भन्तीनिहित नहीं होती, अतः यह भापति अवैध है कि यदि प्रत्यक्षीकरस्य को सन्य न माना जाय तो सर्व ज्ञान असत्य हो जाता है।

व्यासतीयं का बायह है कि यदि प्रत्यक्ष-जानात्पक प्रमाण किसी स्थान में बहुमान के द्वारा बाधिन होता है, तो कोई एव प्रत्येक बहुमान प्रत्यक्षीकरण का बाथ कर सकता है, इस प्रकार स्थान सीतम मानी जा सकती है सीर एक शब के शूंथ माने जा सकते हैं, तो प्रसम्भव है।

हसका मधुसूबन यह जार देते हैं कि कोई एव प्रत्येक घतुसान प्रत्यक्ष सं उत्कृष्ट नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह वृत्यिंदत है कि एक घर्षक घतुसान से सत्य निष्कर्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिन घनुषानों को व्यासतीय ने प्रस्तुन किया है वे प्रवेष घनुसान के उदाहरण है, जिनकी शोषपूर्णना स्मय्ट है। कोई भी यह कदापि स्वीकरा

यत्स्वरूपमुप्युज्यते तम्न बाध्यते, बाध्यते च तात्विकत्वाकारः स च नौपजीव्यते कारणृत्वे तस्याप्रवेशात् । —वही, पु० ३६३ ।

नहीं करता कि एक प्रवेष प्रमुखान प्रत्यक्ष से प्रवत्त होता है, सेकिन यह भी प्रस्थीहत नहीं किया वा सकता कि वर्षेष प्रत्यक्ष के भनेक ऐसे उदाहरए। हैं जिनका सत्य प्रमु-मानों के द्वारा सही बच्चन किया बाता है।

व्यावतीर्थ प्रापं कहते हैं कि स्वयं 'भीगांवा'-दिकान धनेक स्वानों में प्रत्यक्ष की उत्कृष्ट सप्तवा को स्वीकार करता है धीर उन श्रृति-पाठों की तौड़ मरोड़ कर व्यावधा करने की विकारिय करता है जो प्रत्यक्ष से मेल नहीं बाटे। श्रृति-पाठ 'यत् स्वार्थक करा प्रत्यक सुत्रम के सावान व्याचान होता है, स्वत्यव उसकी इस डंग से व्यावधा की वानी वाहिये कि वह प्रत्यक्ष प्रमुवन से विरोध में न काये।

इसका मनुषूदन यह उत्तर देते हैं कि यह बस्तुत: सत्य है कि साध्यारण ध्याव-हारिक कार्यों से सम्बाधित कुछ पुति-पाठों का बनुजब से सममन्य किया जाता है धीर कभी-कभी उनकी प्रथम के बनुसार ध्यावाम को जाती है, किन्तु यह कोई कारण नहीं है कि वो सुनि-पाठ वरम धनुभूति का उल्लेख करते हैं तथा जो यहाँ के उपसाधनों का उल्लेख नहीं करते वें भी प्रयासीकरण के बधीन होने चाहिएं।

ब्यासनीयं कहते हैं कि यह बातना गलत है कि प्रस्थानिकरण का झनुपान बयबा श्रृति-प्रमाग के द्वारा ब्यासम्परूरण हो जाता है, प्रस्थानात्मक भ्रमां की स्थिति में प्रस्थानिकरण भ्रमेक प्रकार के दोधों से दृषित हो जाता है जिनकी उपस्थिति मी प्रस्थानिकरण के द्वारा जात की जाती है।

दसका मधुनुदन यह सरल उत्तर देते हैं कि दोषों को उपस्थित स्वय प्रत्यकी-करण द्वारा शत नहीं की जा सकती तथा आमक प्रत्यक्षीकरण के प्रधिकांच उदाहरणों का अब यह कहा जाता है कि चन्द्रमा एक फुट से बड़ा नहीं है तब अम निःस्तरेड नम्बी दूरी के दोष के कारण होता है, किन्दु इसे केबल इस निरोधला पर आधारित यनुमान के द्वारा ही झात किया जा सकता है कि सुदूर गिरि-चिलारों पर स्थित इसो के माकार छोटे हो जाते हैं। इस प्रकार, यबिंग ऐसे उदाहरण हैं जिनमें एक प्रत्यक्ष अम्म प्रत्यक्ष का म्रमान्यकरण कर देता है तथाणि ऐसे उदाहरण भी है जिनमें एक प्रत्यक्ष स्था करण का म्रमान्यकरण करता है।

एक प्रस्त यह उठता है कि क्या जगत-प्रपंत्त का वर्तमान प्रत्यक्ष धन्तानीगत्ता बाधित हो जाता है, किन्तु इसके प्रति व्यासतीय यह कहने हैं कि ऐसे मानी व्याचात का मय तो उस क्षान का मी धमान्यकरण कर सकता है जो उक्त प्रत्यक्ष का बाघ करता है। साधारणतः जावत भनुगत वरून ने स्वपुत्रकों के सामुष्त का वाध करते में तिए कोई बायत धनुन्तव वाधित हो जाता है तो स्वप्त के प्रतुप्त का बाध करने में तिए कोई धनुम्य दीय न रहेगा। इस प्रकार निष्या धनुष्त्रक के उदाहरण को डुकना करिन हो वायगा । आसक प्रत्यक्ष को वाधित करने वाले जान में उन वस्तुमों का समावेश होता है जो आसक प्रत्यक्षिकरण के समय बात नहीं होती (यथा, जुक्ति का जान जो आसक-बुक्ति-त्यत के प्रत्यक्षीकरण के समय विचान नहीं था) । पर यह प्रायह नहीं किया जा तकता कि जिस जान के क्षायत्विक का बाद होगा उनमें जगदानुक्य के लान के सम्मतंत्र समाविक्ट न होने का विधिक्ट नक्षण विक्षमान होगा । पुतः, बहु जान को किसी सम्य जान का वाच करता है सविषय होना चाहिए, निविच्य जान का निष्या जान से कोई विरोध नहीं होता और किट भी कहुन को तिविच्य माना जाता है। इसके पतिरिक्त अध्यावत केवल वहीं सम्मत होता है वहीं एक दोव होता वाली का है जो पहुन ना को तिविच्य माना जाता है। इसके पतिरिक्त अध्यावत केवल वहीं सम्मत होता है वहीं एक दोव होता है जो हीता है तो है तहीं पत्र प्राणित होता है जा प्राणित होता है तथा जो जाता जाता है। इसके पतिरिक्त अध्यावत अध्यावत अपनुक व्यवतावी पाठो डारा प्रमाणित होता है तथा जो जाता जाता है को पत्र प्रमाणित होता है तथा जो जाता जाता है जायागा। इसके प्रतिरक्त को भीना प्रमुख जगदानुक्य का बाच करेगा वह स्वयं अध्याव । इसके प्रतिरक्त को भीनाम प्रमुख जगदानुक्य का बाच करेगा वह स्वयं अध्याव होते के कारण लागान कर के बाय-योग्य होता वीर यह प्रवाद का कोई प्राण न होगा।

कामतीर्ष की उपर्युक्त धार्मात के उत्तर में मसुद्दार इस बात पर बल देते हैं कि प्रत्य ज्ञान का बोध करने वाने ज्ञान का यह कोई धांनवार्य सकला नहीं होता कि वह सविषय हो, यही धांनवार्य त्या हान का यह कोई धांनवार्य सकला नहीं होता कि वह सविषय हो, यही धांनवार्यना हान का निवेष करता वाहिए। यह बांचना सी पत्य है कि जब बहु-ज्ञान ज्ञान ज्याने का निवेष करता है तो ईत की स्वीकृत का समावेश होता है, क्यों कि बहु-ज्ञान परम सत्या के स्वकृत का ही होता है विवस्त कम समावेश होता है, विवस्त कम सम्बद्ध की होता है विवस्त कम समावेश होता है। विवस्त कम सम्बद्ध में स्वकृत कम समावेश होता है विवस्त कम सम्बद्ध में स्वयंत तमी उत्पन्न हो सकते हैं। क्यानीर में स्वयंत तमें स्वयंत का सम्बद्ध में स्वयंत तमी उत्पन्न हो सकते हैं। क्यानीर का सम्बद्ध में स्वयंत तमी उत्पन्न हो सकते हैं। क्यानीर का सम्बद्ध माने कि स्वयंत स्वयंत्र स्वयंत्र स्वयंत्र स्वयंत्र स्वयंत स्वयंत्र स्वयंत्य स्वयंत्र स्व

### ज्ञान का स्वरूप

श्यासतीर्थ की युक्ति है कि यदि यह मान लिया बाय कि तकं, इस्यत्व स्नादि जगत-प्रपंच के मिय्यात्व का निर्देश करते हैं और यदि उनका अनुप्रयोग सनुमान के उपकर्णों पर किया जाय तो फिर वे भी मिध्या हो जाते हैं और यदि वे मिध्या नहीं है तो समस्त जगदामास मिच्या है तथा जनत के मिच्यात्व की युक्ति दोषपूर्ण है। ब्यासतीयं आगे कहते हैं कि यदि संकरवादी से यथायं सत्ता के स्वरूप की व्यास्या करने को कहा जाय तो वह स्वमावतः सभान्ति मे पड् जायगा । उसे बेतना का विषय नहीं माना जा सकता क्योंकि काल्पनिक वस्तुएं भी बेतना क विषय होती हैं, उसका साक्षात् चेतना के रूप में भी वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि किर 🖫 अवस्तर्थ नित्य एव प्रनुप्रवातील सत्ताको में नही पाई जायगी और जगदाभास जो साक्षात् प्रत्यक्ष किया जाता है मिथ्या नहीं होगा और अनुमान, यथा, हेतु के भ्रामक प्रत्यक्षी-कररा (यथा, एक भील में जल-बाब्य) के बाधार पर बन्ति का अनुसान भी सत्य हो जायगा । ज्ञान वस्तुओं के अस्तित्व को उनके सर्व घर्मों को प्रदान नहीं करता, यदि मन्ति भाग्न के रूप में आरत न भी की जाय तो भी वह जलाने की क्षमता रखती है। इस प्रकार ग्रस्तित्व किसी प्रकार की चेतना पर निर्मर नहीं करता। सत्ता की व्यावहारिक बाचरण के रूप में परिमाना देना भी गलत है, क्योंकि जबतक जगत-प्रपच के स्वरूप को ज्ञात नहीं कर लिया जाता तबत्क व्यावहारिक ग्राचरण ज्ञात नहीं होना। जगत्यातो सत् होनाचाहिये या धसत् धस्तित्व का कोई तीसरा प्रकार सम्भव नहीं है, जगत की ग्रसत्ता किसी सत प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती क्योंकि सत् और ग्रसन् परस्पर विरोधी हैं, ग्रसत्ता प्रमाएों के द्वारा भी सिद्ध नहीं की जा सकती क्यों कि वे ग्रसत ही हैं। कोई ऐसी सत्ता नहीं हो सकती जो धसत एवं चरम सत में सामान्य हो।"

मधुषुदन कहते है कि धासत्य का सत्य से विभेदीकरण ठीक उसी प्रकार के विचारों से किया जा सकता है जो प्रतिपक्षी को घाकाश के गीनस्व तथा एक बट, एक रज्यु प्रार्थि सावारण घनुमन के विचयों के प्रत्यक्षीकरण में विभेद करने की प्रेरणा देते हैं। जसत-प्रपक्ष को जिस प्रकार की सता की स्वीकृति से गई है वह ऐसी है कि उसका बहु-बान के घरितरिक्त कियी च्या बरस् है बाव नहीं होना।

व्यासतीर्ष का निर्देश है कि जकरवादियों का यह तर्क कि ज्ञान भीर उसके सम्तविषय में कोई सम्बन्ध नहीं हां सकता बौद्धों से विद्या तथा है, जिनके प्रमुखार चेताना भीर उसके विषय एक ही हाते हैं। उकरवादी मानते हैं कि यदि विषयों को स्वरंग माना जाय तो यह बताना कठिन हांता है कि जान भीर ज्ञान के द्वारा प्रकाशित विषयों में काई सम्बन्ध के हो सकता है, क्योंकि 'ययोग' एम 'सम्बन्ध' के दो मान्य सम्बन्ध उनके मध्य नहीं रावे जा सकते। वस्तुगतता का सम्बन्ध मी इतना सस्वस्थ

नापि सत्-त्रयानुगतं सत् द्वयानुगत वा सत्वसामान्य तन्त्रम् ।

<sup>-</sup>न्यायामृत, पृ० १७४ ।

है कि उसकी परिसाधा नहीं वी जा सकती, अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ज्ञान भीर उसके विषयों का सम्बन्ध सर्वेणा मिष्या है।

इसका व्यासतीर्थ यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि संकरवादियों द्वारा सकल विषयों के एक परम द्वव्हा पर मिथ्या बारोपस होता है तथापि वे विशिष्ट व्यक्तियों के विशिष्ट संज्ञानों की व्यास्या के लिए विभिन्न व्यक्तियों के मिन्न-मिन्न प्रत्यक्षों को उत्पन्न करने बाले इन्द्रिय-सम्पर्क को स्वीकार करते हैं। शकरवादी उसी सीमा तक विज्ञानवादी नहीं हैं जिस सीमा तक बौद्ध हैं। यदि यह भी मान लिया जाय कि शद्ध चैतन्य विविध सवस्याओं में विभिन्न प्रतीत हो सकता है, फिर भी कोई कारण नहीं है कि जगत के विषयों को शब चैतन्य पर ब्रध्यारीपित माना जाय । जगत के विषयों को मिच्या बारोपलों के रूप में स्वीकार करने से भी कोई ब्रल नहीं निकलता. क्योंकि इन जागतिक विषयों का मनस की जानात्मक 'वित्त' के बिना कोई जान नहीं हो सकता। पन: यदि सकल जागतिक विषय मिथ्या झारोपसा है तो प्रत्यक्ष की कार्य-प्रस्ताली में उसके विशिष्ट व्यापारों के अन्तर्गत शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिन्न को स्थान देना अथवा विधिष्ट ज्ञानेन्द्रियों के अन्तर्गत विषयों में अब:स्थित चैतन्य को स्थान देना निर्थंक है। केवल इस सध्य के कारण कि संयोग और समवाय दोनो का कोई उपयोग नहीं हो सकता यह मनिवार्यतः नक्षित नही होता कि सबं प्रत्यक्ष-ज्ञानात्मक भाकार मिथ्या हैं. क्योंकि यदि एक वास्तविक अनुभव होता है तो स्वभावतः उस परिस्थिति की व्याख्या करने के लिये सम्बन्धों की कल्पना करनी पडती है। पून: यदि तर्क के लिए बह मान लिया जाय कि जान और उसके विषय के सम्बन्ध की सान्यता की सत्यता को सिद्ध करने का कोई तरीका उपलब्ध नही है, फिर भी उससे स्वयं विषयो का भिष्यात्व सिद्ध नहीं होगा, समिक से समिक उसके द्वारा जान सौर उसके विषयों के मध्य स्थित सम्बन्धों की सत्यता का निषेष हो जाचना । पून: यदि शकरवादी को शुद्ध चैतन्य का 'इति,' के साथ सम्बन्ध स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती तो, उसे विषयों के साथ उक्त सम्बन्ध को स्वीकार करने में कठिनाई क्यो होती है ?3 यदि जागतिक विषयों को धवर्रानीय माना जाय तो भी उनके धस्तित्व को उसी रूप में माना जा सकता है जिस रूप में ब्रह्मन अवर्शनीय है। शंकरवादी को एक वस्तगत जगत के धास्तित्व को भी स्वीकार करना पडता है और जिस ढंग से उसका प्रत्यक्षीकररा

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> न्यायामृत, पु० १६१ ।

वही, पृ० १६३ (प्रमित-वस्त्वनुसारेण हि प्रक्रिया कल्पया न तु स्व-किस्पित-प्रक्रिया-नरोचेन प्रमित-त्यान)।

श्रे यादशं विषयत्वं श्रृति प्रति चिदारमनः तादशं विषयत्वं मे दृश्यस्यापि दशं प्रति । —वही, पृ० २०५ छ ।

होता है उसकी व्याच्या करनी पड़ती है। इस मठ का बस्तुवादियों के मत से केवल यही बस्तर है कि वहीं संकरवादी बस्तुवादी उनकी सत्तर है कि वहीं संकरवादी बस्तुवादी उनकी सत्तर है कि वहीं संकरवादी बस्तुवादी उनकी सत्तर मानता है, बिन कारणों से ककरवादी उनकी सत्ता को निरंप प्रातिमाधिक सत्ता से उसकर स्तर की सता मानते हैं उन्हों कारणों से बस्तुवादी उनकी बरम सत्त्य मानते हैं। "एक बस्त्रे में बहुत्तर मी उतने ही बस्त्रांत्रीय हैं बितने कि बावितक विषय ।" जहाँ तक बस्तुत्रे बात होती है भीर वहाँ तक उनके कुछ सामान्य सत्त्राण है उनका कर्त्रांत्र किया वा सकता है, बादि पत्र पत्र विकास में देशों विजयता है कि उनकी उत्तित्र परिचार एवं निक्स्त्रण नहीं किया वा सकता । प्रतिक पुत्रव का प्रत्य के प्रति विकास के स्त्रा का सकता । एक प्रति की प्रति के स्त्रवित प्रति का सकता । इस क्षत्र के सामान्य के ता सकता ।" इस तित्र प्रति का स्त्रव है कि उनकी उत्ति विकास का सम्त्रव का स्त्रवा का सकता ।" इस तित्र प्रति का स्त्रवित प्रति का स्त्रवित प्रति का स्त्रवित प्रति का स्त्रवित का स्त्रवा का स्त्रवित का स्त्रवा स्त्रवा स्त्रवा स्त्रवा का स्त्रवा

मधुपूरन व्यामनीयं द्वारा उटाई गई कई ब्रायनियों की प्रायः उपेक्षा कर देते है, इनमें से एक यह है सम्बय्धा का साक्षान् प्रह्ला किया बाता है तथा यह सोचने मे कोई विवस्तान नहीं है कि यद्याप सम्बय्धा स्वादान होते हैं तथापि उनको ब्रामेनिक्यों के द्वारा साक्षात् वहुए। किया वा सकता है। मधुपुरन की चुक्ति हैं कि यदि सम्बय्धां को झात्स-स्थित कहा ज्ञाय तो उनकी व्यावधा तही की या सकती क्रायन वे निष्या माने जाने चाहिएँ। व्यावतीयं सब प्रयक्षीकरण के शकरवादी निष्यण्य का उन्लेख करते

कीहक् तत् प्रत्यगिति चेत्ताहशी हिमिति इय
 यत्र न प्रसरत्येतत प्रत्यगित्यवधारय

–बही, पृ∙ २०५ ।

इति बहुण्यपि दुनिक्यत्वस्य उक्त त्वाच्यः । —वही, पृ० २०६ छः ।

<sup>2</sup> तस्मारप्रमितस्य इत्यमिति निर्वकनुमशस्यतः प्रतिपुष्य-मुखं स्यष्टावाधित-इन्टिस्टस्टम्
विसक्षत्य-संस्थान-विशेषस्य वा सत्येऽप्यदुमृतत्वादेव युक्तम् ।

-बही, पृ० २०६।

तव स श्राकारः सहिलक्षणः सम तुसिन्निति, श्रातिरुच्यमानोऽपि स तव येन सानेन श्रशतिसासिकः तेनैव सम तात्विकांऽस्तु।

तस्मात् निर्वचनायोग्यस्यापि विश्वस्य इज्ञु-झीरादि-माषुर्येवद् ब्रह्मवच्च प्रामाणि-कत्वादेव सत्व-सिद्धैः।
 —वही, १० २०६।

हैं भीर कहते हैं कि उनके मत में विषय उपस्थित होते हैं तथा 'भ्रन्त:कररां' उनके बाकार में परिवर्तित होकर उनका बावरण हटाता है, वे यह भी कहते हैं कि यदि ऐसा है तो प्रत्यक्षीकरण के विषय मानसिक नहीं माने जा सकते। यदि विषय केवल मानसिक होते तो उनका प्रत्यक्ष करने के लिये बानेन्द्रियों का अनुप्रयोग अनावश्यक होता, स्वप्नों में मानसिक विषयों का 'प्रत्यक्षीकरसा' किया जाता है लेकिन दृष्येन्द्रियों का प्रयोग नहीं किया जाता । जगत के साचारए व्यावहारिक बनुभव और स्वप्नों के धनुमद में यही सन्तर हैं कि पूर्वोक्त सविध में अधिक होते हैं, अताग्व विद स्वप्नानुभव में मानसिक विषयों का दृष्येन्द्रिय के प्रयोग के बिना प्रत्यक्षीकरण किया जा सकता है तो कोई कारण नहीं है कि जागतिक विषयों का भी उसी दग से प्रत्यक्षीकरण नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, 'परोक्ष ज्ञान' की दशा में शकरवादी स्वयं यह मानते हैं कि जानेन्द्रियों के साहचयं में 'झन्त:करण' की ऐसी प्रत्यक्ष किया के बिना, जिसमें विषयों के साथ वास्तविक सम्पर्क स्थापित हो, विषय प्रकाशित हो जाते हैं। कोई कारण नहीं है कि साधारण प्रत्यक्षीकरण में ऐसा न हो। इन दो उदाहरणो में 'अत:करएा' के रूपान्तरएगो के भेद के ब्राधार पर प्रत्यक्ष (ब्रपरोक्ष) एव अप्रत्यक्ष (परोक्ष) ज्ञान की समुचित व्याख्या की जा सकती है श्रीर इसके लिये यह मानने की भावश्यकता नहीं है कि एक उदाहरण में 'भ्रन्त:करण' बाहर गमन करता है तथा दसरे में ब्रन्दर ही स्थित रहता है। यह नहीं माना जा सकता कि 'ब्रन्त.करगा' में एक षपरोक्ष धन्तः प्राज्ञ लक्षस्य होता है, क्योंकि 'ग्रन्तःकरम्य' स्वय स्वरूपतः ग्रन्तः-प्रज्ञात्मक एव स्वयं-प्रकाशक न होने के कारण उसके रूपान्तरण भी अन्त:-प्रज्ञात्मक अथवा स्व-प्रकाशक नहीं हो सकते । केवल इस नध्य से 'श्रन्त:कररा' स्वय प्रकाशक नहीं हो सकता कि वह ग्रस्नि तत्व से निर्मित है. क्योंकि उस दशा में ग्रस्नि तत्व द्वारा निर्मित भनेक विषय स्वयं-प्रकाशक हो जाएँगे। पुन यह मानना गलत है कि वेतना की सभिव्यक्ति स्वरूपत: सकर्मक होती है, स्योकि यद्यपि हम किसी विषय की अभिव्यक्ति का प्रकर्मक शब्दों में कथन कर सकते हैं तथापि हम ज्ञात करने की किया का सकमंक शब्दों में कथन करते हैं। यदि यह स्वीकार न किया जाय कि किसी किया का सकर्मक अथवा अकर्मक स्वरूप प्राय: केवल एक शाब्दिक रूप होता है, तो एक शकर-बादी के लिये 'प्रन्त:करएा' के रूपान्तरए। (जो श्रकमंक होता है) को विषय के ज्ञात करने के समत्त्य बताना कठिन हो जायगा। इसके अतिरिक्त यदि यह माना जाय कि 'इसि' से बाह्य खुद चैतन्य ही केवल अभिव्यक्त होता है, तो अतीत, जिसे खुद चैतन्य ग्रमिव्यक्त नहीं कर पाता. हमारे प्रति स्वयं को ग्रमिव्यक्त नहीं कर सकता था. इसलिए जात और उसके विषय के सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए एक मध्यस्थ साधन की कल्पना करना सर्वया अनिवकृत होगा। यदि यह मान भी लिया जाय कि 'ग्रन्त:करएा' शरीर से बाहर गमन करता है, फिर मी विषय को ग्रमिक्यक्त करने वाले सुद्ध चैतन्य के स्वरूप को 'झन्त:करण्' की 'इत्ति' में प्रतिविध्वत चैतन्य के रूप में

(जैसा मारदीतीय का कथन है) घषवा जस बुद्ध चैनन्य के रूप में वो 'खन्त:कररा-इत्ति में प्रतिस्थित चैनन्य द्वारा प्रीम्थण्ड किए गए विषयों के घानास का प्रिष्ठान है (इत्ति-प्रतिचिव-चैनन्यानिष्यक्त विषय प्रीप्रधान चैनन्यम्), जैसा सुरेश्वर पानते है, काल्यत करना कीज है। प्रथम यह है कि कथा 'खत:-करएां में प्रतिविधिन्यत चैनन्य विषय को प्रतिस्थक करता है घणवा विषयों में ध्रयः-स्थित प्रविध्वन्त-विषयं विषयों को प्रतिस्थक्त करता है योगों में को मी निष्यान मान्य नहीं है। प्रथम यत सम्मय नहीं है, क्यों के स्वारूपण यह समा होने के कारणा यह सम्मय नहीं है कि ज्यत के विषय ऐसी मिन्या सत्ता पर प्रारोपित हों, द्वितीय मत नी समय है, स्थों के यह माना जाय कि 'प्यतःकरस्य इत्ति में प्रतिक्रिक्ति चैतन्य विषय का धावरस्य हुन करता है, तो यह भी माना जा सकता है कि वह उसको धानिष्यक करता है।

पुन., यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि 'इंलि' स्त्रुल मौतिक विषयों के प्राकार को प्रहला करती है, बर्योक कि रिट यह उठनी ही स्त्रुल और जह हो आएगी तिवने मौतिक पदार्थ हैं। इसके प्रतिरक्ति, यह नानना पदवा है कि एक विषय के प्रतिरक्त यह नानना पदवा है कि एक विषय के प्रतिरक्त यह नानना पदवा कि 'एक दिवय के प्राकार को प्रहला करना है, तो उसे प्रमाशस्मक प्राकारों को भी प्रहला करना चीव्य है। इस्त्रुल यह कलना करना कीटन है कि 'प्रतर्का करना चीव्य है। इस्त्रुल यह कलना करना कीटन है कि 'प्रतर्का करना कीटन से मानवार्य का प्रकार के प्रहला करना कीट कर स्वत्र है। पुन: पुनर कान कीट मानवार प्रवार के प्रहला करनी है, किन्तु कहान के प्रकार के प्रहला करनी है, किन्तु कहान के कोड प्रकार करनी है, किन्तु कहान का कोड प्राक्रा करने हैं। हमान प्रवार है हि 'प्रमानकरण-इस्ति' प्रहान के प्रकार को प्रहला करनी है, किन्तु कहान का कोड प्रकार करनी है, किन्तु कहान का कोड प्रकार करनी है। किन्तु कहान का कोड प्रकार करना होता, प्रवार यहाँ प्राकार की प्रवार करना होता है।

इसके प्रतिनिक्त पर सामना धवेष है कि 'जीय वेतन्य' में घप:स्थित वेतन्य ही विषय को प्रतिन्यक्त रूनना है, स्थोकि इस मान्यता पर शकरवादी विद्वाल कांध्यत हो जाना है कि विषय गुद्ध जैतन्य पर घथवा विषयों में घप:स्थित जैतन्य पर मिया। प्रत्यारोपण है, क्योकि इस दथा में प्रत्यक्ष करने नाना जैतन्य 'पीव' में प्रथ:स्थित जैतन्य होने के कारए। या तो गुद्ध जैतन्य ने विश्व होना धयवा विषयों में प्रथ:स्थित जैतन्य से मिन्न होगा जो मिय्या गृध्यि का घाषाया नाता वा सकता, क्योंकि वह क्यं एक मिय्या शृथ्यि है। इस्ति कारए। या ती तह मी नहीं कहा जा सकता कि बहु-चैतन्य ही विषय को प्रशिव्यक्त करता है। प्रतः इद्वात स्थां प्रयामें में प्रशस्तित होने से एक मिय्या गृथ्यि होने के कारण, विषयों को प्रतिव्यक्त करता हुया नहीं माना जा सकता। विषयों में प्रथ:स्थित गुढ़ जैतन्य स्थां प्रशाम 'से प्रावृत्त होने से कारए स्वयं को अभिव्यक्त करने योग्य नहीं होना चाहिए, और इस प्रकार विषयों का समस्त ज्ञान बासम्भव हो जायगा । यदि यह युक्ति दी जाय कि यद्यपि शुद्ध जैतन्य बावल होता है तथापि विषयाकृतियों से सीमित चैतन्य 'बन्त:करएा' की 'वृत्ति' से श्रभिव्यक्त हो सकता है, तो यह सही नहीं है, क्योंकि यह नहीं माना जा सकता कि विषयाकृतियों से सीमित चैतन्य स्वयं ही उन विषयाकृतियों का आधार है, क्योंकि इसका यह अर्थ होगा कि विषयाकृतियाँ अपनी ही आधार हैं, जो आत्माश्रय दोष होगा, भीर शकरवादियों का यह मौलिक तक खण्डित हो जाता है कि विषय मिध्या ढंग से शुद्ध चैतन्य पर झारोपित है। इसके झतिरिक्त यदि ज्ञान की प्रक्रिया इस प्रकार की मानी जाय कि विषयाकृतियों से सीमित शुद्ध चैतन्य को 'खन्त:करण वित्त' अभिव्यक्त करती है, तो चरम ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान) की अवस्था जिसमें वैषयिक लक्षण अनुपरिवत होते हैं, प्रव्यास्थेय हो जायगी । पुन:, शकरवादी यह मानते हैं कि सुवृत्ति में 'ग्रन्त:-करए।' का विलय हो जाना है, और, यदि ऐसा ही होता तो, 'जीव', जो कि एक विशेष 'प्रस्त:करण' द्वारा सीमित चैतन्य होता है, प्रत्येक सुष्पित के पश्चात पूननंवीन हो जायगा, और इस प्रकार एक 'जीव' के कुर्म-फलो का उपमोग नवीन 'जीव' के द्वारा नहीं किया जाना चाहिए। यह मत भी अमान्य है कि शुद्ध चैतन्य एक वृत्ति में से प्रतिबिम्बित होता है, क्योंकि प्रतिबिम्ब केवल दो हृश्य विषयो के मध्य ही हो सकते हैं। यह मन भी बामान्य है कि चैतन्य एक विशेष बायस्था में रूपान्तरित हो जाता है क्योंकि मान्यता के अनुसार चैतन्य अपरिवर्तनशील है। चैतन्य किसी अन्य वस्तु पर सर्वथा 'मनाश्रित' होने के कारण (भनाश्रितत्वात्) चैतन्य के उपाधीयन की ब्याख्या करने के लिए सामान्य एव विशेष के सम्बन्ध का साहश्य मी धमान्य है। इसके भ्रति-रिक्त, यदि जीव मे श्रध:-स्थित चैतन्य को विषयो को श्रमिव्यक्त करने वाला माना जाय तो चूंकि, ऐसा चैतन्य एक प्रनावृत रूप में नित्य विश्वमान होता है, इसलिए यह कहने में कोई मर्थ नही है कि उसकी स्वजात मिन्यिक्त को उत्पन्न करने के लिए 'वृत्ति' की प्रक्रिया ग्रावश्यक है। शुद्ध चैतन्य को घट द्वारा सीमित भाकाश की भौति वृत्ति से परिसीमित मी नही माना जा सकता, क्यों कि शुद्ध चैतन्य सर्व-व्यापी है, श्रतएव उसे 'व ति' को भी व्याप्त करना चाहिए और इसलिए वह उसके श्रन्तर्गत नहीं माना जा सकता । शुद्ध चैतन्य की रग को अभिव्यक्त करने वाली प्रकाश-किरगा से भी तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रकाश-किरए। ऐसा केवल उपसाधनों की सहायता से ही करती है, जबकि शुद्ध चैतन्य स्वयं ही वस्तुओं को धिमध्यक्त करता है। पुनः, यदि वस्तुएँ ग्रनावृत्त चैतन्य के द्वारा स्वतः श्रमिव्यक्त हो जाती हैं (भ्रमा-बृत-चित् यदि विषय प्रकाशिका), तो चुंकि ऐसा चैतन्य न केवल वस्तुम्रो की माकृतियों एवं रगों से बल्कि भार ख़ादि अन्य लक्षराों से भी सम्पर्क में हो जाता है, इसलिए रंग इत्यादि गुर्गों के साथ इनकी भी प्रशिब्यक्ति होनी चाहिए। इसके प्रतिरिक्त, चैतन्य का विषय से सम्बन्ध नित्य संयोग के रूप का नहीं हो सकता, किन्तू वह चतन्य पर मिख्या बारोपए। के कप का होना चाहिए, ऐसा होने के कारए, चैतन्य का निषय से संबंध पहते हैं। से होता है, क्योंकि वन्द में सकन करपुर चैतन्य पर बारोपित होती है। सत: एक मध्यस्य के रूप में "वृत्ति" की मान्यता अगावस्यक है।" पुत: यि सह्य-चैत्यक को वर्ट्युमों की वर्षकात की सावस्यकात होती है, तो उसे कोई स्थिकार नहीं है कि वह स्वयं में वर्षन्न कहनाए। यदि यह सुकाव दिया जाय कि बहुन सबका उपाधान कारए। होने से अग्य उपाधियों की सहायता के बिना ऐसे वन्द को अवस्थित के समाय उपाधियों की सहायता के बिना ऐसे वन्द को अवस्थित करों के समया प्रकार है जिसका उसके तादात्म्य है, तो इसका यह उत्तर होगा कि विद बहुन को विषयाइतियों की परिसीमा में स्वय का स्थापताए करते हुए माना जाय तो परिसीमत बहुन के ऐसे स्थानगरए। से संकरवादियों को इस स्वोक्त माम्यता की न्यायोचितता स्थापित नहीं होती कि संकरवादियों को इस स्वोक्त माम्यता की न्यायोचितता स्थापित नहीं होती कि सर्वे विषय पुत्र चेतन्य पर मिथ्या हंग से बारोपित है।" यह कहना भी सम्मत्र नहीं है कि किसी भी विवयाइति से उपाधिरहित हुउ चेतन्य की अधिकात कारण है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह सर्वक नहीं कहा जा सकता है।"

यह मान्यता गलत है कि झावरख को हटाने के लिए 'युक्ति' की बारखा आवश्यक है, क्योंकि ऐमा भावरख गां तो खुद बैतन्य से संत्यन होना चाहिए या पिसीमित चैनन्य से। 'युक्ति अस्त्यन्य है, क्योंकि सकत धामाओं का आधार खुद बैतन्य समल 'प्रश्नान' एवं उसके क्यों का साक्षान् इट्टा होता है, सत्यस्य स्वयन-काश होने के कारख उससे कोई धावरख संत्यन नहीं हो सकता। इसरा विकल्प भी ससम्प्रव है, क्योंकि खुद चैनन्य की सहस्त्या के बिना स्वयं 'प्रश्नान' भी आवश्यरहित होगा, भीर प्रश्नान' के बिना कोई परिसीमित चैतन्य एवं कोई 'प्रश्नान' का भावरख लाही होगा। 'पुनः वर्षित तर्क के लिए यह मान भी निया जाय कि विवयों पर 'प्रश्नान' एक भावरख होता है, तो एक 'वृत्ति' के द्वारा उसके हटने की संकल्पना प्रसमन्य है,

चितो विषयोपरामस्तावत्संयोगादि-स्पो नास्त्येव ।
 तस्य दृश्यत्वा-प्रयोजकत्वात् किन्तु तत्राध्यस्तत्व-स्पैवेति वाच्यम् ।
 स च कृष्यपेक्षया पूर्वमप्यस्तीति कि चितो विषयोपरागार्थया वृत्या ।

<sup>-- &#</sup>x27;न्यायामृत' पर श्री निवास का 'न्यायामृत-प्रकाश' पृ० २२६ ।

विधिष्ट-निष्टेन परिकामित्व-क्षेण सर्वोपादानत्वेन विधिष्ट-झह्यएः सर्वज्ञत्वे तस्य कल्पितत्वेनाधिष्ठानत्वायोगेन तत्र जगवच्यासासम्भवाताध्यासिक-सम्बन्धेन प्रकासत इति भवदिज्ञमतिनयमनग-प्रसंग: । —बहो, पृ० २२७ (ग्र)

नापि शुद्ध-निष्ठमधिष्ठानत्व सार्वज्ञ्यादेविशिष्ट-निष्ठत्वात् ।

<sup>~</sup>वही, पृ० २२६ (ध)

क्योंकि यदि 'धज्ञान' विशेष दृष्टा में होता है, तो, यदि वह एक व्यक्ति के लिये नष्ट होता है तो प्रम्य के लिये वैसा ही बना रहता है, यदि वह विषय में है, जैसाकि माना गया है, तो जब वह एक व्यक्ति की 'वृत्ति' के द्वारा नष्ट होता है तो विषम अन्य व्यक्तियों के प्रति अभिव्यक्त होना चाहिए, अतः जब एक व्यक्ति एक विषय को देखता है तो वह विषय अन्य व्यक्तियों को अन्य स्थानों में दृष्टिगोचर होना चाहिए। पूनः क्या 'ग्रज्ञान' 'विवर्ण' के लेखक के कथनानुसार एक माना जाय, श्रमवा 'इष्ट-सिद्धि' के लेखक के कथनानुसार अनेक माना जाय ? पूर्वोक्त दशा में, जब एक सम्यक् ज्ञान के द्वारा सन्नान नष्ट हो जाता है तब तत्काल मोक्ष हो जाना चाहिए । यदि 'सन्नान' नष्ट नहीं होता है तो खुक्ति का रजताभास बाधित नहीं होना चाहिए वा. तथा खुक्ति का ब्राकार ब्रिभिव्यक्त नहीं हो सकता था। यह नहीं कहा जा सकता कि रजताभास के निषेध के द्वारा चुक्ति के प्रत्यक्षीकरण की दशा में 'स्नजान' का विलय-मात्र होता है (जैसे लाठी के प्रहार से घट मृत्तिका में परिसात हो जाता है, किन्तु नष्ट नहीं होता है), तो केवल ब्रह्म-झान के द्वारा ही किया जा सकता है, क्योंकि 'झजान' ज्ञान से प्रत्यक्ष विरोध में होता है तथा सजान का नाश किये बिना ज्ञान स्वयं को समिन्यक्त नहीं कर सकता। यदि 'सजान' शक्ति के जान द्वारा नष्ट नहीं होता, जो व्यक्त चैतन्य का शक्ति से कोई सम्बध नहीं होता तथा उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी, और बाध के बावजूद भी अस बना रहता। न यह निर्देश किया जा सकता है कि यद्यपि 'स्रकान' कुछ भागों में नष्ट हो सकता है, तथापि वह सन्य भागों में बना रह सकता है, क्योंकि 'प्रज्ञान' एवं चैतन्य दोनो निरवयव है। यह सुभाव भी नहीं दिया जा सकता कि जिस प्रकार कुछ हीरों के प्रमाव से ग्राग्न की दहन-शक्ति को रोक दिया जाता है, उसी प्रकार युक्ति के जान से 'सविद्या' की सावरण-शक्ति निलम्बित हो जाती है, क्योंकि मुक्ति के झाकार की 'झन्त:करण-वृत्ति' हृदयेन्द्रिय व अन्य उपसाधनों की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होने के कारण उस विशुद्ध बात्सन के सम्पर्क मे नहीं हो सकती जो सकल लक्षराों से रहित है, ब्रवएव वह ब्रावररा-शक्ति का नाश नहीं कर सकती। यदि वह सुफाव दिया जाय कि श्रुक्ति के आकार की 'इत्ति' श्रुक्ति की माकृति से परिसीमित शुद्ध चैतन्य के साहचयं में रहती है अतएव आवरण को हटा सकती है, तो अधः स्थित चैतन्य का अपरोक्ष ज्ञान होना चाहिए। 'अविद्या' जड़ विषयो पर आश्रित नहीं हो सकती. क्योंकि वे स्वयं 'अविद्या' की उत्पत्ति हैं। यत: घविद्या की भावरता-शक्ति का बढ विषयों के प्रति कोई उल्लेख नहीं हो सकता. क्योंकि भावरण केवल प्रकाशमय वस्तु को भाइत कर सकता है, जह विषय प्रकाशमय न होने के कारए। भाइत नहीं हो सकते । इसलिए यह कहने में कोई धर्ष नहीं है कि प्रत्यक्षीकरण में विषयों का बावरण हट जाता है। यदि पून:, यह कहा जाय कि भावरण का उल्लेख बढ़ नक्षण से रूपान्तरित विश्व-भारमन के प्रति है भीर जड़ लक्षण के प्रति नहीं, तो चुक्ति के ज्ञान से चुक्ति में प्रव:-स्थित धावरण हट सकता

है, तथा इसके तत्कान मोक्ष हो बाना चाहिए। विद यह मुक्ता दिया जाय कि यह 'श्रह्मान' वो कि विश्या रखत का अविष्ठान होता है, केवल उस मूल 'श्रह्मान' का क्यान्तरण होता है वो श्रुक्ति का ज्यादान होता है, वो इससे एक दूसरे से स्वतन कई 'श्रह्मान' की मान्यता कलित होती है, तथा ऐसा होने के कारण यह अनिवार्गतः फलित नहीं होगा कि सुक्ति का ज्ञान रखत के निष्या धामास को नष्ट कर सकता है।

'इष्ट-सिद्धि' के लेखक के मतानुसार यदि बनेक 'ब्रज्ञानों' के ब्रस्तित्व को स्वीकार किया जाय तो प्रश्न यह है कि क्या एक वृत्ति की प्रक्रिया से केवल एक 'सजान' हटता है सथवा सर्व सजान । पूर्वोक्त मत के सनुसार भ्रम की दशा में भी शक्ति कदापि अध्यक्त नहीं रह सकती थी, क्योंकि मिथ्या रजत को अभिव्यक्त करने वाली 'वलि' शक्ति को भी अभिन्यक्त करेगी, द्वितीय मत के अनुसार ऐसे अनन्त 'बजान' होने के कारए। कि जिन सबको हटाया नहीं जा सकता, शक्ति कदापि ब्राम-ब्यक्त नहीं होगी। यह बालोचना पूर्वोक्त मत पर भी समान रूप से लाग होगी जिसके धनुसार केवल एक ही मुल 'धजान' होता है जिसकी कई धवस्थाएँ होती हैं। पुन: यह समक्षता कठिन है कि कैसे काल में झारस्य होने वाली शक्ति का झनादि झविद्या से साहचयं हो सकता है। आगे. यदि उत्तर में यह आग्रह किया जाय कि अनादि 'मिवदा' भनादि शद चैतन्य को परिसीमित करती है, भीर तत्पश्चात जब विषय उत्पन्न हो जाते हैं तब उन विषयाकृतियों ने परिसीमित शद चैतन्य के आवररण के रूप में 'ग्रज्ञान' व्यक्त होता है, तो उत्तर यह है कि यदि शद चैतन्य से सम्बन्धित धावरण वही है जो परिसीमित विषयाकृतियों में स्थित चैतन्य से संबंधित होता है. तो उनमें से किसी भी विषय के ज्ञान से शद चैतन्य का भावरण हट जायगा भीर तत्काल मोक्ष फलित हो जायगा।

लिये उस वर्ष के सर्व कारलों के प्राप्-समाय नण्ड होने चाहिए। वेदान्तियों के लिए चूंकि 'पूर्ति' एक 'समाय' का मायरण हटाती है, घटा झान की प्रक्रिया को निलास्त्रत सको के लिए सम्य 'समानावरण' विचमान रह चक्वे हैं। इस मत के मतुझार कि धंबकार प्रकास का समाय है, धंबकार विषयों का एक सावरण नहीं होता विक्र प्रकास की स्वरूपामों का समाय होता है, चिर न प्रकास धपनी प्रक्रिया में धंबकार को नन्द करता हुआ माना गया है, किन्तु प्रत्यक कर वे क्षाच को उत्तर करता हुआ माना गया है, किन्तु प्रत्यक कर वे क्षाचान मोना जाना चाहिए, बल्कि तामान्य प्रकास को समाय माना जाना चाहिए, बल्कि तामान्य प्रकास का समाय माना जाना चाहिए। इसलिए यदि एक प्रकास मी हो तो कोई स्थकार येव नहीं रहता। 'ध्यक्षान' में मी सन्तर्वस्तु के रूप में कोई जब प्रमाय नहीं होते, सदा मनुष्यों की मीड़ के तितर-बितर होने का सादस्य जन पर लागू नहीं होता।

स्थासतीर्थं की उपरोक्त झालोजना का उत्तर देते हुए मधुतूदन कहते हैं कि उनका यह तर्क कि वो 'कल्पिन' झबदा मानांकक है उसकी 'प्रतीति' के झतिरिक्त कोई क्ता नहीं है (प्रतीति-मान-वरीररन) मतत है, क्योंकि, विवादगत उदाहरएं में जबकि तर्क यह बताता है कि प्रत्यक-कर्ता एवं प्रत्यक्ष विषय का स-व्यन्त ऐसा निर्पर्क है कि प्रत्यक्ष बस्तुएं मिध्या के स्रतिरिक्त सन्य कुख नहीं हो सकनी तब प्रत्यक्षीकरण यह बताता है कि प्रत्यक बस्तुए तब भी बनी रहती हैं जब उनका प्रत्यक्ष नहीं किया जाता। प्रत्यक बस्तुस की निरन्तरता सनुभव द्वारा सुप्रमाणित है भीर रजत के भागक प्रत्यक के सदस करियत नहीं मानी वा सकती।

फिर मी यह धापित की जा सकती है कि जीवे "परोधा" कान में "कृति" को स्वीकार करने की कोई धावस्यकता प्रतीत नहीं होती, जैते धपरोक प्रत्यक्ष में भी वृत्ति के बिना विषय की धावस्यकता प्रतीत नहीं होती, जैते धपरोक प्रत्यक्ष में भी वृत्ति के बिना विषय की धावस्यक्त चैतन्य के बाती है, क्योंकि उनमें मी एक परोक्ष "कृति" के माध्यम से धनिव्यक्त चैतन्य के बारा प्रकाश होता है। "यह तक करना गलत है कि पृक्ति वोनों उदाहरणों में धायध्यक्त का "सारतत्व" बुद्ध चैतन्य होता है धावस्यक्त स्वत्यक्त का प्रवासक के प्रमुख्त एता प्रत्यक्त का माध्यम की चौत हो धावस्यक करेगा, क्योंकि धपरोक्ष प्रत्यक्त की स्वत्य के पृक्त प्रत्यक्त की स्वत्य के प्रत्यक्त की स्वत्य के प्रत्यक्त कर स्वत्यक्त कर स्वत्यक्त कर स्वत्यक्त कर स्वत्यक्त का स्वत्यक्त की स्वत्यक्त की स्वत्यक्त की स्वत्यक्त में अपन्यक्त कर स्वत्यक्त में विषय मान की व्यत्वक्त क्ष्म में धावस्यक करता है। ज्ञान की परोक्षता ध्रयस धपरोक्षता विषय के विविद्य स्वक्ष्य पर निर्मर करती है, निक बोनों उचाहरणों में वृत्ति के विविद्य के विविद्य स्वत्यक्ष पर निर्मर करती है, निक बोनों उचाहरणों में वृत्ति के विविद्य के विविद्य के विविद्य स्वर्क पर निर्मर करती है, निक बोनों उचाहरणों में वृत्ति के विविद्य के विविद्य स्वर्क पर निर्मर करती है, निक बोनों उचाहरणों में वृत्ति के

परोक्षस्यनेऽपि परोक्ष-वृत्युपरक्त-वैतन्यस्य इव प्रकाशकत्वात् ।

<sup>-</sup>महैत-सिद्धि, पृ० ४८०।

विधिष्ट क्पान्तरहों पर, धौर न दोनों झान के दो विभिन्न वर्ग माने जा सकते हैं, स्वॉकि इत साम्यता पर 'यह वही मनुष्य है जिसे मैं जानता वा' नामक खंझान प्रपना प्रमिज्ञान में, जहाँ परोख एवं प्रपरोख जान का निश्वस्य प्रतीत होता है, एक ही ज्ञान में दो विभिन्न वर्गों के संज्ञान की सबुक्त प्रक्रिया का समावेख होगा, जो स्पष्टतः खबुक्त है।

यह प्यान में रसना नाहिए कि 'वृत्ति' स्वयं में एक ऐसी प्रक्रिया मात्र है सिससे नैवन प्रमिन्नयित निर्मित नहीं हो सकती, 'वृत्ति' चुढ़ चैतन्य के साहस्यं के द्वारा धर्मध्यक्ति को प्रेरित कर सकती है, न कि केवल धरने द्वारा। यह मानना गलत हैं कि एक सकर्मक प्रक्रिया (वेंसे कोई कहता है कि 'मैं घट को जानता हैं) भीर एक धक्मंक प्रक्रिया (वेंसे कोई कहता है 'घट चैतन्य में प्रकट हुधा है') में कोई भेद नहीं होता, क्योंकि धरपेका एक परोक्ष विश्व का समावेश होने के नाते उक्त मेद प्रमुख द्वारा मानी प्रकार प्रमाधित होता है। किन्तु एक ही 'वृत्ति' को एक ही समय में सकर्मक धौर प्रकर्मक दोनों नही माना जा सकता, यदापि मित्र एवं धनिक परिवर्धित में एक प्रक्रिया सकर्मक धौर धक्मंक धौर धक्मंक धौर हो माना जा सकता, यदापि मित्र एवं धनिक परिवर्धित में एक प्रक्रिया सकर्मक धौर धक्मंक धौर धक्मंक धौर हो माना जा सकता, यदापि मित्र एवं धनिक परिवर्धित में एक प्रक्रिया सकर्मक धौर धक्मंक धौर हो कही हो। है। सक्ता है। स्वृत्तव के ऐसे उदाहरएगें की व्यावस्था में धनित स्वर्धित धीरिक क्या में 'वृत्ति' के एक विषेष क्यान्तरा एक भी जानी चाहिए कि चुढ़ चैतन्य प्रतिति के क्या में 'वृत्ति' के एक विषेष क्यान्तरा एक भी जानी चाहिए कि चुढ़ चैतन्य प्रतिति के क्या में 'वृत्ति' के एक विषेष क्यान्तरा के भाष्यम से प्रतिक्था

पुनः, प्रतिपक्षियो डारा यह तर्क किया जाता है कि शुद्ध चैतन्य विषय को प्रमिक्ष्यक करता है, घौर फिर मी यह मानने की कोई सावस्यकता नहीं है कि 'फ्ला:-करएं' बारीर के बाहर गमन करता है एवं विषय के सम्पर्क में बाता है। धगरोक एवं परोक्ष जान के अन्तर को समुचित क्याक्या विषिक्ष प्रकार की परोक्ष सम्बद्ध अपरोक्ष प्रक्रियाओं की मान्यता के आवार पर की जा सकती है, जिनके माध्यम से प्रत्येक रहा। में चैतन्य अमित्र्यक होता है, क्यांकि जिसा प्रकार परोक्ष जान में 'प्रमतः करएं-कृत्त' का विषय से कोई वास्तविक सम्पर्क नही होता, किन्तु फिर भी जान को उत्तर्वक करने बाले उपयुक्त कारणों की उपस्थित के द्वारा जान सम्मव होता है, उसी प्रकार विषयों के अपरोक्ष जान की अवस्था करने में वैसी ही ब्यास्था प्रस्तुत की जा सकती है। इतका त्यार यह है कि खंकरवादी यह नही मानते कि 'प्रत-करएं-कृत्ति' को विषय का साकार प्रहण्ड करना चाहिए, किन्तु वे निरुष्य ही उक्त 'वृत्ति' को विषय का साकार प्रहण्ड करना चाहिए, किन्तु वे निरुष्य ही उक्त 'वृत्ति' को प्रपरिहार्य मानते हैं। अपरोक्ष जान में विषय एवं 'वृत्ति' में एक वास्तविक संपर्क स्थापित होना चाहिए। यदि 'वृत्ति' एक उदाहरण विशेष में उक्त प्रकार से स्थापित होना चाहिए। यदि 'वृत्ति' एक उदाहरण विशेष में उक्त प्रकार से

परोक्ष वैलक्षण्याय विषयस्याभिष्यक्तापरोक्ष-चिद्परागैव वक्तव्य: ।

<sup>-</sup>बही, पृ० ४६२।

किमानित होती है, तो स्तका वह वर्ष नहीं होता कि चैतन्य को अनुक्रुनित करने में वह वक्का धनिवार्य व्यापार होता है। इस प्रकार प्रकाशन में प्रकाश किरण का धारार यह है कि वह अंकार का निवारण करती है, उसका विषय पर फैलता तो एक संयोग मान है।' केवल हत तन्य का कि 'पूर्ण' एक विषय के समर्थ में सा सकती है, यह प्रचं नहीं होता कि वह तदाकार हो जाती है, इस प्रकार, यदापि 'प्रमतःकरस्य-वृत्ति' प्रमृत तारे तक प्रका कर सकती है, स्वथा परमाण्ड्रीय रचना के विषयों के सम्पन्त में सा सकती है, तथा परमाण्ड्रीय रचना के विषयों के सम्पन्त में सा सकती है, तथा पर कहा हो जाते हैं। तिवार प्रकार परमाण्ड्रीय के सम्पन्त में स्थात का का स्वाप्त के स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं परमाण्ड्रीय के सम्पन्त में स्वयं का प्रवार्थ के सम्पन्त में स्वयं का प्रवार्थ के सम्पन्त में स्वयं का प्रवार्थ के सम्पन्त के स्वयं के सम्पन्त के स्वयं स्वयं के स्वयं स्वयं के स्वयं स्वयं के स्वयं स्वयं के हो पत्त निक्र कारण 'वृत्ति' उनने तत्तकार हो सकती थी। पर्य-वर्णन्त की दशा को 'प्रनतःकरस्य-वृत्ति' स्वयं के हारा विषय के सम्पन्त में माती है, ऐसा कोई मितवन्य नहीं है कि 'प्रनतःकरस्य' केवल चलु के हारा ही निर्यंगन कर तथा प्रवार्थ हिन्दयों के हारा नहीं। 'प्रह एक कि एक्खा, देव यादि प्रया मानविक व्यापारों की वशा में 'प्रनतःकरस्य' के बाह्य प्रवारन की की कोई कल्यन नहीं की गई है सर्व हीन है, क्योंक इन दशाओं में प्रयक्ष की स्वार के प्रवार का स्वार्थ की स्वरं हीन है, क्योंक इन दशाओं में प्रयक्ष की स्वरं के स्वरं के सम्य के समान सावरस्य के दर नहीं किया जाता।

ममुद्दारन का प्रावह है कि तकन बस्तुओं को प्रस्थितक करने वाला प्राधार प्रथम 'अधिकान तेवन' विषयों हो निष्या प्रारोपर के ह्वारा सम्बंधित होता है। यह स्वय-प्रकाशक तथा बस्तुतः उनसे सम्बंधन सर्व विषयों को प्रस्थितक कर तथा है। यह स्वय-प्रकाशक करने का प्रवाद होता है तथा उसकी प्रभिन्न के किये 'इति' की प्रतिक्या प्रतिवाद मानी वाती है। परोज ज्ञान की प्रभिन्न के नियों 'इति' के प्रावक्त करता है, प्रोर प्रपंत अध्यक्त करता है, प्रोर प्रस्थक की रहा में 'बुति' के साकार में प्रस्थित करता है, प्रोर प्रपंत का प्रयाद की रहा में 'बुति' के सम्बंध के 'अक्षान' का प्रावरण हुर हो जाता है, क्योंकि विषयों तक पहुँचने के लिए 'बुति' का विस्तार होता है। प्रनः एक परोक्ष ज्ञान की रखा में एक मानसिक प्रवस्था का ज्ञान होता है। कि एक विषय का, जबकि प्रपर्ता अपने अपने के स्वाह में प्रस्ता की स्वाह में प्रस्ता नहीं होता।

विषयेषु ग्रमिब्यक्त-चिदुपरागे न तदाकारस्व-मात्रं तन्त्रम् ।

<sup>-</sup>प्रदेत-सिद्धि, पृ० ४८२।

न च स्पाइंत-प्रत्यक्षे चलुरादिवत् नियत-गोसकद्वारा-भावेन ध्रन्तःकरण्-निर्गरय योगादावरणाभिमवानुपपत्तिरिति वाच्यम् । सर्वेत्र तत्तिर्दिन्द्रयाधिष्ठानस्यैव द्वारत्य-सम्भवान् । —वही, पृ० ४५२ ।

व्यासतीयं की इस बापिल का कि 'बन्त-करएा' का स्कून मौतिक विषयों से तदाकार बनने का विचार करना सबुक्त है, मचुत्रुवन यह उत्तर देते हैं कि 'एक बिवय से तदाकार बनने का प्रयं 'वृत्ति' की उस 'प्रशान' के बाबरफ्त को पुर करने की योग्यता मात्र है जो विषय के प्रतिचल की स्वीकृति के मार्ग में बावक घी,' इस प्रकार 'वृत्ति' का क्यापार केवन 'प्रशान' के सावनरण को हटाने में निहित होता है।

यदि बुद्ध चंतत्य ज्ञान से बावृत्त है, तो कोई ज्ञान सम्मव नहीं हो सकता। इस प्राप्ति का मधुपुत्न यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि ज्ञान अपनी व्यापक सपूर्णता में बना रह सकता है, तथापि वृत्ति के साहचये से उसका एक भंग्र निराहत हो सकता है, भीर इस प्रकार विषय प्रकाशित हो सकता है।

अथातार्थ की इन प्राप्ति का कि घतिम मोळ-प्रदायक जान मे हम यह घाषा करेंगे कि 'धनतःकरल' को विषय के इस में बहुम् का धाकार ग्रह्ण करता चाहिए तो निरदेश के स्वांक बहुम् निरक्ता चाहिए तो निरदेश के हम तो कि बहुम् जो धनितम धपरोल जान का विषय होता है, पूर्णतः निरुपाधिक होने के कारण, किसी विशेष धाकार के बाहुक्य मे प्रकाशित नहीं होता । शांचारिक प्रमुचन में विषयों की धनियम स्वाचित वाहिक्य में प्रकाशित होती है, जबकि उक्त धनितम धनियक्त का विषय उपाधि-रहित होने के कारण किसी जी धाकार का धमाव उसके प्रति कोई धापित नहीं हो सकता, उसका 'धकान' पूर्ण निवृत्ति में कीसत होता है धीर हस प्रकार मोल को उस्पन्न करता है। युक्त, यह धापित वर्षेत्र है कि यदि सुर्पात सबस्या में 'धनक-करण' को जिल्य हो जाता है वह प्रवित्त करना हो तो पर वह नवीन 'धनतःकरण' हो जायगा धौर इस प्रकार पूर्वोक्त 'धनत-करल' के सब्धिविक्रमां की नवीन 'धनतःकरण' हो जायगा धौर इस प्रकार पूर्वोक्त 'धनत-करल' में का का का प्रति हो हो पर वह नवीन 'धनतःकरण' हो जायगा धौर इस प्रकार पूर्वोक्त 'धनत-करल' में का कारण 'धनतःकरण' के धविध्विद्यता नहीं रहेगी, क्योंकि मुद्दान्त में मी कारण 'धनतः-करण' के धविध्विद्यता नहीं रहेगी, क्योंकि मुद्दान्त करलं के स्व चित्र करा होता है। इस 'धनतःकरण' का स्वक्त करण होता है।

पुन:, यह प्रायत्ति प्रवेष है कि 'प्रम्तःकरला' से कोई प्रतिविम्ब नहीं हो सकता क्योंकि उत्तका न तो स्थाक कर होता है (उत्युवाकरणवाय) और न इसवा होती है, स्वोंकि प्रतिविद्यन के नियं को घनिवास प्रवत्ता मानी वा सकती है वह इस्यता प्रवत्ता क्य का होना नहीं है, वरन् पारर्वाञ्चल का होना है, धौर ऐसा पारर्वाञ्चल 'प्रम्तःकरल' प्रथम उत्तकी 'पृत्ति' में है, यह स्वीकार किया जाता है। 'प्रज्ञान' भी जो तीन 'पुष्टा' में कि तहा बचा है, प्रतिविद्य के योग्य माना जाता है व्योंकि उसके तत्वों में 'सत्व' का समावेश होता है।

श्रस्तित्वादि तद्विषयक-व्यवहार-प्रतिबन्धक-क्षान-निवर्तन-योग्यत्वस्य तदाकारत्व-क्पत्वात् । —वही, पृ० ४८३ ।

यह बापित सबैध है कि जैसे एक प्रकाश-किरए। व केवल रंगों को समिन्यक करती है वरण सन्य बतुओं को भी, वेरे युद्ध वैतन्य को भी न केवल विषय के इन्य को सिक मार जैसे उसके प्रत्य पुराणे को भी समिन्यक करना चाहिए, क्योंकि युद्ध वैतन्य, किसी ग्रुग प्रथान तक्षण के सम्पर्क में नहीं होता, सतर्थ केवल उन्हों लक्षणों को धरिम्यक कर सकता है जो उसके समक्ष पारदर्शी 'वृत्ति' के साध्यम से प्रस्तुत किसे आते हैं, इसीलिए, 'यह रवत हैं 'अम के उदाहरएए में 'यह' के संज्ञान में निहित वृत्ति मिष्या रजत को प्रत्यक्तक नरी करती, जिसकी सनिक्यों के एक पृषक् पृति' के स्थान कर करना पड़ता है। किन्तु 'सन्तःकरए-वृत्ति' युद्ध वैदान के प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के ज्ञाति के प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के ज्ञाति के प्रतिवद्य के प्रतिविद्य के निव्या है। सत्य अपन्य कर सकती है, सत्य व उस उस प्रतिविद्य के जिस मिष्य प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के ज्ञाति क्या प्रतिविद्य के ज्ञाति क्या के प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के ज्ञाति क्या प्रतिविद्य के प्रतिवृद्ध के प्रतिविद्य के प्रतिवृद्ध के प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के प्रतिवृद्ध के प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के प्रतिविद्य के प्रतिवृद्ध के प्रतिविद्य के प्रतिवृद्ध के प्या विद्य के प्रतिवृद्ध के प्रति

यद्यपि बहुन्त् किसी भी बस्तु से पूर्णतः घरन्यस्य होता है, तथापि सकल वस्तुघो का उस पर मिन्या आरोपएस होता है, बहु 'माया' की सहावता के बिना उन सबको सन्धियक्त कर तकता है, इस प्रकार बहुन्त् की सर्वक्रता तं चना प्रवेश है कि युद्ध बहुन्त् सर्वक नहीं हो सकता।

'धक्रान' के धावरता के नष्ट होने के सन्वय में यह निरंश किया जा सकता है कि एक ध्यक्ति के 'ध्वान' की धावरता-चिक्त का नाश उसकी वृत्ति की प्रक्रिया से नष्ट हो जाती है, धतएव केवल वही प्रत्यक कर सकता है, तथा ऐसा कोई घरण व्यक्ति नहीं, जिसके लिए धावरता-चीक्त का नाश नहीं हो थाया है। धावरता-चीक्त धीर ध्यक्तार में यह धन्तर है कि धावरता-चीक्त का विषय एव प्रत्यक्ष-कर्ता दोनों से सम्बन्धार होता है, जबकि धंवकार केवल विषय से सम्बन्धित होता है, अतएव चब ध्यक्तार का नाश होता है, तब समी देख सकते हैं, किन्तु धावरता-चीक्त की दशा में पंचा नहीं होता। इसके दश धानोचना का खच्चन हो जाता है कि यदि एक ही 'धवान' है तो एक विषय के प्रत्यक्ष से तत्काल मोश की प्रान्ति हो जानी चाहिए।

यह भ्रातीचना भ्रवेध है कि चू कि झान से श्रानिवायंत: धज़ान का नाश होगा चाहिए, मत: रजत के अम का नाश नहीं हो सकता, क्योंकि झान धज़ान का नाश कैवल भन्त में जाकर करना है, अर्थानु केवल मोक्ष से पूर्व । शक्ति का झान भ्रसीम

जीव चैतन्यस्याधिष्ठान-चैतन्यस्य वाभेदाभिव्यक्ताबंत्वाद् वृत्ते. ।
 ग्रन्यथा मयेदं विदितमिति सम्बन्धावमासो न स्यात् ।

<sup>-&#</sup>x27;बर्द्धत-सिद्धि' प्र० ४८५ ।

चंतन्य को ब्रावृत्त करने वाले मूल भावान' की ब्रावरण-विक्ति को नष्ट नहीं कर सकता, क्रिन्तु केवल ससीय चेतन्य को ब्रावृत्त करने वाले सापेख भावान' को नष्ट कर सकता ब्रीर इस प्रकार सीमित विषयाकृतियों में ब्रयःस्थित चंतन्य का ब्रावरण करता है तथा भिष्या रक्तर एवं बुक्ति के ब्रावृत्त के व्याचात को उत्पन्न करता है।

यह घापति सबंधा निर्यंक है कि 'सजान' जड़ पदावों को धावृत नहीं कर सकता क्योंकि वे प्रकाशमय नहीं होते, क्योंकि शंकरवादि सिद्धान्त यह मानकर नहीं बलता कि 'सजान' जट पदायों को प्रावृत्त करता है। उनका मत है कि मानरण गुद्ध बैतन्य से सम्बद्धित होता है निस्त पर सर्व जड़ हिम प्रम्या उंग से धारोपित होते है। प्रविच्छान-बैतन्य को धावृत्त करने नाला 'सजान' जड़ विषयों को मी धावृत्त करता है जिनका धरितन्व बैंकि पर पारोपित होने के कारण उसी पर निर्मेर होता है।

यह मापलि सर्ववा निर्पंक है कि 'प्रज्ञान' जह पदार्थों को धावृत नहीं कर सकता क्योंकि के प्रकासमय नहीं होता एवं वकरवादी सिद्धान्त यह मानकर नहीं चलता कि 'प्रज्ञान' जह पदार्थों को धावृत्त करता है। उनका सत है कि सावराण उद्ध चैतन्य से सब्बन्धित होतो हैं। प्रिथ्ठान-चैतन्य को धावृत्त करने वाला 'प्रज्ञान' जह विषयों को भी धावृत्त करने वाला 'प्रज्ञान' जह विषयों को भी धावृत्त करने हो जनका प्रतित्व उप पर धारोपित होने के कारण उद्यों पर निर्मंद करना है। जब 'वृत्ति' के द्वारण उद्यों पर निर्मंद करना है। तम वृत्ति के द्वारण उद्यों पर निर्मंद करना है। वन वृत्ति के द्वारण करना है। तम उपका प्रकृत वृत्ति के स्वारण वृत्ति वृत्ति के स्वरण उद्यों पर निर्मंद करने प्रवृत्ति के स्वरण उद्यों पर निर्मंद करने प्रवृत्ति के स्वरण के स्वरण उद्यों के स्वरण उद्यों के स्वरण उद्योग के स्वरण उद

पुनः, प्रज्ञान की प्रवस्थाओं को उन्नसे एक-क्य समझाना वाहिये तथा जो ज्ञान सज्ञान से विषद्ध होता है वह उन प्रवस्थाओं से मी विषद्ध होता है, प्रतः 'प्रज्ञान' के सवस्थाएं जान के हारा मनी प्रकार ध्रपरोक्षतः हुए की जा सकती हैं। यह धापित प्रवेष हैं कि 'प्रजान' प्रवेष होते हैं, धोर यदि एक 'प्रज्ञान' दूर भी हो जाय तो ज्ञान की प्रश्नियक्ति में बापक धन्य 'प्रज्ञान' सेच रहेंगे, न्योंकि जब एक 'प्रज्ञान' दूर होता है तो उसका दूर होना ही प्रश्नियक्ति को धावृत्त करने के लिये धन्य 'प्रज्ञान' के विस्तार में बाधक बन जाता है, प्रताएव जवतक प्रथम प्रज्ञान निवृत्त रहता तबतक विषय की प्रस्थिति मी बनी रहती है।

एक यह भ्रापत्ति प्रस्तुत की बाती है कि चैतन्य स्वय निरवयव होने के कारण उसकी कुछ विषयानुकृतियों के सम्बच में ही भ्राधिक भ्रक्तियांक नहीं हो सकती। यद यह माना जाय कि ऐसी सोपाधिक भ्रक्तियांक विषयाकृतियों के उपाधिकरण के

तथ्य के सम्बन्ध में सम्भव है, तो निश्चित विषयाकृतियों के बस्तित्व से पूर्व कोई 'प्रज्ञान' नहीं हो सकता, प्रयात प्रज्ञान निविचत विषयाकृतियों से सहावसानी होने के कारए। एक पूर्व अवस्था के रूप में अस्तित्व नहीं रख सकता । इसका मधुमुदन यह उत्तर देते हैं कि विषयाकृतियाँ खुद्ध चैतन्य पर आरोपित होने के कारण एव पश्चादक्त उनका समिष्ठान होने के कारण किसी भी विषयाकृति के सम्बन्ध में चैतन्य की समिन्यक्ति व्यविष्ठान-चैतन्य पर बारोपित उक्त विषयाकृति की मिथ्या सच्टि के सम्बन्ध में 'ब्रजान' के निवारण पर निर्मर करती है। 'सज्ञान' स्वय विषयाकृति को निर्मित नहीं करता, इसलिये 'बजान' का निवारए। पृथक् एव स्वतंत्र सत्ताओं के रूप मे विषयाकृतियों से सम्बन्ध नही रखता, किन्तु अधिष्ठान-चैतन्य पर आरोपित उक्त विषयाकृतियो की सृष्टि से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार कोई बापित नहीं हो सकती, एक पूर्व-ब्रबस्था के रूप में 'स्नज्ञान' का सस्तित्व ऐसा है कि जब सहित विषयाकृतियो की सृष्टि होती है, तब इनके ऊपर का बाबरण उनके ज्ञान को उत्पन्न करने वाले 'बत्ति' सम्पर्क से दूर कर दिया जाता है। स्थिति यह है कि यद्यपि अधिष्ठान-चैतन्य उस पर आरोपित विषयाकृतियों को समिन्यक्त करता है, तथापि यह समिन्यक्ति केवल उस प्रत्यक्ष-कर्ता के लिये होती है जिसकी 'वित्' विषय के सम्पर्कमे बाती है न कि प्रत्य व्यक्तियों के लिये। अभिव्यक्तिकी शर्तयह है कि प्रत्यक्षकर्तामें अधःस्थित चैतन्य, 'वृत्ति' एवं विषयाकृति का मानो विषय पर झारोपित 'वृत्ति' के द्वारा नादात्म्य हो जाता है। एक विशेष प्रत्यक्षकर्ता के लिये किसी विषय की ग्राभव्यक्ति का त्रिपक्षीय एकरव एक सनिवार्य सतं होने के कारण समिष्ठान-चैतन्य द्वारा प्रकाशित किया गया विषय प्रन्य प्रत्यक्षकत्तांकों के निये क्षियक्त नहीं होता ।

## माया के रूप में जगत्

स्थासतीर्ष ने इस शकरवादी सिद्धान्त का नण्डन करने का प्रथल किया कि स्थाप एक मिप्प्या सारोपण है। उनका तक है कि यदि जगत एक मिप्प्या झुण्डि है तो उसका एक ऐसा प्रथिप्छान होना चाहित्रे जो सामान्यतः झात होना चाहित्रे , किन्तु फिर भी जहाँ तक उसके विशेष सक्षणों का सम्बन्ध है सक्षात होना चाहित्रे। लेकिन ब्रह्मन् के कोई सामान्य तक्षण नहीं होते, धौर चूँकि वह विशिष्ट विशेषताधी से रहित होता है, सतः ऐसा कोई भी कपन समीकार नहीं किया जा सकता कि वह एक ऐसी सत्ता है जिसकी विशिष्ट विशेषताएं सज्ञात होती हैं। दसके प्रति मधुसूदन

प्रथिष्ठानस्य सामान्यस्य ज्ञाते सस्यक्षान-विशेषवाबस्य प्रयोजकस्वात् । ब्रह्मस्यः सामान्य प्रमंपितस्यादिना तावत् ज्ञातस्यं न सम्मवति । निस्सामान्यस्यात् । प्रज्ञात-विशेषवायं य न सम्मविति निविशेषस्यांगीकारात् ।

<sup>&#</sup>x27;न्यायामृत' पृ॰ २३४ पर श्रीनिवास का 'न्यायामृत-प्रकाश' ।

का उत्तर यह है कि भ्रम के अधिष्ठान के सामान्य लक्षण का ज्ञान अपरिहार्य नहीं होता, भावदयक केवल इतना ही है कि विषय के विशिष्ट ब्यौरे के बिना उसका यथार्थ स्वरूप ज्ञात होना चाहिये । बह्यन् के उदाहरण में उसका स्वरूप स्वयं-प्रकाश मानन्द है, किन्तु उस मानन्द के न्युनाधिक विशेष लक्षण तथा उसके गुरा में परिवर्तन सज्जात है। किन्तु एक धन्य प्रत्युत्तर भी दिया जा सकता है, क्योंकि मधुमुदन कहते हैं कि यदि हम बह्मन् के कल्पित सक्षणों के अनादि स्वरूप को मान से तो 'सन्योग्याश्रय' दोव में फंसे बिना बहान के एक कल्पित सामान्य सक्षरण एवं विशेष सक्षरणों की सकल्पना की जा सकती है। सत् एवं बानन्द के रूप में ब्रह्मन के लक्षरोों को सामान्य माना जा सकता है, प्रानन्द की पूर्णता को विशेष माना जा सकता है। प्रतः सकल बस्तुमों में पाया जाने वाला धस्तित्व ग्रथवा सत् का सक्षण बहुानु का एक सामान्य लक्षण माना जा सकता है जिसके बाबार पर बानन्द के पूर्णत्व के रूप में बहानू के विशेष लक्षरण के श्रमाव में भ्रमों की सृष्टि होती है। इस उत्तर की अपर्याप्तता स्पष्ट है, क्योंकि मापत्ति इस बाधार पर उठाई गई थी कि सर्व अम बापने स्वरूप में मानसिक होते हैं, मीर केवल उन विशेष वस्तुमो की सम्भान्ति के द्वारा उत्पन्न होते हैं जिनमें सामान्य एव विशेष दोनो लक्षण पाये जाते हैं, जबकि निरपेक्ष होने के कारए। बह्मन् उन सर्व लक्ष्मां से रहित होता है जिनके बाधार पर भ्रम सम्बद हो सके।

इस प्रमण में व्यासतीयं बागे निर्देश करते हैं कि यदि यह सुफाव दिया जाय कि जब एक भ्रामक प्रत्यक्ष के विपरीत कोई ज्ञान नहीं होता तब भ्रम बना रह सकता है, तथा 'सज्ञान' स्वयं मे जगत-प्रपच के भ्रम के विरोध में नहीं होता बल्कि 'वृत्ति' के रूप में उसके झाकार के विरोध में होता है, तो उत्तर है कि चूकि 'झड़ान' की यह परिमावा है,- 'वह जो चैतन्य के विरोध में हो '-इसलिये 'धजान' को चैतन्य के विरुद्ध न मानने वाले उपरोक्त मत के अनुसार हमारा 'श्रज्ञान' का 'श्रज्ञान' के रूप में कथन करना न्याय-सगत नही होगा, क्योंकि यदि वह ज्ञान के विरोध में नही है, तो उसे 'भज्ञान' कहलाने का कोई अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त, आत्मन् और अनाश्मन्, प्रत्यक्ष-कर्ता और प्रत्यक्ष विषय, एक दूसरे से इतने मिन्न हैं कि उनमें सम्भान्ति की कोई गुँजायश नही होती। इस प्रकार बेदान्ती स्वयं यह कथन करते हैं कि उन सत्ताओं को पहचानने में सशय की कोई सम्मावना नहीं हो सकती जिनमें अवकाशिक प्रयक्ता हो ब्रयवा जिनके सार-तत्व सर्वधा मिन्न हो । यथा, वक्ता एव श्रोता की पृथकता को सरलता से पहचाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, जबतक अम का मधिष्ठान दृष्टि से म्रोमल न हो, तबतक भ्रम नहीं हो सकता, और शुद्ध चैतन्य सदा स्व-ग्रमिव्यक्त होने के कारण उसका स्वरूप कभी खिप नहीं सकता, ग्रतएव यह कल्पना करना कठिन है कि भ्रम कैसे उत्पन्न हो सकता है। पून:, भारमन् जो बह्मन्-स्वरूप है, जगन-प्रपच के उन विषयों से कदापि सम्बंधित नहीं होता, जो हमारे लिए धनात्मन के

रूप में सदा स्पष्ट होते हैं, और ऐसा होने के कारए। उक्त विषयों को भारमन पर भारोपित कैसे माना जा सकता है, जैसा हम रजत के भ्रम के उदाहरण में मानते हैं. को सदा 'इदं' के रूप में प्रपने प्रविष्ठान से सम्बंधित होती है ? इस स्थिति की न्यायोखितता यह कहकर सिद्ध नहीं की जा सकती कि जगत-प्रपंच के सब विषयों का सत से साहचर्य होता है जो बहान का स्वरूप होता है, क्योंकि इसका तास्पर्य यह नहीं होता कि ये विषय अपने अधिष्ठान के रूप में सत् पर आरोपित नहीं होते, क्योंकि इन उदाहरएों में रंग की मौति सत् विषयों के गूए के रूप में प्रतीत होता है, किन्तु विषय सत पर प्रारोपित मिथ्या गूर्गों के रूप में प्रतीत नहीं होते । यदि विषयों को सतु पर एक मिथ्या ब्रारोपरा माना जाय तो वे सत् पर ब्रारोपित मिथ्या गूरों के रूप में ही मासित होते । न यह कहा जा सकता है कि 'सत्' जागतिक विषयो में सम: स्थत एक स्वय-प्रकाश सत्ता है, क्योंकि, यदि ऐसा होता, तो इन जागतिक विषयो को शुद्ध चैतन्य के साथ अपने साहचर्य के द्वारा स्वय को अपरोक्ष रूप से अभिक्यक्त कर देना चाहिये था, ऐसी स्थिति में 'हुत्ति' को मानना सर्वथा धनावश्यक होता । यह कहना भी गलत है कि किसी विषय की अभिव्यक्ति से यह लक्षित होता है कि वह विषय श्वभिष्यक्ति के तथ्य पर एक बारोपरा है, क्योंकि प्रचादक्त उस विषय के सम्बन्ध में केवल गुरगात्मक रूप मे प्रतीत होता है। कभी-कभी यह सभाव दिया जाता है कि व्याख्या के लिये यथार्थ अधिष्ठान का ज्ञान आवश्यक नहीं होता. क्योंकि भ्रम की ब्याख्या के लिये उक्त धांधिष्ठान का एक मिथ्या प्रत्यय भी यथेष्ठ होता है, धातएव यदि प्रत्यक्षीकरण में यबार्य अधिष्ठान (ब्रह्मन्) स्वष्ट न भी हो तो यह अम की सम्भावना के प्रति कोई वैध आपत्ति नहीं है। किन्तु इस मत का उत्तर यह है कि फिर तो पूर्व भ्रम की धनन्त घटनाएं वर्तमान भ्रम की व्याख्या करने में समर्थ होगी तथा सर्व भ्रामक ग्राभास के ग्राधार-सत्य के रूप में ब्रह्म के ग्रस्तित्व को स्वीकार करने में कोई धर्य न होगा, इस प्रकार हम बौद्धों के शुन्यवाद में प्रविष्ट हो जाएंगे।

यदि जगत-प्रपंच, जिसे निभ्या माना जाता है, कारखाता-जन्य सामध्यं का प्रयोग कर सकता है भीर सन् की मींति भाचरखा कर सकता है, जेंसा उन श्रृति-गटो से सुप्रमाणित होता है जो भारमन् से भाकाश की उत्पत्ति का कवन करते हैं, तो यह वप्यटत: साधारख भमों से सिक है, जिनमें ऐसी कारखात-जन्य सामध्यं (भन्ने-क्रिया-कारित्व) नहीं होती। इसके भातिरिक्त, खुक्ति-ज्वत के साइक्ष्य का अनुसरख करते हुए-जो रजतकार की रजत के सम्बन्ध में निष्या मानी जाती है-हम यह भाषा कर

षटः स्फुरति तस्य च स्फुरलानुमवत्वेन घटानुभवत्वायोगात् ।

<sup>-</sup>म्यायामृत, पृ० २३६ ।

वही, पु० २३७ छ ।

सकते हैं कि जगत-प्रशंच केवल किसी धन्य यथार्थ जगत-प्रश्च के सम्बन्ध में ही मिथ्या हो सकता है, किन्तु ऐसी कोई यथार्थ सत्ताएं हमें ज्ञात नहीं हैं।

पुनः, 'विवरए' में यह सुकाव दिया गया है कि यद्यपि ब्रह्मन् एव अम में कोई बास्तविक साहरय नहीं है, तथापि यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है कि यथार्थ सादृश्य के बिना भी किसी कल्पित सादृश्य के द्वारा बह्मन पर आश्रित जगत-भ्रम षटित होता है। किन्तू इनके उत्तर में यह निर्देश किया जा सकता है कि ऐसा कल्पित साइच्य केवल 'अविद्या' के कारण ही माना जा सकता है, किन्तु अविद्या' 'स्वयं करिपत होने के कारण किसी झन्य भ्रम पर बाध्यत होगी, और ऐसा भ्रम किसी झन्य साहत्व्य की अपेक्षा रक्लोगा तथा इस प्रकार एक दृष्ट चक्र का निर्माण हो अप्रथगा। यह सुकाव दिया जाता है कि भ्रम सादृष्य के बिना मी सम्मव होते हैं, जैसाकि लाल स्फटिक के उदाहरए। में, किन्तु उत्तर में यह कहा जा सकता है कि, प्रथमत: 'लाल स्फटिक'स्फटिक मे लाल रंग के प्रतिबिम्ब का एक उदाहरला है, श्रतएव भ्रम के कारण के रूप में वह साहत्रय की बपेक्षा नहीं रखता, अविक बन्य सभी उदाहरणों में, जो उक्त स्वरूप के नहीं हैं, अम के लिये स्वमावतः किसी प्रकार के साहब्य की एक पूर्व अवस्था के रूप मे अपेक्षा होगी, दितीयत: यहाँ भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि लाल द्रव्य और स्फटिक द्रव्य के मध्य यह साह्य्य है कि वे दोवो एक ही द्रव्य से निर्मित हैं, तथा उस प्रकार का साहस्य ब्रह्मम् और जगत के मध्य मान्य नहीं है। पुन:, यह सुनिदित है कि किसी बाह्य दोष की प्रक्रिया के बिना कोई असत्य ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता क्योकि धन्यथा सकल ज्ञान स्वरूपतः धसत्य हो सकता है। इसी प्रकार ऐसे प्रत्यक्ष-कर्ता के बिना कोई भ्रम नहीं हो सकता जो असत्य ज्ञान एवं उसका बोध करने वाले मत्य ज्ञान दोनों के सम्पादन की क्षमता रखता हो और इसके लिये गरीर एव इन्द्रियो की उपस्थिति अपरिहार्य है। प्रनय की अवस्था में, पश्चिप 'सजान' हो सकता है, तथापि शरीर न होने के कारए न तो अस हो सकता है और न सत्य ज्ञान ।

यह मुफाव नहीं दिया जा सकता कि, जैसे सुक्ति-रजत के साधारण अभी में सापेक प्रस्तित्वसय साधारण निरीक्षण के दोशों को स्वीकार करना पढ़ता है, वैसे जगत-अम के साव्या सी ऐसे सापेक दोशों के मान्यता पर करनी पढ़ेगी। ऐसे सुफाव का उत्तर यह है कि खबतक कमत-अम के स्तर को निर्वारित नहीं किया जाता तबतक व्यावहारिक प्रस्तित्व रखने वाले अगत-प्रपंच को उत्तम करने वाले दोशों के स्तर का कोई प्रयं नहीं हो सकता। द्वैतवादियों की यह मानकर प्रत्यालोचना नहीं की जा सकती कि उनके पक्ष में नी दोशों, धारीर एवं इन्दियों की यहार्थाता की स्वीकृति तभी की जा सकती है जबके पक्ष में नी दोशों, धारीर एवं इन्दियों की यहार्थाता की स्वीकृति तभी की जा सकती है जबके पक्ष में मान्यत्व बात हो। तथा पश्चाहुक का ज्ञान पूर्वोक्त के ज्ञान पर निर्मर करता है, क्योंकि जगत की सरस्ता का ज्ञान प्रमुचन से सपरोक्ष रूप में प्राप्त किया जाना चाहिए, न कि इस प्रकार के तार्किक वाक्खल के हारा। यह भी निर्देश किया जा तकता है कि यदि श्रुक्ति-प्जत के साहस्य का सनुसरण किया जाय, तो चूंकि वहाँ दोयों का वही स्तर होता है जो अस के समिष्ठान, सर्वात शुक्ति के 'इसें' का, इसलिये जगत-अस में भी दोषों का वही स्तर होना चाहिए को समिष्ठान का है।

पुन: यदि दोषों को परम सत्य न मान कर केवल मिच्या माना जाय, तो यह स्वीकार करना पडेगा कि जगत में यवार्य दोष नहीं हैं, जिसका तात्पर्य यह होगा कि हमारा जगत-ज्ञान सत्य है। यह मान्यता कि दोष शरीर, इन्द्रियों ब्रादि सब मिथ्या है, यह अपेक्षा रखती है कि यह अन्य दोषों की उपस्थिति के कारण हैं, ये दोष अन्य बोधों पर निर्मर करने चाहिए, और इस प्रकार अनवस्था दोव उत्पन्न हो जाता है। यदि दोषो की कल्पना मनस में स्वतः स्फूर्त होती है तो ज्ञान की स्वतः-प्रामाण्यता का बलिदान करना पडता है। यदि यह आग्रह किया जाय कि 'अविद्या' या तो धनादि है प्रयवा भेद के प्रत्यय के समान बात्म-निर्मर एव ब्रयरोक्ष है इसलिये होई मनवस्था दोष नहीं होता, तो उत्तर यह है कि यदि मविद्या भारम-निर्मेर एवं भनादि है तो वह किसी भाश्रय भागवा जगत-भ्रम के ग्राधार बहानु पर ग्रपने 'मधिष्ठान' के रूप में निर्मर नहीं करनी चाहिए। पून:, यदि 'श्रविद्या' का अनुमद किन्हीं दोषो के कारल उत्पन्न न माना जाय तो वह असस्य नहीं माना जा सकता। किन्तु यह कल्पना करना कठिन होगा कि कैसे 'ग्रविद्या' कुछ दोवां के कारए। हो सकती है, क्यों कि फिर वह स्वय को उत्पन्न करने के लिये स्वय से पूर्व अस्तित्व में होगी। पुन:, यह भारता गलत है कि जगत एक अम है चंकि उसका बाध हो जाता है, क्योंकि बाध स्वय किर वाधित हो जाता है, इससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि जो ज्ञान बाध करता है वह स्वय बाधित हो जाता है।

जिस प्रकार रजत-भ्रम में भ्रम के स्रांचण्डान की उसी प्रकार की तता होगी है जैसी दोव की, उसी प्रकार जगत-भ्रम में भी भ्रम के साध्यान की उसी प्रकार की साध्ये का होगी चाहिये जैसी दोशों की, जिसका सर्थ यह होगा कि बहुएन भी साधेक हैं। इसके मतिरिक्त, यह कहना गजत है कि जगत-भ्रम के 'म्रांचण्डान का ज्ञान परम सरय है, जबकि दोशों का केवन वाधेक मतिरिक्त होता है, क्योंकि ऐसा मिन्न कर्नात तवतक न्याम-संगत नहीं होगा जबतक दोशों का बाथ नहीं हो जाता, जबकि उत्तर तवता वा चुका है कि बाय का प्रस्था स्वय मर्चेच है। यह नहीं कहा ज्ञान सकता कि दोशों के सिक्सारक में उनका बाथ निहित्त है, क्योंकि दोष का प्रस्था सम्प्या-त्य के प्रस्था के स्वयादक में उनका बाथ निहित्त है, इसके मितिरिक्त सर्व भागे में स्वयादक में उनका बाथ निहित्त है, इसके मितिरिक्त सर्व भागे में स्वयादक में उनका बाथ निहित्त है, इसके मितिरिक्त सर्व भागे में स्वयादक में उतका बाध निहित्त है, इसके मितिरिक्त सर्व भागे में स्वयादक में उतका बाद तिहत्त है, इसके मितिरिक्त सर्व भागे में स्वयादक में अपने का स्वयादक स्व

होता । इसिलये कोई कारल नहीं है कि यदि वगत अपन को अस माना मी वाय तो अस के सिन्धारत कर मने बहुन्द का जान उक्त अस को उदयक करने वाले दोष का निवारत करने में बसर्थ हो। अदा, जैसे बहुन्द करते हैं वेशे भी तरस हैं, यदि बन्धन पूर्णतः सिन्धारों होता तो कोई भी उनसे मुक्त होने का अयास नहीं करता, क्योंकि जो सबत् है वह सत् नहीं हो करता। पुनः, यदि बन्धन स्वय बहुन्द पर एक मिच्या धारोपए होता, तो यह साधा नहीं की जा सकती थी कि बहुन्द का अत्तर- अक्षायक अवस्था करका निवारत का अत्वर्धन का अत्तर- अक्षायक अस्तर करका निवारत करने में समर्थ होता। इसके धातीरक, यह मान्यता कि जयत-अपन अम है 'बहुन-कुमों' के यदिकांच मुनों द्वारा प्रत्यक वाधित हो जाती है, यथा, बहुन्द की यह एरिटवांच कि उत्तर की उत्पर्धन, स्थित धीर प्रत्य का कारता है। ' सत, हम विस्त हिस्टकोल से भी वेलें, यह मान्यता सर्वया तर्कहीन पाई जाती है कि जयत का क्याणार मिथ्या है।

मधसदन का यह तक जगत-भ्रम के उदाहरण के सम्बन्ध में भी सही है कि एक भ्रम तभी सम्मव होता है जब ग्राविष्ठान प्रपने विशेष सक्षराों के प्रति ही भाइत होता है, क्योंकि, यद्यपि बहान अपने शह सत स्वक्य में अभिव्यक्त रहता है तथापि वह अपने धानन्द के प्रशंतरव के स्वरूप में बावल रहता है। यह शर्त भी जगत-भ्रम के सम्बन्ध में लाग होती है कि भ्रम तभी सम्भव होता है जब भ्रम का बाध करने के लिए कोई ज्ञान विद्यमान नही होता. क्योंकि जगत-भ्रम को निर्मित करने वाले 'सज्ज्ञान' को वाधित करने वाला ज्ञान एक 'इति-ज्ञान' के स्वरूप का होना चाहिये। इस प्रकार जबतक ब्रह्मन के श्रद्ध स्वरूप का 'इस्ति'-ज्ञान नहीं होता तवनक जगत के ज्ञान को बाधित करने वाला भी कोई ज्ञान नहीं होता. क्योंकि शह चैनन्य स्वरूपत: 'भ्रज्ञान' के विरुद्ध नहीं होता । इस ब्रापति का कि प्रत्यक्षकर्त्ता एवं प्रत्यक्ष वस्तु, ब्राह्मन् एवं धनात्मन, का भेद उतना स्पष्ट है कि एक को गलती से दसरा नहीं समक्षा जा सकता. मध्सदन द्वारा इस मान्यता पर उत्तर दिया जाता है कि रजत-भ्रम के उदाहरण मे मी प्रस्तत 'यह' एवं अपस्तत 'वह (रजत) का मेद जात होता है और फिर भी अस हो जाता है। इसके प्रतिरिक्त, एक विशेष रूप में सकल्पित भेद किन्हीं दो सताग्री के प्रत्य रूपों में तादातम्य के बारोपल का खब्दन नहीं कर सकता, इस प्रकार, यद्यपि प्रत्यक्षकर्ता एवं प्रत्यक्ष वस्त, बात्मन एव बनात्मन, का विरोध इस विशेष रूप में बिल्कल स्पष्ट है, तथापि 'सत' एव 'घट' का भेद तनिक भी स्पष्ट नही हैं. क्योंकि 'घट' का प्रत्यय 'सत' के प्रत्यय से पूर्णत: परिव्याप्त है. इसलिये 'सत' एव 'घट' के मिच्या तादातम्य को संकल्पित करने में कोई कठिनाई नहीं है। " इसके प्रतिरिक्त.

नहि रूपान्तरेस्य भेद-प्रहो रूपान्तरेस्याध्यात-विरोधी। सघट इत्यादि-प्रत्यये च सद्-रूपस्यात्मनो घटाद्यनृविधायनया मावान्न तस्य घटाद्यध्यासाधिष्ठाना-नुपपत्ति:।

<sup>-&#</sup>x27;बर्देत-सिद्धि' पृ० ४६५ ।

सत्-कप सबं झान का विषय होता है, अतएव यद्यपि वह काल की मौति कप-हीन होता है तथापि काल की मौति उसकी चलु-प्रत्यक्ष के विषय के कप में संकल्पना की जा सकती है।

वशन-अम एक कमिक थेएंगे में चटित होते हैं विवासे उत्तरतार्गी थेएंगे पूर्ववर्ती खेएंगे के समान होती हैं। केवल यही वार्त धनिवासे हैं, यह तिक सी धावस्थक नहीं कि जो मिच्या धाकार धारोरित होते हैं, वे मी तथ्य होने वाहिए। यही यथेस्य कि कि जो मिच्या धाकार धारोरित होते हैं, वे मी तथ्य होने वाहिए। यही यथेस्य कि कर्वया महारार्ग के स्वाप पर कुछ सम्य धाकारों के प्रस्तुत होने का झान हो। एक रवत-अम के विये धावस्थक बात यह है कि उत्तर का झान हो, उत्तर सत्य भी हो यह स्वयं मा स्वर्त्वहों एवं सोवीनिक है। इस्तिय एक सत्ता के क्या में जगत-अपव की सत्यता उक्त आम की वार्त क्यांपित हों है। यह धार्यात धावस्थ है कि उत्तर साहस्थ का समुसराण करते हुए यह तर्क भी किया जा सकता है कि अस के धावस्थान की सत्यता धावस्थक है तथा अस की ध्वाध्या के तिये केवल उक्त धावस्था का झान ही धावस्थक है, स्वर्भीक अस का धावस्था के तिये केवल उक्त धावस्था का झान ही धावस्थक है, स्वर्भीक अस का धावस्था है कि धावस्था केवल हो आप सा सा धावस्था है की सत्यता की अस की एक पूर्व-धवस्था के रूप में मांन ही की जाती है, तो अस का बाय निर्मात हो जावाग, क्योंकि पश्चाहुक केवल एक सत्य मना के सम्बंध में आमक धारणा । हा स्वर्ण केवल एक सत्य मना के सम्बंध में आमक धारणा का विवास एक त्या है।

यह प्रापत्ति प्रमान्य है कि यदि जगत-भ्रम व्यावहारिक कार्य-कुणनता एव 
प्रावर्षण की अमता रखना है तो उसे असत्य नहीं माना वा सकता, क्योंकि स्वण्नां में 
स्म प्रकार की व्यावहारिक कार्य-कुणनता होनी है। धारमन् से धाकाश को सृत्ति-पाठ 
स्पर्य है, क्योंकि श्रुतियां स्वण्न-सृष्टियों का कथन भी करती है। यह धापत्ति धर्यक्ष 
है कि यदि सुष्टि के धारम्म में भ्रम के मून संस्कार प्रस्य सुष्टि-को के पूल संस्कारों 
के कारण उत्पन्न होते हैं तो पूर्व-जन्म के मून-सस्कार इस वीवन के प्रस्तंक एव सर्व 
क्यूत्रवां में प्रकट होने वाहिन, पार्विक पुत्र-जन्म के सर्व मूल सस्कार इस वीवन के अपनित 
संप्रक्रियां के कारण उत्पन्न होते होति पूर्व-प्रस्तारों का इस तीवन के धनुमयों को अमावित 
करने का कर्नृत्व बेंसे एक थिखु में धरनी मा के स्तन-मान की मूलप्रस्थात्मक इच्छा 
के उदाहरण में, केवल उन्हीं उदाहरणों में स्वीकार किया वाना चाहिए वहाँ वस्तुतः 
व धटित होते हैं। इसी प्रकार यह धापति मी वैय नहीं मानी वा सकती कि भ्रम 
स्वयं हमारी गतत कल्या के मून-बस्कारों के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि पृष्टिमूण

सद्-रूपेश च सर्व-जान-विषयतोपहृत्तेर्व रूपादि-हीनस्थास्मनः कालस्येव चालुत्वा-सनुपपतिः। —वहो, पृ० ४६५ ।

प्रत्यक्ष के घटित होने से पूर्व भागक प्रत्यक्षों के मूल संस्कार नहीं हो सकते, बतएव एक पूर्वस्थित तथ्य एवं हमारे भामक प्रत्यक्षों की पूर्व-शवस्था के रूप में मिथ्या जगत का प्रस्तित्व भी नहीं हो सकता, क्योंकि वस्तुओं का स्वरूप ही दो प्रकार के भ्रमों के लिये इस प्रकार उत्तरदायी होता है कि, यद्यपि रजतकार की दुकान मे पाई जाने वाली भ्रामक रजत से चुड़ियाँ बनाई जा सकती हैं तथापि शुक्ति में पाई जाने वाली मिथ्या रजत से कुछ भी नहीं किया जा सकता। इसलिए स्वय हमारे भ्रम के मूल संस्कार जगत-प्रपंच के भ्रम के निर्माणकारी सामग्री के रूप में कार्य कर सकते हैं तथा जगत-प्रपंच के भ्रामक अनुभव के षटित होने से पूर्व ही स्वय हमारे भ्रम के मूल-संस्कारों से व्यूत्पन्न जगत-प्रपंच की सामग्री भागक प्रत्यक्ष की एक पूर्व-श्रवस्था के रूप में पहले ही से वस्त-सिक्ट रूप से विद्यमान हो सकती है। यह बापित बर्वेष है कि चैकि आमक प्रत्यक्षों की पूर्व-श्रवस्था के रूप में मिथ्या दग से तादात्म्यीकरण की गई सत्ताश्रो की समरूपता होनी चाहिए और चैकि ब्रह्मन एवं जगत के मध्य ऐसी कोई समस्पता नहीं पाई जाती. इसलिए उनमें कोई मिथ्या तादात्स्यीकरण नहीं किया जा सकता प्रथमत:. क्यों कि 'ग्रविद्या' प्रनादि होने के कारल किसी समरूपता की अपेक्षा नहीं रखती। द्वितीयत.. यह मान्यता मी घसत्य है कि समरूपता अम की एक घनिवार्य पूर्व धवस्था है, क्योंकि जिन उदाहरलों ने ऐसा प्रतीत होता है कि समरूपता भ्रम को प्रेरित करती है उनमें भी ऐसा भ्रम की उत्पत्ति के अनुकृत एक मानसिक हुत्ति की उत्पत्ति के कारण होता है और यदि ऐसी मानसिक इत्ति 'कर्म' बचवा 'बह्ट्ट' ब्रादि बन्य कारशों से उत्पन्न होती है. तो समरूपता भ्रम की पूर्व-प्रवस्था के रूप में भ्रतिवार्य नहीं रहती, ग्रतएव भ्रम की पूर्व-बावस्था के रूप में समरूपना की ग्रपरिहार्य नहीं माना जा सकता। यह आपत्ति भी सर्वेध है कि यदि दोष के बिना एक भ्रम हो सकता है, तो उसका सर्थ यह है कि सकल ज्ञान स्वय में शसत्य है और यदि भ्रमों को दोयों से उत्पन्न माना जाय तो दोष भी मिथ्या ब्रारोपण के फल हैं ब्रोर इस प्रकार बनवस्था दोष हो जायगा. क्यों कि सनादि 'सविद्या'-जन्य अस दोवों से नहीं होता और यद्यपि जिन असो का काल में भारम्भ होता है वे मनादि 'मिवदा'-दोष के कारण होते है, तथापि इससे सकल ज्ञान असत्य नहीं हो जाता, क्योंकि केवल वे ही अम 'व्यविद्या' के दोष के कारए। होते हैं जिनका कालिक आरम्भ होता है और, चुकि चाविद्या' स्वय अनादि है इसलिए उसे किन्ही दोषो की ब्रपेक्षा नही रहती, बतएव कोई बनवस्था दोव नही हो सकता। यह ध्यान मे रखना चाहिए कि यद्यपि काल में उत्पन्न अम दोषो अथवा 'अविद्या' के अनादि 'दोष' के कारण होता है, तथापि वह र्धानवार्यतः उक्त दोष के कारण नही होता, बतएव साक्षात व स्वत.-स्फूर्त रूप में एक मिथ्या मुजनात्मक ब्राभिकर्ता के रूप में स्थित रहता है और वह भ्रम इसलिए नहीं कहलाता कि वह दोषों से उत्पन्न होता है, बल्कि इसलिए कि वह बद्धा-ज्ञान के द्वारा बाधित होता है। इस प्रकार यह आपत्ति सर्वेष है कि 'सविद्या' दोष के कारए। होती है और दोष 'सविद्या' के कारस होता हैं, जो दोषों की उपच है उसका बाब होकर रहता है, किन्तु इसका विसोम प्रनिवार्यतः सत्य नहीं होता।

यह धायह नहीं किया जा सकता कि यदि 'धनिषा' 'दोष' से स्वतंत्र है, तो जगतु-प्रम को प्रम के धनिष्ठान धनदा धाषार, धर्मत् बहुन् के स्वतंत्र माना जा सकता है, वर्षोकि यचि प्रमा का विष्यान-प्रम को उत्पन्न करता हुधा नहीं माना जा सकता है, तथापि उसे उसका धाष्ट्रय पूर्व धाषार तथा उसका प्रकाशक भी मानना पड़ेगा।'

पुतः यह धापति सबैब है कि अस इन्द्रिय-व्यापार पर, सरीर के सस्तित्व पर निमंद करता है, क्योंकि ये केवल धन्तः-प्रकारमक प्रत्यक्ष के लिये सावस्यक हैं। किन्तु अस के उदाहरूलों में, सुब केवल पर 'व्यविद्या' के सारोपल में, पूर्वोक्त 'व्यविद्या' की मुख्यों का स्वतः-स्पूर्ण प्रतिबिध्य-कर्ता होता है, घतएव उसके निये इन्द्रिय-व्यापार की सावस्यकता नहीं है।

पुन:, यह बाग्रह किया जाता है कि, चैंकि दोष काल्पनिक बारोपए। होते हैं, सत: दोषों का निवेध सत्य हो जाता है, स्रतएव दोष ससस्य होने के कारण जगत-प्रयंच के ज्ञान को ग्रसस्य नहीं बना सकते, और यदि ऐसा है तो जगत-प्रपच सत्य होने के कारण, यह हमारे द्वारा सरुता की स्वीकृति होगी (इसके उदाहरण के रूप में यह भाग्रह किया जाता है कि बौदों की बेदों के विरुद्ध मालोचना सर्वेश एवं सिम्या होने के कारण बेदो की सत्यता का अपडन नहीं कर सकती)। इसका उत्तर यह है कि वैदों के विरुद्ध बौद्धों द्वारा निर्देशित दोषों की मालोचना मिष्या है क्योंकि उनके द्वारा बीय केवल कल्पित किये गए हैं, वेद इससे प्रमावित नहीं होते हैं क्योंकि उनकी सस्यता हमारे व्यावहारिक अनुभव द्वारा स्वीकृत की जाती है। इसलिए कल्पित किए गए बोष वेदों की सरवता से सहावसानी नहीं हैं, 'खिवद्या' के दोष एव धनेकात्मक जगतु-प्रपच की सत्ता एक ही प्रकार की है-एक दूसरे का कार्य है और इस प्रकार यदि दोव मिथ्या हैं तो उनकी उपज (जगत) भी मिथ्या हो जाती है, सतएव दोषो का भिथ्या स्वरूप जगत् की सरवता को सिद्ध नहीं करता । जगत्-प्रपत्न इसीलिए सापेक्षतः सत्य कहा जाना है कि वह ब्रह्म-ज्ञान के घतिरिक्त किसी घन्य वस्तू से बाधित नहीं होता । बत: उसका सापेक लक्षरा मिच्यात्व के स्वरूप के निर्धारण पर निर्मर नहीं करता, जिसका पून: जगत् के सापेक्ष स्वरूप के द्वारा निर्धारित सकल्पित किया जाय, भीर इस प्रकार मन्योन्यात्रय दोष का समावेश हो जाय। व यह माग्रह किया जाता है कि दोषों की सत्यता का जानेन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ब्रह्म किया जाता है और इसनिए वे वृटि के कारण के रूप में तभी आचरता कर सकते हैं यदि वे अन्ततोगत्वा सस्य हो,

<sup>&#</sup>x27; 'महैत-सिद्धि' पु० ४६८ ।

<sup>&</sup>lt;sup>व</sup> वही, पृ० ४६६ ।

इसका उत्तर यह है कि दोवों का अस्तित्व केवल ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता 🕻, किन्तु उनका किसी भी काल में बाव नहीं हो सकता (वैकालिका-बाध्यस्व)। यह बात किसी घन्तः प्रज्ञात्मक बाधार पर कवी निश्चित नहीं की जा सकती, धतएव दोशों की सस्यता की कदापि स्वीकृति नहीं की जा सकती। यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि दोषों का वही स्तर नहीं होता जो शुद्ध चैतन्य का होता है, जिस पर मिथ्या धुक्तिका भारोपए। होता है। नयह कहाजा सकता है कि जो ज्ञान जगत्-प्रपंच का बाथ करता है वह इस बाबार पर सत्य होना चाहिए कि सदि वह सत्य न होगा तो उसके बाथ के लिये एक अन्य ज्ञान की अपेक्षा होगी और इस प्रकार हम धनवस्था दोव के मागी होंने, क्योंकि जगत्-प्रपच का यह धन्तिम बाब स्वय का बाध करता हुआ भी इस कारए। से माना जा सकता है कि इस बाब की सामग्री ज्ञातब्यता के सम्पूर्ण क्षेत्र पर लागू होती है और यह अन्तिम बाध स्वय ज्ञातब्यता के क्षेत्र के धन्तर्गत होने के कारल बाध में समाविष्ट होता है। यह आग्रह किया जाता है कि यदि बंधन इस धर्य में मिथ्या है कि वह सर्व कालों में असत् होता है, तो कोई कारख नहीं है कि कोई भी उस वस्तु के निवारण के लिये चितित हो जो पहले ही से असत् है, इसका उत्तर यह है कि सस्य (ब्रह्मन्) के बस्तित्व की कवापि समाप्ति नहीं हो सकती-बधन के मिथ्यात्व का ग्रर्वयह है कि वह एक ऐसी सत्ता है जो ग्राघारभूत सत्य के साक्षात् ज्ञान मे तत्काल समाप्त होने योग्य होती है। यह ठीक उस मनुष्य के उदा-हरए। के सदश है जो यह भूल गया है कि उसका हार उसके गले मे है और वह उसकी व्यवता से क्षोज कर रहा है धौर जो स्मरण दिलाने के क्षण में ही अपनी कोज का परित्याग कर देता है। यह मानना गलत है कि चूँकि सर्व कालों में असत् काल्पनिक सत्ता के सबध में कोई प्रयास नहीं किया जा सकता, इसलिए भामक सत्ता के निवारण के लिए भी कोई प्रयास नही किया जा सकता; क्योंकि, बद्यपि भ्रामक काल्पनिक सत्ताएं ग्रपने त्रैकालिक ग्रसत्व के सम्बन्ध में सहमत हो सकती हैं, तथापि कोई कारए। नहीं है कि वे ग्रन्य रूपों में भी सहमत हो। यह सम्भव है कि बन्धन की समाप्ति के प्रत्यय के सत्य के ज्ञान के श्रतिरिक्त कोई सामग्री नहीं होती, श्रथवा उसको श्रनिर्वचनीय प्रथवा सर्वथा विलक्ष ए। स्वरूप का माना जा सकता है। भ्रामक बधन एवं जगत्-प्रयच तभी समाप्त हो सकते हैं-जब काधार-भूत सस्य बह्यम् का ज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे रजत-भ्रम उस शुक्ति के झान से समाप्त हो जाता है जिस पर वह भारोपित होता है। यदि यह स्मरल रक्का जाय कि बादरायल के सूत्रों का भाराय केवल वस्तुमों के सापेक्ष मस्तित्व का निर्देश करता है जो उस बाबारभूत सत्य का ज्ञान होते ही सम्पूर्णतः समाप्त हो जाता है जिस पर वे बारोपित होते हैं, तो यह मापत्ति प्रवैभ हो जाती है कि उन 'सूत्रो' द्वारा एक वस्तुवादी जगत् का भस्तित्व लक्षित होता है।

'दण्टि-सृष्टि' गत की मान्यता है कि सकल वस्तुकों का व्यक्तित्व उनके प्रत्यक्षी-करए। मैं निहित होता है। व्यासतीय कहते हैं कि यदि वस्तुएं केवल तभी तक प्रस्तित्व रखती जबतक उनका प्रत्यक्षीकरण होता है, तो वे केवल व्यख्ति हो बाएंगी, प्रतएव बौढ क्षरिष्ठकाद के बिरोध में इस प्रावार पर उठाई गई सभी प्राप्तियों कि, वे प्रत्योजन्ना द्वारा प्रमाणित वस्तुष्यों के स्वाम्तित्व को स्वीकार नहीं करते स्वयं संकरवाध्यों के बिरोध में भी बमान धौषित्य से उठाई जा सकती है। इसका मधुमुदन यह उत्तर देते हैं कि येचिंग परम सत्ताओं के रूप में वस्तुओं का प्रतित्व स्वीकार नहीं किया बाता है, तथापि उक्त मत्र में 'प्रवान' के रूप में कारणा-वस्ता में उनका प्रतित्व क्षस्तीकार नहीं किया जाता है, यह उचका बौढ-मत से मन्तर होगा जो बरसुओं के ऐसे कारणात्मक प्रतित्व को स्वीकार नहीं करता।

यदि जागतिक-विषयों का जनके प्रत्यक्षीकरण से बाहर कोई स्थालित्व नही हैं तो विस्तर कारणों से स्वतन होते हैं और विदि ऐसा है तो यहीं एवं उनके फलों के मध्य निद्यित कारण, कार्य का सबंध तथा निष्यत कारण एवं कार्य के संबंध में समस्त वैदिक पाठों का साध्य, प्रवृद्धीन हो जाता है। इसके प्रति मधुसूदन का यह जतर है कि श्रृतियों में कारण, कार्य से सबध का विनिदेश एवं सांसारिक जीवन में उनकी धुमुद्दित स्वप्नों में कारण, कार्य के सदध है, स्वजों के श्रातरों दन कारणों एवं जनके कार्यों का भी परस्तर एक निद्यत क्रम होना है वो धनुमुबं के बाध्यत्व से बात होता है।

यह ब्रापित की जाती है कि 'ट्रॉ॰ट-मुटिट' मत (वस्तुग, उनके प्रत्यक्षीकरण से पूर्व कोई मस्तित्व नहीं रखती) के ब्रामांग पर नगरानुभव मध्याक्ष्य है। यह व्याक्ष्य करती भी कठिन होगी कि यदि आम के म्रिक्टान के रूप में 'इट' का हमारे बाहुर पूर्व-मिस्तित्व नहीं है तो कैसे उससे तथा मिश्या प्रनिमा के म्रिक्टान से कोई इनिय सम्बन्ध हो सकता है। इसके प्रति ममुपूर्व का उत्तर यह है कि इन्द्रिय सम्बन्ध हो सकता है। इसके प्रति ममुपूर्व का उत्तर यह है कि इन्द्रिय सम्बन्ध म्रास्त्य भवस्वामों पर मामारित अम की सामान्य ब्याक्ष्या केवल निन्ततर श्रेणी के ममुख्यों के निल की गई स्थाक्या होती है। उच्चतर श्रेणी के मनुष्यों के निल अम की सामान्य क्याक्या होती है। अस्ति अम की परिभाग होगी 'एक मिस्या मत्ता के साहत्य में एक तथ्य सत्ता की म्रिम्ब्यित तथा ऐसी परिभागा 'ट्रिमें-सुनिट' मत के प्रमुगर होगी। 'इट' में म्रास्थ-स्थित चैतन्य एक इस्त्र होता है नवा मिस्या चता उसके बाहत्य में मिन्यस्य होती है।

प्राये यह सापत्ति की जाती है कि भ्रामक प्रत्यक्ष के मसय (यह रजत है), यदि एक बस्तुगत तथ्य के रूप में झुक्ति नहीं होती है तो चुक्ति के प्रति भ्रम्नान के कार्य के रूप में भ्रम को ध्यास्था नहीं की जा सकती, जैसा साचारएतः किया जाता है। इसका उत्तर यह है कि, यदि चुक्ति का ध्यास भी होता है तो उसकी सामग्री की निम्तत करने वाला 'ध्यक्षान' विक्रमान रहता है। इस धापत्ति का कि 'यह रजत है' एवं 'यह रजत तमहीं है नामक दो प्रत्यक्षीकरण दो मिन्न प्रत्यक्षों की धीर निर्देशित होते हैं तथा एक सामान्य बस्तुगत तथ्य का उस्लेख नहीं करते और इसलिए उनमें से

एक को इसरे का बाघ नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा बाघ तभी सम्मव हो। सकता है जब दो अभिवयन एक ही बस्तगत तथ्य का उल्लेख करते हैं. यह उत्तर है कि स्वय्नानुभवों के साद्द्य के बाधार पर यहाँ भी बाध सम्भव है। व्यासतीय धारे कहते हैं कि चैकि भ्रम का बाध एक वस्तुगत तथ्य न होकर एक प्रत्यक्षीकरण मात्र होता है. इसलिए उसका भागक प्रत्यक्ष से उत्कृष्ट स्तर नहीं हो संकता ग्रतएव वह श्रनिवार्यतः उस भ्रम से श्रीयक सत्य नहीं माना जा सकता जिसका वह बाध करता हमा माना जाता है। वे बागे कहते हैं कि संयुष्ति एवं प्रलय में चैकि ब्रह्मन भीर 'जीव' का पृथक प्रत्यक्ष नही होता घतः श्रद्धान एवं जीव का उक्त मेद प्रत्येक सुचूप्ति एव प्रत्येक चिक्रक प्रलय में समाप्त हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मन और 'जीव' के भेद के भ्रमाय में प्रत्येक सुष्पित एव प्रलय के ग्रंत में जागतिक श्रनुमवो की कोई पुनराइति नहीं हो सकती। ऐसे व्यक्ति के उदाहरए। मे जो निद्रामन्न है तथा उसके कारए। जिसके मूल संस्कार प्रत्यक्ष-योग्य नहीं हैं (अत्रण्य धसत् है), कोई व्याख्या सम्भव नहीं है कि जागतिक बनुभव कैसे पुन: आरंभ होते हैं। मोक्ष का भी एक प्रत्यक्षीकरण मात्र होने के नाते जागतिक अनुभवों से उत्कृष्ट स्तर नहीं हो सकता, इसके अतिरिक्त, यदि शुद्ध चैतन्य सकल जार्गातक विषयों के रूप में ग्रामि व्यक्त होता तो ऐसा कोई समय नहीं होता जब उक्त विषय ग्रम्थक्त रह सकते थे।

दसका मधुमूदन यह उत्तर देते हैं कि 'जीव' एव 'बहुम्द' का सबध अनादि होने के कारण प्रत्यक्षीकरण पर निर्मर नहीं करता, सुपुष्ति में यद्यपि पून मस्कार कार्य के रूप में विश्वीन हो जाते हैं तथापि वे सपने कारण स्वरूप में फिर भी देव रहते हैं, मोक्ष मी बहुम् के स्वरूप का होने के वारण प्रत्यक्षीकरण का विशुद्ध अन्तः-प्रजात्मक स्वरूप का होता है।

एक यह प्रायक्ति की जाती है कि निंद शुद्ध चैतस्य विषयों का जान होता है तो उनकी नित्य प्रसिव्यक्ति होनी चाहिए। 5 टमका उत्तर यह है कि यहाँ प्रश्वकीकरण का प्रयं है एक ऐसी 'इनि' के माध्यम सं शुद्ध चैतस्य की प्रनिव्यक्ति जो शुद्ध चैतस्य के प्रमिव्यक्ति जो शुद्ध चैतस्य के प्रमिव्यक्ति जो शुद्ध चैतस्य के प्रमिव्यक्ति जो शुद्ध चैतस्य के प्रमिव एक प्रम्य वृत्ति की प्रवेशा नहीं रसती, दारीरों के बिना भ्रमों की सम्मान एक भ्रासक जान होता है विसक्ते सार-ताव के रूप में वह संकल्पित किया जाता है, अब न्यय उत्त विषय का भी के वित्य जा मात्र के रूप में बार-ताव कमाप्त हो जाता है, वर्षोंक, वर्षाप प्रययक्तिकरण का स्वयं ज्ञान के प्रतिरक्ति कोई प्रमित्यक्त नहीं होता, त्यापि इससे यह संकल्पना करने में कोई ज्ञाम नहीं हो सकती कि विषय का सार-ताव्य प्रययक्तिकरण का स्वयं ज्ञान के प्रतिरक्ति कुछ भी नहीं है। पुनः एक यह धारपि उठाई जा सकती है कि प्रययिक्ता विषयों के स्वर्ण प्रारक्तिकरण करती है, कि प्रयाविक्ता विषयों के स्वर्ण प्रारक्ति है। पुनः एक यह धारपि उठाई जा सकती है कि प्रयिक्ता विषयों के स्वर्ण प्रारक्षित को अकट करती है, किन्तु इकका उत्तर सहब ही स्वर्णानुवयों के स्वर्ण प्रार्थन का स्वर्ण है स्वर्णानुवयों के स्वर्ण प्रार्थन करती है, किन्तु इकका उत्तर सहब ही स्वर्णानुवयों के

उबाहुर ए में तथा विभिन्न प्रत्यक्षक तांधों के कुप्रत्यकों की संयोगिक सहस्रति की सम्बा-बना में मिल सकता है। यह प्रापत्ति प्रवेष है कि ब्रह्मण एवं श्रीवं का तादास्त्य का अस्यय स्वयं मानस्तिक होने के कारण वैत का वाय नहीं कर कहता, क्योंकि उक्त सादास्त्य का प्रत्यत्व सात्यन्त से एकक्ष्य होता है स्वत्य वह मानस्तिक नहीं कहा वा सकता। पुनः चरम सत्य का ब्राग मानस्तिक होने के कारण स्वय प्रस्तय नहीं कहा वा सकता, क्योंकि उसकी सत्यता इस तथ्य पर निर्मर करती है कि उसका क्यांपि साथ नहीं होता।

#### अध्याम ३०

# द्र'तवादियों और मद्र'तवादियों के मध्य विवाद (क्रमंशः)

### अविद्या की परिभाषा का खण्डन

ग्रविद्याकी इस रूप मे परिमावादी जाती है कि वह एक श्रनादि माव-रूप सत्ता है जिसका ज्ञान के द्वारा निवारण हो सकता है। व्यासतीयं द्वारा प्रस्तुत की गई इसके प्रति धापति प्रथमतः यह है कि जगत के विषय-काल में होने के काररा उनके अधिष्ठान चैतन्य को परिसीमित करने वाली अविद्या अनादि नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, चुँकि एक वेदांती के अनुसार कोई सघटक जड पदार्थ अभाव का उपादान कारण नहीं होता. इसलिए 'धन्नान' उसके ग्रमाव का कारण नहीं माना जा सकता। मिथ्या धमाव की मान्यता के घाधार पर भी 'श्रज्ञान' उसका काररा नहीं माना जा सकता, चुँकि "धज्ञान' को भाव-रूप माना गया है, क्योंकि यदि धमाव का कारमा एक माव-रूप सत्ता होती है, तो बसतु का कारमा सत् हो सकता है। पून:, यदि 'मजान' मभाव का कारण नही है तो ज्ञान उसका निवारण करने में समर्थ नहीं होना चाहिए श्रीर एक घट का श्रमाव उसके निषेध होने पर भी समाप्त नहीं होना चाहिए। पुनः शकरवादी मत के धनुसार 'धज्ञान' विषय का ब्रावरसा माना जाता है, हम ब्रह्मन् का कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि वह 'ब्रज्ञान' से माइल रहता है। वे यह भी मानते हैं कि 'इति-ज्ञान' ब्रह्मनुका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। यदि ऐसा है, तां 'इति' द्वारा उपलब्ध अतिम मोक्ष-ज्ञान में ब्रह्मन् का कोई अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता, इसके बिना ब्रह्मन् को बाइल करने वाला 'स्रज्ञान' हटाया नहीं जा सकता, घतएव मोक्ष ससम्भव है। पनः यदि यह माना जाय कि 'प्रज्ञान' का निवारण होता है, तो 'जीवन्मक्त' बवस्था में एक सत को सांसारिक वस्त्रश्रों का कोई अनुभव नहीं होना चाहिए।

पुनः, यह मानना पड़ेगा कि जान किसी सहकारी कारए। की सहायता की प्रतीक्षा किमें बिना प्रत्यक्ष एवं स्वतः स्पूर्व रीति से 'ध्यान' का निवारण, करता है, व्यों कि किसी बस्तु को जात करने के साथ ही उसका ध्यान स्वतः सूप्त नहीं हो सकता। किन्तु, यदि ऐसा होता है, तो उन उदाहरणों में बहाँ 'ध्यान' का कुछ उपाधियों से साहयदे होता है वहाँ 'ध्यान' के निवारण के किए उसके साथ ही उपाधियों के

निवाररए की भी भ्रपेक्षा नहीं रहती तथा उस दशा में भ्राक्षा यह की जाती है कि उपाधियों के निवारण का विचार किए बिना ही 'सज्ञान' का निवारण हो जाना चाहिए, परन्त यह स्वीकार नहीं किया जाता है। पून:, यदि यह माना जाय कि उपाधियों के निवारण की प्रतीका की जाती है, तो शुद्ध चैतन्य अपरोक्ष रूप से 'खबिखा' का निवारण करने में समर्थ नहीं माना जा सकता । पून:, यदि ज्ञान प्रत्यक्ष एवं स्वत: स्फूर्त रीति से 'मज्ञान' का निवारण कर सकता है, तो यह कहकर उसके क्षेत्र को प्रतिबंधित करना निरयंक है कि वह केवल बनादि 'अजान' का ही निवारए। करता है। यह प्रतिबन्ध ब्रह्माण्डीय 'स्रविद्या' का रजत-भ्रम की क्यावहारिक 'स्रविद्या' से विभेद करने के लिये लगाया गया है और यदि दोनो उदाहरएगे में 'म्रजान' का स्वत:-स्फर्त निवारण उपयोगी हो जाता है तो क्षेत्र को प्रतिबन्धित करने का कोई लाम नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि 'ब्रजान' को 'ब्रनादि' का विशेष नाम इसलिए दिया जाता है कि वह दोषों के द्वारा बनादि मिथ्या बारोपण से उत्पन्न होता है, क्योंकि यह पहले ही निर्देश किया जा चुका है कि उक्त मन अनवस्था दोष को उत्पन्न करता है, क्योंकि 'ग्रविद्या' के बिना कोई दोष नहीं हो सकता। पुन., 'ग्रज्ञान' धनादि नहीं हो सकता, क्यों कि जो कुछ भी ज्ञान तथा धमाव से भी भिन्न होता है वह मिथ्या रजत की मौति बनादि नहीं हो सकता। पुन: बज्ञान को भावरूप कहना गलत है, क्योंकि शकरवादी मत के अनुसार 'अजान' मावात्मक एव अमावात्मकता दोनों से भिन्न होता है, बतएव सभावात्मक नहीं हो सकता। यदि एक सत्ता भावात्मक नहीं होती है तो वह धमावात्मक होनी चाहिए क्योंकि मावात्मकता से भिन्न होने के कारए वह ग्रमावात्मकता से भी भिन्न नहीं हो मकती । पूनः, यदि एक सन्ता ऐसी है जो भावारमक है और बनादि है तो उसका निषेध नहीं हो सकता, बॉल्क उसका भारमन् के सद्दश एक अनिवेघारमक अस्तित्व होता है। आत्मन् का भी यह कहने के श्रतिरिक्त कि उसका निषेत्र नहीं होता, उसकी भावात्मकता की व्याल्या करने वाले किसी विषेय के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता । 'विवरण' मे यह निर्देश किया गया है कि यह बात कोई महत्व नहीं रखतो है कि एक सत्ता बनादि है अथवा उसका बारम्भ होता है, क्योंकि प्रत्येक दशा में वह विनाशात्मक हो सकती है, यदि उसके विनाश का यथेष्ट कारण हो । एक बनादि मत्ता समाप्त नहीं हा नकती इस सामान्या-नुमान का 'ब्रज्ञान' के विशेष उदाहररा में एक ब्रापवाद होता है, जो 'क्षान' के उदय होने पर समाप्त हो जायगा। यदि यह बाब्रह किया जाय कि, चैंक 'श्रजान' भनादि एवं धमाव से मिन्न दोनो है, सत: वह सात्मन के सहण नित्य बना रहना चाहिए, तो विरोधी पक्ष से यह बायह भी किया जा सकता है कि चैकि 'श्रजान' भाव-रूप से भी भिन्न है, बतः वह प्राग-बभाव के सदस विनाशात्मक होना चाहिए । इसका उत्तर है कि. धनुमान यह है कि कोई भी अनादि भावरूप सला का किसी ऐसी वस्तु द्वारा सामना नहीं किया जाता जो उसका विरोध धथवा विनाश कर सके। उक्त युक्ति का खण्डन केवल

एक प्रतिरोध कथन के डारा नहीं, बरल् एक ऐसे उदाहरएं के उत्लेख डारा किया जाना चाहिए वहाँ व्याप्ति प्रकारण रहती हैं। इस कथन का कोई उदाहरएं नहीं दिया जा सकरत कि धनार्थ 'प्रकार' के 'बार' के डारा निवारण हो सकता है, क्यों कि बात कर ता कि धनार्थ 'प्रकार' के डारा निवारण हो सकता है, क्यों कि बात कर डारा निवारण हो सकता है, क्यों कि बात कर डारा कि जा है कि जो कुछ भी धक्कान का प्रतिरोध करता है कि जो कुछ भी धक्कान का प्रतिरोध करता है वह उड़े नष्ट कर देता है कथा ऐसे सामान्य कवन का कल्पित प्रवार्थ 'प्रकार' के उदाहरण में कोई विशेष धनुष्योग नहीं होता। तुर्वा क्षान्य के समान्य के समान्य के समान्य के समान्य है और उसकी समान्य को अपन्य कर के समान्य के समान्य है और उसकी समान्य को अपने कर उसकी समान्य का अपने के समान्य के समान्य है और उसकी समान्य का प्रवारण के समान्य के समान्य है और उसकी समान्य का प्रवारण के समान्य के समान्य है और उसकी समान्य का प्रवारण के समान्य के समान्य है और उसकी समान्य का प्रवारण के समान्य के समान्य है और उसकी समान्य उसकी के समान्य के समान्य उसकी के समान्य है कि वह जिस साम्य प्रवारण उसकी कराणि निवारण नहीं हो सकती। ' इसके प्रतिरिक्त प्रवारण है कि वह जिस साम्य प्रवारण के साम्य के समान्य के समान्य उसकी का बाद द्वारण विशाय कर होता है, तो उसका बात द्वारण विशाय तहीं हो पर सकता, सामन्य होता है अपने समान्य करने का बात द्वारण विशाय तहीं हो पर सकता, सामन्य का वहां कि सम्य प्रवारण का वहां कि के प्रवारण वहां वहां विशाय का होता है अपने सामन्य वहां विशाय के स्वारण वहां के सामन्य का वहां के सामन्य प्रवारण करने के सामन्य वहां विशाय के सामन्य का वहां के सामन्य का वहां के सामन्य का वहां विशाय का वहां विशाय के सामन्य का वहां का वहां के सामन्य का वहां का वहां का वहां के सामन्य का वहां का वहां का वहां का वहां के सामन्य का वहां का वहां का वहां का वहां का वहां के सामन्य का वहां क

'सक्कान' की द्वितीय वैकल्पिक परिमाणा यह है कि वह अस का उपायान कारण होता हैं। किन्तु इस अकरवारी सिद्धान्त के सनुसार कि विशिक्ष 'आता' के सनुरूप विभिन्न 'साना' होते हैं, पुक्ति का जान उनके सक्कान का निवारण करेगा तथा एक समाव का कान उनके सक्कान कर किया है कि समाव का कान उनके सक्कान कर किया है कि साव कर स्वयं में सक्कान के सप्त के स्वयं के

एक सकरवादी मत यह है कि 'मायां जमत् का उपादान कारण है और बह्मान् उसका मान्न्य है। इस मत के ब्रनुसार 'मायां बपना 'बनान' जमत् का उपादान कारण, होने से तथा 'अमं जमन् का माण हाने से, 'ब्राझानं 'अम का एक प्रवासन कारण हो जाता है, 'कन्दु दक्का विशोध स्था नहीं होता। इस ब्रन्थ मन के घनुसार कि ब्रह्म घीर 'मायां दांगो जमत्-प्रच के कारण है, 'मायां 'स्वय में अम का कारण, नहीं बन सकती। इसके ब्रितिस्त एक ब्रमुसार के सहस्य होता है तथा स्वय उसकी कोई सण्टक

प्रतीति-मात्र-वरीरस्याज्ञानस्य यावत् स्व-विषय-घी रूप-साक्षि-सावमनुदृत्ति-नियमेन निवृत्ययोगाच्च । — 'न्यायामृत, 'पृ० ६०४ ।

सामग्री नहीं हो सकती, स्रतएव वह स्वयं 'सजान' की समय सामग्री नहीं हो सकता। इसके समितिक, सकरवादी मत के सद्भार भ्रामक विषय 'सत् से विस्तकारा' होने के कारएा (स्वृ-विस्तकारावेन) कोई संबदक नहीं रखता, सतएव आमक तीवच 'सम्रात' का एक संबदक नहीं हो सकता। यदि कोई वस्तु किसी बस्तु का संबदक होती है, तो वह माव-क्ष्म होनी चाहिए, न कि केवल समावों से मिन्न होनी चाहिए। पुगः, वब कभी कोई वस्तु प्रम्य वस्तुओं की उपादान सामग्री होती है, तब पूर्वोक्त पश्चादुक्त के संबदक तत्व के क्ष्म में प्रतीत होती है, किन्तु न तो आमक रखत और न उसका कान 'प्रजान' के क्ष्म में प्रतीत होता है। इस प्रकार 'प्रजान' की दोनों परिमावाएँ खिब्दत हो जाती हैं।

इसके उत्तर में मधूसूदन कहते हैं कि जो 'बशान' आमक रजत की सामग्री होता है वह सनादि 'सज्ञान' है। 'सज्ञान' माय-रूप इस सर्थ में कहा जाता है कि वह समाव से मिन्न होता है। इसी कारण से वह 'सजान' वो भ्रामक समाव की उपादान सामग्री माना जाता है प्रभाव से मिन्न माना जा सकता है, प्रतएव वह भ्रामक प्रभाव का संघटक माना जा सकता है। यह सत्य नहीं है कि कार्य ठीक उसी प्रकार की सामग्री से निर्मित होना चाहिए जिस सामग्री के कारण निर्मित होता है। जो वस्तुएँ स्वरूप में पूर्णतः समान श्रमवा पूर्णतः श्रसमान होती हैं वे परस्पर कारण व कार्यके रूप में संबंधित नहीं हो सकती, इसी कारएा से सत्य असत्य की उपादान सामग्री नहीं बन सकता। क्योंकि उस दशा में, चूँकि सत्य स्वयं की श्रमिव्यक्ति कदापि समाप्त नहीं करता तथा कदापि परिवर्तित नहीं होता, इसलिए शसत्य भी स्वय की श्रमिव्यक्ति कदापि समाप्त नहीं करेगा। किन्तु सत्य बसत्य के कारण के रूप में इस बर्थ में भाषरण कर सकता है कि वह असस्य के भागक परिवर्तनों का अधिष्ठान बना रहता है। यह मानना गलत है कि, चूंकि बद्धान का 'प्रज्ञान' उस 'इति' के द्वारा निवृत्त नहीं हो सकता, जो स्वयं 'ग्रज्ञान' की एक ग्रमिव्यक्ति है, ग्रत: ब्रह्म-ज्ञान स्वय ग्रसम्भव हो जाता है, क्योंकि, जहाँ तक बहान एक अन्तर्वस्तु होता है, यह 'अज्ञान' (अन्तर्वस्तु के रूप में) एक 'वृत्ति' द्वारा निवत्त हो सकता है। जीवन्मृत्ति की दशा में यद्यपि सतीत के सत् कर्मों के अवरोधक तत्वों के अभाव एव अन्य अवस्थाओं के द्वारा अन्तिम निवृत्ति में विलम्ब हो सकता है, तथापि यह माना आ सकता है कि ज्ञान के द्वारा इनकी निवृत्ति सम्मव है। कुछ कारण कुछ कार्यों को उत्पन्न कर सकते हैं, किन्तु यदि ऐसी उत्पत्ति में किसी कारण से विलम्ब हो जाय तो इससे कारण का कारणत्व भवेष नहीं हो जाता। शंकरवादियों द्वारा यह स्वीकार करना उचित ही है कि ज्ञान भपरोक्ष रूप से 'मजान' का निवारण करता है तथा वह निवारण स्वयं 'मजान' का एक भाग होता है।

यह मानना गलत है कि जो कुछ काल्पनिक है वह दोषों के कारए। उत्पन्न एक

विचार है बयबा उसका कासवत बारम्य होना चाहिए, किन्तु वह एक ऐसी सृष्टि होनी चाहिए जो उसको उत्पन्न करने वाली कस्पना के समकालीन होती है।

सह मानना भी गलत है कि, विद कोई तत्ता भावकम नहीं है, तो वह समा-वात्मक होनी चाहिए, स्वच्या वार्ट वह समावात्मक नहीं है तो वह भावात्मक होनी चाहिए, क्योंकि सर्देव एक तीसरे विकल्प की संभावना रहती है, जो न मावात्मक है स्रीर न समावास्मक । संकरवाद्यों के सनुवार विक्रम्स नियम तक्वास्मक की एक सस्य मान्यता है स्रीर इस प्रकार वे एक तर्क-वाह्म प्रवार्थ की सम्मावना को स्वीकार करते हैं, जो न मावात्मक होता है न स्नामावत्मक । वह कल्पिय सनुमान ठीक नहीं है कि एक सनादि मावक्प सत्ता सनिवार्यतः सात्मन् के सटहा नित्य होनी चाहिए, क्योंकि केवल सात्मन ही एक मावक्प सत्ता के नियम को उस्त के उदाहरण है।

यह मानना मी ठीक नही है कि, 'ब्रज्ञान' सदा बुढ चैतन्य के द्वारा षिम्ययक्त होता है, इसलिए उसके प्रस्तत्व का कभी घन्त नहीं हो सकता, क्यों कि ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता, क्यों कि ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता, क्यों कि ऐसा कोई नियम नहीं को सम्प्रण प्रसिद्ध कर का क्यों के सम्प्रण प्रसिद्ध कर का स्वारा है वह 'साकी' है कि 'प्रज्ञान' समाप्त हो जाता है, बढ़के साती-चैतन्य बना रहता है। इसके घितिरक्त, जो 'प्रविद्या' प्रमिन्यक होती है वह केवल उसके द्वारा विक्पित घथवा परिसीयत साती-चैतन्य के द्वारा ही प्रशिक्ष कर सकता है। यह मानना प्रमित्व के सात हो प्रमुख्य कि समाप्त कर सकता है। यह मानना मी मतत है कि 'वृत्ति' की प्रक्रिया द्वारा 'प्रविद्या' का प्रस्तित्व समाप्त हो जाता है, क्यों कि ऐसी द्वायों में मी वह प्रयने प्रस्ति क्यां का प्रसिद्ध समाप्त हो जाता है, क्यों कि ऐसी द्वायों में मी वह प्रयने प्रस्ति क्यां का प्रसिद्ध हमाप्त हो जाता है,

जब 'सर्विद्या' की यह परिमाया दी जाती है कि वह अम के उपादान (अमो-पादान) से निर्मित होती है, तब तारुपं यह होता है कि वह परिवर्तनशील एवं बढ़ होती है। यह मानना भी सावस्थक नही है कि एक कारत्य व कार्य अनिवार्यतः मानारमक होने चाहिए, क्योंकि सारमन् जो एक भावास्थक तस्ता है, न तो एक कार्यप्र है और न कार्य। एक उसरान कारत्य का पारिवारिक लक्षण यह है कि उसका अपने समस्त कार्यों से सन्त्य होता है (अन्वयि-कारत्युत्वयुपादान्यते तन्त्रम्), तथा जो एक कार्य होता है उसका सन्तिवार्यतः काल में झारम्म होना चाहिए। जान का मानामा अम का उपादान-कारत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा स्थाब केवस स्वय से सह-वैद्याद मानारसक सत्ता ही को उत्पन्न कर सकता है। धतः वह अम

कल्पितत्व-मात्र हि न दोष-अन्य-घी-भात्र-शरीरत्वे सादित्वे वा तन्त्रम् । किन्तु प्रातिभास-कल्पक-समानकालीन-कल्पकावम् ।

<sup>-&#</sup>x27;मद्रैत-सिद्धि' प्र० ५४४ ।

की उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता, इसलिए यह मानने में कोई ससंगित नहीं है कि
'धकान' सपया भ्रम, विनमें से कोई भी सत्य नहीं है, परस्पर कारण एवं कार्य के रूप
में सर्वाधित होते हैं। यह युक्ति देना भी सही नहीं है कि एक उपादान कारण सदा
भपने सकत कार्यों में एक प्रत्यक्ष निरन्तर संवटक के रूप में स्थित रहना चाहिए, एक
पट के उपादान कारण का रण पट में नहीं गाया जाता। यह तस्य कि, जब सुक्ति
के कान से 'धकान' की निद्दित हो जाती है तब भ्रम की धनुभूति नहीं होती, इस बात
का कोई प्रमाण नहीं है कि 'धकान' भ्रम का एक संवटक नहीं है। कारण एवं कार्य
के रूप में सर्वधित सभी बस्तुए सदा उसी रूप में धनुमव नहीं की जाती। इस प्रकार
'धनावि-मावरणले सति जान-निवर्णलम्' धववा 'अमोपादानलम्' के रूप में 'धकान'
की परिमाषाए सही हैं।

### 'श्रज्ञान' का प्रत्यच

शकरबादियों का धामह है कि 'सज्ञान' का प्रत्यक्ष द्वारा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, बतएव उसका बस्तित्व प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाशित होता है। इस सबंध में व्यासतीयं कहते हैं कि जो अज्ञान का मावात्मक सत्ता के रूप में प्रत्यक्षीकरण माना जाता है वह ज्ञान के समाव के स्थितिरक्त कुछ भी नहीं है। इस प्रकार सह के बाधिष्ठान (ब्रहम-प्रबं) को बजान की मावात्मक सत्ता का एक ब्राधार नहीं माना जाता । बतः मावारमक सज्ञान की बनुभृति के रूप में न होकर 'मैं बज़ हैं' नामक सप्रत्यक्ष की व्याख्या ज्ञान के श्रभाव की श्रनुभृति के रूप मे की जानी चाहिए। पुन:, चैंकि न तो सुख-दु:ख धौर न अस मे जान की गई मिथ्या वस्तुए प्रस्यक्ष रीति से 'साक्षी' चैतन्य द्वारा अभिव्यक्त की जाती है, अनः उक्त ज्ञान के अभाव की व्याक्या (यथा, 'मैं सुख को नही जानता,' 'मैं दुःख को नही जानता,' 'मैं बुक्ति-रजन को नहीं जानता') ज्ञान के निषेध के रूप मे की जानी चाहिए, न कि मावात्मक प्रज्ञान के धनुमव के रूप में । इसी प्रकार, जब कोई कहता है कि 'जो कुछ धाप कहते हैं उसे मै नहीं जानता,' तब केवल ज्ञान के निषेध का प्रनुभव होता है, मावात्मक प्रज्ञान का नहीं। परोक्ष ज्ञान में भी, चुंकि विषय के पाहवें से 'धज्ञान' के बावरए। के प्रत्यक्ष निवारए से प्रकाश उत्पन्न नहीं होता, इसलिए यह सिद्धान्त, कि ऐसा सकल जान जिसमें 'श्रज्ञान' के निवारण का समावेश नहीं होता उसमें भावात्मक श्रज्ञान का समाविष्ट रहता है, हमें इस स्थित में प्रविष्ट करा देशा कि जब परोक्षे ज्ञान में कुछ ज्ञात किया जाता है, तब एक व्यक्ति को ऐसा प्रतीत होना चाहिए मानो उसने उसे ज्ञात नहीं किया, क्योंकि यहाँ किसी 'धज्ञान' का प्रत्यक्ष निवारण नहीं होता।

शंकरवादी मत के धनुसार यह स्वीकार नहीं किया जाता है कि जड़ पदार्थों को धाइक्त करने वाला कोई धावरए। होता है, फलतः 'धाप जो कहते हैं उसे मैं नहीं

जानता 'जैसे उदाहरएों में बन्नान के बनुभव की व्याख्या एक मावात्मक सन्नान की मान्यता में नहीं बहिक ज्ञान के धमाव की मान्यता में पाई जाती है। यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि विषयों को आवृत्त करने वाला कोई भावरए। नहीं होता, तथापि यही जह सुष्टियाँ 'बजान' के 'विक्षेप'-पक्ष का प्रतिनिधित्व करती हैं बतएव धजात विषयों का अनुभव मावात्मक 'अज्ञान' के अनुभव का प्रतिनिधित्व करता है. क्यों कि 'श्रज्ञान' सम्टियाँ सदा ज्ञान को अवस्त्र नहीं करती । जैसे उदाहरण के लिए. अब एक घट घट के रूप में जात होना है, तब यदि कोई कहे कि यह एक पट है न कि घट तो उससे घट के प्रत्यक्षकर्ता में सम्भ्रान्ति उत्पन्न नही होती. यद्यपि यह मानना चाहिए कि वक्ता के भामक शब्द एक मिथ्या संस्कार-'धजान' के एक 'विक्षेप'-को उत्पन्न करते हैं। बागे यह बताया जायगा कि किसी जड विषय के संबंध में 'मैं नहीं जानता हैं प्रमुख जड़ गुरोों से अविच्छन गुढ़ चैतन्य का उल्लेख नहीं करता। शब्द चैतन्य के प्रतिबिम्ब की व्याख्या के लिये जो मत 'वृत्ति' को स्वीकार करता है, उसके धनुसार जड उपाधियों में चैतन्य को बावत्त करने वाले 'बजान' को स्वीकृत नही किया जा सकता । इसके अतिरिक्त, यदि 'मैं प्रज हैं' (अहमजः) धनुमव की व्यास्था 'सजान' के अपरोक्ष ज्ञान के रूप में की जाती है तथा 'सफ मे जान नहीं है' (मिय ज्ञान नास्ति) जनमब से मिन्न की जाती है तो दो तर्ज-बाक्य 'घट-रहित भूमि' एवं 'भीम पर क'ई घट नहीं है' सर्थ में मिन्न हो जाते है-जो धनगंत है. क्योंकि निस्चय ही ये दो तकं-बावस ग्रन्थ दो तकं-बावसो की माँति, यथा 'मुक्क से इच्छा है' एव 'सुक्क में ग्रनिच्छा नहीं है. यथ में भिन्न नहीं है। ज्ञान के ग्रमाय एवं ग्रज्ञान के दो प्रत्ययो में काई मेद नहीं है। पून, जब एक व्यक्ति ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेदांत के बन्धासन से नियंत्रित होता है, उस समय ब्रह्म-ज्ञान का प्रागमाव होता है, क्योंकि. यदि ऐसा न होता तो ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो जायगा और वेदात के अनुशासन की कोई भावस्यकता नहीं होगी। अब एक प्रागम। व उस सना के ज्ञान के बिना जात नहीं किया जा सकता जिसका वह उल्लेख करता है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय तो बहान के ज्ञान के बिना उसके प्राप्ताय का कोई ज्ञान नहीं हो सकता, और, यदि उक्त झान होता है. तो बह्मन जात हो जाता है, और, यदि यह माना जाय कि ब्रह्म-ज्ञान का उक्त प्रभाव एक मावात्मक सत्ता के रूप में प्रपरीक्ष ज्ञान द्वारा ज्ञात किया जाता है (जैसा कि अज्ञान के अपराक्ष ज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार होगा), तो ब्रह्मन मी अपने प्राथमान की अवस्था में अपरोक्ष रूप ने ज्ञान होगा, जो आत्म-विराधी है।

जडेन जानामीत्यनुभवस्य बड़ाविष्यक्तः
 चैतन्य विषय इति चेत्र निरसिष्यमास्त्वान ।

<sup>-&#</sup>x27;न्यायामृत' पृ॰ ३०६ (स) ।

इसके ब्रतिरिक्त 'बज्ञान' का प्रत्यय स्पष्टतः ज्ञान के ब्रभाव का प्रत्यय है, जैसाकि 'मैं नहीं जानता' वाक्य में है। 'मैं श्रम हैं' जैसे उदाहरुखों में भी श्रमाव का अर्थ स्पष्ट होता है, यद्यपि यहाँ कोई निवेधारमक किया-चिल्ल नहीं है। 'विवरण' मी 'सजान' का जान से विरोध स्वीकार करता है, सौर यदि यह मान लिया जाय, तो उक्त विरोध का ज्ञान होते हुए 'सज्ञान' का एक मावात्मक सत्ता के रूप में ज्ञान नहीं होगा, भौर ऐसे विरोध के ज्ञान के बिना 'सज्ञान' का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि यह 'सक्कान' का सनिवार्य प्रत्वय होता है। ऐसे ज्ञान का समाव जो उस विषय का उस्लेख करता है जिसका निवेध किया गया है यदि स्वय ज्ञान की पुच्छा के विषय के रूप में प्रहरा किया जाय तो वह भी उक्त उल्लेख कदाचित् न करेगा। इस प्रकार ऐसी कोई विधि नहीं है जिसके अनुसार 'अज्ञान' ज्ञान के अजाव के अतिरिक्त कुछ ग्रन्थ माना जा सके, भीर यह मान्यता गलत है कि यद्यपि शज्ञान के विश्लेषलात्मक प्रत्यय में दो सम्रटक-ज्ञान एवं उसका निषेध-होते हैं तथापि वह एक ऐसे मावारमक प्रस्थय का नाम है जिसमें इन संघटकों का समावेश नहीं होता । विद 'मज्ञान' 'बुलि-ज्ञान' से निवृत्त हो सकता है तो यह यानना धनावश्यक है कि उसका उस धर्य से मिन्न कोई धर्य हो सकता है जो जान के विशेषण के रूप में उसके सचटक निषेधात्मक ध्रश के द्वारा लक्षित होता है। अनुभव भी यह बताता है कि 'सज्ञान' का ज्ञान के सभाव के स्रतिरिक्त सन्य कोई सर्थ (नहीं होता, इसलिए, जबतक 'सज्जान' द्वारा परिलक्षित प्रतियोगी सत्ता ज्ञात नहीं हो जाती तबतक 'ग्रज्ञान' का कोई ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु चूँकि ऐसी प्रतियोगी सत्ता स्वयं यह ब्रह्म-क्रान है जिसका 'अज्ञान' से कोई साहच्यं नहीं होता, इसलिए परिलक्षित प्रतियोगी मत्ता के समावेश ने उक्त प्रत्यय ससम्भव हो जायगा, सतः 'सज्ञान' का कोई ज्ञान नहीं हो सकता ।"

शंकरवादियों डारा दिया गया उत्तर यह है कि 'सज्ञान' डारा परिनक्षित प्रतियागी सहा-तान होता है सौर यह बहु-तान साथी- नेनन्य के रूप में 'स्वान' का प्रत्यापक होने के कारए। उसका विरोधी नहीं होता, त्योंकिन के प्रत्या के स्वान्त मनत् ही 'सज्ञान' के विरोध में होता है। डससिए साथी-चैतन्य के रूप में बहु-तान एव 'सज्ञान' में कोई विरोध न होने के कारए। तथा इस तथ्य के होते हुए सी बहु-तान

मानाभावोऽपि हि प्रमेयत्वादिनाझाने प्रतियोध्यदि-ज्ञानानपेक्षएतेन निपुरो कुशलादि
 शब्दबत् भाव-रूप-जाने मज्ञानशब्दो रूढ इति निरस्तम् ।

<sup>-&#</sup>x27;न्यायामृत' पृ० ३१२ ।

प्रिप च माव-स्पाजानावच्छेदक-विषयस्याज्ञाने स्रज्ञान-ज्ञानायोगात् ज्ञाने च स्रज्ञान-सैवामाबात् कवं माव-स्पाजानज्ञानम् ।

<sup>-</sup>बही, पृ० ३१३।

एक बर्च में उसके द्वारा परिलक्षित प्रतियोगी के रूप में उसका संघटक होता है। 'धक्रान' का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है। किन्त उत्तर में यह निर्देश किया जा सकता है कि ब्रह्म-ज्ञान की चेतना स्वयं साक्षी-चैतन्य होती है, 'मैं नहीं जानता 'धनमव' 'इलि-जान' का निवेध होता है. बतएव 'इलि-जान' के न होने पर भी उसका साक्षी-चैतन्य के प्रति उल्लेख किया जा सकता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में प्रति-पादित यह हल कि 'सकान' जान के सभाव के सतिरिक्त कछ भी नहीं है ठीक वहीं है जो 'प्रज्ञान' को एक माबात्मक सत्ता मानने वाले सिद्धान्त द्वारा प्रस्तत किया आता है। यदि यह तक दिया जाय कि यदापि जान का निवेध एक सामान्य रूप में परि-लक्षित प्रतियोगी से किसी ऐसे व्यक्त सम्बन्ध के अन्तर्भाव से रहित एक भावात्मक सक्रान के रूप में भासित हो सकता है-तो इसका उत्तर यह है कि यदि इस तक को मान भी लिया जाय तो भी उससे एक भावारमक बजान की स्वीकृति को कोई समर्थन प्राप्त नहीं होता. क्योंकि ज्ञान के निषेध के उदाहरला में भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि बर्खाप वह मामान्यत: एक परिलक्षित प्रतियोगी से सम्बन्धित हो. तथापि सम्मवतः किसी विशिष्ट दक्षा मे उसमें सदा उक्त संबंध का समावेश न मी रहे। कछ के द्वारा धाने यह बाग्रह किया जाता है कि एक सत्ता अपरोक्ष रूप से जात की आ सकती है तथा उक्त ज्ञान में सदा उस सत्ता के द्वारा परिमक्षित विशिष्ट संबंधों का सदा समावेश नहीं होता है, केवल पश्चादक्त प्रकार का जान ही संशय को ससम्मव बनाता है। किन्तु यह तथ्य कि एक जात किये गए विषय के प्रति संशय हो सकता है. स्पष्टत: प्रकट करता है कि एक विषय अपने विशिष्ट एवं निषेधात्मक सबंधों की तात्कालिक प्रभिव्यक्ति के बिना भी ज्ञान किया जा सकता है।

इसके प्रतिरिक्त, यदि 'अज्ञान' को 'व्हिन-जान' के द्वारा यहुल नहीं किया जा सकता तो 'यज्ञान' के सम्बन्ध में प्रमुखन की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। अब कोई यह कहता है 'साप इसका रहस्य नहीं जानते' तो जिस लोता के सम्भुख परोक्ष जानतासक दृष्टि के द्वारा रहस्य का उद्घटन किया जाता है, उसके सम्भुख यदि एक 'इति-जान' के माध्यम से 'यज्ञान' अन्तुत नहीं किया जाता तो उसे 'यज्ञान' की बेतना ही नहीं हो सकती थी। यह नहीं कहा जा सकता कि परोक्ष जानात्मक वृद्धि कर 'प्रकान' से विरोध नहीं होता, क्यों कि परि एक परोक्ष जानात्मक वृद्धि कहा जा सकता कि परोक्ष जानात्मक वृद्धि का प्रकार के प्रमुखि हो जान के द्वारा किया जा जान होने पर मी एक व्यक्ति को यह प्रनुपृति हो सकती है कि उत्योग उसे जा नहीं किया। यह प्रक्रमादियों द्वारा यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्यक्षीकरण के नाध्यम से प्राप्त प्रपरोक्ष ज्ञान की 'वृद्धि' 'यज्ञान' से विरोध में होती है, और यदि परोक्ष ज्ञान की वृद्धि भी 'यज्ञान' से विरोध में होती है तो ऐसी कोई मानसिक 'वृद्धि' केय नहीं रह जाती, जिसके द्वारा 'यज्ञान' अत

स्युप्ति का यह अनुभव (मैं श्रवतक कुछ भी नहीं जानता था) भी शान के धमाद का उल्लेख करता है, न कि किसी आवात्मक धन्नान का । यह नहीं कहा आ सकता कि चंकि उस काल में (प्रत्यक्षकर्ता श्रववा किसी ग्रन्य सामग्री की चेतना न होने के कारए।) बन्य सर्व ज्ञान समाप्त हो जाता है, बत: ज्ञान के बनाव की भी कोई बैतना नहीं हो सकती, क्योंकि माबात्मक बजान के बनुभव के प्रति भी यही ब्रापत्ति होगी। यदि यह बाग्रह किया जाय कि उक्त शबस्था में 'ब्रज्ञान' एक भावात्मक सत्ता के रूप में साक्षात अनुभत होना है किन्तु अपने विशिष्ट परिलक्षित प्रतियोगी से उसका संबधीकरण केवल जावन अवस्था ही में प्रकट होता है, तो यही व्याख्या समान भौचित्य से उस दशा में भी दी जा सकती है जबकि नृष्टित का अनुसर ज्ञान के अभाव का सन्भव माना जाय, क्योंकि ज्ञान के समाव का सन्भव भी सपने परिलक्षित प्रति-योगी से किसी संबंध के बिना एक जातब्य सत्ता के रूप में किया जा सकता है, धथवा सुष्यित में प्रज्ञान के तथा-कथित धनभव की व्याख्या जायत शवस्था की भौतिक एवं शारीरिक भवस्थाओं मे ज्ञान के भ्रमाव के भ्रनुमान के रूप मे की जा सकती है। शंकरवादी नत में भी चुकि उक्त सवस्या में बहा बहन् की अनुभूति नहीं की जा सकती, इसलिए 'मुफे कुछ मी ज्ञात नहीं था' का अनुभव एक अर्थ में मिथ्या माना जाना चाहिए। यदि यह बाबह किया जाय कि सुवृत्ति मे 'बज्ञान' एक 'ब्रविद्या-इति' के माध्यम से प्रतिबिध्यत होने के कारण 'साक्षि-चैनस्य' के द्वारा ज्ञात किया जाता है तो बह समान भौचित्य से जाग्रतावस्था में भी उसी हम में अपन किया जा सकता है। यदि उमे साक्षि-चैतन्य द्वारा अपरोक्ष रूप में जात किया गया माना जाय तो वह एक नित्य सजान होने के कारण उसका कोई मन सरकार नहीं होगा और उसका स्मरण नहीं हो सकेगा। इसके ग्रांतिरिक्त याद यह स्वीकार न किया जाय कि सुपृष्ति में शकान का स्रभाव जाग्रतावस्था की स्रवस्थाओं से सनमान के रूप में फलित होता है, तो सर्पाप्त-अवस्था में बजान के ब्राभाव का किसी बन्य प्रकार से सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि उसको एक भावात्मक 'सज्ञान' से अनुमित नहीं किया जा सकता च कि ज्ञान का समाव 'जड' होने के कारका कपने साहचर्य में एक ग्रावरसा-तत्व के रूप में किसी 'ग्रजान' को नहीं रखता। इसके ग्रांतरिक्त, यदि एक भावात्मक सत्ता के रूप में 'ग्रज्ञान' में मदा जान के ग्रभाव का ग्रन्मिन किया जा सकता है, तो मूप्प्ति अवस्था मे राग के अभाव मे भावात्मक द्वेप को अनुमित करना पडेगा। इस प्रकार 'ग्रजान' को कदापि ग्रपरोक्ष ज्ञान का विधय नही माना जा सकता ।

मधुसूदन का उत्तर यह है कि यद्यपि प्रत्यक्ष खहम् 'स्रज्ञान' का स्रविष्ठात नहीं हो सकता, तथापि श्रृ कि सन्तःकरण का स्रथानी कारणावस्था में 'स्रज्ञान' के स्रविष्ठान सद्ध चैतन्य से सिध्या तादारस्य हाना है, सत् 'स्रज्ञान' प्रत्यक्ष स्रद्रम के साहस्य में में वासित होता है। इसके डारा ही चुडुप्ति के 'लुके कुछ भी जात नहीं वा' प्रजूपक की ब्यास्था की जाती है। "मैं घट को जानता हैं प्रजूपक की ब्यास में जी यहाँप घट पर कोई धावरए। नहीं हो ककता, किर मी, चुँकि 'खबान' का धावरकान चटाइति वे परिचिद्ध में चैतन्य होता है, इसलिए यह धायता होता है कि चटाइति हम्में 'खबान' के धावरए। का विषय होती है। यह धायति भी धवेच है कि परोश्नं जान में विषय पर 'खबान' का धावरए। होने के कारए। चेतना का धमाब होना चाहिए, क्योंकि बाता के 'धबान' का मावरए। होने के कारए। चेतना का प्रमाब होना चाहिए, क्योंकि बाता के डाए अवस्त्र नहीं किया जा सकता।

ज्यासतीर्थ की यह धापत्ति सबैध है कि 'धजान' केवल जान का सामास है धतएव 'धजान' को एक माबारमक सत्ता के क्य में प्रत्यक्षकर्ता में स्थित मानने के स्थान पर केवल ज्ञान के समाव को स्थीकार करना स्थिक सम्यक् है, क्योंकि उक्त रूप में जान के समाव का धनुभव सबैध होता है, चैंकि समाव में एक संघटक के रूप में परिलक्षित प्रतियोगी का समावेश होता है। यह ज्ञात करने के लिए कि 'सूक्ष में कोई ज्ञान नहीं हैं मुक्त में ज्ञान का ज्ञान होना चाहिए जो बात्स-विरोधी है। किसी परिलक्षित प्रतियोगी से किसी संबंध के समावेश के बिना प्रत्यक्षकर्ती में जात के प्रमाव का प्रमुख केवल भावारमक 'सज्जान' की दशा में वैध हो सकता है। एक विशिष्ट धमाव एक सामान्य धमाव के रूप में कमी मासित नहीं हो सकता, क्योंकि यदि यह मान निया जाय, तो मेज पर एक पुस्तक के होने पर भी मेज पर कोई भी पुस्तक के न होने का अनुभव हो सकता है, क्योंकि प्रतिपक्षी के प्रस्तावित सिद्धात के अनुसार इस अथवा उस पुस्तक का विशिष्ट अभाव एक सामान्य अभाव के रूप में भासित होना चाहिए। मध्सदन का अध्रह है कि अभावों में भेद विश्व अभावों के भेद पर निर्भर नहीं करता, वरन उनके संबटक परिलक्षित प्रतियोगियों के भेदों पर निर्मर करता है। इस प्रकार यह असम्भव है कि स्वयं के बजान के अनुभव की व्याख्या इस मान्यता के बाधार पर की जा सकती है कि उक्त बनुभव बभाव के बनुसार उल्लेख करता है. क्योंकि यह पहले ही बताया जा चका है कि ऐसा आगास न तो विशिष्ट हो सकता है धीर न सामान्य । धन: धजान का धनमद इस मादात्मक सत्ता का धनुमद माना जाना चाहिए।

किन्तु यह तर्क किया जा सकता है कि 'प्रज्ञान' के प्रत्यय में भी विरोध के द्वारा ज्ञान के प्रति उल्लेख समाविष्ट रहता है , प्रतप्य यह जिस्त होता है कि ज्ञान उसका एक संघटक है, इसलिए प्रभाव के प्रत्यक के विरोध में उठाई गई सभी प्रापत्तियों समान प्रीचित्य से 'प्रज्ञान' के प्रत्यय पर भी लागू होती हैं। इसका उत्तर यह है कि एंकर-वादी मत के प्रतृत्वार विश्वद 'साक्ष' चैतन्य एक हो समय में 'श्रज्ञान' एवं उससे प्राहत विषय को उनमें हैं किसी के भी विनाध व संकोषन के विना बहुए कर नेता है।

धत: किसी भी बारम-विरोध की कोई सम्मावना नहीं रहती, क्योंकि 'धज्ञान' की चेतना में उसका निवेच करने वाली किसी भी प्रक्रिया का समावेश नहीं होता । यदि प्रतिपक्षी के द्वारा यह तक किया जाय कि अभाव की चेतना के उदाहरता में मी इसी प्रकार का उत्तर सम्मव है (इस मान्यता पर कि समाव का विषय 'साक्षि'-चैतन्य के द्वारा भपरोक्ष ज्ञात किया जाता है), तो मधुसूदन का उत्तर यह है कि चैंकि 'श्रज्ञान' 'साक्षि'-चैतन्य के द्वारा जात किया जा सकता है, बतः उसी प्रकार से उसका परिलक्षित प्रतियोगी भी जात कर लिया जाता है, किन्त, चैकि समाव 'साक्षि'-चैतन्य द्वारा प्रपरोक्ष जात नहीं किए जाते. परन्त केवल 'भनपल विथ' नामक प्रमास के द्वारा ज्ञात किए जाते हैं, इसलिए 'धज्ञान' का परिलक्षित प्रतियोगी भी 'साक्षि' द्वारा ज्ञात नहीं किया जा सकता। यह तर्क नहीं किया जा सकता कि जान की माँति प्रजाब भी 'सालि' चैतन्य के द्वारा सभिव्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि जान में समाव का धनस्तित्व धन्तिनिहित होता है, धतएव दोनों एक ही काल में 'साक्षि-वैतन्य' द्वारा समिष्यक्त नहीं किए जा सकते, किन्तु धनूत्पन्न ज्ञान 'सज्ञान' के प्रति एक गुसारमक संबंध में प्रकट हो जाता है, क्योंकि सबंध गुरगत्मक होने के काररा दोनों मैं कोई ब्याधात नहीं होता तथा इस प्रकार 'सजान' के जान की सम्मावना की व्याख्या हो जाती है। शकरवादी यह स्वीकार नहीं करते कि एक विशिष्ट सत्ता के जान में विशेषण के ज्ञान की पूर्वकल्पना होती है, अतएव यह आपत्ति अवैध है कि 'अज्ञान' की परिलक्षित प्रतियोगी सत्ताका पूर्व ज्ञान न होने के कारण उक्त परिलक्षित प्रतियोगी 'ग्रजान' के विशिष्ट संघटक के कप ने विद्यमान नहीं हो सकता ।

एक यह घापिल उठाई जा सकती है कि, बुंकि बहु-आन एक निश्चित धनुशासन-प्रणाली हारा प्राप्त किया जाता है, इसिनए जबतक उसे पूरा नहीं कर विधा जाता तब तक बहु-सान का प्राप्ताब होता है तथा इत प्रकार के धमाय की स्वीइति से संकरपादी उसी धालोचना के तक्ष्य बन जाते हैं जिससे वे बचना चाहते हैं। इसका उत्तर इस मत में पाया जाता है कि यही प्राप्ताब को मानने के स्थान पर सकरवादी यह मानते हैं कि या तो बहा का आन हो सकता है या उसके सम्बन्ध में 'सम्बान' हो

प्रमाग्-इत्ति-निवर्यस्यापि माव-रूपाज्ञानस्य साक्ष-वेद्यस्य विरोधि-निरूपक-ज्ञान-तद्-व्यावर्तक-विषय-श्राहकेश्-साक्षिश्गा तत्साथकेन तदनाशाद् व्याह्रस्यनुपपत्ते: ।
 --प्यद्वेत-विद्वि प० ४४० ।

न च प्रवच्छेदकस्य विषयाचैः प्रागज्ञाने कर्य तद्विविधिष्टाज्ञान-कानम् । विधेषल्-ज्ञानाधीनत्वाद्विधिष्ट-ज्ञानस्येति वाच्यं विधेषल्-ज्ञानस्य विधिष्ट-ज्ञान-ज्ञानत्वे मानाभावत् ।

<sup>-</sup>बाईत-सिद्धिः पु० ४४० ।

सकता है, प्रयात बहा-सान के संबंध में वे एक माव-रूप 'श्रमान' को मानते हैं, प्रीर इस प्रकार कोई विरोध नहीं होता ।

व्यासतीयं का तकं है कि किसी सत्ता के प्रवाद में प्रनिवार्यतः उसके ज्ञान के संघटक के रूप में बपने विशिष्ट संबंधी सहित किसी विशेष सता का ज्ञान धन्तर्निहित नहीं होता तथा ऐसा ज्ञान परिलक्षित प्रतियोगी की विशेषताओं के प्रति किसी विशिष्ट उल्लेख के बिना भी उत्पन्न हो सकता है। 'मैं श्रव हैं' नामक धनुमव में मनस के समक्ष कोई परिलक्षित प्रतियोगी उपस्थित नहीं रहता है. तथा केवल सामान्य रूप में सत्ताओं का उल्लेख होता है। उक्त मत के मनुसार, चुंकि परिलक्षित प्रतियोगी का ज्ञान समाव के ज्ञान का एक संघटक नहीं होता, इसलिए इस साधार पर कोई विरोध नहीं होता कि चंकि समाव की स्वीकृति परिसक्तित प्रतियोगी के सबंघ में की जाती है. यत: एक संघटक के रूप में उसकी उपस्थित बसम्मव है। इसके प्रति मध्सदन का उत्तर यह है कि किसी भी विशेष सत्ता का ग्रमाव उस सत्ता के विशिष्ट सम्बन्धों के बिना केवल एक सामान्य प्रसंग में प्रकट नहीं हो सकता। यदि यह बाग्रह किया जाय कि कोई प्राथमान एक सबटक के रूप में परिसक्षित प्रतियोगी की विशिष्ट विशेषतायां के साहचर्य में प्रकट नहीं हा सकता और सकल प्राथभाव केवल एक सामान्य प्रसग में ही प्रकट हो सकते हैं. तो इस धालोचना का मध्सदन द्वारा यह उत्तर दिया जाता है कि ऐसे प्रामभाव, जो अपने परिनक्षित प्रतियोगी से केवल एक सामान्य प्रमग में माहचर्य रखते हैं, असिद्ध होते हैं। " मधुमुदन के प्रतिपक्षी को यह तक करते हुए कल्पित किया गया है कि एक सभाव में परिलक्षित प्रतियोगी के स्वरूप में केवल उस विशेष सामग्री का समावेश होता है जो निषेष की गई वस्तु अथवा वस्तुयों में अतिहित लक्षरा होता है। ऐसे लक्षरा बस्ततः धमाव के ज्ञान की सामग्री होने के नाते. निषेध की गई वस्त अथवा वस्त्यों की परिलक्षित सीमा का निर्माण करते हैं. किन्त ऐसा बस्तगत उल्लेख किसी ग्रजाब के जान के लिए सर्वथा श्रप्रासंगिक होता है। समाव के ज्ञान में स्मिनवार्य तो निषेध की गई वह सामग्री होती है जिसमें बस्तुयों से सम्बंधित नक्षण का समावेश होता है. बतगब बनाव के शान में बन्तर्निहित परिलक्षित प्रतियोगी केवल उन्हीं सक्षाणों का उल्लेख करता है जो धनुभव में मनो-वैशानिक दृष्टि से प्रत्यक्ष होते हैं तथा उनसे यह लक्षित नही होता कि वे निवेध की गई वस्तुओं के वस्तुमत दृष्टि से पारिमाधिक लक्षण होते हैं। इस प्रकार, चंकि ऐसे मत के अनुसार अभाव के जान में निषेध की गई वस्तकों का जान एक सघटक के रूप में ग्रन्तिनिहत नहीं होता इसलिए शंकरवादियां द्वारा बताया गया कोई विरोध उत्पन्न

प्रतियोगितावण्छेदक प्रकारक-ज्ञानाभावेन प्रागमाव-प्रतीतिरसिद्धैव :

नहीं होता । इसके प्रति जबुतुबन कहते हैं कि ऐसा उत्तर उनके द्वारा पहले ही से सायों से सारापों से कोई रखा प्रयान नहीं करता, क्यों कि प्रतिकारी यह सोचते हुए प्रतित होते हैं कि यह यथेव्य होगा यदि एक सवाव में समाविष्ट परिस्तित प्रतियोगी समाव के बान का एक पारिसाधिक लक्ष्मण माना बाय तथा उसमें इस माण्यता का समावेश न हो कि साथ ही नह निषेच किये गये विषयों का पारिपाधिक लक्ष्मण होता है तथा में यह मानते हैं कि प्रभाव के बान में किय किये वस्तु क्यों निषेच किया लाता है तथा में यह मानते हैं कि प्रभाव के बान में किय किये करते होती है, और पारिपाधिक निष्या में प्रकट होती है। हो पार्थ में प्रकट होती है। इस मान किया ने प्रमाव का एक सामान्य क्यों अनुवाद हो सकता है स्थांकि प्रतिवाद किया मान का स्थान के साम का से प्रमाव होते हैं। इस प्रभाव को के प्रमाव का एक सामान्य उन्तेस होती है। इस प्रभाव को के कहता है मुम्पे बान नहीं हैं, तब यदि यही बान का केवल एक सामान्य उन्तेस होता है, तो यह बावय सर्वहीत हो जाता है, क्योंकि प्रान होते पर प्रमाव के स्थान के स्थान का किया का सामान्य उन्तेस होता है, तो यह बावय सर्वहीत हो जाता है, क्योंकि प्रान होते का प्रमाव का स्थान होते के बारए यह क्या है, और उक्त बावय में बान के प्रभाव का एक सामान्य उन्तेस होने के कारए यह क्यां होता के न होने की मान्यता का ही विरोध करता है।

यह पायह किया जा सकता है कि यदि प्रमाद के ज्ञान की उपयुंत पति देते हैं कि प्रमाद कर मानवार पर मी लागू होगी । इसका मयुद्धन यह उत्तर देते हैं कि प्रमादा को मानवे की कोई मानवक्त जा नहीं है, क्यों कि तवाक विश्व प्रमादा का वास्तरिक क्षमें मानवे की कोई मानवक्त मानवे की कोई मानवक्त मानवे की कोई मानवक्त मानविक का काल-वस्तु के प्रतिरिक्त कोई प्रमाद ताल्य नहीं होता जो किसी विषय प्रथमा वसके दिनाश से मीमिन नहीं होती—देशा विषय मानवक्त का परित्तित प्रविचारी माना जाता है। भिवस्य का भी मही धर्म होता है। देता करने में यह प्यान रखने की बात है कि उत्पत्ति की परिमाया एक ऐसे विश्वाप्ट सबस के रूप में दी जानी चाहिए जो धारविक्त होता है, क्यों कि उत्पत्ति के माध्यम से परिमायित किया जा सकती, वुंकि प्रामाव को केवल उत्पत्ति के माध्यम से परिमायित किया जा सकता है, मतत्त्व वर्ष प्रामाय को केवल उत्पत्ति के माध्यम से परिमायित किया जा सकता है, मतत्त्व वर्ष प्रामाय को उत्पत्ति की परिमाया का स्वयन्त कना दिया जाय तो इसमें एक दुष्ट-कक का समावेश हो जाता है। धरा, यदि प्रामाय को माना भी जाय, तो यह बताना कठिन होगा कि उसका जान की हो सकता है, और दूसरी भी, यदि हम प्रामाय के एक पुषक वर्ष के क्या में न माने तो हमारे को हानि नहीं होती। एक प्रामाय में मनतिविद्व समाद, जहाँ तक प्रमाद-माण का सबस निहीं होती। एक प्रामाय में मनतिविद्व समाद, जहाँ तक प्रमाद-माण का सबस न नहीं होती। एक प्रामाय में मनतिविद्व समाद, जहाँ तक प्रमाद-माण का सबस न नहीं होती।

मविष्यत्वं च प्रतियोगि-तद् व्वंसानाचार-काल-सम्बन्धित्वस् ।

<sup>--</sup> प्रदेत-सिद्धिं पृ० ४४२।

है, निवेध किये गये विषय के एक काल-विशेष में घमाव के समनूत्य होता है, जिसकी धन्तर्वस्तु के रूप में एक विशेष काल से परिच्छित्र एक विशेषामाव होता है, जहाँ विशिष्ट विषय केवल एक सामान्य संबंध में प्रकट होता है। इसका विश्लेषणा यह बताता है कि प्राथमान में वर्समान से परिच्छित्र एक विशिष्ट विषय का प्रमाव होता है. फिर भी बह विजिन्ट विषय प्रापने विजिन्ट एवं विजेष स्वरूप में प्रकट नहीं होता. बर्लिक केवल एक सामान्य रूप में प्रकट होता है।" यहाँ यह द्विविधा उत्पन्न होती है कि एक विशिष्ट विषय का समाव (विशेषाभाव) अपने परिलक्षित प्रतियोगी की सन्त-वंस्तु के रूप में निवेध की गई वस्तु की विशेषताओं का समावेश किये बिना, केवल उसके सामान्य बमं को नहीं रख सकता, और यदि ऐसा है, तो उक्त शर्त को समाविष्ट करने वाला कोई प्राथमाव नहीं हो सकता । पून:, यदि उसकी सम्भावना को स्वीकार किया जाय, तो 'सामान्याभाव' असम्भव होता है, क्योंकि काल अथवा विषय की किसी प्रकार की विशेषता द्वारा परिच्छित्र कोई भी झभाव एक 'सामान्यामाव' कहलाने का अधिकारी नहीं होगा। इस प्रकार प्रागमाव और सामान्यामाव दोनों के प्रत्यय अन्यान्याश्रित प्रतीत होते हैं तथा एक दूसरे को इस प्रकार अवच्छ करते है किउनमें से किसी को मी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इन सब उदाहरखों में मधुमुदन का मुख्य तक यह है कि किसी भी अभाव के परिलक्षित प्रतियोगी के रूप में कोई भी विशिष्ट विषय विशेषता से सर्वाधत हुए बिना केवल एक सामान्य रूप में प्रकट नहीं हो सकता। इस प्रकार, जब कोई कहता है 'मैं सब हैं' नव उक्त तक वाक्य को समाविष्ट करने वाला अनुभव केवल एक सामान्य पक्ष में प्रकट होने वाले एक 'वशेष विषय के समाव का सन्भव नहीं होता। यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो 'मैं बज हैं' मैं समाजिष्ट बनुभव को व्याख्या एक सामान्याभाव के अनु-मव के रूप में नहीं की जासकती।

पुनः, यह एक लामान्य धनुमन की बात है कि धमाय का धिष्ठान-मात्र ही स्वय धमाय की चेता को उत्पन्न कर नकता है, इस मकार रिक्त स्थान भी उस पर घट के धमाय का सुपक होता है। इस टिप्टकोला से देवने पर, भावारमक सताए भी धमाय के बोध को उत्पन्न कर सकती हैं। यह सुस्काद देना गनत है कि परि-लाखत प्रतियोगी का स्वरूप धमाय के स्वरूप की परियाचा देता है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो यह धसपमय होता कि विभिन्न धमाय, प्राथमान, प्रवासमय इत्यादि विक्त-सम्बद्ध स्थान के प्रवासमय इत्यादि विक्त-सम्बद्ध स्थान के स्वरूप की परित्रिक्त धमायों के स्याप मात्र प्रवासमय इत्यादि विक्त-सम्बद्ध स्थान के में प्राथमान करायोगी होता है। ममुसूर के सत के धनुसार धमाय के मेद भावारमक सताओं के भेदों की मीति विस्था धारोपयों के कारण होते हैं।

इहैदानीं घटो नास्तीति प्रतीतिस्तु सामान्य-वर्माविष्युत्र-प्रतियोगिताकतत्-काला-विष्युत्र-पावश्चित्रेवामाव-विषया।
 —बही, पृ० ११३।

यदि यह भी मान तिया जाय कि कैवल एक ही यजात होता है, जो विभिन्न
सबस्याथों में मिल-निक्त प्रतीत होता है, तो शक्तवादी कोई नी सापति नहीं उठा
ककों, क्योंकि उनके सनुसार समान धौर नाव दोनों निक्या सारीयए-मान हैं।
किन्तु ममुद्रवन निर्देश करते हैं कि पूर्क 'मैं सक्त हूँ' सनुमन (उपरोक्त मर्ममेसी
विश्लेषए के पत्त्वात् भी) सपने उद्दाम के रूप में किसी समान को प्रकट नहीं करता,
इस्तिए यह मानना पड़ेगा कि वह 'सक्षान' की जाव-रूप सता के सनुसन के कारए।
होना है।

इसलिए मधुसूदन बागे यह बाबह करते है कि सुषुष्ति के बनुमव, बर्बात् 'मैंने इतने समय तक कुछ भी जात नहीं किया,' का आवताबस्या में सप्रत्यक्ष एक मावरूप 'सज्ञान' का उल्लेख करता है। सब यदि यह संप्रत्यक्ष एक प्रनुमान है, तो प्रनिपक्षी निर्देश करता है कि वह जान के समाव का सनुमान हो सकना है, न कि मावाश्मक ग्रज्ञान का प्रज्ञान । क्योंकि एक व्यक्ति यह धनुमान कर सकता है कि, चुंकि उसका धस्तित्व या ग्रीर दो जायत श्रवस्थाओं के मध्यान्तर में उसकी मानसिक दुनि थी, इसलिए वह द्वति-ज्ञान के बमाव की द्वति होनी चाहिए थी। नप्रत्यक्ष स्मृति-मात्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्मृति केवन मूल-मस्कारों के माध्यम में हो सकती है। 'साक्षि-चैतन्य' का ज्ञान नित्य होने के कारण, उक्त ज्ञान से कोई मूल-मन्कार उत्पन्न नही किये जा सकते, क्योंकि मूल-मंस्कारों का तत्त्र केवल ऐसे सजानों में स्मृति को उत्पन्न करने का एक मनोबैज्ञानिक उपाय मात्र है जो बस्थायी होते है। इसका मध्सूदन यह उत्तर देते हैं कि विचाराधीन सप्रत्यक्ष एक धनुमान नहीं कहा जा सकता क्योंकि धनु-मान इस बाधार पर बाश्रित है कि सोने वाले व्यक्ति के मूर्युप्त में एक माननिक वर्ति थी। किन्तु, यदि उस समय उसमें कोई ज्ञान नहीं होता, तो उसके लिए यह कहना मसभव है कि उस समय वह किसी विशिष्ट मार्नासक बुलि से नम्पन्न था । यह मी नहीं कहा जा सकता कि मूख्पित में सभाव का ज्ञान इस तथ्य ने सनुमित किया जा सकता है कि उस समय ज्ञान की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं था. क्योंकि उक्त कारण का धमाव केवल ज्ञान के समाव से ही जात किया जा सकता है (भीर उसका विलाम भी सस्य है) तथा इसमें एक दृष्ट चक का समावेश हो जाता है। न यह कहा जा सकता है कि ज्ञान के प्रभाव को इन्द्रियों की ग्रानन्दमय ग्रवस्था ने भनमित किया जा सकता है, जो केवल उनके कार्य-ज्यापार की समाप्ति के फलस्वरूप ही बटिन हो सकता है, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि एन्ट्रियों के कार्य-व्यापार की समाप्ति ग्रानन्दमय ग्रवस्था की उत्पक्ष करेगी । इस संबंध में यह व्यान रखना चाहिए कि 'बजान' का जान नदा ज्ञान के श्रमाव के साहचयं में होता है, टसलिए प्रत्येक ऐसे उदाहरण मे जहां 'श्रजान' वा जान होता है वहाँ ज्ञान के समाव का सनुमान सही होगा। तथाकथित अनुपलिध वस्तृत: भाव-रूप 'ब्रज्ञान' से एक बनुमान द्वारा फलित होती है, इस प्रकार, जब एक व्यक्ति प्रात:काल में एक रिक्त प्रावश का प्रत्यक्ष करता है, तब वह उसमे एक हाथी के जाना-

माव से हाथी के प्रति अपने भावात्मक अज्ञान के तथ्य का अनुमान कर सकता है। इस प्रकार, ज्ञान के समाव के संप्रत्यक्ष की व्याक्या धनुमान के रूप में की जा सकती है। उसकी एक स्पृति के उदाहरए। के रूप में भी ब्याख्या की जा सकती है। यह ब्रापित भी भवैष है कि 'भन्नान' का कोई मूल-संस्कार नहीं हो सकता, क्योंकि जो 'भन्नान' सुपुष्ति में 'साक्षि-चैतन्य' का विषय होता है वह स्वय 'श्रक्षान' की एक 'बृत्ति' में से प्रतिबिम्ब होता है, चूंकि केवल उक्त प्रवस्थायों में ही 'बाज्ञान' साक्षि-चैतन्य का एक विषय बन सकता है। चूँकि 'ग्रज्ञान' के ज्ञान में एक 'इत्ति' को स्वीकार किया जाता है, ग्रत: 'इति' की समाप्ति के साथ एक मूल-सस्कार होना चाहिए और उसके द्वारा स्मृति की 'बृति' हो सकती है; बैसाकि किसी भी भन्य संज्ञान की स्मृति के उदाहरए में होता है। यह तक नहीं दियाजासकताकि, 'बजान' बपने सज्ञान के लिए एक 'वृत्ति-भ्रवस्था' की अपेक्षा रखता है, यदि ऐसी कोई वृत्ति नहीं है तो 'प्रज्ञान' के सम्बन्ध में संशय हो सकता है, क्योंकि 'धजान' के प्रति कोई :धजान' के समान ही क्षेत्र रखता है। यह प्राप्तह नहीं किया जा सकता कि 'प्रज्ञान' की मौति प्रमाव का भी 'साक्षि-चैतन्य द्वारा प्रत्यक्षीकरण हो सकता है, क्योंकि, चूँकि बमाय सदा अपने परिलक्षित प्रतियोगी ने संबंधित होता है इसलिए वह निर्विकल्पक ग्रन्त-:प्रज्ञात्मक 'साक्षि-चैतन्य' के द्वारा चन्तःप्रज्ञात्मक रूप मे प्रत्यक्ष नहीं किया जासकताः 'झज्ञान' में यद्यपि ज्ञान के प्रति विरोध समाविष्ट रहता है, तथापि सुयुप्ति अवस्था से स्वयं उस विरोध का ज्ञान नहीं होता है। मधुसूदन कहते हैं कि यह तर्क दिया जाता है कि चूँकि 'भ्रज्ञान' की प्रवस्थामां का सुपुष्ति भवस्या से जाग्रतावस्या तक एक निरन्तर भनुकम होता है (क्यों कि जाग्रतावस्था में भी सकल संज्ञान 'भ्रज्ञान' की ग्रयस्थाओं मे से प्रतिबिम्ब के द्वारा घटित होते हैं), इसलिए 'ग्रजान' के सुपुष्तिजन्य ज्ञान की स्मृति का कोई भवसर नहीं होता है, क्यों कि सज्जान की एक वृत्ति अवस्था के नाश होने पर 'संस्कारो' के द्वारा म्मृति सम्भव होती है। इसका यह उत्तर है कि सुपुष्ति-ग्रवस्थाकी 'ग्रज्ञान-व्यवस्था' एक विशिष्ट 'तामनी' स्वरूप की व्यवस्था होनी है जिसका निद्रा के साथ ही भन्त हो जाता है, भतएव इसके एव जाग्रतावस्था की साधारण भवस्था के मध्य मे कांई प्रमुक्तम की निरन्तरता नही होती। किन्तु एक दृष्टिकोण से यह तक सही है, क्यों कि यह माना जा सकता है कि सुबुध्ति श्रवस्था में 'श्रज्ञान' अपनी कारए।।वस्था में ग्रस्तित्व रस्तताहै, ग्रीर इस प्रकार चूंकि 'ग्रज्ञान' सुयुप्ति एव जाग्रतावस्था दोनो के धनुमन का उपादान होता है, इसलिए वस्तुतः 'ग्रज्ञान' के ग्रनुकम की निरंतरता होती है, और इस प्रकार 'सजान' के सुपुष्ति-जन्य सनुभव की कोई स्मृति नहीं हो सकती। इसी कारण से सुरेश्वर ने उक्त मत का परिस्थाग किया है। 'विवरण'

ग्रज्ञानस्याज्ञान-वृत्ति-प्रतिबिध्वित-साक्षि-प्रास्यत्वेन वृत्ति-नाकादेव संस्कारोपपत्तैः ।

<sup>—</sup>बहैत-सिक्कि, पृ० ५५७ ।

कालेकक 'शोव-मूनों में दिए नए निहाके प्रत्यम का प्रतृष्ठरण करताहै, महाँ सुदुष्ति-बदस्या में एक पृथक् वृत्ति को स्वीकार किया बयाहै। इस प्रकार सुदुर्तित प्रदस्याके धनुमन का भाव-रूप 'धक्रांत' के बनुनन के रूप में वर्णन किया वा सकताहै।

#### अज्ञान का अनुमान

धपने 'विवरए।' मे प्रकाशानन्द द्वारा यह माना जाता है कि 'सक्रान' का सनुमान सम्भव है, वे उक्त धनुमान के धाकार का इस प्रकार निर्देश करते हैं : 'एक प्रमाण-ज्ञान अपने विषय के बावरण से संबंधित होता है, वह बावरण स्वय उस जान से निवृत्त हो सकता है तथा ऐसा घावरए। स्व-प्राथमाव से व्यतिरिक्त होता है।' इस धनुमान का सम्बन करते व्यासतीयं 'पक्ष' (धर्चात्, 'प्रमाल-ज्ञान') के प्रस्वय की बालोचना से प्रारम्भ करते हैं। वे कहते हैं कि उक्त बाकार के बनुमान के बनुसार सुसामी, जो एक प्रमासा-जाम है, स्व-ग्रावरसा की निवृत्ति के पश्चान् प्रकट होना चाहिए, किन्तु सुक की चेतना 'साक्षी-चैतन्य' के स्वरूप की होने के कारए। (स्वय शंकरवादियों के सिद्धान्त के अनुसार) 'अज्ञान' का निवारण करने में असमर्थ रहती है। यदि 'पक्ष-पद' के प्रत्यय को 'वृत्ति-ज्ञान' प्रथवा सामान्य ज्ञानात्मक प्रवस्थाओ में संकुचित कर दिया बाय, नांभी वह सम्भव नहीं होता है, क्यों कि, यदि एक परोक्ष क्कान की भवस्था स्व-विष-भावरमा को निवृत्त करती हुई मानी बाय, तो उसका भर्थ यह होगा कि विषय के द्वारा अन्तः-प्रजात्मक चैतन्य की एक अपराक्ष अभिव्यक्ति होती है, जो यह कहने के समान होगा कि परोक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष होता। यदि 'पक्ष' का प्रत्यय प्रपरोक्ष प्रत्यक्ष में संकुचित कर दिया जाय, तो उक्त परिभाषा परीक्ष ज्ञान पर लागू नहीं होगी, जो एक प्रमाशा-ज्ञान होता है। त्रुटि के अपरोक्ष ज्ञान के उदाहरशा में भी 'सत्' के ज्ञान का एक बबा होता है जिस पर भी उक्त परिभाषा लागू होगी, क्योंकि निश्चय ही वह ग्रसत् के बावरण को निवृत्त करके ब्राभव्यक्त नही होती, चूँकि सत् का ज्ञान सार्वलोकिक होता है। इसके प्रतिरिक्त, यांद उससे 'प्रजान' का निवारण हो जाता, तो 'सन्नान' की कोई सत्ता नहीं होती, सतएव वह अस का उपादान कारण नही बन पाता । 'मजान' जिसका 'सन्' मधिष्ठान होता है, भ्रम का उपादान कारण माना जाता है, किन्तु वह स्वय भ्रम का विषय कदापि नहीं होता,

विवादगोचरापक्र प्रमासा-क्षांत्रिक्तस्य-विवादारम् स्व-निवर्य-स्व-देश-गत-वस्त्यन्तर-पूर्वक अवित झ्राहृति धप्राक्षिश्चतार्य-प्रकाशकत्यादन्यकारे प्रथमो-राषप्रदीप-प्रभावदिति ।

<sup>-&#</sup>x27;पच-पादिका-विवरसा,' पृ० १३।

यदि 'पक्ष' के प्रत्यक्ष को और भी संकृत्रित कर दिया जाय जिससे कि उसका धर्म, अधिष्ठान 'सत्' को छोड़कर, केवल ज्ञानारमक अवस्थाएं हो, तो एक ही सत्ता की कमिक बेतना के उदाहरसा में इसरे व तीसरे क्षसा। की बेतना स्वयं झावरसा की निइस करती हुई नहीं मानी जा सकती, चुंकि उसका प्रथम आगु की चेतना द्वारा निवारण हो गया था। यदि 'पक्ष' के प्रत्यय को और भी सकुचित कर दिया जाय जिससे कि उसका अर्थ केवल जड विषय का अपरोक्त ज्ञान हो, तो भी, चु कि सकरवादी यह नहीं मानते हैं कि विषय पर आवरण होते हैं, इसलिए विषय-ज्ञान उक्त आवरण को निरुत्त करता हुमा नहीं माना जा सकता । यदि इसके उत्तर में यह माना जाय कि मानसिक दुत्ति में-यथा, बट का ज्ञान-बट की ब्राकृति के द्वारा शुद्ध चैतन्य की परिच्छित्रता का समावेश होता है, भीर चु कि 'भजान' का उक्त परिच्छित्रता के समान ही क्षेत्र होता है, इसलिए घटाकृति की परिच्छित्रता के बावरण की निवत्त का धर्ष उसी सीमा तक 'प्रजान' के वावरण का निवारण होता है, तो उत्तर यह है कि प्रथमत: 'प्रज्ञान' को एक ही मानने वाने बत के अनुसार उक्त व्याख्या समीचीन नहीं होती, दूसरे, चुकि किसी भी आकार के द्वारा परिच्छित्र शुद्ध चैतन्य स्वय प्रकाश नहीं होता, इसलिए शकरवादियों के अनुमार उसे एक आवरण में सब्धित नहीं किया जा सकता. जो केवल गृद्ध स्वय प्रकाण चैतस्य ही से सबधित हो सकता है। इसके झितरिक्त, यदि यह कहा जाय कि बावरण की निवृत्ति का उल्लेख केवल जड़ विषयों के प्रति ही किया गया है, तो, खु कि झाब्दिक तर्क-बाक्य-'यह एक घट है'-की स्वय घट के समान ही सामग्री होती है, इसलिए उस जड विषय (घट) के सबध में भावरण का निवारण कभी घटित नहीं होना चाहिए जिसकी परोक्ष मामग्री शाब्दिक तर्क-वाक्य के समान ही होती है।

पुन:, पू कि शकरवादी मत के अनुसार 'कृति-जान' स्वय निम्या होता है, इसलिए ऐसी काई सम्मावना नहीं हो सकती कि उस पर मिय्या विषयों का धारोपए हो। दूतरों ओर, यदि 'कृति' हारा धांमध्यक कुछ बेतन्य ज्ञान का समानार्थी हो तो पू कि ऐसा 'प्रमान' का धांसध्यान होता है, इसलिए उसे 'प्रमान' का निवारण नहीं माना जा सकता। टल प्रकार, अनुसान की यह शर्त कि ज्ञान 'प्रमान' के निवारण के हारा स्वय को स्थापित करता है, पूर्ण नहीं होती तथा परिमाण की यह शर्त भी पूरी नहीं होती का परिमाण की सह शर्त भी पूरी नहीं होती कि निवृत्त किये गये धांवरण की ज्ञान के सवान ही स्थित होती साहिए, पू कि 'प्रमान' युद्ध चैतन्य में स्थित होती है, जबकि ज्ञान सदा सोपाधिक चैतन्य का होता है।

सनुमान यह मानकर चलता है कि प्रव्यक्त की प्रभिव्यक्ति के कारण घावरण का निवारण होता है, किन्तु यह यहाँ लागू नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म-कान शुद्ध चैतन्य के प्रतिरिक्त किसी भी बस्तु द्वारा प्रभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, प्रौर सकल भ्रमों का ग्रविष्ठान स्वयं-प्रकाश नित्य स्व-ग्रिक्यक्त होता है, ग्रतएव यहाँ शब्यक्त की श्रमिव्यक्ति की कोई सम्मादना नहीं है। इसके श्रतिरिक्त, यदि 'श्रज्ञान' धनादि काल से विद्यमान एक माव-रूप सत्ता है, तो उसकी निवृत्ति असम्मव होगी। यह मी असम्मव है कि जो सत्ता एक बावरल है वह बनादि होनी चाहिए। बतः ऐसी विरोधी युक्तियां देना सम्मव है कि भावरें के साथ भनादित्व का साहचर्य कदापि नहीं हो सकता, चुंकि प्रामभाव की मौति यह केवल बनादि के रूप में बस्तित्व रखता है, अथवा यह कि एक प्रमाण-जान अमाव के अतिरिक्त किसी वस्तु का निवारण नहीं कर सकता, क्योंकि वह ज्ञान होता है। अञ्चल की अभिव्यक्ति में अनिभव्यक्ति के किसी भावात्मक तथ्य का समावेश नहीं होता. बल्कि वह केवल श्रमिक्यक्ति के समाव का संकेत कर सकता है। इसके धतिरिक्त प्रकाश घट धादि को अंबेरे की निवत्ति के द्वारा अभिव्यक्त करता है, क्योंकि प्रकाश अन्यकार के विपरीन होता है, किन्तु ज्ञान की ग्रमिंव्यक्ति का 'ग्रजान' से विरोध नहीं किया जा सकता, क्योंकि विधयों का समिष्ठान सद चैतन्य 'श्रज्ञान' के विरोध में नहीं होता। 'वित्ति' का 'श्रज्ञान' से विरोध यहाँ सप्रासंगिक है, क्यों कि 'वित्त' ज्ञान नहीं है। एक नवीन सज्ञान के उदय के संबंध में यही कहा जा सकता है कि वह किमी विशेष व्यक्ति के किमी विषय के जान के धनादि धमाब का निवारण करना है।

उत्तर में, मध्यसदन कहते हैं कि 'प्रमाण-ज्ञान' जो कि पक्ष-पद है उसका ग्रर्थ मे इस सीमा तक संकुचन करना है कि वह केवल 'वित्त-ज्ञान' पर लागू हो, न कि 'साक्षि-चेतन्य' पर जो सस अथवा भानन्द को अभिव्यक्त करता है, 'वित'-ज्ञान को भी पर्य में ग्रीर संकृषित करना पड़ेगा जिससे कि नर्व सजानो के 'धर्म्यांश'-'इदं' भ्रथवा 'सत्' जो सकल जानात्मक भ्रमों का विशेष्य होता है-का भ्रपवर्जन हो जाय । असः 'प्रमाण-ज्ञान' जिसे एक बावरण को निवत्त करने वाले के रूप में अनुमित किया जाता है, केवल 'वित्त' में अभिव्यक्त जानात्मक वर्मों से अर्थ रखता है। 'परोक्ष' जान के उदाहरण में भी जाता के प्रति उसके खमान से निर्मित उसके बावरण का निवारण होता है, जिस भावरण के निवल होने पर परोक्ष ज्ञान का विषय ज्ञाता के प्रति श्रमिक्यक्त होता है। इस प्रकार 'प्रमाल-जान' परोक्ष एव 'श्रपरोक्ष' दोनों 'वित्तयों' में प्रकट ज्ञानारमक धर्मों को समाविष्ट करना है। विवादगत 'प्रमाण-ज्ञान' से 'धम्प्रीश' भ्रथवा 'खंद' के अपवर्जन का कारण इस तब्य से स्पष्ट हो जाता है कि 'इदं' के प्रति कोई दोष अथवा अम नहीं होता, सब दोष अथवा अम केवल ज्ञानारमक धर्मों के सम्बन्ध में बटित हो सकते हैं। 'इदं' उतना ही बारम-स्थित होता है जितना स्स का अनुभव । इसलिए ऐसी कोई आपत्ति नहीं की वा सकती कि उनके सम्बन्ध में भी बजात की बभिन्यांक होती है बतएव बावरण का निवारण होता है। पर यदि यह बाग्रह किया जाय कि वश्चपि 'इदं' के सम्बन्ध में कोई दोव प्रयंता संशय नहीं

हो, जमापि, मुंकि यह तथ्य केन यह बाता है कि नह पहले सकात मा और फिर जात हुआ, बतायर उसमें एक धानरण के निवारण का समायेव होता है, तो संकरवाधियों की बोर से इस प्रकार के निवारण को स्वीकार करने में साथति होगी को जातावायों की बोर से इस प्रकार के निवारण को स्वीकार करने में साथति होगी को जातावायों कर स्वयस्था प्रवस्त 'प्रमाल-इंक्ति' के हारा उत्पक्ष किया वा सकता है। किन्तु ऐसे उसा-इरण में धावरण का निवारण शावरण क्या का नहीं होता, क्योंकि यह 'प्रजान' को केवल इसी तथ्य में निविद्ध है कि एक स्वता प्रजान है, उस 'प्रजान' के किन्ता परि-लिखत प्रतियोगी वही होता है जो जान के निवय का होता है। इस मत में इर्जानण 'प्रजान' की इस कम में परिभाग ही जानो चाहिए कि उसमें होणों को उत्पन्न करने की समता होती है, पुष्ति बम्मांत 'इस', के संबंध में को दिवार नहीं होता कि जबतक वह स्वारा परिसाण के धनुसार स्वरक्षाय कही होता कि जबतक वह (पर्माण) जात नहीं हो जाता तवतक वह स्वारात रहता है। इस प्रकार यह माना जा तकता है कि 'वद' के सजान के उदाहरण में, विवाद-यत 'प्रजान' की धनुमात को योजना में प्रपेक्त परिमाणा के धनुसार 'प्रजान' का कोई निवारण मार्ड अपने होना की धनुमात को योजना में प्रपेक्त परिमाणा के धनुसार 'प्रजान' का कोई निवारण मार्ड होता की धनुमात को योजना में प्रपेक्त परिमाणा के धनुसार 'प्रजान' का कोई निवारण मार्ड होता की धनुमात की योजना में प्रपेक्त परिमाणा के धनुसार का कोई निवारण मार्ड होता की धनुमात की योजना में प्रपेक्त परिमाणा के धनुसार 'प्रजान' का कोई निवारण मार्ड होता की धनुसार की स्वार्ण की धनुसार की स्वर्ण की स्व

स्वार्य प्रदेश काल में एक नदीन काल-तर का स्वावेश होना तथा सावरण का निवारण हम नतीन तर के प्रति उत्तरेश करता है। यह सुविद्यंत नेता तथा सावरण का निवारण हम नतीन तर के प्रति उत्तरेश करता है-ऐसा सावा वा सकता है। यह सुविद्यंत है कि श्रकरवादियों के प्रमुद्धार काल का प्रत्यक्षीकरण सभी 'प्रमाणों' के हारा किया जा सकता है। युग, यह धार्यत्त स्वयं नहीं है कि श्रु कि ज़ दिवयों के कोई धावरण नहीं हो सकता धीर श्रु कि 'ध्वान' घरने धाव्यक्रता हुण करता है रेस मान ही कहा मा सकता इसिए यह कहान किया है कि प्रति दे प्रति 'ध्वान' घरने धाव्यक्रता है रेस मानहीं कहा मा सकता इसिए यह कहान किया है कि प्रति दे जैसे 'ध्वान' धार स्वी क्षान है कि प्रति है कि प्रति दे जैसे 'ध्वान स्वार्य के प्रति है कि प्रति है के प्रति 'ध्वान स्वार्य के प्रति है के प्रति 'ध्वान के प्रति है के प्रति 'ध्वान 'एक प्रति क्षान होता है', इसिए यह स्वीक्षार किया वा सकता है कि 'ध्वान' एक प्रति क्षान होता है, इसिए यह स्वी है स्वार्य के धीमा तक उसे युद्ध वेतन्य पर एक धावरण के क्षान से माना वा सकता है। मधुसूरत इस मान के पस में कि 'ध्वान' के धनुमित किया जा सकता है। धोम धीर पुतिकां देते हैं, वे भीपवारिक स्वरूप की है, स्वार्य के धीपवारिक स्वरूप के भीपवारिक स्वरूप की है, स्वार्य का बीच खीच दिया गया है।

## अविद्या के सिद्धान्त का खएडन

ध्यासतीयं कहते हैं कि यह मान्यता स्वीकार नहीं की जा सकती कि 'श्रविद्या' जसी सत्ताका अस के प्रविष्ठान के रूप से श्रत्तित्व होना चाहिए, ग्रन्यथा अस असम्भव हो जाएंगे, क्योंकि यह पहले ही बताया जा चुका है कि अम के उपादान-कारता के रूप में 'प्रविद्या' की परिभावा अवैध है। इसके अतिरिक्त, यदि यह माना बाय कि शक्ति-रजत जैसे भ्रम किसी सामग्री से निर्मित हैं, तो एक ऐसा उत्पादक भी होना चाहिए जो भ्रमों को निर्मित करने के लिये उक्त सामग्री पर कार्य करे। न तो र्धश्वर को भीर न जीव को ऐसा उत्पादक माना जा सकता है, न ही अपरिवर्तनशील ब्रह्मन को उक्त उत्पादक माना जा सकता है। पून:, 'श्रविद्या' झनादि होने के कारए। बैसी ही अपरिवर्तनशील होनी चाहिए, जैसा बहान है। इसके अतिरिक्त, यदि बहान को जगत का उपादान कारण मान लिया जाय तो 'खविद्या' के अस्तित्व को मानने की कोई भावत्यकता नही रहती, क्योंकि शंकरकारी मान्यता के अन्तर्गत ब्रह्मन् अपरिवर्तित रह कर भी उस पर बारोपित अमों का बांधप्ठान हो सकता है। यदि ऐसा नहीं होता तो 'मविद्या', जिसे एक माधार की मावश्यकता होती है, उक्त प्रयोजन के लिये ब्रह्मन के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता की अपेक्षा रवेगी। यह सुकाव दिया जा सकता है कि 'मविद्या' की मान्यता भ्रम के परिवर्तनशील आश्रय की व्याख्या करने के लिये भावश्यक है, क्योंकि ब्रह्मन पूर्णतः सत्य होने के कारण मिथ्या भ्रम का उपादान कारण नहीं माना जा सकता, चुंकि एक कार्य के कारण के रूप में उनके समान ही कोई सत्ता होनी चाहिए। किन्तु, यदि ऐसा है, तो ब्रह्मन ब्राकाश अथवा सन्य भौतिक तत्वों का कारण नहीं माना जा सकता, जो बहान की नुलना में मिथ्या है। यह प्राप्तह नहीं किया जा सकता कि चंकि जीव एवं ब्रह्मन का तत्वन: तादारम्य होता है. इसांलए 'ग्रविद्या' की मान्यता के बिना जीव में ग्रानन्ट की सीमित ग्रामक्य कि ग्रव्याक्येय हो जायगी, क्योंकि स्वयं यह मान्यता अवैध है कि बहान एवं जीव का तादातम्य है, अतएव बह्य एवं जीव में झानन्द की श्रसीम एवं संसीम श्रीमध्यक्ति की क्यांक्या करने में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि उनके भेद है।

उपर्युक्त के उत्तर में मयुन्नदन कहते है कि 'धन्तःकरण' (धयवा मनन्) को अम का उपादान कारण नहीं माना जा ककता, प्रचलः इशिन्म कि वहीं 'धन्तःकरण' तो एक कालगत सत्ता है, वहीं अम एक येली-कम में बारी रहते हैं तथा उनका काल में कोई सारम्म नहीं होता, हुन्दे, 'धन्तःकरण' धर्मी प्रक्रियाधों में सदा जगत के यमार्थ विषयों दे साहचर्च रखता है, धतपुर विषया चुक्ति-जन के सवध में कियाशील नहीं होना-और यदि ऐसा है तो 'धनिखा' के मान्यता के बिना 'धनिखा' के उपादान-कारण के रूप में कोई साध्यत नहीं होना। बहुन्म भी ध्यनिवर्गनेशील होने के कारण उक्त अम का कारण नहीं हो सकता। यह शुक्ता नहीं दिया जा सकता कि बहुन्म अम के अधिकात सप्ता के स्वत में अम का कारण होता है, नयों के जब करण में स्वयं को स्थालादित करने बाने कारण उक्त कारण उक्त स्वयं को स्थालादित करने बाने कारण अधिकात तह तक कार्य में स्वयं को स्थालादित करने बाने कारण अधिकात तह तक कार्य में स्वयं को स्थालादित करने बाने कारण अधिकात तह तक कार्य में स्वयं को स्थालादित करने बाने कारण अधिकात तह तक कार्य में स्वयं को स्थालादित करने बाने कारण अध्यत्व स्वालित नहीं किया जा सकता जिस पर उक्त कार्य

आरोपित किए जाते हैं, क्योंकि जब कुछ क्यान्तरहा उत्पन्न कर दिये जाते हैं तभी उनका किसी अधिक्ठान अथवा आधार के प्रति उन्लेख किया जाता है।

पून:, यदि, जैसाकि खंकरवादी कहते हैं, 'श्रज्ञान' स्वय श्रसस्य है, तो यह श्रसम्भव है कि वह विभिन्न प्रमालों के अधिकत हो। यदि यह तक दिया जाय कि 'सजान' का केवल व्यावहारिक अस्तित्व होता है, तो वह सावारण मिध्या अनुभव का उपादान नहीं हो सकता या क्योंकि व्यावहारिक सामग्री प्रातिश्रासिक का कारण नहीं बन सकती तथा ऐसा कोई प्रमारा नही है कि 'प्रविद्या' मिथ्या है। यदि तक किया जाय कि प्रमाण केवल 'प्रविद्या' के जनस्तित्व का निवेष करने में सहायक होते हैं, तो उत्तर यह है कि, चैकि 'धजान' का यहरण दोषरहित साक्षि-चैतन्य के द्वारा किया जाता है. ग्रत: उसे सत्य मानना चाहिए। यह मानना गयत है कि प्रमाण केवल 'ग्रजान' के धनस्तित्व का निवेध करते हैं, क्योंकि, जबतक 'श्रज्ञान' का स्वरूप धनुमान के द्वारा ज्ञात नहीं हो जाता, तबतक उसके अनस्तित्व के निषेध को भी जात नहीं किया जा सकता। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब प्रमास 'श्रजान' को ग्रामिन्यक्त करते हैं, तब वे ऐसा इस प्रकार करते हैं माना वह साक्षि-चैनन्य द्वारा ज्ञात की गई मिथ्या शक्ति-रजन नहीं है, बल्कि ज्ञान का एक सस्य विषय है; तथा व 'ग्रज्ञान' के धनस्तित्व को उसके ग्रामास के ग्राधिकतान में ग्रामिक्यक नहीं करते । इस प्रकार जिन प्रमाशों के द्वारा 'ब्रजान' जात किया जाता है वे एक सत्य विषय के रूप में उसके श्रस्तित्व का निर्देश करते है। इसलिए 'श्रविद्या' श्रनित्य मानी जा सकती है (क्योंकि वह ज्ञान के द्वारा निकल हो सकती है), किन्तु उसे मिथ्या अथवा अनस्य नहीं माना जा सकता । अतः शकरवादियो का यह कथन अवैध है कि 'अविद्या' स्वरूपतः भसत्य होकर भी प्रमासो द्वारा ज्ञात की जाती है।

यदि 'अविद्या' विशुद्ध दोषर्राहत चेतन्य के द्वारा प्रत्यक की जानी है तो वह जम क्य से सत्य होनी चाहिए, नवा वह मांश के परचान भी बनी रहनी चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि वह गोंश के परचान बनी नहीं रह सकती, हमीकि, उसका अस्तित्व उसके प्रत्यक्ष में निहित्त होने के कारण जब तक उसका प्रत्यक्षीकरण बना रहता है (जैसाकि होना चाहिए, क्योंकि वह नित्य खुद्ध चैतन्य के द्वारा प्रत्यक्ष की जातों है), तब तक उसका मो स्रांत्यक होना चाहिए। यदि यह माना जाय कि 'अस्थिए' एक 'इति' के माध्यम से आतों है, नो स्पष्ट कठिनाई यह है कि जिन दो मसस्याओं के द्वारा एक 'इति' उत्यक्ष की जा सकती है, वे हैं 'प्रमाण' असवा 'सोव' तमा प्रविद्या' के प्रत्यक्ष के उताहरण में इन दो में से कोई भी अनस्या एक

न च विवर्ताचिकानत्वेन कुक्त्यादेरिवांपादानत्वमिवद्यामन्तरेगुातात्विकान्ययामाव-सक्रगुस्य विवर्तस्य सम्मवान् । —महैन-सिद्धि, ५० ४७३ ।

उपयुक्त 'इति' को प्रेरित नहीं कर सकती। इस प्रकार एक 'वृत्ति' की कोई सम्भा-वना न होने के कारल, उसमें चेतना के प्रतिक्षम के माध्यम से 'प्रविक्षा' का कोई प्रस्थक नहीं होना। पुनः, 'वृत्ति' त्वसं एक 'धिक्षा' की दसा होने के कारण प्रयम् प्रकृत्ता के लिए किसी धन्य 'वृत्ति' में से प्रतिविन्ध्यत सुद्ध चैतन्य की सहायता की घरेका रखेगी, तथा नह सन्य की, हत्यादि, और यदि यह सायह किया नाथ कि 'वृत्ति' के सहसा के लिए किसी धन्य 'वृत्ति' में से प्रतिविन्द की मावस्थकता नहीं होती, किन्तु यह साधि-वृत्तम द्वारा प्रपरीक रूप से प्रतिविन्द की मावस्थकता नहीं होती, किन्तु सह साधि-वृत्तम द्वारा प्रपरीक रूप से प्रतिविन्द की मावस्थकता नहीं होती, किन्तु सह साधि-वृत्तम द्वारा प्रपरीक रूप से प्रतिविन्द की मावस्थकता नहीं होती, किन्तु कि कैंसे 'प्रविद्या' के समाव एक सत्ता जिसका स्रतियन उसके प्रयक्ष में निहित् होता है चैतन्य के प्रतिविन्द के द्वारा उस 'वृत्ति' को प्रमावित करने के योग्य मानी जा सकती है जिसके द्वारा वह बात की जा सके। क्योंकि उस तक उसका प्रवेष प्रयक्ष से पूर्व कोई प्रतिवन्द नहीं होता तथा मान्यता के धनुकार जब तक उसका पूर्व धनित्य

मधुसूरन का उत्तर यह है कि उपयुक्त धायत्तियाँ धर्मय है, क्यों कि प्रत्यक्षकर्ता से सदा सर्वायत रहने वाले 'साक्षि-मैतन्य' के द्वारा 'ध्वाल' का प्रत्यक्षीकरण होने के कारण, उसका कोई तात्त्रिक धायाल तथा धामध्यक्ति नहीं होती। कुछ धन्य धालाचनामों के उत्तर में मधुसूरन निर्देश करते हैं कि 'धांवया' एक दोप होने के कारण, तथा स्वय धपनी 'कृति' की एक धनं होने के कारण उक्त धायार पर की गई धापत्तियाँ पपना धामकाल वल लां बैठती हैं।

अभारतीये कहते हैं कि सकरवादी यह सोचते हैं कि चूं कि युढ चैनन्य के प्रति-रिक्त सभी बस्तुए अविद्या की कारलिक सुष्टि हांती है, हस्तिल, 'अविद्या के स स्विद्याने वेचन कहत्य ही हो सकना है, प्रम्य कोई स्वान हो। वे यह निर्देश करते हैं कि यह प्रसम्भव हैं कि प्रजान, वो जान के सर्वथा विपरीत होता है, परवादुक्त को प्रथमा अधिक्ष्णन बनाए। यह स्वर्षण रचना उचिन होगा कि प्रजान की यह परिभाषा दी जाती है कि जान के हारा निवृत्त किया जा मकना है। यह नहीं कहा 'जा सकता कि विरोध 'यूनि जान' एक 'युजान' के प्रथम में होना है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो 'युजान' की यह परिभाषा दी जानी चाहिए कि वह एक सकुचित धर्म में जान के विरोध में होता है, चूंकि 'यूनि-जान' एक संकुचित धर्म ही में जान होता है (चर्मोंक प्रयाद्या जान युज बैनक का प्रकाश होता है)। यह चैन्य का प्रजात है विरोध नहीं होता तो विषयों का कोई प्रकाश नहीं हो सकता था। यकरवादियों के सनुसार भी प्रजान के जान है विरोध की प्रतीत 'यै थज हैं अनुमय में की जाती है। यह भी सुचिंदत है कि युज प्रथम दुःक जो शांकी हारा प्रपरोध कप से प्रस्थक किए वारो है—के सब्द में कोई सजान नहीं होता हो ऐसा निक्वण ही इस तस्य के कारण वीरो है—के सब्द में कोई सजान नहीं होता। ऐसा निक्वण ही इस तस्य के कारण है के स्वष्ट में कोई सजान नहीं होता। ऐसा निक्वण ही इस तस्य के कारण

होता है कि बुद्ध चैतन्य ब्रज्ञान का उन्मूलन कर देता है, इसलिए जो कोई वस्तु उसके द्वारा अवरोक्ष रूप से अभिन्यक होती है उसमें कोई 'ग्रहान' नहीं होता। यह तर्क किया जाता है कि ऐसे कई उदाहरण हैं वहाँ दो सर्वया परस्पर विरोधी वस्तुची मे से एक की दूसरी श्रविकान होती है। दीप्त-मीति से पीड़िन व्यक्ति भूप पर शंधकार का बारोपल कर तकते हैं, बौर उस दवा में बंधकार धूप पर बाधारित होता है, उसी प्रकार, अश्वपि ज्ञान एवं बज्ञान इतने विपरीत होते हैं तथापि पश्चादुक्त को पूर्वोक्त पर श्राषारित माना जाता है। इसका उत्तर यह है कि ऐसे साहस्य का अनुसरए। करते हुए जहाँ एक मिथ्या अंधकार का पूप पर बारोपल किया जाता है, हमारा यह सीचना तर्क-संगत होगा कि विवादगत 'स्नज्ञान' से मिश्र एक मिथ्या 'स्नज्ञान' शुद्ध जैतन्य पर भाषारित हो सकता है। इसके वार्तारक 'मैं यह हैं' बनुमव बताना है कि 'विवधा' का अधकार के साथ साहचयं होता है न कि शुद्ध चैतन्य के साथ। यह सुभाव नहीं दिया जा सकता कि बाधकार एवं प्रज्ञान दोनों एक ही काल में शुद्ध चैतन्य पर मिथ्या रूप से आरोपित होने के कारण परन्पर सम्बन्धित प्रतीत होते हैं. और इस प्रकार 'मैं शक्त हैं' धनुभव की व्याख्या हो जाती है, क्योंकि यह पहले सिद्ध किए बिना कि 'सकान' शुद्ध चैतन्य में अस्तित्व रखता है आमक अनुमव की व्याख्या नहीं की जा सकती तथा पहले भ्रामक बनुमव के हुए बिना शुद्ध चैतन्य के साथ 'शज्ञान' के साहचर्य की स्थापना नहीं की जा सकती, और इस प्रकार एक दृष्ट चक्र का दोष हो बायगा। यह मानना गलत है कि 'मै बज्ज हूँ' बनुसव भामक है। इसके ब्रतिरिक्त, स्वय यह अनुभव कि 'मैं प्रश्न हैं' इस सिद्धान्त का विरोध करता है कि 'चजान' का शुद्ध चैतन्य से साहचयं होता है तथा ऐसा कोई सावन नहीं है जिसके हारा उक्त व्याधात का आगे ब्याघात हो सके झौर इस सिद्धान्त का नमर्थन हो सके कि 'ब्रज्ञान' शुद्ध चैतस्य पर श्राधारित होता है। कर्ता, जाता अथवा मोक्ता के प्रत्यय सदा जानात्मक बुक्तियों से सबंबित होते हैं, अत्रव्य वे सूद्ध चैतन्य में होते हैं। यदि ये प्रत्यय शुद्ध चैतन्य पर भारोपित होते हैं, ता सन्नान उसमें होगा (जो एक मिथ्या जाता होने के कारण 'जीव' ही होता है), मतएव 'जीव' में होगा, इस प्रकार उस पुरानी मान्यता का समर्पण करना पढेगा कि 'प्रज्ञान' शुद्ध चैतन्य मे होता है। यह कहना भी सही नहीं है कि शक्ति-रजत का 'अज्ञान' उससे परिच्छित्र चैतन्य में होता है, सदा यह अनुभव किया जाता है कि ज्ञान एव स्थान दोनों जाता में होते हैं। यदि यह तर्क दिया जाय कि जो ग्रविष्ठान में ग्रस्तित्व रखता है वह स्वयं को तब भी ग्रभिव्यक्त कर सकता है जब वह अधिष्ठान किसी विशेष प्रकार से परिच्छित्र हो, धतएव शुद्ध चैतन्य का 'स्नजान' स्वयं को 'जीव' में भी अमिन्यक्त कर सकता है, जो खुद चैतन्य ही का एक उपाधि-बस्त बाभास होता है, तो उसका उत्तर यह है कि यदि उक्त तर्क को स्वीकार कर लिया आय सो 'श्रज्ञान' से भ्रपने साहचयं के कारण शृद्ध चैतन्य भी द:स एवं पूनर्जन्म के सुच्टि-चक्र से पीडित माना जा सकता है।

यह मान्यता गलत है कि 'जीव' एक प्रतिबिम्ब है तथा एक प्रतिबिम्बत प्रतिमा के रूप में उसी से प्रशुक्षताएं सम्बन्धित होती हैं न कि बहान से स्वॉकि, यदि 'प्रजान' शुद्ध जैतन्य से संबंधित होता है तो, यह सोचना बनुचिन है कि उसके प्रभाव प्रति-विम्बत प्रतिमा को प्रभावित करते हैं. न कि बहान को । इसके प्रतिरिक्त प्रतिविम्ब का साइएय केवल प्रकाश की किएसों के प्रसंग में उचित हो सकता है, शुद्ध चैतन्य के प्रसंग में नहीं । पून:, यदि 'जीवों' को प्रतिबिम्ब की उपज माना जाय, तो उसका मनिवार्य रूप से काल में भारम्य होगा। इसके भतिरिक्त, प्रतिविम्य तभी मटित हो सकता है जब प्रतिबिम्बत होने वाली सत्ता एव जिसमें वह प्रतिबिम्बत होती है वह सत्ता दोनो का बस्तित्व एक ही प्रकार का हो । एक प्रकाशकिरण केवल जल की सतह में ही प्रतिबिध्वित हो सकती है न कि सग-जन में, क्योंकि जल के प्रस्तित्व का वहीं स्तर होता है जो प्रकाश की किरए का किन्तु यदि ब्रह्मन और 'प्रज्ञान' का श्रस्तित्व एक ही प्रकार का नहीं होता है, तो प्रवीक्त पश्चादक में प्रतिबिध्वित नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त 'अज्ञान' में पारदिशत्व न होने के काररा यह नही माना जा सकता कि वह बहान को प्रतिविध्वित करता है। पनः, यह मानने का कोई कारमा नहीं है कि 'ग्रजान' में बहान को प्रतिबिध्यत करने की पूर्व-वित्त होनी चाहिए तथा. यदि 'सज्ञान' साकाश सादि में रूपान्तरित होता है तो साथ ही वह एक परावर्तक के रूप में भी आवरण नहीं कर सकता। इसके छतिरिक्त, जिस प्रकार मुख एव उसकी प्रतिविध्वित प्रतिमा से प्रयक कोई धन्य मुख नही हो सकता, उसी प्रकार बहान एवं जीव से पृथक ऐसा कोई शब्द चैतन्य नहीं हो सकता जो 'ग्रज्ञ।न' का श्राधिष्ठान मानाजासके। यह मी स्काव नहीं दियाजासकना कि 'जीव'-प्राकार से परिच्छित्र शुद्ध चैतन्य 'ग्रजान' का ग्रीघष्टान होता है क्योंकि 'ग्रजान' मे पांच्यर्तन हुए बिना कोई जीव' नहीं हो सकता तथा 'बीव' के बिना कोई 'श्रज्ञान' नहीं हो सकता. क्योंकि वर्तमान मान्यता के बनुसार 'बज्ञान' का बाश्यय 'जीव' द्वारा परिज्ञिश्व शुद्ध चैतन्य होता है तथा इसमें दृष्ट चक्र का दोष हो जाता है। पून, इस मन के धनुसार चंकि बहान 'सजान' का साध्य नहीं होता है. यदाप वह खुद चैनन्य स्वरूप होता है, इसलिए यह तक किया जा सकता है कि शुद्ध चैतन्य स्वरूपत: 'अजान' के साहचयं के कारण जन्म-चक से पीडित होता है, उसी प्रकार बह्मनु भी समान भीचित्य से 'भ्रज्ञान' से सबधित हो सकता है, और उक्त साहवर्य की दाव्या अनिवाय-तामों से पीडित हो सकता है।

दर्पण एव प्रतिमा का साहस्य भी कई कारणों से उन्तत नहीं है। दर्पण की मधुदागए प्रतिमा को दूषित करती है, किन्तु वर्तमान उदाहरण में दर्पण के स्थान पर माने गए 'शज्ञान' में किन्ही सधुदायों के प्रत्यित को स्वरोध रूप से शांत प्रवास करता है। हिन्ही सधुदायों के प्रतिस्तर को स्वरोध रूप से शांत प्रवास करता है।

स्वक्ष्य की होने के कारण वे इन्द्रियों की परिधि से परे होती है। इस प्रकार यह मत सर्वेष है कि दर्पेण में जिन भवस्वाओं का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है वे प्रतिमा में भी प्रतिविभिन्नत होती हैं।

यह नहीं माना जा सकता कि जैसे न्याय-मत में धारमय का केवल धरीर के माम्पम से ही दु:ज से साहचर्य होता है, उसी प्रकार खुद जैतन्य 'जीव' के कम में प्रपने परिच्छित धाकार के साहचर्य में 'धावान' से सर्वचित माना जा सकता है, क्योंकि, कृष्टि खुद जैतन्य स्वय 'धावान' नामक दुष्ट तत्व से सवचित होता है, इसलिए बहुात्व की प्राप्ति एक बाखनीय धवस्था नहीं मानी जा सकती।

उत्तर में, मधुसूदन कहते हैं कि शुद्ध चैतन्य स्वरूपतः 'श्रज्ञान' के विरुद्ध न होने के कारण 'वृत्ति' के रूप में 'अज्ञान' के रूपान्तरख में से प्रतिविम्बित होने पर ही 'अज्ञान' को नष्ट कर सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे सर्य की किरसों, जो कागज प्रथवा रह के छोटे टकड़ों को प्रकाशित करती हैं, एक लेस में से परिवर्तित होने पर उन्हें जला सकती हैं। यह मानना नी गलत है कि 'खजान' का आश्रय बहं में होता है, क्योंकि धहम-प्रत्यय स्वय 'धज्ञान' की उपज होने के कारण उसका आश्रय नहीं हो सकता। इसलिए अधिष्ठान गुढ चैतन्य उसका आश्रय होना चाहिए। अतः 'मैं अज हैं' भन्भय की व्याक्या इस मान्यता के आधार पर की जानी चाहिए कि शह का प्रत्यय एव धजान दोनो का बाधार गुद्ध चैतन्य मे होता है तथा वे आनक रूप से एक संमिश्र बन जाते है। स्वय ग्रह भी जान का विषय होने एव चरम सत्य ज्ञान के द्वारा निवित्त के योग्य होने के कारण मिथ्या माना जाना चाहिए। यदि 'अज्ञान' अन्तिम रूप से खूद चैतन्य पर आधारित नहीं होता, तो उसका ऐसे परम एव अन्तिम ज्ञान के द्वारा निवारए। नहीं हो सकता था, जिसका बन्तविषय शुद्ध चैतन्य होता है। यह मानना भी गलत है कि 'अज्ञान' प्रापत्तिक ज्ञाता का विशेषण होता है क्योंकि यथार्थ जाता शब चैतन्य होता है तथा उसी में 'अज्ञान' होता है. और उसके माध्यम से ही सब प्रकार के ज्ञान, मिथ्या अथवा व्यावहारिक आता में होते हैं। यह प्रालीचना गलत है कि 'सजान' होने के कारण प्रापविक जाता होता तथा प्रापविक जाता होने के कारए। 'श्रज्ञान' होता है, क्योंकि 'श्रज्ञान' अपने श्रस्तित्व के लिये प्रापचिक ज्ञाता पर निर्भर नहीं करता । उनका परस्पर साहचयं इस तथ्य के कारण नहीं होता है कि 'अविद्या' का ग्राश्रय जाता होता है बल्कि इसलिए कि अविद्या एवं ग्रह-प्रत्यय एक ही चेतना में बिन्यास में ग्रामिञ्यक्त होते हैं तथा इसके द्वारा ही उनकी चेतना की व्याख्या हो सकती है। प्रापंचिक जाता एव शद चैतन्य का एकत्व केवल उसी सीमा तक बना रहता है जहाँ तक प्रापिक ज्ञाता में अधिकान चैतन्य शुद्ध चैतन्य से एकरूप होता है। यह सुविदित है कि यद्यपि एक मुख एक दर्पेश के सामने स्थित हो सकता है, तथापि दर्पण की बशुद्धताए परावर्तित दर्पण को प्रभावित करती हैं-मुख को नहीं। परार्वातत प्रतिविध्य, फिर स्वयं मुख हे तिल नहीं होता, घतः यद्यपि खुड पैतन्य स्वयुद्ध प्रसानों में विश्वतित हो सकता है, तथापि सबुद्धताएं युद्ध पैतन्य को नहीं बत्त 'बीव' को प्रसावित करती हैं, वो पुतः प्रशेत स्वक्ष्म में चेतन्य से एकक्स होता है। इस संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि 'सम्रान' दो होते हैं, एक तो ज्ञाता को प्रावृत्त करता है धीर हसरा विषय को, तथा यह सम्मव है कि कुछ वदाहरणों में (यदा, परोक्ष ज्ञान में) विषय का सावरए। एवं ज्ञाता का सावरए। प्रविश्वस्थ

यह मानना गलत है कि परावर्तन केवल दृश्य विषयों का हो सकता है, अपितू **घटर**य विषयों मे भी परावर्तन हो सकता है; यथा-'धाकाश' के उदाहरए। में, जो यद्यपि ब्रह्मय होता है तथापि बन्य उद्गमो से उसकी नीलिमा उसमें परावर्तित होती है। इसके स्रतिरिक्त, हमें श्रुति-प्रमाश के साधार पर यह मानना पड़ेगा कि कहान् 'मजान' में से प्रतिबिस्थित होता है। यह तर्क करना भी गलत है कि प्रतिबिस्थित होने वाली वस्तृ तथा जिसमें वह प्रतिबिम्बित होती है वह वस्तु एक ही प्रकार का मस्तित्व रखती हैं, क्योकि एक लाल पुष्प का लाल प्रतिबिम्ब यद्यपि स्वयं मिथ्या होने के कारए। दर्पण की परावर्तित सतह से एक मिन्न स्तर का श्रास्तरव रखता है, तथापि वह बन्य वस्तुक्षों में पुनः परावितित हो सकता है। इसके ब्रतिरिक्त यह मानना गलत है कि 'मजान' से बुद्ध चैतन्य को परावितत करने की पूर्ववृत्ति नहीं हो सकती, क्यों कि इस मत के बनुसार कि 'बजान' बनन्त होता है, वह बुद्ध चैतन्य को उसकी सम्पूर्णता में प्रतिविभ्वित करने के योग्य माना जा सकता है, इस मत के धनुसार कि, वह गुद्ध चैतन्य से मधिक शान्त होता है, कोई भापत्ति नहीं हो सकती कि एक सधुतर सीमाधों वाली वस्तु इहत्तर सीमाधों वाली सत्ता को प्रतिबिम्बत नहीं कर सकती, सूर्य एक थाली के जल में प्रतिविभ्यित हो सकता है। इसके प्रतिरिक्त, यह एक वैष मापत्ति नही है कि यदि 'स्रज्ञान' विशेष माकारो में रूपान्तरित होता है तो वह समाप्त हो जाता है, प्रतएव शुद्ध चैनन्य को प्रतिविम्बत नही कर सकता, क्योंकि 'भज्ञान' का जो भज्ञ रूपान्तरता में माग लेता है वह परावर्तन में माग नहीं लेता, जो 'अज्ञान' के एक भिन्न अंश के कारए। होता है। पुन:, यह आलोचना प्रभावहीन है कि भनेक प्रतिविम्बों में भ्रभिव्यक्त एक तटस्य मुख के उदाहरु के विपरीत 'जीव' एवं बहान् से मिश्र कोई तटस्य चैतन्य नहीं होता, क्योंकि एक मुख तटस्य इसीलिए कहा जाता है कि भेदों की गराना नहीं की जाती है, अतएव शुद्ध जैतन्य जब परावर्तन में से भपनी विशिष्ट भ्रभिव्यक्ति की विशेषताओं से पृथक् देखता है तब वह भी तटस्थ कहा जा सकता है।

यह प्यान रखना चाहिए कि परावर्तन का कार्य-व्यापार धिकाशतः परावर्तक की उपाधियों (यथा, धजुद्धताओं, धार्वि) को प्रतिविक्यों पर धारोपित करने में निहित होता है। 'उपाये: प्रतिबिन्स-सक्ताबित्सम्' (उपाधियाँ स्वयं को प्रतिबिन्सों में प्रकट करती है) वासपोस का सही सम्देशित है। यही कारण है कि 'सज्ञान' की समुद्रताएं सुद्ध चैतन्य के स्वरूप को प्रसाशित किये बिना स्वयं को परावर्तित 'जीवों में प्रसिम्पक्त करती हैं।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'माया' का बहान से साहचर्य होता है, क्योंकि, यदि 'माया' 'मजान' हो तो बहान के साथ उसके साहबर्य की सम्भावना का पहले ही सम्बन हो चुका है। 'माया' 'ग्रजान' होने के नाते एक ऐसी ऐन्द्रजालिक शक्ति भी नहीं मानी जा सकती जिसके कारण अविद्यमान वस्तुओं का प्रदर्शन सम्भव हो सके (ऐन्द्रजालिकस्येवाविद्यमान प्रदर्शन-शत्तिः), क्योंकि 'ग्रज्ञान' का सामान्य रूप में खण्डन किया जा जुका है, बत: इन्द्रजाल के रूप में उसकी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति स्वीकार नहीं की जा सकती, यह भी कभी देखा नहीं गया है कि एक मायावी अपने ऐन्द्रजालिक कौशल को 'श्रज्ञान' के माध्यम से प्रदक्षित करता है। यदि 'माया' ब्रह्मन् की एक ऐसी विशेष शक्ति मानी जाय जिसके द्वारा वह जगत के विविध सथार्थ विषयो की सृष्टि करता है, तो ऐसे मत के प्रति हमें कोई स्नापत्ति नही है सौर हम उसे स्वीकार करने को बिल्कूल तत्पर हैं। यदि यह माना जाय कि 'माया' ग्रन्थ प्रािएयों को भ्रान्त करने की शक्ति है तो चूँ कि उसके ग्रस्तित्व से पूर्व कोई प्रार्गी नहीं होते हैं इसलिए 'माया' का ग्रस्तित्व न्याय-सगत नहीं है । पून:, यदि ऐसी शक्ति एक यथार्थ म्रस्तित्व मे युक्त मानी जाय, तो वह महैतवाद को खण्डित कर देगी। यदि वह 'जीवों' की मिथ्या कल्पना के कारण उत्पन्न मानी जाय तो यह नही माना जा सकता कि वह उनको भ्रान्त कर सकती है। यदि वह ब्रह्मन् की मिथ्या कल्पना के कारण उत्पन्न मानी जाय तो यह स्वीकार करना पडेगा कि बहान में 'ब्रज्ञान' होता है, क्योंकि 'अज्ञान' के बिना कोई मिच्या कल्पना नहीं हो सकती।

वाचरार्ति का यह मन मी ननत है कि ब्राविचा 'जीव' में स्थित रहती है-स्वेंकि यर्द 'जीव' का प्रसं युव तंत्रय है तो पूर्व धापित्रयों तालू होती है, ब्रावि 'जीव' का प्रसं युव तंत्रय है तो हुत के राजनेत से परिष्वका पृत्र वेत्रय होता है, तो इसमें दृष्ट चक का समावेत्र हो जाता है, क्योंकि 'प्रविच्चा' की व्याक्ष्या करने से पूर्व उसकी परिष्वक्रता के संबच में चर्चा करना सम्यव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि 'प्रविच्चा' स्वय पर धवलिन्दन रह कर किसी धाषार के बिना शुद्ध बैतय के प्रति प्रमत्ते उल्लेग के हारा 'यीवों' को उत्पक्ष करती है ब्रीर 'जीव' के उत्पक्ष होने के पष्टचात् उसमें निवास करती है, तो यह धानना गलत होचा कि 'प्रविच्चा' 'जीव' में निवास करती है, 'जीव' के के उत्पक्ष करती है की देखा करती है के करण होने के करण करती है कि, 'जीव' में मेर 'प्रविच्चा' 'रस्पर एक धनादि सम्बन्ध हारा संवर्धित होने के करण करण करनी प्राचित्र प्रस्ति के करण करण करणोत्र प्रयोग प्रथम

के द्वारा उत्पन्न हुट्ट वक संबंधी धालीचना ससफल रहती है, क्योंकि यदि वे एक दूसरे पर आधिल नहीं हैं तो वे एक दूसरे को निवासित नहीं कर सकते। यदि 'श्रम्भान' धीर 'श्रीक' धरनी किसी में प्रकिशा में एक दूसरे से संवेधित नहीं पाये वाते हैं, तो वे एक दूसरे पर आधित की नहीं हो सकते वो वस्तु धन्य वस्तु के सबंधा सर्ववंधित होती है वह उस पर धाश्रित भी नहीं मानी जा सकती। यह माना जाता है कि 'श्रीक' एवं बहुन्त का भेद इस तथ्य में निहित है कि पूर्वोक्त 'श्रमिया' की उपज होता है, धीर यह भी माना जाता है कि 'श्रीक' एवं बहुन्त का भेद इस तथ्य में निहित है कि पूर्वोक्त 'श्रमिया' की उपज होता है, धीर यह भी माना जाता है कि 'श्रमियां' का सामय जीव है, इसलिए 'श्रीव' के ज्ञान के बिना 'श्रमिया' नहीं हो सकती, धीर 'श्रमियां' के ज्ञान के बिना कोई 'जीव' नहीं हो सकता।

हस्त ममुद्दार यह उत्तर देते हैं कि मन्योन्याययस्य का दुण्ट कक दिवाहयत उदाहरण में लाष्ट्र नहीं होता, स्वोंकि ऐसा मन्योन्याययस्य उत्तरि को हुमित नहीं करता, क्षेत्रि ऐसी उत्पत्ति एक मनादि कम में होती है। एक दूसरे को दुधिन्यम्य बनाने के निवे परस्यर कर्लाधन का भी यहाँ मनाव होता है, क्योंकि यदार्थ 'सज्ञान' सुद्ध चैतन्य ब्रारा बुद्धिनम्य बनाया जाता है, तथारि परचाहुक पूर्वोक्त के ब्रारा मांभ-स्थक्त नहीं किया जाता है। अस्तित्व का भी यहाँ मन्योन्याययस्य नही होता, क्योंकि, यद्यपि प्रमान धपने मस्तित्व के लिए सुद्ध चैतन्य पर माध्यित रहता है, तथारि परचाहुक पूर्वोक्त पर माध्यत नहीं रहता। मधुसूदन माने यह निर्वेश करते हैं कि सायस्यति के समुद्धार 'श्रीव' का 'स्वज्ञान' हा 'देवन' एव 'जीव' रोनों की छुटि करता है।

श्रक्तित्व रस सकेगा। इसके श्रतिरिक्त शकरवादी मत के श्रनुसार शुद्ध चैतन्य अपने स्व-प्रकाशस्य में एक रस होने के कारण, किन्हीं ऐसे विषयों से जो आवरण के द्वारा धावस्त हो सकें, न यह कहा जा सकता है कि झावरण विषयों के 'प्राक्टय' के प्रतिबंध के क्य में कार्य करता है (प्राक्टय-प्रतिबन्ध), स्रिपत स्थय शंकरवादियों के सनुसार विषयों का 'प्राक्ट्य' खुद्ध चैतन्य के प्रतिरिक्त कुछ भी नहीं होता । यह नहीं कहा जा सकता कि 'यह बस्तित्व रखता है' 'यह चमकता नहीं है' नामक चेतना खुद्ध चैतन्य के बान्तर्गत है ऐसा नहीं कहा जा सकता. क्योंकि चैतन्य के बस्तित्व के निवेध में भी चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। उपयुक्त प्रकार के त्रृटिपूर्ण प्रत्यय भी 'अज्ञान' के आवरस नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वृटि केवल ग्रविष्ठान के भावरण के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती है (यथा, शुक्ति के स्वरूप के मावृत्त होने पर ही रजत का एक मिथ्या प्रत्यय उत्पन्न हो सकता है) बतएव उसका स्वयं बावरता के साथ तादात्म्यीकरण नहीं किया जा सकता। चित्सक स्व-प्रकाशस्य की इस रूप में परिभाषा देते हैं कि वह चेतना का विधय न होने के कारण झपरोक्ष कहलाने की योग्यता रखता है (झवेदाते सति झप-रोक्ष-व्यावहार-योग्यत्वम् । यह मत गलत है कि स्वप्रकाशत्व स्वय में स्थित 'धजान' के भावरता की व्याख्या-हेत सपरोक्ष सम्बा स्वयं-ज्योति न होने की योग्यता को कहा जाता है, क्योंकि वह बारम-विरोधी है, चुंकि परिभाषा के अनुसार उसमें अप-रोक्ष कहलाने की योग्यता होती है।

पुन:, एक धावरण उसे कहते हैं वो उसके द्वारा धावृत्त वस्तु की धिमिष्यिक्त का धवरोय करता है, किन्तु, यदि एक स्व-प्रकाशक सत्ता 'क्रज्ञान' के साध्यम से धपनी धमिज्यक्ति कर सकती है तो उसे एक धावरण कहना धनुष्यत है।

पुनः, यदि एक झावरण किसी प्रकार को धावृत्त करता है दो वह सावरण स्वयं प्रकास को सवस्त्र नहीं करता, किन्तु प्रकास को सावरण हे परे स्थित विषयों तक जाने से रोकता है। इस प्रकार कर में स्थित गुक उथोति घट के झन्तर को प्रकासित करती है तथा घट का धावरण केवल ज्योति को घट से बहुर स्थित विषयों को प्रकासित करते से रोकता है। युद्ध चैतन्य के प्रकास के किस्स स्थरोध के उदाहरण से ऐसा ही प्रकास का हो। युद्ध चैतन्य के प्रकास को किसने विषये धन्य कर प्रकास के प्रकास को किसने की उपन के प्रकास को किसने की विषय के प्रकास को किसने की विषय सम्बन्ध में नहीं हो सकता, क्यों की जिल्ला की विषय मानी जाती है, तथा वे पहले ही से धास्तर में नहीं होते, जिसने यह कहा जा सके कि युद्ध चैतन्य धावरण की किया से जीवा की वाप सम्बन्ध में तहीं हो सकता, क्यों का सम्बन्ध में नहीं हो सकता क्यों का सम्बन्ध में स्थान के प्रकास के प्रकास के प्रकास के प्रकास के प्रकास के प्रवास के प्रकास के प्रकास के प्रकास के प्रकास के प्रवास के प्रकास के प्रकास के प्रकास के प्रवास के प्रवास के प्रकास के प्रवास के प्रवास के प्रवास के प्रवास के प्रकास के प्रवास के

'मज्ञान' को प्रस्तुत करने में कोई धर्च नहीं होता। यह माना वाता है कि अब 'साक्षि-चैतन्य' स्वयं को अभिव्यक्त करता है तब भी 'अज्ञान' विश्वमान हो स बता है, क्योंकि 'साक्षि-चैतन्य' स्वयं 'ग्रज्ञान' को ग्रमिव्यक्त करता है। ग्रावे यह भी माना जाता है कि 'मैं, तुमने जो कहा, उसे नहीं जानता' जैसे अनुभवों में 'धजान' वचपि किसी वस्तु को भावत नहीं करता तथापि वह शुद्ध चैतन्य में अभिव्यक्त हो सकता है, जैसाकि प्रमुप्त द्वारा अपरोक्ष रूप से ज्ञात किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि 'बजान' के प्रत्यय का उद्देश्य बद्धानु के बसीम बानन्द की बनिमन्यक्ति की व्यास्या करना है, और यदि ऐसा है तो यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि भावरण की किसी प्रक्रिया के बिना 'बजान' ब्यक्त चैतन्य में प्रकट हो सकता है ? यदापि 'मैं. तुमने जो कहा उसे नहीं जानता' जैसे अनुभव के उदाहरला में 'श्रकान' ज्ञान का एक विषय हो सकता है, तथापि सका व द:ल की ग्रामिक्यक्ति के उदाहरणा में इनकी मामि-व्यक्ति के ग्रमाव का कोई ग्रनुमव नहीं हो सकता, ग्रतएव इनके सबंध में चेतना में कोई 'मजान' प्रकट नहीं हो सकता। इसके प्रतिरिक्त, जब कोई यह कहता है कि 'मै. तमने जो कहा उसे, नहीं जानता' तब मी चेतना में 'बज्ञान' की कोई मिशव्यक्ति नहीं होनी, उक्त कथन केवल यह संकेत करता है कि वक्ता के शब्दों का अन्तर्विषय अपने विशिष्ट स्योरे के बिना केवल एक सामान्य रूप में ज्ञात किया जाता है। सतः इस सीमा तक वक्ता के शब्दों के अन्तर्विषय की सामान्य रूपरेखा की अभिव्यक्ति होता है, जो मविष्य में विकाश्ट ब्यौरे के ग्रवबोध को प्रेरित कर सकती है। जा भी हो, उक्त धनुमव का धर्ष 'सज्ञान' का सपरोक्ष धनुमव नहीं होता । जिस प्रकार ईश्वर यद्यपि हमारी तरह भ्रमो के बाधीन नहीं होता तथापि वह यह चेतना रखना है कि हम त्रृटिया करते हैं, श्रमवा जिस प्रकार हम यद्यपि ईश्वर द्वारा ज्ञात की गई सकल वस्तुओ को नहीं जानते तथापि ईश्वर की सर्वजना को जानते है, उसी प्रकार 'श्रज्ञान' की विशिष्ट विशेषताक्रों को जात किये बिना हम 'अज्ञान' को एक सामान्य रूप में ज्ञान कर सकते हैं। यदि उपर्युक्त मत को स्वीकार नहीं किया जाना है, और यदि यह माना जाय कि 'सजान' का एक विशिष्ट ज्ञानात्मक प्राकार होता है तो यह ज्ञाना-रमक बाकार 'बज़ान' के विरुद्ध नहीं होगा. और ऐसा कहना लगमग यह कहने के समान होगा कि 'प्रज्ञान' की समाप्ति भी ज्ञान के विरुद्ध नहीं है, जो निरर्धक है। इसके प्रतिरिक्त यदि 'प्रजान' ज्ञान का एक विषय होता तो उसकी चेतना केवल उसको ब्राहर करने वाले ब्रन्थ 'ब्रजान' के ब्रावरण के निवारण में भी सम्भव होगी।

पुनः, यदि यह कहा जाय कि 'वृति-ज्ञान,' (बो 'ध्रज्ञान' का विरोधी है) जहाँ कहीं भी सभाव रलता है, वही 'ध्रज्ञान' प्रस्तित्व रलता है, तो उसका मोक्ष में भी प्रस्तित्व होना चाहिए। किन्तु, पुनः, जब कोई कहना है कि 'मै ध्रज्ञ हैं' नव धनुभून

विरोधी विधिष्टत: 'हिल-क्षान' के सम्बन्ध में नहीं होता, बल्कि सामान्य ज्ञान के सम्बन्ध में होता है। इसके अतिरिक्त, यदि 'वैतन्य' एवं 'श्रज्ञान' एक दूसरे के विरोध में न होते तो एक को इसरे के बमाव के रूप में बर्वात 'ज्ञान' एव 'बजान' के क्य में संबोधित करना गलत होता। इसके श्रतिरिक्त, यदि स्व-प्रकाशक शुद्ध चैतन्य की ग्रमिक्यक्ति के द्वारा ही संज्ञान सम्भव होते हैं तथा ग्रज्ञानों का निवारए। हो सकता है, तो यह तर्क-संगत है कि शुद्ध चैतन्य ही का 'अज्ञान' से विरोध किया जाना चाहिए। यह मानना भी धनुचित है कि झारमन के साथ 'झजान' का साहचर्य भी वह स्व-प्रकाशक हो । जहाँ तक 'वृत्ति' एव 'साक्षि-चैतन्य' के 'धन्नान' के साथ सम्बन्ध का प्रश्न है उनमें कोई विशिष्ट भेद नहीं होना चाहिए, क्योंकि उन दोनों को 'श्रजान' के विरुद्ध माना जा सकता है। यदि 'साध्य-चैतन्य' 'श्रजान' के विरुद्ध न होता तो वह सूख-दूख भादि के प्रति 'श्रज्ञान' का निवारण नहीं कर सकता था। यह मानने का कोई भाषार नहीं है कि 'साक्षि-चैतन्य' के द्वारा जो भी वस्तू अमिव्यक्ति की जाती है उसके माथ किसी 'धन्ना' का साहचर्य नहीं हो सकता । वस्तृत: यह सत्य है कि जाता में कोई 'ब्रज्ञान' नहीं होता है तथा जाता स्वय अपने सम्बन्ध में ' किसी 'ग्रजान' के निवाररण की अपेक्षा नहीं रखता है। आहमन एक दीपक की आँति नित्य स्व-प्रकाशक होता है, उसके साथ किसी भी भ्रन्थकार का साहच्यं नही हो सकता । इसी कारण यद्यपि साधारण विषय ग्रंपने प्रकाशन के लिये प्रकाश की ग्रपेक्षा रखते है तथापि ग्रात्मन ग्रथवा जाता किसी भी प्रकाशन की भ्रपेक्षा नही रखता। यह मानना गलत है कि शब्द चैतन्य एक 'कृत्ति' में प्रतिबिम्बित होने पर ही 'सन्नान' के विरुद्ध होता है तथा सब के अनुसव के उदाहरण में 'साक्षि-चैतन्य' सब के आकार की एक 'इति' में से प्रतिबिम्बित होता है, क्यों कि, यदि यह मान लिया जाय तो यह भी स्वीकार करना पडेगा कि सुख अनुभत होने से पूर्व एक मौतिक अस्तित्व रखता या और इस प्रकार अन्य विषयों की मॉति सुख व दल के प्रति भी संशय हो सकता है, ग्रीर इस प्रकार इस मान्य मन का बलिदान करना पडेगा कि सुख का प्रत्यक्षीकरण उसका मस्तित्व मी होता है। इस प्रकार यह स्वीकार करना पडता है कि शुद्ध चैतन्य सूल-द:ल भादि से सम्बन्धित भजान के विरुद्ध होता है। इसलिए, जान से विरोध के सम्बन्ध में शद्ध चैतन्य भीर एक 'इत्ति' के द्वारा अभिन्यक्त शद्ध चैतन्य में कोई भेद नहीं होता। न यह कहा जा सकता है कि सुख-दुख खादि 'खन्त:करए।' की 'दिल' में से प्रतिबिम्बत शुद्ध चैतन्य द्वारा प्रत्यक्ष किए जाते हैं, क्योंकि अन्तःकरण की 'हुत्ति' केवल इन्द्रिय-व्यापार के द्वारा उत्पन्न हो सकती है तथा बान्तरिक सूख के ज्ञान में ऐसा कोई इन्द्रिय-स्थापार नहीं हो सकता । न वह 'बविद्या' की 'हिलि' में से एक प्रतिबन्द हो सकता है, क्योंकि ऐसा दोव ग्रववा दोवो की उपस्थित में ही सम्भव हो सकता है। यदि, प्रंचकार में लिप्त वस्तधों की मौति तथा ज्ञान के प्रमाव की मौति, 'मजान' पूर्ण समिन्यक होता है तो वह 'साक्षि-चैतन्य' द्वारा समिन्यक नहीं

किया जा सकता। पुनः, यदि यह माना जाय कि 'जूति' 'मज्ञान' के विषद्ध है तो 'जूकि' जीव' को निर्मित करने वाली 'मह-जूति' स्नोर जड़ विवयों का प्रतिनिधित्व करने वाली विवयाकार 'जूति' का स्नित्तव होता है, इसलिए सह स्नाक्षा की जा सकती है कि वे 'जूतियों 'सज्ञान' के स्नितत्व का विरोध करेंगी तथा तलकाल मोज हो जायगा।

इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि 'ब्रज्ञान' एक ब्रावरण इस वर्ष में कहा जाता है कि उसमें एक 'योग्यता' होती है जिसके कारए। वह वस्तुओं को असत् अथवा अनिभव्यक्त के रूप में वासित करवाने के बोग्य होता है, बद्यपि वह सदा उक्त बोग्यता का प्रयोग नहीं करता, जिसके फलस्वरूप सुयुष्ति में बावरण की प्रक्रिया का श्रस्तित्व होता है, परन्तु मोक्ष में वह स्थगित रहती है। साधारशतया, ब्रह्म-क्रान की प्राप्ति न होने तक बावरए। बना रहता है। यह बापत्ति उठाई जा सकती है कि एक भावरता का प्रत्यय गुद्ध चैतन्य के प्रत्यय से मिन्न होने के कारता स्वयं मिथ्या कल्पना की उपज होता है (कल्पित) चत्रव उसमे एक दृष्ट बक का समावेश हो जाता है, इसका उत्तर यह होगा कि 'झविद्या' अनादि है, और इसलिए यदि मिथ्या कल्पना किसी विशेष अवस्था में एवं पूर्व अवस्था का फल हो तथा वह अवस्था पुनः किसी भन्य पूर्वभवस्थाकाफल हो, तो भीकोई कठिनाई नही हो सकती। इसके श्रति-रिक्त, 'बावरल' की ब्रभिव्यक्ति, बनन्त श्रेली के पूर्लहोने पर निर्मर नहीं करती वरन् धुद्ध चैतन्य द्वारा अपरोक्ष रूप से उत्पन्न की जाती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि शुद्ध चैतन्य भपनी पूर्णता में ग्रावरण से रहित होता है (यथा मोक्ष की ग्रवस्था में) तथापि ग्रन्य ग्रवसरों पर वह बावरण की प्रक्रिया के कारण एक परिच्छिन्न रूप में अभिव्यक्त हो सकता है। व्यासतीर्यकी इस आपत्ति के बिरुद्ध कि शुद्ध चैतन्य एक रस होने के कारण एक ग्रावरण से कोई साहचर्य रखने के श्रयोग्य होता है, मधुसूदन इस कथन की पुनरावृत्ति करते हैं कि बावरण सम्भव है-किन्तु इसके लिए कोई नकं प्रस्तुत नहीं किया जाता है। इस आपत्ति के प्रति कि आवरण, एक घट की भौति, उसके मीतर स्थित दीपक के प्रकाश को नहीं रोक सकता तथा केवल घट के बाहर स्थित वस्तुओं के संबंध में ही अवरोध कर सकता है, किन्तु शुद्ध चैतन्य के शवरोध की धवस्था में ऐसी कोई बाह्य मत्ता का प्रत्यक्ष नहीं होता है, मधुसूदन का उत्तर यह है कि शुद्ध चैतन्य का अवरोध 'जीव' के सबध में होता है। आवरए। एव 'जीव' दोनो एक धनादि श्रेणी में एक दूसरे से सविवत होने के कारण, उनकी प्राथ-मिकता के सबख में प्रश्न उठाना अवैध है। मध्सूदन सकेत करते हैं कि जैसे 'तुम, को कहते हो, वह मैं नही जानता' अनुभव में अज्ञान का ज्ञान से साहचर्य होता है, उसी प्रकार सुख की अभिव्यक्ति में सुझ एक विशेष विषय के प्रसंग में एक सीमित पक्ष में प्रभिव्यक्त होता है और ऐसी परिसीमा 'ब्रज्ञान' के साहबर्य के कारए। उत्पन्न मानी

जा सकती है, जो अपनी अभिव्यक्ति में प्रतिबन्धित होता है। मधुसूदन तर्क करते हैं कि 'तुम, जो कहते हो, वह मैं नहीं जानता' जैसे अनुभवों में यह व्याख्या गलत है कि वक्ता के श्रमिप्राय का सामान्य ज्ञान होता है, किन्तु ब्यौरे का विशिष्ट ज्ञान श्रमी विकसित नहीं हुई है, क्योंकि एक दृष्टिकोश से यहाँ 'प्रज्ञान' का प्रमुखव विशेष स्यौरे से संबंधित माना जा सकता है। यदि विशिष्ट स्थीरा ज्ञात नहीं हो तो उनके सबंध में कोई मजान नहीं हो सकता। किन्तु, जैसे एक वस्तु का एक सामान्य ढंग से ज्ञान होने पर मी, उसके विशिष्ट स्वरूप के प्रति संशय हो सकता है, वैसे एक सामान्य दग से ज्ञान हो सकता है और विशिष्ट ब्यौरे के प्रति सजान हो सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि ब्रजान अपने विशिष्ट स्थीरे के बिना एक सामान्य दंग से अपरोक्ष रूप में जात किया जाता है। व्यासतीय ने तक दिया था कि ग्रजान की जात केवल तब भी हो सकता है जब विशेषों का ज्ञान नहीं हो, इस प्रकार, ईश्वर में कोई अप नहीं होता, किन्तु उसे भ्रम का सामान्य ज्ञान होता है। इसके विरोध में मधुसूदन यह तक देते हैं कि प्रतिपक्षियों द्वारा जो उदाहरण दिये जा सकते हैं उन सब में एक सामान्य प्रज्ञान सघटक विशेषों के ज्ञान के साथ-साथ स्थित रह सकता है। यह तर्क दिया जाता है कि, चुकि 'ब्रज्ञान' एक ज्ञान का विषय होता है, इसलिए यह धावध्यक होगा कि 'धजान' का बावरए। दूर किया जाय यह बास्म-विरोधी है। इसके प्रति मधुमुदन का उत्तर यह है कि जिस प्रकार विशिष्ट दिक्-सम्बन्धों के ज्ञान के उदाहरण में एक विषय की उपस्थित अनिवास होती है, किन्तु फिर भी उसके समाव के ज्ञान के बिना विषय की उपस्थिति ससम्भव होगी, ठीक उसी प्रकार 'स्रज्ञान' से मंबोधित ज्ञान के उदाहरण मे एक अन्य आवरण का निवारण अनावश्यक होता है. क्योंकि ऐसा मानना ग्रात्म-विगेधी होगा ।

यह प्रायह किया जा सकता है कि 'कक्षान' तमी जात हो सकता है जब यह विषय जात नहीं होता जिनके सम्बन्ध में उक्त 'प्रज्ञान' प्रस्तित्व रखता है, बाद में, जब एक विषय जात हो जाता है, तब जाता को स्मरण होता है कि उसमें उक्त विषय के प्रति प्रज्ञान पात वार्ष ऐसे प्रज्ञान प्रवाद का स्वाद के प्रति प्रज्ञान पात वार्ष ऐसे प्रजान एवं प्रजानगाव में घन्तर इस तप्य में निहित होता है कि घमाव घरने परिलक्षित प्रतियोगी से सम्बन्धिकरण को समाविष्ट किये बिना जात नहीं किया जा सकता, जबकि प्रजान' ऐसे किशी में परिलक्षित प्रतियोगी की घरवे जाति है किया । व्यावतीये हारा दी गई 'यक्कान' की इस कन्यित व्यावस्था के प्रति ममुद्रुपत का उत्तर यह है कि बंकरदादी 'यक्कान' रूप 'प्रमाव' के भेद को लगमम स्वीकार करते हैं, जिसके विरोध में वे घवतक तक देते घाये हैं। इसके घतिरिक्त, जब कोई कहता है 'युम, जो कहते हो, जब कहा के स्वत्य वात का स्वावस्था देते प्रवाद 'यह प्रध्यावयेय हो जागग यदि 'प्रज्ञान' वर्तमान काल में प्रस्कृत ज्ञात किया जाता है तथा यह प्रध्यावयेय ही जागग यदि 'प्रजान' के ज्ञान में परिक्तिल प्रतियोगी का ज्ञान स्वाविष्ट नहीं

होता । सत:, चूं कि 'सक्रान' का उसके विचय के साथ-साथ कान होता है, इसलिए विचय के उस पस में समित्रपत्त होने में कोई समयित नहीं है जो 'पाक्षिन-वैत्तम्य' द्वारा कात 'सक्रान' के प्रमाद में होता है। मचुपुरन सावह करते हैं कि खुद चीतन्य 'प्रमादा-विच में के प्रतिविध्तित होकर हो 'सक्रान' का निवारण कर सकता है न कि प्रपने स्व-प्रकार स्वक्ष्ण के द्वारा सवस स्वयं एक नैसिंगक 'प्रमान' विरोधी जाति-विवेषण होने के कारण ।' 'प्रमान' के सम्बन्ध में वृत्ति एवं 'साक्षि-वैत्तम्य' का भेद स्व तथ्य में निहित है कि पूर्वोक्त तो 'सक्षान' के विच्छ होता है, जबकि परवादुक का 'प्रमान' से कोई सम्पर्क नहीं होता । परवादुक्त प्रयाद 'साक्षि-वैत्तम्य' कुल-बुल प्रारित के प्रमान' के निवारण के द्वारा नहीं करता बर्किक स्वरा-स्कृति वे करता है, क्वांकि 'प्रमान' के निवारण के द्वारा नहीं करता बर्किक स्वरा-स्कृति वे करता है, क्वांकि 'प्रमान' का प्रावरण साक्षि द्वारा अपरोत्त क्य से समित्रपत्ति किये जाने वामे विवयों पर कियाशील नहीं या।'

# मद्दान और ग्रहंकार

शकरवादी यह मानते हैं कि यदार्थ मुजुष्ति में स्वप्रकाशक धारमन् उपस्थित होता है, तथापि उस काल में कोई स-प्रकाशक घड़म् न होने के कारण, जायतावस्था में स्मृति मुजुष्त-प्रवस्था के धनुषव को धारमन् के रूप में घड़म् से सम्बन्धित नहीं करती, तथा भृति-गाठ मी प्रायः घड़म् के तथा बारमन् के तादास्म्पीकरण के विषद कथा करते हैं, सुबुष्त-धवस्था में घड़म् की धनिव्यक्ति नहीं होनी है, बयोकि यदि वह पश्चिम्ति होता तो उसका उस रूप में समरण होता।

इसके प्रति श्वासतीय का उत्तर है कि यह नहीं कहा जा सकता कि मुपुष्त-स्वस्था में झारमन् की घरिष्याणिक होती है तथा घहम् की घरिष्याण नहीं होती, क्योंकि प्रतिपक्षी यह सिद्ध नहीं कर गये है कि धहम् न्द-प्रकाशक झारमर् ने भिन्न होता है। यह कहना भी यलते है कि सुपुष्ति की घाषामी स्मृति घहम् का निर्देश महीं करती, न्योंकि स्मृति घारमन् का घहम् के रूप में निदंश करती है, स्वय्य किसी का नहीं। जब कोई कहता है "मैं संया," तब भी वह "मैं, 'खहम् का प्रयोग करता है जिसके साथ उसका झारमन् सम्बन्धित होता है। 'विवरण्य' भी यह कहता है कि

प्रमास-वृत्युपास्व-प्राकशस्वेन निवर्तकस्यं बूपः, न तु जाति-विशेषेस, प्रकाशस्य-मात्रेस्य
 --'श्रद्वैत-सिद्धि' पृ० ११०।

साक्षिणि यदज्ञान विरोधित्वमनुभूयते तन्नाज्ञान—निवर्तकत्व—निवंधनं, किन्तु स्व-विवयेच्छादौ यावत्सावम् प्रकाशादज्ञानाप्रसक्ति निवंधनम् ।

<sup>-</sup>वही, पृ० ५६०।

प्रत्यमित्राका बारोपण मी 'बन्त:करण' के साथ सम्बन्धित बात्मन् पर किया जाता है। यदि ग्रहम की सपप्ति-शवस्था के शतुभवकर्ता के रूप में शतुभति नहीं की जाती. तो कोई भी समान भौचित्य से उसके सम्बन्ध में सशय भी रख सकता था। यह मानना भी गुलत है कि सकल प्रत्यक्षकर्ताओं में पार्ड जाने वाली महम सत्ता नहीं है. भारमन है. क्योंकि, चाहे उसकी किसी भी रूप में संकल्पना की जाय, भहम ही ऐसे सबं निर्देश का विषय होता है. और 'विवरल' भी यह कहता है कि झात्मन प्रथक जीवों के सकल अनुभवों ने एक ही होने के कारए। यहम् के साथ अपने साहचर्य के द्वारा ही भिन्न होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि श्रहम् के प्रति निर्देश श्रहमांश के प्रति नहीं होता बल्कि उसमें अधिष्ठित स्व-प्रकाशक सत्ता के प्रति होता है. क्योंकि यदि यह स्वीकार किया जाय तो उस सत्ता के साथ श्रज्ञान का भी साहक्यें स्थापित करना पडेगा। अनुभवा में 'अज्ञान' भी बहुन के साथ सम्बन्धित प्रतीत होता है. भीर भहम सोने वाले के रूप मे प्रतीत नहीं होता. बल्कि जाग्रताबस्था के अनुभवकर्ता के रूप मे प्रतीत होता है तथा वह सोने वाले के रूप में स्वय को पहिचानता है। न यह मस्वीकृत किया जा नकता है कि जाग्रतावस्था में एक व्यक्ति यह स्मरण करना है कि नीद में ग्रहम ने सूल का अनुसव किया है, अतः यह स्वीकार करना पडेगा कि समुप्ति में भ्रहम ही निदा का अनुभव करता है। यह तथ्य कि, एक व्यक्ति अपने स्वप्त-अनुमव को उसी व्यक्ति के अनुभव के रूप में स्मरण करता है जिसने पहले कोई किया की भी और जो अब स्मरण करता है, यह प्रविद्यात करता है कि स्वप्न-प्रनुसद के पूर्व की फिया तथा स्मरण की वर्तमान किया एक ही घहम्, धनुमवकर्ता की कियाएं हैं, यदि ग्रम: स्थित अनुभवकत्ता को शुद्ध चैतन्य भी मानें तो भी जहाँ तक दृश्य अनुभव-कत्ती एव स्मरण करने याने व्यक्ति का सम्बन्ध है, सकन धनुसव ग्रहम ही के ग्रनुसव कते जासकते है। इसके अतिरिक्त, यदि बहुम् का सुष्टित में विसय मान सिया जाय, तो शरीर के जीव-प्रेरक व्यापार, जो ग्रहम के व्यापार माने गये है, श्रसम्मव हो जाएगे। इसके अतिरिक्त, चुकि हमारा आत्म-प्रेम एवं आत्म-रक्षा के लिए हमारे सवेग सदा शहम के रूप में भारमन् के प्रति निर्दिष्ट किये जाते हैं, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि स्थायी ब्रात्मन के अनुसब अहम अर्थ का निर्देश करते है। यह आबह नहीं किया जा सकता कि विश्वद धारमन पर घटम के मिथ्या धारोपरण के द्वारा ऐसा सम्भव होता है, क्योंकि इसमें दृष्ट चक्र का समावेश हो जायगा। च कि, जबतक प्रेम के उच्चतम विषय के रूप में श्रात्मन को ज्ञात नहीं कर लिया जाता तबतक उस पर कोई मारापरा नहीं किया जा सकता, भीर जबतक उस पर महम का भारोपरा नहीं होता तबतक प्रेम के उच्चतम विषय के रूप में आत्मनुको ज्ञात नहीं किया जा सकता। इसके ग्रतिरिक्त, ऐसा कोई ग्रात्म-ग्रेम का ग्रनुमय नहीं होता जो दृश्य भारमन् के प्रति नहीं बल्कि शुद्ध चैतन्य के प्रति निर्दिष्ट किया जा सके। 'मैं चरम मानन्द को प्राप्त करू गा' जैसे अनुभव की विश्वद्ध झारमन पर श्रहम के आरोपरण के साथार से की गई स्थास्था के उदाहरण में भी रही प्रकार की सालोचना की जा सकती है। देशके प्रतितिरक्त, यदि मनस् सहस् के प्रत्ये का संबर्ध होता है, तो थेरा मनस् वैद्या सनुस्क, जितमें मनस् भीर सहस् मिल प्रतित होते हैं, स्वस्म्य होगा तथा मनस् एवं सहस् का समुख्य एक ही होगा। इसके प्रतिति होते हैं, स्वस्म्य होगा तथा मनस् एवं सहस् का समुख्य एक ही होगा। इसके प्रतिति होती हैं सहं स्पृत्रित नहीं होती। यह मानना भी बलत है कि 'मैं स्वयं को मासित होता हैं (सह स्पृत्रामि) जैसे समुब्य में बेदना में 'स्कृत्य' होना प्रतित्वा होता हैं (सह स्पृत्रामि) जैसे समुब्य में बेदना में 'स्कृत्य' होना प्रतिव्या सामास है। विद्या सामास नहीं होता कि पूर्वोक्त को परवादुक का रायवाद्यास्थानस्य होने के कारण उनमें तादास्थानस्य हो। इस प्रकार सहस् का सन्तः-प्रतारक स्वावन के हारण सम्बर्य माना वा सके। इस प्रकार सहस् का सन्तः-प्रतारक स्वावन के हारण साम्यान कर में स्वपरोक्त प्रत्यक किया जाता है, तथा सन्तुमान भी हमी नत्य की भीर सकेत करता है, नयोंकि, यदि सहस् को नैतिक एवं सम्य युद्धिकरण सम्बर्य कर्तवा के कारण त्रावा है। स्वावन के हारण कर्तवा को को करने का स्वावन है। स्वावन है। स्वावन के हारण साम्यान के क्ष में स्वपरोक्त प्रत्यक किया जाता है, तथे सन्त मुक्त होने का कथन किया जाता है, तथे यह तक-सम्यत है कि सहस्य हो सारमन् है। इस पन की पूरित स्वावन है। इस प्रतान है। इस पन की पूरित स्वावन है। इस प्रतान है। इस पन की पूरित स्वावन है। इस प्रतान है। इस पन की पूरित स्वावन है। इस प्रतान है। इस पन की पूरित स्वावन है। इस प्रतान है। इस प्यान है। इस प्रतान है। इस प्रतान है। इस पन की पूरित हो।

इसके प्रति अधुसुदन का उत्तर यह है कि, यदि 'यहसमें 'निहा में उपांस्थत होता, तो उसके पुण, यथा-इस्बा, आकासा धादि का प्रश्चानिकरण होता। जिस द्रव्य में पुण होते हैं बहु उन पुणो के हारा हो जात किया वा सकता है : प्रस्था पुणों सहित एक पट को उत्त पुणों के हारा होता किया वा सकता है : प्रस्था पुणों सहित एक पट को उत्त पुणों के हारा होता के प्रश्चान कर दे हैं पुणों की पूर्णट के मध्यानतर में मट के प्रस्तित का कथन करते हैं। किन्तु यह हमारी प्रमुख मागवना के विश्व मही जाता, क्वोंकि सवधि एक पुण विधिष्ट बस्तु को उसके पुणों के हारा बातना धावस्थक होता है, तथापि एकते यह निकल्त नहीं निकलता कि एक पुण-रहित करते हैं। विस्तु पुणे के हारा बातना धावस्थक होता है, तथापि एकते यह निकल्त सहार प्रश्ना क्रिय कुछ पुणे के हारा बीत किया वाता है, विश्व पुणे पुणे का प्रश्वानिकरण नहीं होता हो उसके प्रस्ति पुणे प्रमुख साध्यम ही सुपुष्टि में आत किया जाता है, प्रस्ति पुणे स्वित में प्रमुख स्वान के स्था में प्रस्ता के साध्यम के स्थ में प्रश्ना किया जाता है। भी स्वत्ति पुणे सुपुष्टि में सुप्त प्रस्ता में का प्रस्त में प्रस्ता में का स्था के स्थ में प्रस्त किया जाता है। भी र इससिए यह प्रस्त में प्रस्त में अप्रस्त के स्थ में प्रस्त किया जाता है। भी र इससिए यह प्रस्तु में प्रस्ता में सात नहीं या प्रमुख के प्रसादन होता है। भीर इससिए यह प्रस्तु में प्रस्त में अप्रस्ता में का नहीं या प्रमुख के प्रसादन होता है। भीर इससिए यह प्रस्तु में प्रस्त

¹ 'न्यायामृत' १० २८३ (**ग**)।

इह त् स्कूरएमात्रमधिष्ठानमिति स्कूरामीस्येव घीरिति चेश्र ।

<sup>–</sup>वही, पृ०३८ (झ)।

होता है। स्मृति 'मजान' के माध्य के रूप में खुद चैतन्य का निर्देश करती है. श्रहम् का नहीं। यह सत्य है कि 'विवरण' यह मानता है कि 'प्रत्यमिता' 'धन्त: करता' से सम्बन्धित सूद चैतन्य ही की सम्भव होती है, किन्तु यदापि ऐसा है, तथापि इससे यह फलित नहीं होता कि खुद चैतन्य की 'धिमन्ना' भी 'धन्तःकरएा' से सबंधित होनी चाहिए । इसलिए सुकृष्ति सवस्था में हमें शुद्ध जैतन्य की कोई 'प्रत्य-भिज्ञा' नहीं होती, वरन उसकी 'धन्त:प्रज्ञा' होती है। जाग्रताबस्था में हमें शद चैतन्य की नहीं बल्क 'ब्रज्ञान' से सबंधित चैतन्य की प्रत्यमित्रा होती है। 'विवर्श' के कथन का बल इस नच्य पर नहीं है कि 'प्रत्यमित्रा' के लिए यह धपरिहाय है कि शद चैतन्य का 'अन्त:करण' से साहचर्य होना चाहिए, किन्तु इस तथ्य पर है कि वह किसी भी उपाधि तस्त के साहचयं से पूर्णतः रहित नहीं होना चाहिए तथा ऐसा तस्त 'धज्ञान' के नाय उसके साहचयं में पाया जाता है, जिसके फलस्वरूप प्रश्यभिज्ञा सम्भय होती है। स्वप्तां में अनुभवकर्ता के रूप में अहम की स्मृति सुपृष्ति में आत्मनु की धन्त:-प्रजा तथा उसके साथ घट्टम के तादारम्य के बारोपरा के द्वारा घटित होती है। ऐसे मिथ्या आरोपए। की स्मृति ही सूपृष्ति में बहुन के सामासी अनुसब के लिए उत्तरदायी होती है। यह सुमाव देना गनत है कि यहाँ एक दुष्ट चक्र का दोप हो जाता है, क्यों कि जब बहमर्थ बात्मन से मिल जात किया जाता है ,तभी एक मिथ्या तादात्म्यीकरण हो सकता है, तथा जब एक मिथ्या तादात्म्यीकरण होता है नभी, चॅिक बहुम् मूजूप्ति अवस्था में अभिन्यक्त नहीं होता, इस धारला का प्रवर्तन होता है कि वह मिन्न है। क्योंकि जब धारमनुधहम् में मिन्न ज्ञात किया जाता है तभी धहम् के रूप में ब्रात्मनु की स्मृति की सम्भावना का निषेध हो नकता है। व्यासती थे कहते हैं कि 'म्रहमयं' तया 'श्रहकार' दो भिम्न सलाए होने के कारएा, पूर्वोक्त की ग्राभिष्यक्ति में ग्रानिवार्य फल के रूप में पदवादक्त की ग्राभिष्यक्ति का समावेश नहीं होता, तथा इससे यह व्यास्या हो जाती है कि कैसे मुष्टित में यद्यपि 'ब्रहमर्य' ब्रमि-व्यक्त होता है तथापि 'बहकार' का लोप होता है। इसके उत्तर में मध्सूदन कहते हैं कि श्रह मर्थ और शहकार का सह-मस्तित्व होता है और इस प्रकार जहाँ-जहाँ श्रहमर्थ विद्यमान होता है वहाँ बहकार भी होना चाहिए, और, यदि सूर्याप्त-बवस्था में बहमर्थ की भ्रामिक्यक्ति होती तो उसके साथ ही भ्रहकार की भी ग्रामिक्यक्ति होनी चाहिए थी। वे आगे कहते हैं कि यही आपत्ति सुपृत्ति-अवस्था में आत्मन् की अभिव्यक्ति के सबंध मे नहीं उठाई जा सकती. क्योंकि बात्मन का बहकार से साहचर्य नहीं होता । व्यास-तीयं ने कहा है कि जैसे शकरवादी सम्बद्ध-शबस्या में 'सजान' की श्रमिक्यक्ति की यह व्यास्था करते हैं कि उसका निर्देश केवस वस्तुगत सत्ताओं के प्रति ही होता है, न कि विशद 'साक्षि-चैतन्य' के प्रति (क्योंकि यह सम्भव नहीं हो सकता कि वह विरोध-ग्रस्तता के बिना धमिन्यक्त भी होता एवं साथ ही 'श्रजान' का विषय भी होता), ठीक वैसे ही बहमर्थ की ब्रिमिव्यक्ति का 'ब्रजान' के साहवर्य से अ्याचात नही होता, बल्कि

सह माना जा सकता है कि उसका निर्वेष बाख्य बस्तुगत सताधो के प्रति होता है। इसका प्रमुद्दान यह उसर देते हैं कि 'सासि-बैठन' में 'सप्तान' की धीमव्यक्ति में कोई क्ष्मायात नहीं है, जैसाकि धहमर्च के साथ उसके साहचर्च के उदाहरणा में हो सकता है, धतएक व्यासतीयें की व्याल्या तर्वेषा धनावस्थक है।

मधुसूदन कहते हैं कि ग्रहमर्थ को श्रात्मन् से मिन्न सत्ता के रूप में प्रमुमित किया जा सकता है, क्योंकि, शरीर की भौति उसकी हमारे ग्रहं-प्रत्यक्ष प्रथवा 'मैं' के रूप में हमारे प्रत्यक्षीकरमा के इ!रा संकल्पना की जाती है। यदि यह माना जाय कि ब्रात्मन, भी बहुं-प्रत्यक्ष के द्वारा सकत्यित किया जाता है. तो उत्तर यह है कि भारमन्, जिस भर्य में यह-प्रत्यक्ष के द्वारा संकल्पित किया जाता है, उस प्रयं में वह बस्तुत: एक अनात्मन् होता है। अपने अनिवार्य स्वरूप में बह-प्रत्यक्ष मे अधिष्टात भारमन् को ग्रह-प्रत्यक्ष के द्वारा संकल्पित नहीं किया जा सकता। पुन व्यासतीर्थ के इस मत की कि हमारे द्वारा स्वय ध्रपने ध्रानन्द के चरम लक्ष्य के रूप में अनुभूत करना यह प्रदक्षित करता है कि चरम ग्रानन्द बहमर्थ में होना है, शकरवादियो द्वारा यह बालोचना की जाती है कि चरम बातन्द जो वस्तृत: बात्मन में होता है एक व्राट-पूर्ण तादास्म्य के द्वारा मिथ्या दग में अहमर्थं पर बारोपित कर दिया जाता है। .. इस भालोचनाकी पून मध्यो द्वाराडम भाषार पर भाजःचनाको जायी है कि उक्त ब्याख्या में दूष्ट चक्र का समावेश हो जाता है, क्यों कि जब ग्रुमर्थ के चरम धानन्दमप स्वरूप का भाग कर लिया जाना है नभी तादात्म्य का गिथ्या प्रत्यय स्वय को प्रस्तृत करताहै, तथा जब नादात्म्य का मिथ्या प्रत्यय उपस्थित होना है तभी उस चरम मानन्देमय स्वरूप का भान होता है। इसके प्रति, पून, मधुनुदन का उत्तर यह कि सुपुष्ति ग्रवस्थाका सनुभव ग्रात्मनुका शुद्ध चैतन्य के रूप में अभिव्यक्त करना है, जबकि ग्रहमर्थं भनमिब्यक्त रहता है, इस प्रकार सुपुष्ति की साक्षिद्वारा ग्रहमर्थं भ्रात्सन से भिन्न ज्ञाता होता है। श्रहमर्थस्वय सर्वाभव्यक्त होता है, और उसकी स्राभिश्यक्ति सदा विशुद्ध श्रात्मन् के साथ उसके तादाश्म्य के मिथ्या आरोपरण के डारा होनी है। मधुसुदन यह अभिवचन देना चाहते है कि नुष्पित में चरम आनस्द का अनुभव विशुद्ध भारमन् की भ्राभिक्यक्ति होता है, ब्रह्मर्थ की खांभव्यक्ति नहीं, ब्रहम् केवल उस विश्वद्ध भारमन् के साथ तादारम्य के द्वारा ब्रानन्दमय मासित होता है जिसमे सुपूर्ण्य श्रवस्था का ग्रानन्द स्थित होता है।

व्यासनीर्थ को प्रापति यह है मोल में धात्मन् धानन्त के चरम लक्ष्य के क्य में मनुभूत नहीं होता. क्योंकि वहाँ कोई हैंत नहीं होता, किन्तु, यदि ऐमा सनुभव आत्मन् का स्वरूप हो तो उसके विजास के साथ हो मोल में प्रात्मन् का विजाल हो बालगा। इसके प्रति ममुमूदन का यह उत्तर है कि धात्मन् का चरम धानन्त के तक्ष्य में मनुमन केवल एक लोपांकिक धनिक्यांकि होनी है, धनएव मोध में इस उपाधि के निवारण से धात्मन् के विनास का कोई मर नहीं हो सकता।

शंकरवादियों द्वारा यह भाग्रह किया जाता है कि मनस में स्थित 'कत त्व' का भारमन पर मिच्या बारोपरा हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह मिच्या हुए से कर्ता के रूप में मासिन होता है, यद्यपि उसके यथायं अपरिवर्तनशील स्वरूप का संयुक्ति में प्रस्थक्षीकरसा होता है। व्यासतीर्थ उत्तर देते हैं कि अम के दो विशिष्ट उदाहरसा होते हैं. ग्रयांत (१) जहाँ जपा-पूष्प का लाल रंग एक स्फटिक पर प्रतिबिम्ब होता है. जिसके फलस्वरूप क्वेत स्फटिक साल प्रतीत होता है तथा (२) जहाँ एक रज्जू एक भयानक सर्प के रूप में मासित होता है। श्रव, प्रथम उदाहरता में साह्य्य का बनसरण करते हए एक व्यक्ति यह बाशा करेगा कि मनस प्रथक रूप से एक कर्ता के क्ष्य में ज्ञात किया जायगा, ठीक उसी प्रकार जैसे जपा-पृष्य लाल ज्ञात किया जाता है. तथा गुद्ध चैतन्य भी एक कर्ता के रूप में मासित होना चाहिए, ठीक वैसे ही जैसे स्फटिक लाल भासित होता है। यदि यह उत्तर दिया जाता है कि भ्रम प्रथम प्रकार का नहीं होता, चैकि मनस का गूरण प्रतिबिम्बत नहीं होता वरन अपने गुर्गों सहित सनस स्वय आरोपित किया जाता है, इसलिए यहाँ भ्रम द्वितीय प्रकार का होगा । किन्तू तब भी सर्प स्वय भयानक प्रतीत होता है, तथा इस साहश्य के अनुसार एक व्यक्ति यह आशा करेगा कि मनसुस्वतत्र रूप से एक कर्ना प्रतीत होना चाहिए ग्रीर शद चैतन्य भी ऐसा प्रतीत होना चाहिए।

उत्तर मे ममुसूदन कहते है कि वे द्वितीय प्रकार के भ्रम को स्वीकार करते है, यौर यह नामते हैं कि मनत् के कुट्टंब के ममान्तर बुद्ध चेतव्य में कट्टंब भाषित हाता है, योर फिर मनन् एव गुद्ध चेतव्य के तादा क्या से कट्टंब भाषित होता है। पर क्वृत्य भाषित होता है। पर क्वृत्य भाषित होता है। पर क्वृत्य नामता त्या हिए होता है। पर क्वृत्य का भ्रम उक्त दोनो प्रकार का माना जा सकता है। वैसाकि उत्यर का माना जा सकता है। वैसाकि उत्यर कावा जा चुका है, निक्शांधिक के रूप में पद्मांचुक प्रकार जिसमें वह जिसका प्रारोपण किया जाता है (धध्यासमान, यथा-मयानक सपे), व्यावहारिक सा होने के कारण प्रामक जाता (रजु तपे विसक्ती केवन 'प्रातिमासिक' नता होती है) से स्वावक तप्तर होना है। उसकी प्रवस्त प्रकार के 'सींचांबक' भ्रम के रूप में भ्रम्य मान काता (रजु तप्त प्रकार के 'सींचांबक' भ्रम के रूप में भ्रम्य मान काता है। उसकी प्रवस्त प्रकार के 'सींचांबक' भ्रम के रूप में भ्रम्य का कर्नृत्य) योर वह जो मिष्या प्रतिसास होना है (सुत्र वेतव्य का कर्नृत्य) दोनों एक ही स्वर से सता स्वर्ण है, स्वर्ण क्रम्य स्वर्ण प्रमान स्वर्ण के स्वर्ण

मधुसूबन निर्देश करते हैं कि शहकार दो सबों से निर्मित होता है, (१) प्रियिष्ठान सुद्ध पैतन्य, सीर (२) कर्ता के क्या में जड़ संबा। द्वितीय सब तस्तुत: नमत्त्र में होता है, तथा सुद्ध पैतन्य के साथ उसके एक मिथ्या ताशास्त्रीकरए। के हारा ही पैत कर्ता हैं भनुमय सम्प्रव होता है, सतः कृतृत्व को सनुपूति केवल ऐसे प्रमु में हारा ही चिंदत होती है। यतः यह घापित सर्वेच है कि, यदि यनस् का कर्तृत्व सहसर्व पर स्वानानारित कर दिया जात वा सारमम् को बन्धन एवं जोको के समीन नहीं माना वा सकता, क्योंकि तथाकांवित सहस्य स्वयं मनत् व उससे संबंधित कर्तृत्व के सुद्ध चैतम्य के साथ मिथ्या तासारम्यीकरण्य का कत होता है। व्यासतीमं ने यह निर्देश किया था कि तांबस्य वादियों के साथ तकंकरते स्वयं सकरवादियों ने 'जुद्धि' के कर्तृत्व का सम्बन्ध किया था (बहु-मुल, ।। ३,२३)। इसके प्रति मणुसून का ततर यह है कि सकरवादियों ने यह क्ष्यन किया था कि चैतम्य कर्ता एवं समुम्बर्ग का मोक्ता योगो होता है, न कि केवन मोक्ता जैसाकि सांस्थवादियों ने बोधित किया था, उन्होंने न तो 'जुद्धि' के कर्तृत्व का सम्बन्ध किया था और न सुद्ध चैतम्य का कथन विकाश था।

व्यासतीर्थं कहते हैं कि 'मैं एक बाह्यरण हैं 'सैसे धनुसनो मे बाह्यरण घारीर का 'मैं' तासास्थीकरण होता है, तथा वह 'मैं' सकरवारियों के धनुसार धारान्य से मिल्र होता है, वथा वह 'मैं' के धारान्य नहीं माना जाता है। पुन:, याँव होता है, वथा उत्तरण उत्तरण प्राप्त के तासार्य का धररोक्ष प्रत्यक्षीकरण किया जाता है, तथा उत्तरक व्यापात करने के लिए कोई सत्य धनुमान उपलब्ध नहीं है तो यह कथन करना कठिन हैं कि बे मिल्र है। इसके धांतरिक, जारीर बीर डिम्बर्ग एक दूनरे से मिल्र झात की जाती हैं तथा दोनों का धाराय्य के साथ तासास्य नहीं माना जा सकता | पुन:, याँव सकत मेद अम है, तो तासार्य्य का प्रत्य, जो मेद का विरोधी है, धांन्वांचित्र सत्य होगा। इसके धांतरिक, वास्तव में, धारीर धीर धांग्यन् का ऐसा कोई मिथ्या-तासार्य्यकरण कमी भी धांटिन नहीं होता, क्योंक मानवां का कीन कहें, पणु भी यह जानते हैं कि वे धयने धारीरों से पित्र होते हैं तथा, यदांच उनके जरीर जन्मान्तर में परिवर्शतत होते हैं कि वे धयने धारीरों से पित्र होते हैं तथा, यदांच उनके जरीर जन्मान्तर में परिवर्शतत होते हैं है क्यांच वे स्वय जिरत्यत वही तने उत्तरे हैं।

समुद्दस्य उत्तर में कहते हैं कि बारीर एक यहन् का मिन्या नादास्त्योकरण सम्मद है स्थांकि प्रदृप्त का एक संबदन बुद्ध चैतन्य होता है, और इस प्रसार उसके सास मिन्या तादास्थीकरण का स्वर्ष होता है चैतन्य के साथ तादास्थीकरण । इसके प्रतिक्तिक, यह कहना बत्तव है कि, यदि प्रत्यक्षीकरण अरोर धौर धारमन् के मध्य वादास्थ्य का प्रकट करता है तो मनुमान के हारा उनके भेद को स्थापित करना सम्प्रवन्ति है। स्थोकि यह मुर्विदित है (बचा, प्रत्यक्षीकरण में बन्द्रस्य के धानामी प्राकार के उदाहरण है) कि प्रत्यक्षीकरण हारा प्राप्त तिकक्षीं को सुप्रमाशित प्रवृप्ता नाई स्थाक वर्ष होता प्राप्त तिकक्षीं को सुप्रमाशित प्रवृप्ता नाई स्थाव के द्वारा प्राप्त तिकक्षीं को सुप्ताशित प्रवृप्ता नाई स्थाव के द्वारा प्राप्त तिकक्षीं को प्रयुक्त स्थाव होता प्राप्त तिकक्षीं को सुप्ता स्थाव स्थाव के द्वारा प्राप्त तिकक्षीं के कारण, प्रेर का विरोधी, वर्षात मिन्या तादास्थ्यीकरण नाय होता प्रयुक्त स्थावित स्थाव स्थावित स

व्यावहारिक जीवन में शारमन् के साथ सरीर के मिथ्या तावारम्यीकरए। का अनुमान एवं श्रुति-याठों के साव्य द्वारा निवारण किया जा सकता है, जबकि सकत भेद के भ्रम का निवारण केवल मोल पूर्व के बानिम झानारमक घवस्था के द्वारा ही किया जा सकता है। मनुषुदन मानते हैं कि शारमन् के साथ सरीर के सर्वय की सकल व्यावस्था व्याव है, तथा जो एकमात्र व्याव्या समीचीन प्रतीत होती है वह यह है कि सरीर श्रारमन् पर एक मिथ्या धारोपण होता है।

#### जगत-प्रपंच की अनिर्वचनीयता

व्यासतीर्थ द्वारा यह बायह किया जाता है कि शंकरवादियों के लिए यह सिद्ध करना कठिन है कि जगत्-प्रपच 'अनिर्वचनीय' है, चाहे 'अनिर्वचनीय' पद को किसी मी गर्थ में लिया जाय। इस प्रकार, चुँकि उसे श्रानिवंचनीय कहा जाता है, ग्रत: ऐसा कहना मात्र भी उसके स्वरूप का एक यथेष्ट वर्णन हो जाता है, न यह कहा जा सकता है कि जिस ज्ञान अथवा विषय की परिभावा अथवा वर्शन किया जा सकता था उसका भभाव होता है, क्योंकि उनके ग्रमाव में वर्शन के प्रति कोई उल्लेख सम्भव नहीं होगा। न यह कहा जा सकता है कि सनिर्वचनीयता का सर्वयह है कि वह सत् एवं ग्रसत् दोनो से मिन्न है, क्योंकि उनसे भिन्न होते हुए भी वह दोनों का संयोजन हो सकता है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि अनिवंचनीयता इस तथ्य में निहित है कि जगत-प्रपचन तो सन् है, भीर न बसत् है बीर न सदसद् है। अनिवे-चनीयना इस तथ्य में भी निहित कही जा सकती है कि 'जगत-प्रपच जिस प्रसंग से मासित होता है उसमे उसका व्याघात हो सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि उपरोक्त स्थित हमें किसी नवीन सत्य पर नहीं पहुँचाती, स्थोकि एक ग्रस्तित्ववान सत्ता किसी भी अन्य प्रस्तित्ववान सत्ता से मिल्ल ज्ञात की जा सकती है, क्योंकि यहाँ किसी विशेष क्रस्तित्व का नहीं वरन स्वय क्रस्तित्व का निषेष किया गया है। यदि यह कथन करना सम्मव है कि एक ऐसी सत्ता हो सकती है जो न सत है और न असत है. तो निश्चय ही वह एक नवीन तक वाक्य होगा। मधुसुदन खागे निर्देश करते हैं कि 'सन' और 'ब्रसत' यहाँ अपने मान्य अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं, और दोनो मिध्या होने के कारए। उनमें से एक के निषेध में दूसरे की स्वीकृति का समावेश नहीं होता, अतएव विमध्य-नियम लागू नहीं होता । जब यह कहा जाता है कि धनिवंचनीयता इस तथ्य में निहित है कि एक वस्तुन सतुहै और न असतुहै, तब उसका केवल यही अर्थ होता है कि चुंकि जो कुछ भी स्वीकृत सथवा ग्रस्वीकृत किया जा सकता है वह मिष्या है, इसलिए उनमें मे कोई भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो स्वरूपत: भवरांनीय है उसकी किसी मत्तं भववा विशिष्ट रूप से स्वीकृति नहीं की जा सकती।"

न च तिंह सदादि-बैलकाष्यांकिः कच तत्-तत्प्रतियोगि-बुनिक्पतामात्रे प्रकटनाय, न हि स्वरूपतो दुनिक्पस्य किचिदपि रूप बास्तवं सम्मवति । —'यद्वैत-सिद्धि' पु० ६२१ ।

ब्यासतीयं तकं देते हैं कि सत् और शसत् का श्रव्यास्येय स्वरूप उनको श्रिवंच-नीय कहने का बाधार नहीं बनाया जाना चाहिए, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो 'ब्रविधा' की समाप्ति को भी जिसे न सत् और न असत् और न सदसद माना जाता है. श्चनिर्वेचनीय कहा जाना चाहिए था। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि 'अविद्या' की समाप्ति को विलक्षण कहा जाता है, क्योंकि उसका मोश की अवस्था में श्वस्तित्व नहीं होता. वे शागे शाग्रह करते हैं कि यह मानने में कोई ससंगति नहीं है कि एक सत्ता भीर उसका अमाब (शर्त यह है कि वे दोनों मिच्या हों) दोनों का किसी धन्य सत्ता में समाव हो सकता है-यह तभी असम्मव होता है जब माव और समाव दोनों ययार्थ हों । मधुसदन झाने कहते हैं कि सत एवं असत परस्पर निषेधात्मक नहीं हैं, बरन वे परस्पर निविध क्षेत्रों में बस्तित्व रखते हैं। इस अर्थ में सतु की यह परिमाया दी जा सकती है कि वह असत से विरोधी होने का धर्म है तथा इसल की यह परिमाचा दी जा सकती है कि वह सत् के रूप में श्रीभव्यक्त होने की श्रयोग्यता है। यह तर्क किया जा सकता है कि इस अयं में जगत-प्रपंच को सत और असत से भिन्न नहीं माना जा सकता । इसका उत्तर है कि-यह मत मानकर कि सत और असत ध्यपने स्वरूप में इस रूप में ऐकान्तिक नहीं होते हैं कि-सतु के अभाव को असतु कहा जाय तथा असत् के अभाव को सत् कहा जाय, बल्कि इस रूप में कि एक की अनुपश्चिति में भ्रम्य की उपस्थित होती है, एक ऐसी सम्भावना रक्खी गई है जिसके फलस्वरूप बोनों एक ही काल में धनपस्थित रह सके। इस प्रकार यदि नित्यता एव धनित्यता की विनाश से संबंधित-सत एव विनाश से असंबंधित-सत के रूप मे परिभाषा दी जाय तो उन दोनों का सामान्यता में प्रभाव हो सकता है, जिसमें कोई सत नहीं होता और पुन: यदि नित्यता की अविषय में किसी परिसीमा के अमाव के रूप में परिमाषा दी जाय, भीर भनित्यता की परिभाषा सत के भतिरिक्त सकल वस्तुओं के विनाशत्व के कप में दी जाय तो 'प्रायभाव' की एक ऐसी सत्ता के रूप में परिभाषा दी जा सकती है जिसमें न सत्ता है और न असत्ता है, क्योंकि एक व्यंसाभाव का एक भविष्य होता है तथा साथ ही एक माबारमक सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु के द्वारा उसकी समाप्ति नहीं की जा सकती, अतएव उपयुं क अयों में उसमें न नित्यता होती है और न अनित्यता । इसलिए मिच्या रजत मिच्या होने के कारए न तो व्याघात-योग्य बानी जा सकती है भीर न व्याचात-रहित कही जा सकती है। किन्तु प्रतिपक्षी यह तक करता है कि यह उदाहरए। सर्वया अप्रासिंगक है, चूंकि 'सामान्य' का कोई विनाश नहीं होता स्रतएव वह प्रनित्य है, तथा प्रागमान प्रनित्य है क्योंकि वह विनष्ट होता है। इसका मध्यदन यह उत्तर देते हैं कि संकरवादी अपनी बात केवल इस उदाहरण से ही सिद्ध नहीं करते, किन्तु अपनी मान्यता के समर्थन में अन्य प्रमाखों के पूरक के रूप में ही उक्त उदाहरण को प्रस्तुत करते हैं । जगत्-प्रयंत्र में सत् एवं असत् के धर्म, जिना विरोध के इसलिए पाये जाते हैं कि कल्पित वस्तुओं (सत एवं बसत) के धर्म होने के काररा एक दूसरे का अयाचात नहीं करते।" यदि एक वस्तु एक यचार्थ अर्थ में अनित्य नहीं मानी जाती है, तो उसे तभी तक अनित्य मानने में कोई ब्याचात नहीं है जब तक वसका बस्तित्व बना रहता है। व्यासतीयं की इस बालोचना के विरुद्ध कि यदि जगत्-प्रपंच किसी वस्तु द्वारा किन्हीं भी कारएों से अनिवैचनीय कहा जाता है तो उसका बहुक्यन स्वयं एक स्वीकारोक्ति है, अतएव यहाँ एक व्याचात हो जाता है मधुसूदन क्षक्त युक्तियों देते हुए कहते हैं कि तात्विक बर्मों के ब्रमाव को इस ब्राधार पर स्वीकार करने में कोई अयाचात नहीं होता कि उक्त वर्ग कल्पित है। वत् एवं असत् दोनों के इस्प में अनिवंचनीय होने का अर्थ यह है कि विचाराचीन वस्तु में इन दोनों का व्याघात पाया जाता है। जब यह कहा जाता है कि कस्पित जगत्-प्रपंच दश्य, सदस्य, बाध श्रयका श्रवाय योग्य नहीं होना चाहिए, तब एक भ्रान्ति हो जाती है, क्यों कि वह निश्चय ही किसी यथार्थ ग्रथं में उक्त स्वीकारोक्तियों से परे है, किन्तु उक्त धर्मों को कल्पित माभासों के रूप में स्वीकार करने में कोई विसंगति नहीं है, चूँकि वे सकल मनुमय में उक्त रूपों में प्रस्तुत किये जाते हैं। सारांश यह है कि, जब विरोधी धर्म स्वयं काल्पनिक होते हैं, तब किसी एक विशेष वस्तु के संबंध में उनके पारस्परिक निषेध में कोई विसंगति नही होती, यदि पारस्परिक निषेध अतास्विक है तो उनकी पारस्परिक स्वीकृति भी श्रतात्विक है। व्यासतीय तक करते हैं कि जगत्-प्रपंच के 'मनिर्वाच्यत्व' का यह अर्थ नहीं हो सकता कि वह सत् भयवा ससत् का माश्रय नहीं है, क्यों कि ग्रसत् भीर बहान दोनों गुगा-रहित होने के कारण जगत्-प्रपंच की उक्त बनस्याओं को संतुष्ट करेंगे, और वे भी अनिवंचनीय कहलाने के अधिकारी होंगे। यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्मन को कल्पित सत्ता आश्रय माना जा सकता है, क्यों कि इसका उत्तर यह है कि जगत्-प्रपंच के सबंघ में भी यही कहा जा सकता है। पु:न चूंकि बह्मन गुगा-रहित है, भतः यदि उसके सम्बन्ध में सत् का निवेच किया जाय, तो सत् के प्रमाव का मी निषेध नहीं किया जा सकता, इसलिए, यदि सत् एवं सत् के समाव का बहान् के प्रति निषेच किया जाय तो बहान् स्वयं सनिर्वचनीय हो जाता है। मधुसूदन का उत्तर यह है कि जगत्-प्रपत्र में सत् और असत् दोनों का निषेध केवल इस अर्थ में अनिबंचनीय है कि उक्त निषेध जगत्-प्रपंच पर तभी तक लागू होता है जब तक वह विद्यमान है, अविक ब्रह्मन् में उक्त निषेध निरपेक्ष होता है। अहाँ व्यासतीर्थ की युक्ति का बल इस तथ्य पर है कि सत् और असत् दोनों का एक ही काल में निषेष

धर्मिसीय कल्पितवेन विरुद्धयोरिप धर्मयोरमावात् ।

<sup>-</sup>वही, पृ० ६२२।

भतास्विक हेतु-सङ्कावेन तास्विक-धर्मामावस्य साधनेन व्याधातामावत् ।

<sup>-</sup>बही, पृ॰ ६२३।

नहीं किया जा सकता, वहां ममुद्रदन तर्क करते हैं कि, चूंकि सन् का निवेच और उसकी स्वीकृति एक ही कात के नहीं होते हैं (परवादुक्त ज्यावहारिक' स्वर की होती है), सत: उसकी एक ही कात में स्वीकृति में कोई व्यावात नहीं होता । इसी प्रकार ममुद्रदूतन यह तर्क करते हैं कि बहुन् में मुखाँ का निवेच (निविचेचक) स्वयं एक ग्रुण नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि विस्त मुख का निवेच किया जाता है वह करियत होता है सनएव उसका निवेच स्वयं एक मुखा नहीं होता है। व्यावतीयों साने सामह करते हैं कि संकरपादियों की गुक्ति की विचारपारा का अनुसरएक करते हुए कोई मह को कह सकता है कि प्रतिवाधिक चुक्ति-वत का व्यावहारिक चुक्ति के डारा कोई वाप कोई वाप नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों दो मिन्न स्वर की सत्ताए हैं। इसका ममुद्रदन यह उत्तर देते हैं कि प्रतिवाधिक चुक्ति में उनकी एक क्यता एव एक का दूसरे डारा व्यावहारिक सत्ता दोनों 'साक्ति-चैतन्य' डारा प्रहण किने वाते हैं, तथा इती में उनकी एक क्यता एव एक का दूसरे डारा व्यावहारिक सत्ता दोनों 'साक्ति-चैतन्य' डारा प्रहण किने वाते हैं, तथा इती में उनकी एक क्यता एव एक का दूसरे डारा व्यावहारिक सत्ता वाने कि सानोचना अनुसरक हो जाती है।

#### ब्रह्मन का स्वरूप

भ्रम के स्वरूप का वर्णन करते हुए व्यासतीर्थ कहते हैं कि वब रजत का ध्रय-चेतान संस्कार जायत होता है, तब मानेन्द्रयों विशिष्ट दोगों से सम्बंधित होने के कारण स्मृति 'दह' को उजत के साहत्य में यहता करती हैं। हमिलए किसी काल्पानिक रजत को कोई उत्पास्त नहीं होती, मैसाकि श्रम्यकारी धम्मिक्यन करते हैं, रजत विश्रमान न होने के कारण, उत्तरवर्ती प्रत्यक्षीकरण यह प्रत्यक्ष बजा देता है कि केवल विश्या रजत ही का मास हुमा था। यहाँ धनुमान का भी बहुत उत्पुक्त क्वान है, स्वींकि जो भी स्थासतीर्थ मान है वह असत् वन्तुधों का निर्देश हरति है कि वे सन् नहीं होती। श्यासतीर्थ माने देव असत् वन्तुधों का निर्देश हरति (अन्यवादिक्ष) वीदों के भ्रम-संबंधी मत (भवत्-वर्गात) से इस बात में निम्म है कि बौद-मत में 'यह रजत है' प्रतिभास पूर्णतः मिष्या होता है, जबकि व्यासतीर्थ के मन में 'यह' सत्य होता है; यद्यप्ति 'दलते' के साथ उसका साकर्य निष्या है।

व्यासतीर्थं काये निर्देश करते हैं कि यदि विच्या रजत को 'यहान' की एक उपज मान जिया जाय तो यह मानना गतत होगा कि वह 'किकान-निर्केच-मोग्य है-क्योंकि यदि वह 'स्वान' की उपल होजी, तो वह मस्तित्व में होती और निजेश योग्य नहीं होती। यह कहना भी गजत है कि मिच्या झामार का निश्च उसके यथार्थ के सबंध में होता है, क्योंकि सामाश के मिच्या होने के जिए मावस्थक है कि निषेश उसे यथार्थ के रूप में नहीं एक मिच्या सामार के रूप में सस्तीहन करे, चूँकि उसकी यथार्थता का निषेश एक मिक्स स्तर का होगा थीर उस्त स्ता को मिच्या नहीं बना सकेगा।

ब्यासतीयं ने तर्किकिया या कि चुकि बह्मन विवाद का विषय है और चुकि उसके स्वरूप के सम्बन्ध में संशय है, ऐसे संशयों के निवारण का अर्थ किसी भावा-त्मक स्थक्य की स्वीकारोक्ति है। इसके ग्रतिरिक्त, तर्क-बाक्य शब्दों से निर्मित होते हैं, और यदि यह माना जाय कि कोई भो संघटक शब्द गौए। अर्थ में ब्रह्मनू का निर्देश करता है, तो उक्त गौए। बर्थ को मुख्य अर्थ से सम्बन्धित करना पड़ता है, क्योंकि नियमानुसार जब प्रसग के द्वारा मुख्य अर्थ आन्ति में पढ़ जाता है तब गौगा अर्थों की प्राप्ति एक मूख्य धर्य के साहच्यें के द्वारा ही की जा सकती है। द्वितीय आपत्ति के उत्तर में मधूसूदन कहते हैं कि एक शब्द गौशा अर्थ अपरोक्ष रूप में प्रदान कर सकता है. तथा उसमे अनिवार्यतः मध्य बर्ध की आन्ति का सभावेश नहीं होता। प्रथम ग्रापित के प्रति मधमदन का उत्तर यह है कि ब्रह्मन का अमेदात्मक स्वरूप श्रानवार्यत: किसी स्वीकारात्मक धर्म के द्वारा ज्ञात नहीं किया जा सकता, वरन सबं विरोधी प्रत्ययों के निषेध के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। यदि यह आपत्ति की जाय कि ऐसे विरोधात्मक प्रत्ययों के निषेध में सनिवार्यत: इस बात का समावेश हो जायगा कि वे प्रत्यय ब्रह्म-ज्ञान के सचटक हैं, तो मधुसुदन का उत्तर यह है कि विरोधात्मक प्रत्ययों का ऐसा निषेध बढ़ान का स्वरूप होने के कारण, वह किसी विशेष सत्ता की अभिन्यक्ति की प्रतीक्षा किये बिना अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त एवं जात होता है। विशेष अथौ के साहचर्य को समाविष्ट करने वाले साधारण तर्क-वाक्यों के कार्य-व्यापार की ध्यास्था इम रूप में की जानी चाहिए कि वे विशेष बार्यों के साहचर्य का उल्लेख करने वाले नर्क-बाब्य के सम्रदकों से परे एक ग्रविशक्त एवं ग्रविशिष्ट ग्रशी की ग्रामिक्यक्ति को प्रोरित करते है।

व्यासतीयें नर्क करते है कि यदि बहुन्द को भेद-रहित माना जाता है, तो यह ज्ञान प्रयवा विश्वद्ध सानन्द से एक-क्य नहीं माना जा सकता, ध्यवा एक व नित्य, या 'सांकि-वैतय' नहीं जाना जा सकता। बहुन्द शुद्ध वेतच्य नहीं हो सकता, क्योंकि वैतय का प्रयं विषयों की प्रसिव्यति नहीं हो सकता, क्योंकि वैतय का प्रयं विषयों की प्रसिव्यति नहीं हो सकता, क्योंकि के निये कोई विषय शेष नहीं रहेते। इसके प्रति समुद्धदन का उत्तर यह है कि, यथि पांकि के कोई हानि होती। व्यासतीयें के इस सुध्याद के प्रति कि बहुन्द ऐसा विश्वद्ध सान्य नहीं माना जा सकता जिसके व्यास्था 'सनुकूल-वेदनत्व' प्रयवा के विषय 'अनुकूलत्व' के क्य में की जा सक, क्यूं कि इसमें इस प्रालोचना का समावेश हो जायगा कि उक्त प्रमुक्तत्व किसी बाह्य उपाधि के कारण होता है, प्रमुद्धन का उत्तर यह है कि बहुन्द निरस्ताधिक इस्ता (निर्काधिकटलण्डात्व) के रूप में सकलियत विश्वद्ध सान्य सता है। प्रमुद्धन का प्राप्त साम्

होने के लिए यह प्रावश्यक है कि दु:ब का श्रमाव शानन्द की स्थापना को उत्पन्न करे। व्यासतीर्थं बागे तर्क करते हैं कि यदि यह निरुपाधिक इच्टता स्वयं सीपाधिक नहीं हो सकती, तो बहान् का मानन्दमय स्वस्य कुछ उपाधियों का कत होना चाहिए। इसके मतिरिक्त, यदि विशुद्ध मानन्द के रूप में बह्मन् का स्वरूप विशुद्ध ज्ञान के रूप में उसके स्थरूप से मिन्न हो, तो दोनों दृष्टिकोश एकांगी हैं, और, यदि उनमें तादास्थ है, तो ब्रह्मम् को विशुद्ध ज्ञान एव विशुद्ध मानन्द दोनों प्रकार से संबोधित करना व्यर्थ है। इसका मधुसूदन यह उत्तर देते हैं कि, अद्यपि ज्ञान एवं झानन्द एक-रूप हैं, तथापि करियत शाब्दिक प्रयोग के द्वारा उनका मिल्ल रूप में कवन किया जाता है। वे धार्य भागह करते हैं कि विषय-रहित विशुद्ध ज्ञान की विशुद्ध भानन्द के रूप में परिमाषा बी जाती है; विशुद्ध मानन्द विशुद्ध द्रष्टा (हगनितरेकात्) के मितरिक्त कुछ भी नहीं होता। इस नत के अनुसार पुनः भानन्द एवं उसकी वेतना में कोई भेद नहीं है। क्यासतीयं तकं करते है कि, यदि ब्रह्मन् को अर्द्धत माना जाता है, तो उसमें द्वैत के भभाव का समावेश हो जाता है। यदि ऐसा भभाव मिथ्या है, तो ब्रह्मन् इतमय हो बाता है, और, यदि ऐसे अभाव की स्वीकृति की जाय तो भी बह्मन, हैतमय हो जाता है, क्यों कि उसमें प्रमाव की स्वीकृति का समावेश हो जाता है। इसके प्रति मधुसूदन का उत्तर यह है कि अभाव की यथायंता एक ऐसे आश्रय से अधिक कुछ भी नहीं है जिसमें भ्रभाव की स्वीकृति की जाती है, उस दशा मे भ्रमाव का खर्च बह्मन् के श्रति-रिक्त कुछ भी नहीं होगा, बतएव यह बालोचना बवैष है कि समाव की स्वीकृति में दैत का समावेश हो जायगा।

एतेन विषयानुरुसेखि-ज्ञानमेवानन्दिमस्यपि युक्तम् । - 'श्रद्धैत-सिद्धि', पृ० ७५१ ।

चैतन्य' द्वारा प्रत्यक्ष किये जाते हैं, स्वत्यन इस सामार वर विभिन्न जीवों के सनुसर्वों में सम्भ्रांति होने की कोई संमायना नहीं रहती कि 'साक्षि-चैतन्य' स्वयं सर्व-साधारण होता है।'

## ब्रह्मन का उपादान एवं निमित्त कारता के रूप में खण्डन

व्यासतीयं कहते हैं कि एक उपादान कारए। कार्य को उत्पन्न करने में सदा क्यान्तरित होता है, किन्तु बह्मनु अपरिवर्तनशील माना जाता है, अतएव वह उपादान कारण नहीं हो सकता। परन्तु इस सम्बन्ध में तीन मत हैं-प्रथातु, बहानु धौर 'माया' संयुक्त रूप से ठीक बैसे ही जगत के कारण हैं जैसे दो घागे मिलकर एक रस्सी को बनाते हैं, अथवा अपनी शक्ति 'माया' के सहित बह्मन कारण है, अथवा 'माया' के श्रविष्ठान के रूप में ब्रह्मन् कारए। है। यहाँ सामंजस्य इस प्रकार किया जाता है कि बहान् प्रपरिवर्तनशील उसी सीमा तक कहा जाता है जहाँ तक वह संयुक्त कारण प्रथवा शक्ति प्रथवा निमित्त के रूप में माया से प्रसद्धित होता है। इसके प्रति व्यासतीर्थ कहते हैं कि, यदि स्वायी रूप से यथाये बह्यान जगत का उपादान कारण है, तो यह द्याशा की जा सकती है कि जगत भी वैसा ही है। यदि यह कहा जाय कि उपादान कारण के लक्षण कार्य में अन्तर्निहित नहीं होते, वरन उसका एक ज्ञान ही का उसके साथ किसी प्रकार से साहचर्य होता है, तो इस तथ्य के कारण कि जगत-प्रपंच 'माया' से निर्मित होता है उसे 'ग्रनिबंचनीय' नहीं कहा जा सकता। यदि उक्त उपादान कारए की अपरिवर्तनशील पक्ष के अर्थ में लिया जाय तो 'माया' से संबंधित बह्मन जगत का उपादान कारण नहीं कहा जा सकता. चंकि केवल माया से असबंधित ब्रह्म ही प्रपरिवर्तनशील कहा जा सकता है। यदि यह आग्रह किया जाय कि परिवर्तन विशेषस (माया) में होते हैं, तो चंकि ऐसा विशेषस विशेष्य में बन्तर्निहित होता है अथवा उससे अप्रथक साहच्यं रखता है, इसलिए विशेषण के परिवर्तनों में विशेष्य के परिवर्तन का समावेश हो जाता है, भीर इस प्रकार 'विवर्त' मत का खण्डन हो जाता है। यदि प्रविष्ठान, ब्रह्मन को किसी यथार्थ परिवर्तन से रहित माना जाय. तो यह मानना प्रयुक्तियुक्त है कि ऐसा ग्रांघष्ठान, ग्रंपनी शक्ति ग्रंपवा विशेषरा के साहचर्य में, यथार्थ परिवर्तन का भागी होगा, यदि यह बाग्रह किया जाय कि उपादान कारए। की परिभाषा भ्रम के अधिष्ठान के रूप में दी जा सकती है, तो यह निर्देश किया जा सकता है कि पृथ्वी को कभी भी एक अन का अधिष्ठान नहीं माना जाता, और न शुक्ति को शक्ति रजत का उपादान कारण माना जा सकता है।

सर्व-श्रीव-साधारप्येषि तत्-तज्ञीव-चैतन्याभेदेनामिष्यसस्य तत्-तद्-दु:साधि-भासकतया प्रतिप्रसंगामावात् । —वही, पृ० ७४४ ।

मधुसूदन का उत्तर यह है कि बहुग्द ऐसे धिषण्डान के रूप में बना रहता है जो 'भाया' के स्थानतरहां को सम्बद बनाता है। बहुग्द का 'भाया' के धीसक स्थापक धिस्तर होता है, प्रतएव वह 'भाया' के परिवर्तनों में आग नहीं से तकता। धामे यह धापित बैध नहीं है कि, यदि बहुग्द बचार्ष है तो बनद भी उत्तका कार्य होने के नाते यथार्थ होना चाहिए, क्योंकि केवत स्थानतरित होने वासे कारहा (यथा पृथ्वी धयवा स्था होने के के पर से ही कार्य में प्रविच्छ होते हुए पाये वाते हैं, जबकि बहुग्द धीषण्डान कारहा होने के नाते हमें की के ध्राप में प्रविच्छ होते हुए पाये वाते हैं, जबकि बहुग्द धीषण्डान कारहा होते हम प्रविच्छा से प्रविच्छ होते हुए पाये वाते हैं, जबकि बहुग्द धीषण्डान कारहा होते के नाते हमें की प्रविच्छ होता वाता चाहिए।

अ्थासतीयं घाणे कहते हैं कि जैसे कोई बटो के प्रस्तित्व का कथन करता है ठीक वैसे ही कोई काल्पनिक सत्ताधों के प्रनिस्तित्व का कथन कर सकता है, किन्तु उसमें इस कथन की पूर्व-कथना नहीं होती कि धनस्तित्व काल्पनिक सत्ताधों का उपादान कारण होता है। पुन:, यदि ब्रह्मान् क्यान का उपादान कारण होता तो, वृंकि ब्रह्मान् विद्युद्ध धानव्य है, इस्तित्व ज्यात से भी धानव्य-स्वरूप होने की धावा की जानी चाहिए, जो वह नहीं है। पुन:, कारणता के 'विवर्तवादी' मत के धनुसार एक उपादान कारण के कथन में कोई पर्य नहीं होता। इसके प्रतित्ति, यदि ब्रह्मान् उपादान कारण है, को 'धनतःकरण' का दुःस एव धन्य सासारिक धनुभवों के उपादान एव परिग्रामवादी कारण के कथन नहीं किया जा सकता।

सकरवादियों के इस नर्क का परीक्षण करते हुए कि बह्मन् स्व-प्रकास है, व्याप-तीर्ष कहते हैं कि स्व-प्रकास पर के घर्ष को पहले स्याट करना चाहिए। यदि उसका अर्थ यह है कि बह्मन् किसी मी मानस्तिक हित को स्वय नहीं वन सकता, तो गुरु गढ़ स्विध्य के मध्य बहुम् के स्वयक्ष के सबय में कोई विचार-विमर्ध नहीं हो सकता, क्योंकि विचार-विमर्ध नमी हो सकता है यदि बहुम् एक मानसिक इत्ति का विषय हों। यदि यह भाशह किया जाय कि बहुम् इस सर्प में स्वयक्ता है कि, यद्याप वह नाता का विचय नहीं होता तथापि उसका सदा सपरोक्ष ज्ञान होता है तो यह निर्देश किया जा सकता है कि उक्त परिमाधा व्यक्तित हो जाती है, व्यक्ति मुद्धान्त तथा प्रत्य में बहुम् का ऐसा कोई यपरोक्ष ज्ञान नहीं हुआ करता। यह नहीं कहा जा मकता कि, यद्यपि मुद्धान्ति में बहुम् का घररोक्ष ज्ञान नहीं किया जा सकता, तथापि उसके उक्त करता होने के बारख्य यह ससम्भव है कि ऐसी योध्यामों का दह प्रकार धरितल हों।

यदि उक्त योग्यता की निषेधात्मक परिवाधा दी जाय, तो निषेध जगत्-प्रपच का एक पदार्थ होने के कारण बह्यन् में उसका घरितत्व नहीं माना जा सकना। इसके क्रांतिरिक्त, यदि बह्यन् किसी भी रूप में झानात्मक कर्म का फल नहीं माना जा सकता, तो यह तथ्य ग्रव्याक्येय रह जायना कि वह ब्रह्मत्व को उत्पन्न करने वाले चरम ज्ञान के उत्कर्ष-काल में प्रकाशित हो उठता है। न यह तक किया जा सकता है कि शुद्ध बैतन्य स्व-प्रकाश प्रथवा प्रवेश है, क्योंकि वह शुद्ध चैतन्य है, चूंकि जो शुद्ध चैतन्य नहीं है वह स्वप्रकाश नहीं होता, क्योंकि एक गुए होने के कारए खवेद्यत्व का कहीं न कहीं बस्तित्व होना चाहिए, और यदि वह अन्य सबै स्थानों में अनुपस्थित है, तो व्यतिरेक के द्वारा कम से कम शुद्ध चैतन्य में उपस्थित होना चाहिए। किन्तु यह साग्रह किया का सकता है कि, यदि शुद्ध चैतन्य स्व-प्रकाश हो भी, तो उससे झात्मन का स्वप्रकाशस्य सिद्ध नहीं होता । इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि आस्मन् का शुद्ध चैतन्य से तादारम्य होता है। इसके प्रति व्यासतीयं की आपत्ति यह है कि चैकि आत्मन में किसी प्रकार का गुगा नहीं हो सकता, इसलिए यह तर्क नहीं किया जा सकता कि उसमें स्वप्रकाशस्य का एक भावास्मक गूरा के रूप में भववा उसके ग्रभाव के रूप में, भाववा योग्यता के रूप में ब्रस्तित्व होता है। क्योंकि सबं योग्यता स्वरूपतः बहान से बाह्य होने के कारण मिथ्या होती है तथा जो मिथ्या होता है उसका बहान से साहथयं नहीं हो सकता । यदि धवेदारव की यह परिभाषा दी जाती है कि वह एक मानसिक हुति की प्रक्रिया की उपज नहीं होता (फल व्याप्यत्व), और यदि उक्त अवेद्यत्व ब्रह्मन् का यथेष्ट विवर्ण माना जाय, तो, चुँकि एक घट घषवा मिथ्या रजत घथवा सूख-द:ख के प्रत्यक्ष में भी उक्त वर्त पूरी हो जाती है इसलिए उक्त परिमाया धांत व्याप्त है, धौर चॅकि ब्रह्मनुका प्रकाशस्य स्वय चरम मानसिक इति के विनाश की प्रक्रिया की उपज है, इसलिए उक्त परिमापा अभ्याप्त है। यह नहीं कहा जा सकता कि 'फल-ध्याप्यस्व' का ग्रथं एक मानसिक इति में से प्रतिबिम्बत चैतन्य के द्वारा उत्पन्न एक विशेषता है, तथा उक्त विशेषता एक ग्रावरण के नव्ट होने के ग्रवसर पर चैनन्य के बिना स्थापित सबधीकरण है, तथा उक्त 'फल-व्याप्यस्व' घट में स्थित रहता है न कि भारमन में । न यह कहा जा सकता है कि 'फल-व्याप्यस्व' का अर्थ एक इस्ति में से प्रतिविस्तित चैतन्य के द्वारा श्रमिन्यक्त श्रीघष्ठान के चिद् विषय का होना है। क्योंकि शकरवादी यह नहीं मानते कि घट एक 'वृत्ति' में से प्रतिबिम्बत श्रद्ध चैतन्य का एक विषय होता है, वरन यह मानते हैं कि वह एक इति का प्रत्यक्ष विषय होता है। श्रतः यह सुभाव देना गलत है कि 'फल-ध्याप्यत्व' की परिमावा ऐसी होती है कि वह घट ग्रादि पर लागू होती है और बहापर नहीं। चित्सुल के द्वारा चैतन्य का विशुद्ध स्व-प्रकाशस्व चिद-विषयता माना जाता है, भीर यदि ऐसा है तो, बहान सदा चिद-विषय होना चाहिए

नापि फलाब्याप्यस्य दृश्यस्य-मगे उक्त रीग्या प्रातिमासिके रूपादौ व्यावहारिके
प्रविद्यात:करण्-तद्-धर्म-सुखादौ घटादौ च नक्षास्थातिक्याप्तः । तत्रोक्तरीत्यैव
बह्मणोऽपि चरम-इति-प्रातिबिबत-चिद्-रूपफनव्याप्यस्वेतासभवाच्च ।

<sup>⊸</sup>न्यायामृत, पृ० ५०७ (व)।

तथा उसका चिद्-प्रविषयत्व, ग्रथवा प्रवेशत्व के रूप में वर्शन ग्रसंभव होगा। पर चित्पुल कहते हैं कि ब्रह्मन् 'चिद्-विषय' है, किन्तु चिद्-किया का विषय नहीं है (चिदकर्मत्व) । यदि, चित्सुल का सनुसरण करते हुए 'सवेद्यत्व' उस वस्तु का पद माना जाय जो एक ज्ञानात्मक प्रक्रिया का विषय नहीं है, और यदि ज्ञानात्मक प्रक्रिया का ग्रयं कोई यह लेता है कि चैतन्य एक विशेष बस्तुगत आकार के द्वारा अभिव्यक्त होता है, यथा एक घट के उदाहरख में, तो चूंकि बहान भी चरम अवस्था में तदनुरूप मानसिक इति के द्वारा बिम्ब्यक्त होता है, इसलिए बहान को भी ज्ञानात्मक प्रक्रिया का विषय माना जाना चाहिए, धन्यथा, एक घट के प्रत्यक्ष के उदाहरल में और ब्रह्मन् के उदाहरण में कोई बन्तर न होने के कारण एक वट भी ज्ञानात्मक प्रक्रिया का विषय नहीं माना जा सकता। यदि यह बायह किया जाय कि वेद्यत्व का बर्थ ज्ञान की प्रक्रिया के कारए। कुछ विशिष्ट परिवर्तनों की प्राप्ति होता है, तो भी ब्रह्मकु घट के समान ही एक विषय होगा, क्योंकि, जिस प्रकार एक बट के उदाहरणा में ज्ञानारमक प्रक्रिया उस ब्रावरण के निवारण में फलित होती है जो वट की ब्रिमध्यक्ति को अवस्त्र कर रहा था, ठीक उसी प्रकार चरम बहा-ज्ञान जो एक बौद्धिक प्रक्रिया है, बह्ममुकी स्रमिन्यक्ति के सवरोध की निद्दत्ति में फलित होता है। ज्ञान की प्रक्रिया में सिम्नहित विषयताको ज्ञानात्मक व्यापार में समाविष्ट किया के द्वारा कुछ फलो की प्राप्त के रूप में नहीं माना जा सकता, क्योंकि शुद्ध चैनन्य एक किया नहीं है, इसलिए ज्ञानात्मक व्यापार की किया के कारए। उन विषयों में (यथा घट, श्रादि) भी किसी ऐसे फल की उत्पत्ति सम्मव नहीं है जो सर्व-सम्मति से झान के विषय माने जाते हैं। यदि एक मानसिक इस्ति में से प्रतिविभिन्नत होने को ज्ञानात्मक किया माना जाय. तो वह ब्रह्मन पर भी लागुहोता है. क्यों कि ब्रह्मन भी चरम अवस्था में ब्रह्मन का प्रति-निधित्व करने वाली एक मानसिक बृत्ति अथवा प्रत्यय में परावर्तित प्रतिबिध्व का विषय होता है।

चिरसुल स्व-प्रकाशस्य की परिनाधा 'ध्यरोक्ष-व्यवहार-योग्यस्य' प्रयांतृ प्रपरोक्ष माने जाने की योग्यता के रूप में देते हैं। धव इसके घर्ष के नवस में एक दिवाद लड़ा हो सकता है। यदि उनके द्वारा 'वह को ध्यरोक्ष झान के द्वारा उरफ्त होता है' की सुचना मिलती है, तो सद्युल एवं दुर्जुं एक भी ध्यरोक्ष मानना पड़ेना क्योंकि उनका योगियो धीर देवताओं के ज्ञान द्वारा अपरोक्ष प्रनक्षान हो सकता है, और जब कोई यह धनुमित करता है कि उनमें चद्गुल ध्यवा उर्जु एवं है तथा वह प्रन्ताः उक्त अनुमान-क्या झान का ध्यरोक्ष प्रस्ता है, ध्यवा जब कोई धाममनात्मक तर्क-वाक्य (यया, जो हुक बेट है वह परिमाया के योग्य है, निवर्षे 'क्ये' पद के धननते तथु एवं दुर्जु एक जा अपरोक्ष हाता है। से वहपुल ध्यवा दुर्जु एक जा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करता है, तब उकका यह कहना न्यार-मंत्रत होगा हि सदशुल एवं दुर्जु एक दुर्जु स्व

सपरोक्ष है, सौर इस प्रकार प्रत्यक्षीकरए की सपरोक्षता बहुम् के वर्त्त्र के रूप में सर्ति-स्थारत होगिं। इस प्रकार, स्थापि सहयुष्ट एवं दुपुंत्त सपरे स्वरूप में श्रेप नहीं हैं, तथापि भीषियों एवं बेदतामों के लिए उनका सपरोक्त प्रत्यक्त सम्बन्ध होता है, तथा वहां तक उनके सनुमान के सपरोक्ष प्रत्यक्ष का संबंध है हमारे लिए भी यही सम्बन्ध है।

यदि अपरोक्षता उसे सूचित करती है 'जो अपरोक्ष ज्ञान का विषय बन सके' और यदि इस वर्ष में झारमन को अपरोक्ष ज्ञाना जाय तो यह स्वीकार करना पढ़ेगा कि यह की भिति धारमन मी अपरोक्ष ज्ञान का विषय होता है। 'व मह तर्क किया जा सकता है कि किसी विषय की अपरोक्षता उसके ज्ञान की अपरोक्षता रा निर्मंद करती है, दुन:, अ्यासतीर्ष तर्क करते हैं कि अपरोक्षता का यह धर्ष नहीं हो तकता कि अन्त-वंस्तु अपरोक्षता के आकार की होती है (अपरोक्षित्याकार), क्योंकि यह स्वीकार किया जाता है कि वह विश्व एवं निराकार है तथा वेदांत के उपदेशों के संवधातीत अन्तर्कान हारा उत्पन्न होता है।

व्यासतीर्थं प्रपने 'न्यायामृत' मे यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ब्रह्मन् गुरा-सम्पन्न होता है, गुराों से रहित नहीं, जैसाकि शकरवादियों का तर्क है, वे तर्क करते है कि प्रधिकाश श्रृति-पाठ ब्रह्मन् के गुरा-सम्पन्न होने का कथन करते हैं। ईश्वर सर्व गुए। से सम्पन्न होता है, क्योंकि वह उनकी इच्छा करता है तथा उनको रखने की उसमें योग्यता होती है, भीर वह सकल दुर्गुंशों से रहित होता है क्योंकि वह उनकी इच्छानहीं करतातयास्वयं को उनसे मुक्त करने की योग्यतारस्रता है। यह तर्क करना व्यर्थ है कि बह्मन् के गुशा-सम्पन्न होने का कथन केवल एक निम्न ब्रह्मन् का उल्लेख करता है, स्योंकि व्यासतीर्थ का बाबह है कि श्रुति-पाठ सगुए। के ब्रितिरिक्त किसी भी प्रत्य प्रकार के ब्रह्मनुका कथन नहीं करते। यदि ब्रह्मनुबास्तव में गूर्शों से रहित होता तो वह केवल एक 'शून्य', एक ग्रमाव मात्र होता, क्योंकि सर्व ग्रस्तित्व-मय द्रव्यों में कुछ गूरा होने चाहिए। व्यासतीय आगे तक करते हैं कि चूंकि ब्रह्मन् जगत् का मुख्टा एवं मर्ता है और वेदो का अधिकार-प्रदाता है, इसलिए उसके शरीर एव कर्मेन्द्रिया होनी चाहिए, यद्यपि वह शरीर प्राकृत जड शरीर नहीं होता (प्राकृता-वयवादिनिषेध-परत्वात्), भौर चू कि उसका शरीर माध्यात्मिक है न कि मौतिक इसलिए शरीर के होते हुए भी वह अनन्त एव नित्य दोनो हैं, तथा उसका निवास-स्थान भी भाष्यारिमक एव नित्य है।<sup>३</sup>

वस्तुना ग्रापरोक्ष्यमपरोक्ष-ज्ञान-विषयत्वं चेदात्मापि घटादिवद् वेद्य:स्यात् ।

<sup>–&#</sup>x27;न्यायामृत', पृ० ५११ (घ) ।

<sup>&</sup>lt;sup>ब</sup> बही, पृ० ४१६-८ ।

–'युक्ति-मल्लिका 'पर' भाव विलासिनी' (पृ० १०६)।

–युक्ति-मल्लिका, पृ०१७६।

भाव-विलाखिती (पृ०१-६५) भी यह निर्देश करती है कि यदार्थ परमेश्वर के पत्तिया, सरीर एवं 'बेंकुळ' में स्वर्गीय निवास-स्थान होते हैं, तथार्थ वह इनसे बढ़ नहीं होता है, तथार्थ वह इनसे बढ़ नहीं होता है, तथार्थ वह होते हैं, सौर उत्तर्भी 'अक्टार्ब' के गुणों का लेश-मात्र भी न होने के कारख नह पूर्णेंट: स्वतंत्र होता है, केवल 'अक्टार्ब' के उपादान का बनवन ही एक बनयन हो बक्का है। किन्तु उत्तर्कों 'अक्टार्ब' प्रभावित नहीं कर सकती, क्योंकि वह उसका स्वामी होता है-'पम गुणा क्यार्ची न पूर्वित-स्वृतियु अप्राकृततथा प्रसिद्धाः'। स्व प्रमास में यह ध्वान के की बात है कि मध्य-सम्प्रदाय 'याया' यद का तीन विश्व सर्थों में प्रयोग करता है: (१) देवर की स्वस्तु के स्था में (सर्वित्त्रक्षा), (२) वह 'अक्टार्ब' के स्था में (मायास्था प्रकृतियंक्षा), धीर (३) 'याया' 'सहामाय' स्वयवा 'अविद्धा' के स्था में भी प्रमार्थ वृद्धियों का कारख होती है (अम हेतुएक गायेका मायेक' कर्या में प्रमार्थ न प्रयोग अम एवं वृद्धियों का कारख होती है (अम हेतुएक गायेका मायेक'

मुक्ताविप स्वामि-भूत्य-माव-सद्भावेन भक्त्यादि-बन्ध-सद्भावान् नित्य-बद्धत्व जीवस्य कृष्णस्य तु नित्य मुक्तत्वमेव ।

एकस्येव ममाशस्य जीवस्येव महामते
 बन्यस्याविषयानादि विषया च तत्तेवरः
 स्व-मिन्नांशस्य जीवास्या झवर्यकस्य केवनम्
 बन्यस्य कृषान्मीशस्य न स्वस्थिताहृ स प्रभूः । —युत्ति

बहु सूक्ष्म रेगुमयी घषवा सूक्ष्म तन्तुवत् होती है (शुक्प-रेगुमयी सा च तन्तु-वायस्य' तन्तुवत्त), तथा ईवनर उस उपादान से वमान् का निर्माण करता है। यह 'प्रकृति' प्रस्टित्व होती है, नयोकि उसके पांच महामृतों के रूप में पांच तथा 'मनस्' 'पुढि', 'धी'र शहंकार' के रूप में तीन परिलाम होते हैं। वह 'माया' जिसकी सहायता से ईश्वर वयत् की मृद्धि करता है, वमत् की जननी के समान होती है, धीर मध्य सम्प्रवाय की घर्मणास्त्रीय भाषा में 'लक्ष्मी' कहनाती है। पृत्रनात्मक 'माया' धयवा हरि की एच्छा 'स्वरूप-माथा' भी कहनाती है, च्योकि वह चदा प्रमु में स्थित रहती है। 'प्रकृति' के रूप में घयवा उसने निर्देशक शति (ययाप्रसिद्) के रूप में 'माया' ईश्वर के बाहर होती है, किन्तु तुरुति: उसके नियनस्यु में होती है।'

'गीता' एवं घन्य खूति-पाठों में ईवनर का उल्लेख इस रूप ये किया गया है कि उसके एक साथंभीमि सर्वस्थापक शरीर होना है, किन्तु जैसाकि हम पहले कह चुके हैं, उसका प्रतेर एक धाम्यात्मिक शरीर होता है, एक झानमय एव धानस्यमय शरीर (ज्ञानानन्यत्मक हैय घसी) । उसका यह सावंभीमि शरीर सर्व गुणां, 'माया' एवं वनके प्रभावों से पानीन होता है। प्रभु का यह सावंभीम सर्वातिन धाम्यात्मिक शरीर धायायान्य धानन्य, ज्ञान एवं लीसा से पूर्ण होता है। " यथायं दर्शन में सर्वेष्वरवाद

त्रिविधासना)। 'युक्ति-मस्लिका' पु०१८६। एक ब्रन्य सन सी है जो 'माया' को पाच प्रकार की मानता है, वह ईक्वर की शक्ति' एवं 'तेजस्' का समावेश करता है।

<sup>े</sup> यह उपादान नेवायिकों के परमाणुकों से मी झनत्तपुत्वा शिषक रेलुमय कहा जाता है (ताकिकामिमत परमालुतोऽप्यनता गृत्वित सुस्य-रंजुमयी) 'शाव-किवासिती' पू० १=६। श्रीमर्शमणवत को सम्ब एव उनके सुत्यायियों द्वारा प्रमासित्व माना जाना है, बासूदेव, नकर्मल, क्षमुन एवं झनिक्द्य की चार पत्थियों का 'प्याया' 'ज्या' 'कृति' गृत्व 'शानित के क्य में कथन करता है, जो बामदेव, सकर्यल, प्रयुन्न, एवं धर्मक्टव के क्य में हरि के चार क्यों के स्रनुक्य देवी 'थी' के चार क्या मात्र हैं। — 'जुक्ति-सल्लिक्त' पूर १६१ ते

प्यान देने की विचित्र बात यह है कि जो 'याया' अस को उत्पन्न करती है और जो केवल जीवों को प्रसादित करती है, तथा जो उन्लिखिल एक स्थान में तृतीय 'माया' निमी महे है, उसी की पुत: वतुर्व 'याया' तथा 'प्रकृति' (अचवा 'ज़रू-माया' और 'माया-सी) की दिनीय एक तृतीय 'यावामों' ने यहाना की गई है।

<sup>~&#</sup>x27;युक्ति-मल्लिका,' पु० १६२ छ, व । र इंदबर के सम्बन्ध में 'बरीर' (जिसका साधारण ताल्पयं एक ऐसी धातु से निकलने के कारण 'बरीर' होता है कि जिसका सर्व 'नष्ट होना' होता है) का सर्व देते

के लिए कोई स्थान नहीं होता, अवाप्य जन देषिक अवतराखों की, जो जगातू एवं ईक्सर के तावास्थ्य को अनुसांतित करते हुए प्रतीत होते हैं, इस क्य में अयास्था की आगी आहिए कि देवर की वर्ष-निष्कंक चिक्त का वर्षाकंक करते हैं। 'पुनः, क्य यह कहा जाता है कि जीव ईस्पर के संब है, तब उसका यह लात्यर्थ नहीं होता कि वे किसी दिक्कीय सर्घ में यपवा किसी ऐसे वास्तविक विभाजन के पर्घ में, वैसाकि मोतिक विषयों का किया जा सकता है, संब होते हैं। उसका सर्घ केवल यही होता है कि जीव कुछ सातों में ईस्पर के सदस होते हैं और साथ ही उससे बहुत स्थुन होते हैं।'

इस सबच में यह निर्देश किया जा सकता है कि जैसे ईश्वर सर्व-व्यापी है बैसे जीव स्वरूपत: परमाज्योध होते हैं। यद्यपि सर्वव्यापी चैतन्य गुण से सम्पन्न होने के कारण से एक ऐसे शीपक की मीति प्रपने सरीर के किसी भी मान का सदा स्पर्कानुभव कर सकते है जो एक स्वान में रहकर भी प्रपनी किरणों के द्वारा चारो झोर के स्वानों को प्रकाशित कर सकता है।<sup>8</sup>

प्रताय के मन्त में देवर कृष्टि की इच्छा करता है, भीर मपनी इच्छा के द्वारा 'प्रकृति' की साम्यावस्था को विश्तुस्थ करता है तथा उसके तीन 'पूछा' को पृथक करता है है भीर 'फिर 'पहल,' 'जुड़ि,' 'पनन्तु' के विजित्र परार्थ एव पंच महापूत तथा उनके मान-मानी देवताओं का मुजन करता है, 'फिर वह सम्पूर्ण क्यराचर जबत में परिच्याप्त हो

हुए 'भाव-वितासिती' (पु॰ १६८) एक काल्यनिक ब्युल्स्थात्मक सर्थ देती है, वह कहती है कि प्रयम प्रकार 'वा' का सम्बं है सागन्द, 'र' का सम्बं है 'कीदा' प्रीर 'ईर' का सम्बं है 'चैतन्य'। एक सन्य स्थान में 'यरदराज' परमेदवर के 'केवलानुभवानन्द स्कमी' तथा 'सर्थ-बृद्धि-दक्त' होने का कथन करने हैं. 'विदिनोऽसि मवान् मालान् पुरुष: प्रकृते पर केवलानुभवानन्दस्कपत् नवं-बृद्धि-दिक् ।'

<sup>-&#</sup>x27;युक्ति-मस्लिका,' १० २०१।

भारतः पुष्कवेतित प्रयमा पवमी यदा सदा सर्व-निमित्तत-महिमा, पुष्ति वर्ष्यते। यदा तु सप्तमी सर्वाचारत वर्षोचेतदा सुक्तस्योकार्यता चैंब स्त्येव स्थान्न वान्यया। -बही, पृ० २११।

<sup>&</sup>lt;sup>२</sup> 'तद्-साहशत्वे सति ततो न्यूनत्व जीवस्य भ्रशत्व न तु एकदेशत्व ।'

<sup>—</sup>स्यायामृत, पृ० ६०६।

\* प्यायामृत, पृ० ६१२, इस मन पर निष्कत रूप से झापत्ति की जाती है कि
परमाश्रीय झारमन् विमिन्न स्पर्धानुमयों के लिए विभिन्न कमायत झखों में झरीर के
विमिन्न भागों का स्पर्ध करता है।

काता है ' मस्तित्व की सर्व मनस्मामों में (यदा, जायत, स्वप्त, मुख्यी एवं मोबा) देवसर ही मपनी मनियांकि के मिनिय क्यों हारा वर्ष जीवोका नियन्त्रण करता है, तथा इन मनस्मामों के निर्माण से बनत की स्थिति को बनाए रक्षणता है ' अपन का 'अस्त्र' मी उसी की स्थ्या से होता है।' इसके म्रतिरिक्त वर्ष जीवों में जो भी जान सांसारिक मनुषय समया मोबा के लिए उत्पन्न होता है, भीर उक्त जान जिस हिता है।'

## मोच

बंधन सासारिक विधवों की घासिक के कारण होता है तथा मोधा ईश्वर के अपरोक्ष ज्ञान से उत्पक्ष होता है (धरपोक्ष ज्ञान विख्णोः)। यह धनेक प्रकार से उत्पक्ष होता है, धर्योत् सांसारिक जीवन के दुःबां का धरुप्तय, सन्जनों का समापन, सन जान प्रमाद से जान के साथ की धरुपूर्ति, धपने विश्वस को इट करने के लिए सम्पक् धर्म पर विचार-विमाद, पुत्र के प्रति समुद्धित अदा-माव, धपने से हीन व्यक्तियों पर स्था, समान व्यक्तियों से प्रमे, वरिष्ठ व्यक्तियों के प्रति धायर-आव, सुक्त धवाब दुःक को उत्पन्न करने वाले कर्मों से निक्कित, जिनिद्ध कर्मों से निक्कित, ईवर के प्रति पूर्ण सरहागति, प्रव वेश ने जान होता प्रमाद से स्थान प्रमाद होता स्थान प्रमाद करने वाले कर्मों से निक्कित, जिनिद्ध कर्मों से निक्कित, विवाद करने वाले क्ष्मों से स्वाद करने के सिक्कित, विवाद करने से प्रति पूर्ण सरहागति, प्रव से दो से क्ष्मों से स्वाद से से प्रति पूर्ण सरहागति, प्रव से दो से सिक्कित, विवाद करने से से सिक्कित से स्वाद करने से स्वाद स्वाद करने से स्वाद स्वाद से से स्वाद से स्वाद से से स्वाद से से स्वाद से स्वाद से से सिक्कित, विवाद से से से सिक्कित से से स्वाद से से स्वाद से से सिक्कित से से सिक्कित से से स्वाद से से से सिक्कित से से स्वाद से सिक्कित से से स्वाद से से सिक्कित सिक्कित सिक्कित से सिक्कित सिक्कित सिक्कित सिक्कित से सिक्कित सिक्कित सिक्कित से सिक्कित सिक्कित सि

 <sup>&#</sup>x27;पदार्थ-सग्रह-व्याख्यान,' पृ० १०६--= ।

उपरोक्त पांच अवस्थाओं (जायत, स्वप्न स्नादि) को नियमित करने वाली परमेवबर की पांच प्रमिश्यक्तियाँ कमण 'प्राज,' 'विश्व,' 'तेजस्,' 'भगवान' और 'तुरीय मगवान' कहलाती है।

इस सम्प्रदाध में दो प्रकार के 'प्रनय' होते हैं: (ध) 'महाप्रनय' जिसमें 'प्रकृति' के प्रतिरिक्त समस्त बस्तुधों का नाश हो बाता है, केवल पूर्व धषकार शेव रहता है, और कम-बढ़ अला के रूप में काल की उत्पत्ति के घतिरिक्त 'प्रकृति' धपनी सकल मुजनात्मक प्रक्रिया बन्द कर देवी है।

<sup>(</sup>व) गीग् प्रनय, जिसे 'स्वान्तर प्रलय' कहा जाता है, और जो दो प्रकार का होता है-एक तो वह जिसमें हमारे जगत् के साथ ही दोनों काल्यनिक जगत् नष्ट हो जाते हैं, स्रोर एक वह जिसमें केवल इस जगत् के प्राशी ही नष्ट होते हैं।

<sup>-</sup>वही, पृ० ११७-१६।

४ वही, पृ० ११६।

जड़-अड़-मेद), 'प्रकृति' भौर 'पुरुष' के भेद की बनुभूति, विभिन्न प्रकार के मानवों एवं धन्य उच्च व निम्न प्राशियों के विकास स्तरों के भेद का परिवोध तथा सम्यक 'उपासना'। यहाँ उल्लिखित गुरु, जिनसे उपदेश सेना चाहिए, दो भिन्न प्रकार के माने गए हैं-कुछ तो 'नित्य गुरु' होते हैं तथा अन्य केवल 'अनित्य गुरु' होते हैं। पूर्वोक्त तो वे होते हैं जो अपने शिष्यों के स्वमाव एवं आवश्यकताओं को समक्त सकते हैं तथा उन्हें ऐसा उचित उपदेश देते हैं जिसके द्वारा वे विष्णु की उस विशेष भ्रमि-व्यक्ति का साक्षात्कार करने में समर्थ बन सकें जिसको प्राप्त करने की उनमे योग्यता हो, मनित्य गुरु वे होते है जो केवल हमें ईश्वर के सबध मे उपदेश देते हैं। एक बन्य बर्थ में दे सभी व्यक्ति हमारे गुरु होते हैं जो ज्ञान एव धार्मिक बनुशासन में हमसे श्रेष्ठ होते है। 'उपासना' के संबंध में यह कहा गया है कि वह दो प्रकार की होती है-धर्म एव दर्शन शास्त्रों के सतत बस्यास के रूप में उपासना तथा 'ध्यान' के रूप में 'उपासना,' विश्वोक कुछ व्यक्ति ऐमे होते हैं जो शास्त्रों के सम्यक् अस्यास द्वारा प्रभूकी यथार्थ एवं ग्रपरोक्ष बनुभृति को प्राप्त नहीं कर सकते, तथा ग्रन्थ ऐसे व्यक्ति होते है जो उसे ध्यान के द्वारा प्राप्त करते हैं। 'ध्यान' का बर्च है बन्य सभी वस्तृ का तिरस्कार करके मगबद्द का अलग्ड स्मरण करना, वार बात्मन्, सन् एव शुद्ध चैतन्य व भानन्द के स्वामी के रूप में ईश्वर पर ऐसा ध्यान तभी सम्भव होता है जब शास्त्रो के मध्ययन एव विवेकपुर्ण चिन्तन व विचार-विमर्श के द्वारा एक पूर्ण विश्वास उत्पन्न हो जाता है, जिसके फलस्वरूप सर्व मिथ्या विचारों वा निवारण हो जाता है और सर्वसशय दूर हा जाते है।

**ईदबर** ही बधन एक मोक्ष का कारण होता है। ब ब एक व्यक्ति ईदबर के स्वरूप का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर नेता है, तब उसमे 'मक्ति' का उदय हाता है, क्यांकि

-मध्व-सिद्धान्त-सार, पृ० ५००।

उपामना च द्विविधा, सनत झास्त्राभ्यास रूपा-ध्यान-रूपा च ।

ध्यान च इतर तिरस्कार-पूर्वक-मगविषयका खण्ड-स्मृतिः ।
 वही, पृ० ५०२ । यह 'ध्यान' निदिध्यासन' के समस्प ही होता है ।

ईशवर प्रस्य सकल बस्तुषों को स्थित रखता है, जो सभी पूर्णुन, उस पर निर्मर करती है। वह केवल प्रतिस्य एव निरम-प्रतिस्य बस्तुष्यों की मुर्गेट प्रोर विनाश करता है। पुतः, लक्ष्मी के प्रतिरक्त नवं प्राशिगां के प्रति वही प्रथम 'प्रविद्या' सन्त, 'तम् व तसम्, के रूप में, प्रथवा काम को दिनीय 'प्यविद्या' के रूप में, प्रथवा प्रतिरक्षमां की प्रविद्या' के रूप में, प्रथवा प्रतितः परिकास की प्रविद्या' के रूप में, प्रथवा प्रतितः प्रपत्त । प्रति के रूप में, प्रथवा प्रतितः प्रपत्त । प्रति के रूप में, प्रथवा प्रतितः प्रपत्त । प्रविद्या के रूप में 'प्रकृति' की 'प्राव-रूपा-प्रविद्या' के प्रावरण को लडा करता है। प्रतिचा सरि की प्रविद्या का प्रवार्थ उपायत होती है. 'प्रविद्या' प्रविद्या का प्रवार्थ उपायत होती है. 'प्रविद्या' प्रविद्या' होती है. 'प्रविद्या' ।

उनके व्यक्तिगत, प्रत्यक्ष एवं अपरोक्ष झान के बिना कोई मक्ति नहीं हो सकती। 'मिक्ति' परमेदवर के प्रति एक ऐसे निरन्तर प्रेम-प्रवाह में निहित होती है जो सहकों बाघाओं में क्षत प्रपदा प्रमावित नहीं हां सकती, जी स्वास-प्रेम एवं आस्त्रीय तस्तुयों के प्रति प्रम से भनेन कुण प्रधिक होता है, और जो इस ज्ञान से उत्पक्ष होता है कि प्रमोवत प्रमन्त पुरा कर्यायाकारी नुस्यों से स्वाम है।' और जब परमेदवर का हम उदय होता है तब परसेवदर का 'आयर्थ-प्रवार' होता है, और जब परमेदवर का हम पर ऐसा प्रसाद होता है तब हम मोक्ष की प्रान्ति कर सकते हैं।

ययि जीव स्वरूप से स्व-प्रकास होते हैं, त्रधारि ईस्वर की इच्छा ते उनका स्व-प्रकास जैराज पर्यावधां के साहत हो बाता है। जब , मनस् यमवा प्रकार फराएं की हिस के रूप में ईस्वर का सरपेश जान उरला होता है, तव उक्त हर्ति प्रविद्यां का निवारण करने में सहायक होती है, स्वेतिक वर्षायं पर्यावधां का मनस् से प्रत्यक्ष साहत्यमं नहीं होता, तथापि उक्त मानसिक क्यावि उक्त मानसिक प्रवाद कि के ति होते हैं। वाधारणतः जान का उदय केवल स्वादायक करों का नाम करता है, जबकि 'प्रारच्यां थेच रहते हैं और सुक्त-दुःक, जान-साता को उत्तप करते हैं। मतः वाधारणतः ईस्वर-साखास्कार बीव के साथ 'प्रकृति' एव 'पुता' के साहत्यमं की प्रत्यक्ष करते हैं। मतः वाधारणतः ईस्वर-साखास्कार बीव के साथ 'प्रकृति' एव 'पुता' के काहत्यमं को गण्ड करते हैं। मतः वाधारणतः ईस्वर-साखास्कार बीव के साथ 'प्रकृति' एव 'पुता' के काह्यमं को गण्ड करते की साथ स्वाप्त के उपनाम के द्वारा प्रारच्य कर्मों की समाधित नहीं वासती तव तव कड उक्ते 'क्ता', भीर इन्दियों, पांच प्राचों एव मनस् से निर्मात 'निवा-देह' को नण्ड करते में सहायक होता है।' प्रत्य-काल में मुक्त सास्ताप्त प्रत्येक्षर के मार्च में प्रविद्य हो बाती है तथा के सिक्त सानन्य का उपनाम करते नतती है। चुक्त सालमा के मत्त्र का प्रमान करने नतती है। चुक्त सालमा का प्रानच का उपनाम करने नतती है। चुक्त सालमा का सानन्य चार प्रकार का होता है।

तो निमित्त-मात्र होती है (परमेक्वर शक्तिरेव स्वक्यावरण मुख्या, प्रविद्या तु निमित्त मात्र), त्योकि, 'यांववा' नष्ट हो जाती है तो भी जब तक ईवर की इच्छा नहीं होती तब तक चर्म प्रानन्द का उदय नहीं होता । पुत्र, बही चेतन समाध्यें को जान, स्वक्यतः मुक्त के प्रयोग्य सनुरों के प्रतिरिक्त सबको मुख, स्वक्यतः दुःस के तेथ-मात्र से रहित तक्ष्मी के प्रतिरिक्त सबको हुआ प्रदान करता है।

<sup>-&#</sup>x27;तत्व-सस्थान-विवरत्व' और 'तत्व-सस्थान-टीप्पण्,' पृ० ४३-७ ।

परमेष्वर मंत्रिनांच निरवर्षकानन्तावनम्मकस्याय-नृत्युत्वा झानपूर्वकः स्वात्मात्यीय-समस्य-ससुम्यः अनेक गुणार्षिकः अन्तराय-सहय्ये गापि सप्रतिबद्धः निरन्तर-प्रेम-प्रवाहः ।

<sup>- &#</sup>x27;बनुव्यास्यान' पर 'न्याय-स्था'।

 <sup>&#</sup>x27;भागवत-तात्पर्य' १. १३ जहाँ ब्रह्म-तर्क' का भी एक उल्लेख किया गया है।

'सालोक्य,' 'सालीप्य,' 'सारूप्य' एव 'सायुक्य' (साऋध्टिकी 'गराना सायुक्य') के एक प्रकार के रूप में की गई है, पाँचवें प्रकार के मोक्ष के रूप में नहीं। 'सायुज्य' का धर्ष है धात्माओं का ईश्वर के शरीर में प्रवेश तथा स्वयं ईश्वर के शरीर में ईश्वर के बानन्द के साथ उनका तादारम्यीकरण, 'साऋष्टि-मोक्ष,' जो 'सायुज्य-मोक्ष' का एक प्रकार होता है-का बर्य है उन्हीं शक्तियों का उपमोग करना जो ईश्वर में होती हैं तथा एक उपमोग केवल ईश्वर के शरीर में प्रविष्ट होकर ईश्वर की विशिष्ट शक्तियों से धपना एकाकार करने से सम्बद हो सकता है। इस प्रकार के मोक्ष के योग्य केवल देव-गए ही होते है, हाँ, वे भ्रपनी इच्छानुसार ईश्वर मे बाहर भी आ सकते हैं और उससे पृथक् भी रह सकते हैं, 'सालोक्य मोक्ष' का अर्थ है बैकुष्ठ मे निवास करना तथा वहाँ ईव्वर के सहवास मे रहकर उसके निरन्तर दर्शन से सतोष एव आनन्द का अनुभव करना । 'सामीप्य-मोक्ष' का बार्च है ईश्वर के समीप निरन्तर निवास, जिमका उपमोग संत-गण करते है। 'सारूप्य-मोक्ष' का उपमोग ईव्वर के परिचारक करते हैं जिनके ईश्वर के समान ही बाह्य रूप होते हैं। मूक्त भारमाओं में भानन्द की अवस्थाको एव अन्य विशेषाधिकारो की दृष्टि से भेद को स्वीकार करना मध्य-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में से एक मुख्य सिद्धान्त है, क्योंकि, यदि उसे स्वीकार नहीं किया जाय तो यह प्रमुख दैतवादी सिद्धान्त कण्डित हो जायगा कि सबे जीव सर्वदा एक दूसरे से भिन्न होते हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि मोक्ष केवल 'मिक्त' द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, जिसमें निरन्तर विशुद्ध 'स्नेह' का समावेश होता है।<sup>3</sup> केवल देव-गए। एवं श्रेष्ठ मानव ही उसके योग्य होते हैं, जबकि साधारण मानव केवल पूनर्जन्म के योग्य होते है भौर अधम मानव एव असूर सदा नरक में दूख भागते है। देव-गरा नरक में नहीं जा सकते, भीर न अनुर कभी मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं तथा साधारण व्यक्ति न मोक्ष को प्राप्त करते हैं भीर न नरक मे जाते हैं।

भाठ वर्ष से लेकर श्रस्मी वर्ष की भ्रायु वाले सभी मानवों के लिए भ्राज्ञात्मक कर्त्तव्य के रूप में मध्य 'एकादणी' के उपवास भीर ललाट पर खडी काली रेखा का तिलक

कहा जाता है कि ईश्वर के दो द्वारपाल जय और विजय 'सारूप्य-मोक्ष' का उपभोग करते हैं।

 <sup>&#</sup>x27;मुक्ताना च न हीयन्ते तारतम्य च सर्वदा ।'

<sup>&#</sup>x27;महाभारत-तात्पर्य-निर्णय,' पृ० ४ ।=देखिए 'न्यायामृत' भी ।

अधिकारके अपिता के स्थान के स्थान के स्थान के स्थान के स्थान के प्रतिमाश में उल्लेख किया गया है। दान, तीर्थ-यात्रा, तपस् आदि मी ईश्वर की 'क्षेत्रा' के गीए उपसाधन माने जाते हैं।

<sup>&</sup>lt;sup>थ</sup> वही, पु० ५।

स्त्याने पर श्रत्यिक बल देते हैं वो झाज दिन तक भी उनके अनुयायियों की विशेषता है। हमें बढ़ी मक्ति से परमेश्वर कृष्ण की निरस्तर उपासना करनी चाहिए और जनत के दुःखों से रक्षण करने के लिए उसकी प्राचना करनी चाहिए। हमें नरक के क्लेशों का विचार करना चाहिए और पापों से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए तथा सदा परमेश्वर हरि के नाम का संकीत्तन करना चाहिए और सपने तभी कर्मों को कल की इच्छा किए विना परमेश्वर को समर्थित करना चाहिए।

¹ कृष्णामृत-महार्णव ।

### अध्याय ३१

# वल्लभ का दर्शन

# वल्लम द्वारा 'त्रश्च-सूत्र' की व्याख्या

बेदान्त के अधिकांश सम्प्रदाय बेदों के अन्तिम माग उपनिषदों के मूल-पाठ में समिहित उपदेश के चरम सभित्राय के संबंध में पुच्छा पर शाधारित हैं। 'मीमांसा' शास्त्र इस मान्यता के साधार पर वैदिक पाठों के स्वरूप की पुच्छा में निरत रहता है कि सभी वैदिक पाठों की व्याख्या इस रूप में की जानी चाहिए कि वे लोगों की कुछ प्रकार के कार्यों को करने ग्रथवा ग्रन्य प्रकार के कार्यों को न करने का ज्यादेश देते हैं। उसकी यह मी मान्यता है कि उक्त व्यादेशों का बाशा-पालन 'धर्म' को उत्पन्न करता है तथा उनकी अवका 'अवर्म' को उत्पन्न करती है। वेदो का स्वाध्याय भी इस क्यादेश की बाज्ञानुसार किया जाना चाहिए कि वेदों का ग्रध्ययन करना आवश्यक है, धयवा गुरु द्वारा बेदों का उपदेश दिया जाना चाहिए या हमे उपनयन सस्कार में दीक्षित होने के लिए एक ऐसे गुरु को अंगीकार करना चाहिए जो हमे सविस्तार वेदो का उपदेश देगा। मीमांसा एव वेदान्त के सभी व्याक्याकार इस बात पर सहमत है कि वेदों के प्रध्ययन में विद्यार्थी द्वारा अर्थ के बोध का समावेश होता है, यद्यपि व्यादेश के संधातच्य स्वरूप के सबंध में तथा जिस यथावत उग से उक्त आश्रय कथित होता है उसके संबंध में मतभेद हैं। यदि ब्रह्मचारित को अपने घर ही मे बेदो का अध्ययन करना है तथा एक गृह से उनके अर्थ को समभना है तो सामान्यतः यह तर्क किया जा सकता है कि उपनिषद-पाठों के सबध में ग्राग विचार-विमर्श की कोई समावना नहीं रह जाती, भीर यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है, तो समस्त 'ब्रह्म-सूत्र' जिसका उद्देश्य उक्त विचार-विमशं में प्रवेश करना है, निरवंक हो जाता है। यह युक्ति दी जा सकती है कि उपनिषद्-पाठों के गर्भ में साक्षात्कार-विद्या छिपी हुई है जो शब्दों के पाठगत अर्थ के मावबांध से प्रकट नहीं की जा सकती। किन्तु, यदि यह साक्षारकार विद्या शब्द के पाठगत भर्य के द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती, तो यह मानना युक्तियुक्त नहीं है कि हम उनके द्वारा मान्य गहन एव रहस्यात्मक सत्यों का अववोध कोरे बौद्धिक विचार-विमर्श द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। स्वयं उपनिषद् यह कहते हैं कि हम उपनिषदों के सम्यक् अर्थ का बोध तमसु एवं परमात्मा के प्रसाद के द्वारा ही कर सकते हैं।

भ-लोकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपक्षते तपसा वेद-युक्त्या तु प्रसादात्परमात्मतः ।
 —'त्रह्य-मूत्र' पर वत्सम का 'नाष्य' (वीकम्बा संस्करण) पृ० १३ ।

पुक्ते प्रति बल्लन का उत्तर यह है कि, जूँकि विविध प्रकार के उपरेशों को प्रस्तुत करने वाले विविध प्रकार के 'साल्ल' होते हैं, और जूँकि वैदिक पाठ स्वयं हतने स्वित्त हैं कि उनके सम्यक् बन को सम्मक्ता सरल नहीं है, इसिए जब तक कोई ऐसा 'साल्व' नहीं हो जो स्वयं प्रत कर किजारों का विवेचन करें और पाठनत तुलनाओं एवं विरोधों के द्वारा उनको सुलमाने का प्रयास करे, तब तक एक साधारण व्यक्ति को उनके समुचित पर्य के सम्बन्ध में वैच संख्य हो सकता है, यह प्रस्वीकार नहीं किया सा सकता कि एक ऐसे विवेचन की एक वास्तविक धावस्थकता है, जैसाकि स्वयं आस द्वारा 'बहु-मूल' में किया या था।'

रामानुज के बनुसार 'ब्रह्म-सुत्र' 'मीमांसा-सुत्र' का बनुवर्ती है, यद्यपि दोनों कृतियाँ विभिन्न विषयो का निरूप्ण करती हैं, तथापि उनमें उद्देश्य की अविन्धिन्नता है। इसलिए 'ब्रह्म-सूत्र' के मध्ययन के पूर्व 'मीमासा-सूत्र' का मध्ययन किया जाना वाहिए । भास्कर के अनुसार 'मीमांसा-मुत्र' का अनुप्रयोग सार्वभौग है, सर्व द्विजों को अपने दैनिक कर्तंब्यों के लिए 'मीमांसा' एवं 'धर्म' के स्वरूप का अध्ययन करना चाहिए। ब्रह्म-जान केवल कुछ व्यक्तियों के लिए होता है, इसलिए ब्रह्मन के स्वरूप का विवेचन केवल उन्ही व्यक्तियों के लिए अभिभेत हो सकता है जो अपने जीवन के चतुर्थं ग्राश्रम में मोक्ष की खोज करते हैं। जो व्यक्ति मोक्ष का ग्रन्वेषण करते हैं उन्हें भी 'धर्म' के दैनिक कार्यों को करना चाहिए, उस 'धर्म' का स्वरूप केवल 'मीमासा' के अध्ययन से जात किया जा सकता है। कुछ विद्वानों का कंचन है कि ब्रह्मन केवल उपनिषदों द्वारा निर्धारित दीर्घकालीन ध्यान की प्रक्रिया रूपी विधि से जात किया जा सकता है। उक्त ध्यान का जान केवल यज्ञों के समुचित स्वरूप के ज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। 'स्मृतियो' में भी यह कहा गया है कि यज्ञी के हारा ही ब्रह्मन के पवित्र तन का निर्माण होता है (महा-यज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीय कियते तनः), व अतः जब अडतालीस 'सस्कारो' का पालन कर लिया जाता है, तब एक व्यक्ति ब्रह्म के स्वरूप के प्रध्ययन ग्रथका ध्यान के योग्य बनता है। 'स्मृतियों' में यह मी कहा गया है कि केवल तीन ऋगों-अध्ययन, विवाह एवं यज्ञों का अनुष्ठान'-को चुकाने के पश्चात ही एक व्यक्ति मोक्ष के लिए बह्मन पर प्रपने मनस को केन्द्रित करने का भविकारी बनता है। अधिकांश लोगों के अनुसार यज्ञ सबंधी कर्नव्य ब्रह्म-ज्ञान के

संदेह-वारक शास्त्रं बुद्धि-दोषातदुद्भवः
 विच्द्ध-सास्त्र-सभेदादगैश चाश्रव्य-निष्चयः ।
 तस्मात् सूत्रानुसारेण 'कर्लंग्यः' सर्वं-निर्ण्यः
 प्रत्यथा प्रश्यते स्वार्थान् मध्यमण्य तथाविषः ।

<sup>–</sup>बही, पृ०२०।

<sup>₹ &#</sup>x27;मनू' २.२६।

लिए उपयोगी होते हैं, भ्रत: यह माना जा सकता है कि ब्रह्म-जिज्ञासा भर्म-जिज्ञासा के परचात भानी चाहिए।

किन्तु, यदि यह एवं बहुन् के प्यान के संयुक्त धनुशालन को स्वीकार मी कर तिया जाय, तो भी यह निफल्ले नहीं निकलता कि बहु-विकासता धर्म विकासा के परवात् धानी वाहिए। उसका धर्म केवल नहीं हो सकता है कि बहु-आन का स्वरूप पर्धा के स्वत् नहीं हो सकता है कि बहु-आन का स्वरूप पर्धा के उस स्वरूप के स्वरूप का तता है। ऐसी मान्यता के धनुसार धारमन् के स्वरूप का जाता है। ऐसी मान्यता के धनुसार धारमन् के स्वरूप का जाता है। ऐसी मान्यता के धनुसार धारमन् के स्वरूप का ज्ञान पर्या स्वरूप के प्रध्यन से प्राप्त किया जाता वाहिए, पर चूँ कि सारमन् का ज्ञान पर्या क्या की का स्वरूप को के धनुपालन के लिए भी धनिता वाहिए, पर चूँ कि सारम्य का ज्ञान पर्या का स्वरूप के प्राप्त का ज्ञान पर्या क्या का कि का स्वरूप को का स्वरूप की विकास का सारम स्वरूप की विकास बानी चाहिए। " न यह कहा जा सकता है कि विकास मुनि-पाठी द्वारा एक स्वराप्त के प्राप्त स्वर्प के साथ पर्य हा के किया जा सकता है कि चाने के प्रयुक्त की जिल्लामा के प्रवृत्त के स्वरूप की विकास का के प्रवृत्त का स्वरूप के स्वरूप की जिल्लामा की प्रवृत्त का स्वरूप के स्वरूप की जिल्लामा की प्रवृत्त का साथ ति वाली वाहिए, पराप्त का स्वरूप के हिल 'पर्म' के स्वरूप की जिल्लामा की प्रयूप ति वाहिए, परार्व कर कर विज्ञान की प्रयुक्त की जिल्लामा की प्रवृत्त है। वाली वाहिए, परार्व कर कर विज्ञान की प्रयुक्त की प्रवृत्त हो वाहिए, परार्विक कर विज्ञान की का प्रयुक्त की वाहिए, परार्व कर कर विज्ञान की की प्रयुक्त की प्रवृत्त की साथ की प्रयूप की प्रयूप कर विज्ञान की का प्रयूप की या वहरी है।

न यह कहा जा सकता है, जैसाकि यकर कहते हैं कि ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व इहलेकिक एक पार्त्तीकिक कुखां के प्रति वेदिग्य, विस्त-सबस, सारस-प्रयम सारि उत्पन्न होने चाहिए। इस विषय पर मास्कर बल्या के मत के विरोध में तर्क करते हैं, प्रीर उसकी सस्वीकृति का कारत्य यह है कि उक्त मुग्गों की उपत्रिक्त सर्वाधक विषय, होते हैं, दुवांसा जैसे महाँच एवं प्रत्य लोग भी उनको प्राप्त करने में ससकत रहे। प्रारम-ज्ञान के बिला भी एक व्यक्ति दुव्यों के कारत्य विषयों के प्रति विरक्त हो सकता है, तथा एक व्यक्ति सांसारिक उद्देश्यों से भी विस्त-सवय एव धारस-सवय का ध्रम्यास कर सकता है। उसके प्रतिरक्ति उक्त मुग्गों की प्राप्ति कथा ब्रह्म-जिज्ञासा में कोई ताहिक संबंध नहीं हैं। न यह नर्क किया जा सकता है कि यदि ब्रह्म-जिज्ञासा ते पूर्व मीयासा-जिज्ञासा आती है, तो हम उक्त समस्त मुखा को प्राप्त कर सकते हैं। इसके घरिएक, इस्तुन के स्वस्त्य की जिज्ञाना केवल ज्ञान केवल हम कहता में विश्व स्वय-जिज्ञासा प्रतियाँ है इस प्रकार,

वल्लभाचार्य के अनुभाष्य पर पुरुषोत्तम की टीका, प० २५-६।

पूर्व वेदान्त-विचारेण तदवगन्तव्य नानावलैरात्म-स्वरूपे विप्रतिपन्न-वैदिकाना वेद-वाक्यैरेव तन्निरासस्यावस्यकत्वात् ज्ञाने तथोः स्व-रूपे कर्मीण सुखेन प्रश्रुति-दर्शनम् ।

<sup>-</sup>वही, पृ० २७।

चक्रक न्याय हो जाता है। यदि यह माना जाय कि, जब बेदात पाठों का ज्ञान वेदी-पदेश के श्रवण द्वारा समुचित रूप से अजित कर लिया जाता है तब एक श्यक्ति बहा-जिज्ञासा की कोर प्रेरित हो सकता है तो यह भी आपत्तिजनक है, क्योंकि, यदि वेदात-पाठों के बार्य को उचित रूप से ब्रह्म कर लिया गया है, तो ब्रह्मन के स्वरूप की जिज्ञासा की सागे कोई सावश्यकता नही है। यदि यह माना जाय कि बहा-जान केवल 'तत्वमसि' ग्रथवा 'त्व सत्य ग्रसि' जैसे पाठो के श्रुति-प्रमाण के द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है, तो यह भी बापत्तिजनक है; क्यों कि श्रुति-प्रमाण के द्वारा ब्रह्मन् के स्वरूप की कोई अपरोक्षानुभृति एक ऐसे सज्ञानी व्यक्ति को नहीं हो सकती जो उसकी अयाख्या इस रूप में कर सकता है कि आत्मन एव शरीर में तादारम्य होता है। यदि श्रृति-पाठों के द्वारा ब्रह्मन् की अपरोक्षानुभृति सम्भव है, तो मनन एव निदिध्यासन के कर्त्तक्य का क्यादेश अनावश्यक है। इसलिए यह मानना गलत है कि ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व 'धर्म विचार' किया जाना चाहिए भववा शकर द्वारा उल्लिखत भत्यधिक विरन गुरा। की प्राप्ति की जानी चाहिए । पून: बास्त्रों में यह कहा गया है कि जिन व्यक्तियों ने बेदात के यथार्थ अर्थ की अनुभृति कर ली है उन्हें ससार को त्याग देना चाहिए, अतः वैराग्य वेदात-पाठो के सम्यक अवदोध के पश्चात होना चाहिए, पहले नहीं । पुनः, ब्रह्म-जिज्ञासा ने पूर्व व्यक्ति यह नहीं जान सकता कि ब्रह्मन्, उपलब्धि का चरम लक्ष्य है, पहचादक्त के ज्ञान के बिना व्यक्ति मन की अन्य उपलब्धियों की इच्छा नहीं करेगा और इस प्रकार ब्रह्मनु के सबध में विवेचन में ग्राइत होगा। पुनः, यदि काक्षित गुराो वाला व्यक्ति वेदांत पाठा का श्रवरा करता है, तो वह तत्काल मोक्ष प्राप्त कर लेगा भीर उसे उपदेश देने वाला कोई भी शेष न रहेगा।

यह कहती है कि सच्चा तत्वज्ञानी यह जानता है कि वह कर्म नहीं करता भीर फिर भी सदा 'कमें' से संबंधित रहता है, वह अपने सब 'कमों' को बहान को समर्पित कर देता है, भौर किसी भी भासक्ति से रहित होकर कम करता है, जैसे एक कमल-पत्र बल से कदापि गीला नहीं होता। इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि वही जिसे बह्मन् ज्ञात है अपने कर्म से कांक्षित फल उत्पन्न कर सकता है, अतः जो 'धर्म' के स्वरूप के विवेचन में निरत रहते हैं उनको बहुान के स्वरूप का भी विवेचन करना चाहिए। जो मनुष्य बह्मानु एवं कर्म को जानता है उसमें अपने 'कर्म' के फलों की कोई इच्छा शेष नहीं रहती, क्योंकि उसने अपने सर्व कर्म ब्रह्मन को समिपित कर दिए हैं। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि केवल वे व्यक्ति ही 'कर्म' को करने के स्रधिकारी हैं जो कर्म-कलों की इच्छा रखते हैं, कर्म का चरम एवं सत्यधिक समीप्सित उद्देश्य उसके फलो का समर्पण है। विलल्म का समित्राय यह है कि 'पूर्व-मीमांसा' भीर 'उत्तर-मीमासा' (अथवा 'बहा-सूत्र') दोनो बहान के स्वरूप को प्रतिपादित करने वाने दो मिन्न प्रकार मात्र है, दोनों मिलकर एक ही शास्त्र का निर्माण करते हैं। यह एक प्रकार से शकर के श्रतिरिक्त सभी वैदान्त के टीकाकारो का मत है, यद्यपि उनकी उपागम-विधि में कुछ शिक्षता है। इस प्रकार रामानुज के अनुसार दोनो 'मीमांसाम्रो' से एक ही खास्त्र निर्मित होता है तथा यज्ञो का अनुष्ठान बहान के निरन्तर स्मरण के साथ-साथ किया जा सकता है, जो (उनके अनुसार) बह्मन की भक्ति, उपासना व अपरोक्षानुभृति में निहित होता है। मास्कर के अनुसार यद्यपि पूर्व मीमांसाका विषय उत्तर मीमांसासे मिन्न होता है, तवापि उनका लक्ष्य एक ही होता है भीर वे एक ही बास्त्र का निर्माण करते हैं, और दोनों का ही उद्देश्य ब्रह्मन् के स्वरूप को धनुभूति गम्य करना है। भिक्षु के धनुसार 'ब्रह्म-सूत्र' का उद्देश्य उन बेदान्त-पाठो के बामासी विरोध-ग्रस्त भागो का सामंजस्य करना है जिन पर 'पूर्व-मीमांसा' ने विचार नहीं किया है। 'ब्रह्म-सूत्र' का वही उद्देश्य है जो 'पूर्व-मीमांसा' का है, क्यों कि बह्मन के स्वरूप के सबंघ में जिज्ञासा इस व्यादेश के कारण है कि बह्मन् को बात करना चाहिए, तथा उसके फलस्वरूप चरम 'धर्म' की उत्पत्ति होती है। 'उत्तर-मीमांसा' 'पूर्व-मीमांसा' की पूरक है। मध्व के अनुसार वे व्यक्ति ही बहा-जिज्ञासा के श्रविकारी हैं जिनमें मिक्त होती है।

फल-कामाधनुषयोगातनेनैव तत्-समपंशात् नित्यत्वादप्यवं-ज्ञानस्य न फल-प्रेप्सुर धिकारी।

<sup>-</sup>वल्लमावार्य के बनुमाध्य, 9० ४२ पर पुरुवात्तम टीका ।
र प्रकार-भेदेनापि काण्ड इयस्यापि बह्य-प्रतिपादकतमैकवाक्यरव-समर्थन-मीमांसा-इयस्यैक-बाल्पस्य युवनेन इतिका रविरोवतोऽपि बोषितः ।

<sup>⊸</sup>वही, पृ० ४६।

बस्बन 'बहु-पूत्र' के बच्चाय १, पाद १ के ब्रितीय एव तृतीय 'जूनों' को संयुक्त कर से हैं बीर उनका 'जन्मादासय वतः, साहस्वानित्वात्' के रूप में पठन करते हैं। टीकाकार कहते हैं कि यही उचित कम है, क्योंकि वर्ष 'वाधिकरएा' सापतियां, तिकवांं 'एवं हेतुमां का प्रकट करते हैं, विद तृतीय 'वून' (बाहस्वानित्वात्) की वितीय में समाविषट करके एक 'वाधिकरएा' नहीं बनाया जायना तो हेतुमां का लोग हो जायना। बह्मन् वयत् की प्रांत्रमां की ताश्री हो हो का तोण हो आपना। बह्मन् वयत् की प्रांत्रमां की ताश्री हो हो का तोण हो है, किन्तु, वयारि उरलिंत, सम्बद्धान वित्त करते हैं, किन्तु, वयारि उरलिंत, सम्बद्धान विनाय तमी बहुन् के कर्नुं व से सम्मत्र होते हैं, व्यारि उरलिंत, सम्बद्धान विनाय तमी बहुन् के कर्नुं व से सम्मत्र होते हैं, व्यारि उरलिंत, सम्बद्धान विनाय तमी बहुन् के कर्नुं व से सम्मत्र होते हैं, व्यारि वे 'उसके' 'गुशों के रूप में 'उसके' सम्बद्धान नहीं होते हैं। 'यून' का प्रारं यह मी माना जा सकता है कि बहुन् वह है जिसमें प्रयम (सर्पात् वाकाय) उरल्क्ष हमा है।

निःसदेह यह सत्य है कि बहानू का स्वरूप मुख्यतः उपनिषदों में ब्रात होता है, धौर उस दिष्टकोए से 'सास्य-मीन'-'यह को उपनिषदों द्वारा ब्रात किया जाता है-'शस्य का बहानू पर धनुष्रयोग किया जा सकता है, किर भी यह वैश्व धापिता है कि वेदों के धन्य मायों के ब्रह्मन् से कोई सार्यक संबंध नहीं है। इसका उसर यह है कि बेदों के धन्य मायों के ब्रह्मार किए गए कमों के द्वारा मनस् सुद्ध किया जा

-धनुभाष्य, पृ० ६१।

जन्म बाह्यस्य ब्राकाशस्य यतः ।

भनुभाष्य, पृ०६४ पर टीका।

ताहशानुपूर्वी-रचनया बस्वातन्त्र्ये राजाञ्चानुवादक-राज-द्रुतवदानुपूर्वी-रचना-मात्रेगोरवर-सार्वज्ञासिद्धया व्याख्येय-प्रच-विरोधाच्च । —वही, पृ० ६४ ।

सकता है, धौर इस प्रकार ईश्वर को धपने स्वक्य की धनिव्यक्ति के लिए धपने प्रसाद के प्रयोग के लिये अनुप्रेरित किया वा सकता है। घटः एक अप्रत्यक्त उन से वेदों के प्रन्य प्राग वेदों से संवेधित किए जा सकते हैं। इस्तिल वेदात का सान वेदों के धन्य जागों के धारशीय ब्यादेखों के उचित धनुपानन में सहायक होता है। 'कर्य-काष्ट्र' धौर 'सान-काष्ट्र' समय एक-दूबरे के पूरक हैं तथा दोनों की धारय-सान के लिए उपयोगिता है, यद्यपि उपनिवदों का महत्व उत्कृष्ट होता चाहिए।

हम पहले से ही जानते हैं कि रामानुज ने जगत् की उत्पत्ति से सर्वज्ञ एवं सर्वज्ञाकिमान देवर के मस्तित्व को भनुमित करने के प्रत्य का अध्यन किया, तथा इस सिद्धान्त को स्थापित किया कि देवर प्रत्यक्ष, धनुमान धादि प्रमाएं। के द्वारा ज्ञात नहीं किया जा सकता, वरन् केवल स्तृति-पाठों की साक्षी से ज्ञात किया जा सकता है।

न्याय मत की प्रदृति अनुमान के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने की रही है, इस प्रकार उदयन ईक्बर के झस्तित्व के पक्ष में जो युक्तियाँ देते है, इनमें से प्रथम यह है कि-जगत, कार्य-रूप होने के कारण, उसको उत्पन्न करने वाला कोई कारण चाहिए (कार्यानुमान) । दूसरा यह है कि कोई ऐसी सत्ता होना चाहिए जिसने मृष्टि के प्रारम्भ में झरणुम्रों के निर्माण के लिए परमारणुम्रों को गतिशील बनाया (मायोजनातुमान)। तीसरा यह है कि यदि पृथ्वी ईश्वर के द्वारा घारण नहीं की गई होती तो वह आकाश में आलम्बित नहीं रह सकती थी। (शुरवानुमान)। चौथा यह है कि जगत के विनास के लिए भी एक कर्ता चाहिए, जो ईश्वर होना चाहिए (विनाशानुमान) । पाँचवा यह है कि शब्दों को दिए गए ग्रर्थ ईइवर की इच्छा के कारए। होने चाहिए (पदानुमान)। छठा यह है कि पूच्य एवं पाप, जिन्हे वेदों के व्यादेश से ज्ञात किया जा सकता है, उनका वेदों के रचयिता को मौलिक परिचय होना चाहिए (प्रत्यानुमान) । सातवाँ यह है कि अतियाँ ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाशित करती हैं। बाठवाँ (वाक्यानुमान) सातवे से एक-रूप ही है। नवां इस प्रकार है-परमाराष्ट्रों के संवात का निर्माण उनकी संस्था पर निर्भर करता है, क्योंकि वे निरवयव हैं, संस्थात्मक प्रत्यय प्रत्यक्षकर्ता की सापेक्षिक मानसिक तुलना पर प्राधित होता है, सब्दि के समय कोई ऐसी सत्ता होनी चाहिए। जैसे सस्यात्मक प्रस्थय के कारण संघात का निर्माण सम्भव होता है। यह नवां धनुमान है (संस्थानुमान)। यद्यपि ईश्वर जगत का कारण माना जाता है. तथापि उसके शरीर हो यह भावश्यक नही है. क्योंकि उत्पादक के रूप में कारता के लिए यह धनिवार्य नहीं है कि उसमे शरीर का होना बावश्यक हो, किन्तु बन्य विद्वान ऐसे हैं जिनके विचार में ईश्वर विशेष शरीरों, राम, कृष्ण, बादि के 'बवतार' को उत्पन्न करता है जिनके द्वारा वह विशेष प्रकारों में कार्य करता है। किन्तु विज्ञान-भिक्ष का विचार है कि सांस्य के 'बुद्धि' बादि पदार्थ परिलाग होने के नाते बपने पूर्व कारलों को पूर्वगृहीत करते हैं, विनके संबंध में कुछ प्राप्त झान होना चाहिए, बीर निसका उद्देश्य उसके द्वारा पूर्ण हो, ऐला व्यक्ति ईश्नर है। इस विधि में पहले पदार्थों के एक मीतिक कारला (प्रकृति) को धनुमित किया जाता है, बीर ईश्वर बहु है जिसे 'प्रकृति' का घपरोक्त सान होता है जिसके फलस्वरूप वह पदार्थों की उत्पत्ति के लिए उसका रूपान्तरण करता है, बीर इस प्रकार स्वयं सपने उद्देश्य के लिए उसका प्रयोग करता है।

कुछ विदाल यह मानते हैं कि वर्षानवर्-गाठों में सी ब्राह्मण, के स्वक्रण को अनुमित करते के उदाहरण मिनते हैं, और वर्षाय बादपायण स्वय किन्ही अनुमानों का प्रयोग नहीं करते, उपापि वे ऐसे पाठो का विवेषन करते हैं वो अनुमानों के सावार हैं। नैयायिकों का टिप्टकोण यह रहा है कि अनुमान सहा हैं स्वर्गिक वे उपनिषद्-गाठों के अनुक्रल हैं। किन्तु बल्लम, रामानुक एवं मास्कर से सहसत हैं कि ईस्वर के बितराद के संबंध में कोई अनुमान सम्यन नहीं हैं, तथा उसका स्वरूप केवल उपनिषद् पाठों की सावी से ही बात किया मा सकता है।

## त्रक्षन् का स्वरूप

टीकाकार पुरुषोत्तम रामानुज की प्रशाली के अनुसार ईश्वरवादी युक्तियो की प्रालोचना करते हैं। —'धनुमाध्य' पर टीका, पू० ७४।

है (प्रकृतेरपि स्वमते तदंशत्वात)। कन्तु फिर भी सांस्य की उपागम-विधि को स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'प्रकृति' का सूल सज्ञान के स्वरूप का होता है, भीर देश एवं काल से परिच्छिन्न होता है, वस्तुएं कुछ के लिए सुसकर होती हैं और धन्य युक्तियों के लिए दुखदायी होती हैं, वे एक काल में सुबकर होती हैं और दूसरे में सबकर नहीं होती हैं, वे कुछ स्थानों में सुबदायी होती हैं और अन्य स्थानों में दलदायी होती हैं। किन्तु बहानु का मानन्द उपाधियों से अपरिज्ञिक्ष होता है, इस प्रकार धानन्द एव ज्ञान से संबंधित धारमन का संबंध 'प्रकृति' के सुख से मिल्र होता है (भालानन्दज्ञानेन प्राकृतिक प्रियत्वादौ बाधदर्शनात्)। इस प्रकार बहान ज्ञान एवं ग्रानन्द के ग्रपने यथार्थ स्वरूप में जगत में परिख्याप्त है। श्रपनी इच्छा से ही वह स्वय को धनेकता में धिमञ्चक्त करता है, यथा धपने तीन लक्षणों चित्, सत व भानन्द को 'अतर्यामिन्' के जड़ जनतु में विभिन्न अनुपातों में अभिव्यक्त करता है। बहान की ग्रानेक एवं सब के रूप में व्याप्ति का तत्सबंधी शकरवादी निरूपण से विभेद करना चाहिए। शकर एवं उनके अनुयायियों के अनुसार विषयों के प्रापंचिक जगत का यथार्थं ग्राविच्छान ब्रह्मन् है, स्यूल ग्रामाम उक्त ग्रपरिवनंनशील सत्ता पर ग्रारोपरा मात्र होते हैं। इस मत के अनुसार स्यूल ग्रामास ब्रह्मन के परिखाम नहीं माने जा सकते, अथवा, अन्य बब्दो में, बहानू स्थूल विषयो का 'उपादान' कारए। नहीं माना जा सकता । हमे जात है कि शकरवादियों में भी जगत के उपादान कारण के संबंध में विविध मत पाये जाते हैं। इस प्रकार 'पदार्थ-निर्माय' के लेखक के विचार में ब्रह्मन भीर 'माया' सयुक्त रूप से जगत के कारण हैं, ब्रह्मन् ता अपरिवर्तनशील कारण है 'माया' परिएामी कारण है। 'संक्षेप-बारीरिक' के लेखक सर्वज्ञात्ममृति का विचार है कि बहान 'माया' के उपकरशा के माध्यम से उपादान कारशा होता है। वाचस्पति मिश्र के मत मे 'जीव' में स्थित 'माया' बह्मनु के साहचर्य में सयुक्त रूप से जगत को उत्पन्न करती है, 'माया' यहाँ 'सहकारि' कारण मानी जाती है। 'सिद्धांत-मृक्तावली' के लेखक के मत में 'माया-शक्ति' यथायं उपादान कारण है, न कि ब्रह्मन, ब्रह्मन, कारण एवं कार्य से अतीत होता है।

किन्तु बन्तम उक्त मत से सम्हमत हैं क्यों कि इसके धनुसार ब्रह्मव का कारएएव केवन समस्यक होता है, और सामास जो सकर के प्रमुसार मिल्या सारोपए। हैं उनका कोई कारए नहीं माना बाता है, बदा वे मानते हैं कि ब्रह्मन् वे अपनी इच्छा से सत्, विनु एवं सानत्व के तत्वों के प्रावन्त के हारा दख्य को जड़-यार्थ जीव एवं ब्रह्मन्

<sup>&</sup>lt;sup>९</sup> वल्लम का 'झनुमाष्य' पृ० ८५ ।

<sup>&</sup>lt;sup>व</sup> पुरुषोत्तम की टीका, पु॰ ८६।

वैश्विए 'सिद्धान्तलेश' (लैंबारस का संस्करण, १८६०), पृ० १२-१३।

नामक अपने तीन कपों में अभिव्यक्त किया है। इसलिए ब्रह्मन् अगत् का 'समनायि-कारण, माना जाता है।'

सास्कर भी यह मानते हैं कि बहुत्यू का एक वाथ हो जयत से स्रमेद भीर भेद है, जैसे सुद्र का एक वर्ष में सहरों से प्रमेद होता है तथा सम्य वर्ष में भेद होता है। यह निर्देश सर्प-होन है कि एक बस्तु स्थमी विरोधी नहीं हो सकती, क्योंकि उसका वस्त रूप में सुनुम्य किया जाता है। विषयों के रूप में सर्व बस्तुएं एक मानी जा सकती हैं, किन्तु इस कारण से उनके विधिष्ट लखणां एव सस्तित्व का स्वप्तकृत नहीं हो जाता, बस्तुतः उच्छा एवं शीतक स्थवा समिन एवं स्कुलिंग की मीति बहान्यू एवं जनसें पालन होता है एवं उसके नय होता है। सामौरण व्यापक के उदाहरण में ऐसा नहीं होता, जब यट मृत्तिका से उत्तम किया जाता है, तब यद्यपि मृत्तिका एव यट भिन्न प्रतीन हो सकते हैं, तथाणि यट का मृत्तिका के बिना कोई सस्तित्व नही होता है—पूर्वोक्त की परवाइक्त में स्थिति इसती है। इस्तिन् कार्य के स्वप्त में जनत में नानात्व है—पूर्वोक्त की परवाइक्त में स्थिति इसती है। इस्तिन् कार्य के स्वप्त में जनत में नानात्व

उससे एक रूप न होते हुए भी बल्लम का दृष्टिकोल मास्कर के दृष्टिकोल के प्रति निकट है, वे मानते हैं कि बही बहाद पपनी पूर्णता में अवतृ के सर्व विषयों में तथा जीवों में विद्यासते रहता है। उसने विभिन्न रूपों में केवल कुछ गुलों को उनके प्रवत्त क्या में में केवल कुछ गुलों को उनके प्रवत्त क्या में प्रवाद किया है, इसनिए नाताव में किसी विकार का समावेदा नहीं होता। इसी कारण से वे उपादानकारण की तुनना में 'यमवायिकारण' पर को प्रविक्त पत्त है अप्तादानकारण' की तुनना में 'यमवायिकारण' पर को प्रविक्त पत्त के प्रवृत्ता वे प्रविक्त पत्त का प्रविक्त करते हैं, उनके धनुसार 'समवायिकारण' का प्रवय सार्वभीम एव निरुपाधिक प्याप्ति में निहित्त होता है। 'उपादान' के प्रवय में विकार के प्रवयस का समावेदा होता है, यद्यपि विकार से उत्पन्न काम्य 'उपादान' (भाषवा उपादान कारण) में दिवत तहते हैं, धीर यद्यपि उनका प्रन्ताः उसमें विकार हो बाता है।' जहां नक अपने का स्वतं नाताव से धीर यद्यपि उनका प्रन्ताः उसमें विकार हो साता है।' जहां नक अपने का स्वतं नाताव से धीर यद्यपि उनका प्रन्ताः उसमें विकार हो सहस्त हैं।

भ्रनारोपितानागन्तुक-रूपेगानुवृत्तिरेवं समवाय इति इदमवे व तादात्म्यम् ।

<sup>–&#</sup>x27;झनुमाध्य' पर पुरुषोत्तम की टीका, पृ० ६०।

कार्यक्रमेग् नानात्वम्, ग्रमेदः कारगात्मना हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाधात्मना
 भेदः । —'भास्कर-माध्य' पृ० १८ ।

गन्तवत्रीपादान-पद परिरक्षण्य समवाधि-गदेन कुतो व्यवहार इति बेदुच्यते । लोके उपादानपदेनकर्तुं-कियया व्याप्तस्य परिच्छित्रस्यैवाभिषानदर्शनात् प्रकृतिह्यं स्योपादानमिति ।

<sup>-</sup>पुरुषोत्तम की टीका, पृ० ११८।

पुन: बल्लम मन्य वेदान्त के विचारकों की मीति 'खमवाय' संबंध को झस्त्रीकृत करते हैं, यद्यपि वे बहान् को जनत् का 'समयायिकारस्य' मानते हैं। उनका 'समयाय' का क्षम्यन संकर एवं रामानुज वैसे मन्य वेदान्त के व्यावयाकारों की ही पद्धित का अनुकरस्य करता है, भीर उत्तरिकी यहां पुनरावहित धानस्यक नहीं है। उत्तरिक समुक्तरर्थ करता है, भीर उत्तरिकी यहां पुनरावहित धानस्यक नहीं है। वत्त्रम के समुक्तार 'समयाय' काम सर्वध नहीं होता, जैताकि न्याय लेखकों डारा स्वीकार किया जाता है, उनके धनुसार उत्तरिकार का प्रवेश रामान्य का सर्वध नहीं होता, विद्याप के सम्प्र स्थित स्थाय का सर्वध होता है, किन्तु वन्त्रम कहते हैं कि यहाँ दन मुग्नों के मनुस्तर स्थाय स्थाय सा सर्वध होता है, किन्तु वन्त्रम कहते हैं कि यहाँ दन मुग्नों के समुक्त करते के लिए कोई पुषक् समयाय का सर्वध नहीं होता, दवर्थ हम्ब ही किया, पुणों एवं कारस्य का का के स्था में अभिया, पुणों एवं कारस्य का का के स्था में अभिया, पुणों एवं कारस्य का का सर्वध के स्था में अभिया, पुणों एवं कारस्य का का सर्वध के स्था में अभिया, पुणों एवं कारस्य स्था के स्था में अभियात की विविध क्यों में अभियातिक ही हमें वैपरीस्य में नातात्व का सर्वध प्रवात करती है, वस्तुतः समया सर्वध हारा एक साथ सर्वधित माने जाने वाले विविध क्यों में कोई नेद नहीं होता। '

पपने 'प्रस्थान-रल्लाकर' में पुरुषोत्तम कहते हैं कि 'याया' बहुन्द की एक शक्ति है, भीर इस प्रकार उससे भनिक्ष है (पायाया धाँप मगक्यक्रिक्तिने शक्तिमद-निक्तलातु), 'जाया' धीर 'धनिक्षा' एक ही हैं। इस 'याया' के हारा ही ईदशन मानात्व के रूप में स्वाच को धनिक्ष्यक करना है। यह भनिक्ष्यक्ति न तो एक दोप होता है भीर न एक घनभानि, वह विकास अपवा परिवास के प्रयय को साशिक्ष्य काए वाना इंदर की विनिध क्यों में एक यवार्ष भनिक्ष्यक्ति होती है। इस प्रकार जायत् ययार्थ है, क्योंकि वह ईदशर की यवार्ष भनिक्ष्यक्ति है। इस्त्रम् स्वय त्या, चित्र व धानन्य स्वस्य होने के कारण स्वयं को किसी मी उपकरण की सहायता के बिना भागे काल, इक्स्ता, 'याया' एवं 'स्कृति' नामक भपने यहां भयवा नक्षणों में सक्तिन्य करना सम्बन्ध होने के कारण स्वयं को किसी मी उपकरण को सहायता के बिना सपने पाया' एवं 'स्कृति' नामक भपने यहां भयवा नक्षणों में सक्तिन्य करना सम्बन्ध ' 'काल' किशाशक्ति का प्रतिनिध्यक करना है। 'काल' के इारा सुष्टि एवं प्रवयं के निवासित होत उसकी किमा-सिक्त का परिसीमन होता है, इस किमा-सिक्त है निवासित होतर उसकी किमा-सिक्त का परिसीमन होता है, इस किमा-सिक्त है निवासित होतर उसकी कान्य पत्रित उपने साथ-साथ किया

<sup>-</sup>बही, पृ० ६२७।

<sup>&#</sup>x27;प्रस्थान-रत्नाकर' पृ० १४६ ।

है भीर इस प्रकार से संकल्पित विभिन्न रूपों के द्वारा वह स्वयं को ग्राभिक्यक्त करता है. इस प्रकार बहान के विविध सक्षण उसकी विविध रूपों में अभिव्यक्त करते हुए उसको भी विविध प्रकारों में मिश्र होते हुए प्रमिष्यक्त करता है। इस प्रकार, यद्यपि वह ज्ञान एवं ब्रानन्द से एक रूप हैं, तथापि वह इसके स्वामी के रूप में प्रतीत होना है। ईक्बर की शक्ति अपने स्वरूप को विशुद्ध सत के रूप में, किया के रूप में एवं ज्ञान के रूप में धपने स्वरूप में सम्भान्ति उत्पन्न करने में निहित होती है। यह सम्झान्ति स्वयं को धानुमाविक बज्ञान (जो स्वयं को बहुंता के रूप में प्रकट करता है) के रूप में अभिव्यक्त करते हुए उस 'माया' का अश होती है जो जगत् की सृष्टि करती है, और जगत के रूप में ईश्वर की अभिव्यक्ति में आनन्दरूप ईश्वर का उपकरएा होती है। इस प्रकार 'माया' मूल कारता से परे एक गीता कारता के रूप में प्रतीत होती है, और कभी-कभी उसका रूपान्तरण कर सकती है, और फलतः ईश्वर की इच्छा के कारए। के रूप में कियान्वित हो सकती है। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार से संकल्पित 'माया' मूल कारए। नहीं मानी जा सकती। वह प्रथम तो मनेक होने की ईश्वर की मूल इच्छा को पूर्णरूप से क्रियान्वित होने मे सहायता देती है, दूसरे, वह उच्च एव निम्न के रूप में बस्तित्व की श्रीश्यो की विविधता की सुध्ट में सहायक होती है। ईश्वर के ज्ञान एवं किया की अभिव्यक्ति के संबंध में ही ईश्वर ज्ञान एवं किया का स्वामी माना जा सकता है। सम्भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला 'माया' का पक्ष 'अविद्या' माना जाता है। यह सम्आन्तिपूर्ण सप्रत्यक्ष भी हम में पाए जाने वाले खबबोध के स्वरूप का होता है, इस सम्भ्रान्तिपूर्ण खबबोध के द्वारा एक प्रथक सत्ता के रूप में संकल्पित आनन्द के स्वरूप से साहबर्य की इच्छा उत्पन्न होती है और उसके द्वारा प्राणियों में जीवन को निर्मित करने वाले विविध प्रयत्नों की उत्पत्ति होती है। इस जीवन के कारण ही व्यक्ति 'जीव' कहलाता है। सद्-प्रश में स्वरूप का समिधान अथवा किया की उपज जड विषयों के रूप में प्रकट होती है, भीर बाद में वह पून: किया से संबंधित होती है तथा स्वय को प्राशियों के शरीर के रूप में प्रभिव्यक्त करती है। इसलिए ईश्वर की द्विविध इच्छा से उसके विशुद्ध सद्-मंत्र से जड़ 'प्राणों' का स्फूरण होता है जो 'जीवो' के बन्धन के तत्वों के रूप में कार्य करते हैं भीर उसके सद-संग की धिभव्यक्ति मात्र होते हैं, उसके विश्व चिद्द-घश से 'जीवो' का स्फूरण होता है जो बन्धन के बाधीन होते हैं, और उसके धानन्दांश से विस्फुलिंग-न्याय से 'भ्रम्तर्यामियो' का स्फुरल होता है जो जीवो के नियामक होते हैं।

एवं च उमान्यामिञ्ज्ञान्यां सच्चिद् झानन्दरूपेन्यो यथा-यच प्रालाचा जङ्गिचदश जीव-वच्चन-परिकर-मुताः सदंशाः जीविश्चदंशा बन्धनीया भ्रानन्दाशास्त-श्रियामका भन्तर-यामिनश्च विस्कुलिय-न्यायेन ब्युच्चरन्ति ।

<sup>- &#</sup>x27;बनुमाध्य' पर टीका, पृ० १६१-२।

सतः बद्ध 'बीचे' में कुछ ऐसे हो सकते हैं जिससे देश्वर प्रसन्त हो सकता है सौर जिनको वह सम्पूर्ण बान-वाफि प्रवान कर सकता है, ऐसे व्यक्तियों पर प्राति-पूर्ण 'माया' पपना प्रपुत्त त्यान देती है, इस प्रकार वे अपने विशुद्ध चिद् स्वरूप में एक मुक्त ध्वस्था में रहते हैं, किन्तु उन्हें बगत के व्यापारों को नियन्तित करने की शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

बहान् का 'स्वरूप' दृष्टि से तथा 'कारएं' दृष्टि से एक निज्ञ प्रकार से वर्णन किया जा सकता है। 'स्वरूप' दृष्टि से स्वरूप कर्म, ज्ञान एवं ज्ञान व क्रिया के रूप में तीन पत्थों में देखा जा सकता है। वेदों के कर्म-काब्योय क्षेत्र में विद्वित कारएवं विविध्य करते हैं। तृतीय पक्ष का प्रतिनिचित्व करते हैं। तृतीय पक्ष का प्रतिनिचित्व 'मिक्क'-मार्ग में होता है जिसमें दृष्ट्य ज्ञान, क्रिया व सानन्य के रूप में माना जाता है। कारएव एक में 'धन्तवाधिना' का प्रत्य साता है, जो यद्यपि वस्तुत: बहास्वरूप होते हैं, तथानि 'जीवों के सभीसक सनकर उनके कावों में सहायता प्रदान करते है,' इस प्रकार 'धन्तवाधिन,' जीवों के समान ही ससल्य होते है। किन्तु उक्त 'धन्त-वाधिन' के सिटिक इंडवर एक 'धन्तवाधिन' मो माना जाना है, प्रोर उसका 'धन्तवाधिन-सहान्' में ऐसा ही वर्षन्त किया गया है।

#### तत्व

काल भी देश्वर का एक रूप माना बाता है। 'काल' के प्रत्यय मे कार्ग एवं स्वमाव का समावेब होता है। काल का स्वरूप-लक्ष्या सत्, चितृ व धानन्द है, खर्षाप स्वयद्वार में वह सत्याव हो तक होता है। कह स्वतीन्द्रिय होता है तथा के के का को के स्वरूप से ही ध्रतुनित किया जा वक्ता है (कार्योत्तेम् )। उसकी परिप्राण नित्य ध्यापक तथा सकत सन्तुषों के कारता एवं ध्याप्तान के रूप में दी जा सकती है। काल 'पुणों' की साम्यायस्था को विश्वल्य करने वाना प्रथम कारण होता है। सूर्य, कन्न ध्राणि उसके 'धाम्यानितक' रूप है, परामाणु उसके 'धाम्यानितक' रूप है, परामाणु उसके 'धाम्यानितक' रूप है, परामाणु वहने 'धाम्यानितक' रूप है, परामाणु वहने से गुजरने में जितना समय लगाती है उसे काल-परामणु कहते हैं, इत प्रकार वह प्रत्योक्त लगू होने जितना समय लगाती है उसे काल-परामणु कहते हैं, इत प्रकार वह प्रत्योक्त लगू होने

भ्रन्तर्गामिला स्व-रूप-भूतलेऽपि जीवेन सह कार्ये प्रवेशात् तद्-भेशानामानन्त्येऽपि
कारती-भूत-वश्यमाण-तत्त्व-शरीरे प्रविषय तत्-सहाय-करणात् कारण-कोटावेव
विवेशो न त स्व-रूप-कोटी । -वही, प० १६४-४ ।

एतस्यैव कपान्तर काल-कर्म-स्वभावाः कालस्यांश-भूतौ कर्म-स्वभावौ तत्र झन्तःसच्चि-धानन्दो व्यवहारै ईशस्सत्वांधेन प्रकटः काल इति कालस्य स्वरूप-लक्ष्मण् ।

<sup>-</sup>वही, पृ० १६४ ।

के कारण बाने विमाजित नहीं किया जा सकता । लचुतम काल की इकाइयों के संबाद से ही काल के दीर्थ विस्तार की उत्पत्ति होती है, क्योंकि काल एक ऐसा सर्व-व्यापी स्वरूप का पंची नहीं है, जिसका पंचा लचुतर काल की इकाइयाँ होती हैं।

'कर्म' सार्वमीम माना जाता है, वह इस या उस व्यक्ति के विशिष्ट कर्मों के विविध रूपों एवं विशिष्ट अवस्थाओं के रूप में ही अपनी अभिव्यक्ति करता है। वृंकि यह सार्वभीम 'कमें' ही विविध मानवों के विभिन्न कमीं के रूप में स्वयं को श्रमिन्यक करता है, इसलिए बारमन में स्थित एक प्रथक पदार्थ के रूप में 'श्रद्रध्ट' को मानना मनावरयक है, जो एक 'कर्म' के विनष्ट होने पर शेष रहता है भौर एक दूरस्य काल के परवात् उसके फल को प्रदान करता है, 'धर्म' एव 'अधर्म' को भी महस्वपूर्ख पदार्थों के रूप में स्वीकार करना बनावश्यक है, क्योंकि वे सब इस सर्वमीम 'कर्म' के प्रत्यय में समाविष्ट हो अते हैं जो स्वयं को विविध सवस्थाओं में विविध रूपों में प्रकट करता है। इस प्रकार 'वमें' एव 'अवमें' पदों का अनुप्रयोग केवल तार्किक मनिष्यंजना की विधि है, इस प्रकार वह इस तथ्य की व्याख्या करता है कि एक विधिष्ट कर्म कैसे 'ब्रह्ट्ट' की मध्यस्थता के बिना 'स्वर्ग' की उत्पत्ति कर सकता है, भाषवा कैसे एक व्यक्ति का 'कर्म' (पुत्रेष्टि 'यज्ञ') अन्य व्यक्ति भाषीत् पुत्र मे फल उत्पन्न कर सकता है। यह शास्त्रो द्वारा की गई व्याख्या की अवस्थाओं के द्वारा निर्धारित होता है कि एक 'कर्म' को उसके कर्ता एवं धन्य व्यक्तियों के सबंघ में अपने फलों की अभिव्यक्ति कैसे करनी चाहिए? एक फल की विशिष्ट केन्द्रों में विशिष्ट रूपों में उत्पत्ति का धर्य उसका विनाश न होकर उसका तोप होता है।

'स्वनाव' को एक पृषक् तत्व माना बाता है। उसका भी ईस्बर से तादात्मी-करण किया बाता है, उसका व्यापार ईस्बर की रूपका की सनुतरहा में निहित होता है। इसलिए उसकी परिमाण के परिखान के हेतु के क्य में की बाती है (परिखान-हेतुल तल-नक्षणम्), वह मांजीन होता है और सन्य सभी करकुमों से पूर्व धमनी मिनव्यक्ति माण करता है। किन्तु, ऐसे सूक्ष्म परिखाम हो सकते हैं जो पहले दिखाई नहीं देते, किन्तु जब में प्रकट होते हैं, तो में 'स्वमाव' के व्यापार की पूर्वपिका एकते हैं, सिसके बिना ने उत्तरम्म नहीं हो सकते थे। इसी से मठाईस 'तव्य' विकसित हुए हैं-उनको 'तव्य' कहा जाता है स्वॉफि में 'तृत' प्रचलि इंस्टर के दखरूप के होते हैं, इस

<sup>े</sup> तस्तलायां च विध-निषेच-प्रकारेण लौकिक त्रिवाण्तिः प्रवेशतीऽनिष्यंजन-गोग्या व्यापिका त्रिवेतिः एतेनैवाष्टरस्यान्यारम्-युक्तस्य निराहतं वैदिवस्यप् । एवंचापुर्वाष्ट्यस्यमाधिपर्वः एत्योशनेवोष्यते । ब्रतः साचारप्येऽपि कलस्यमापपरोने कर्म-नानात्वपिरयपि । दान-हिसादौ तु धर्मावयद्यि-प्रयोगोऽनिष्यंवकस्योपाधिना नाक्तः । —वहति ५० ६६--६ ।

प्रकार सकल 'तत्व' ईइवर की समित्र्यक्ति होते हैं। 'स्वमाव' की समिन्यक्ति में समाविष्ट कारएता एक विशिष्टत कारएता होती है जो एक निश्चित कारए। का धनुसरए। करती है और 'तत्वों' के विकासात्मक कम को उत्पन्न करती है, इस धर्म में वह ईश्वर की इच्छा की कारएाता से जिल्ल होती है, और केवल एक सामान्य रूप में कारण होती है। इन तत्वों में 'सत्व' वह है जो सुख एवं ज्ञान प्रकाशत्व-स्वरूप होने भीर सुख की भिन्यक्ति में बावक न होने के कारण जीवों में सुख एवं ज्ञान के प्रति ग्रसक्ति का कारए। बनता है। ' 'रजस्' वह है जो ग्रासक्ति-स्वरूप होने के कारए। जीवो में समिनिवेश सथवा कर्मों की इच्छा उत्पन्न करता है। 'तमस्' वह है जो जीवो में बृटियां, मालस्य, निद्रा मादि की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। उक्त 'गुणों' की सांख्य-मत एव वल्लम के मत (जो 'पचरात्र,' 'गीता' व 'मागवत' का मनुसरए। करता है, ऐसा माना जाता है) में बन्तर है। इस प्रकार, सांस्य के बनुसार, 'गुरा' स्वयं कियाशील होते हैं, किन्तू वे धमान्य हैं, क्योंकि इनसे स्वभावकाद और निरीव्वर-बाद की उत्पत्ति होगी। और न 'रजस्' की यह परिमाधा दी जा सकती है कि वह दुख स्वरूप है, क्योंकि प्रामाणिक बास्त्र उसके बासक्ति रूप होने का क्यन करते हैं। जब इन गुर्हों की ईश्वर से उत्पन्न होने की सकल्पना की जाती है तब वे ईश्वर की चिच्छक्ति-रूप एवं ग्रानन्द-रूप 'माया' के स्वरूप के माने जाते हैं। इन्हें (सत्व, रजस व तमस्को) 'माया' की उपज के रूप में 'माया' से एक रूप मानना चाहिए। श्रीर न ये 'पूरा' पदार्थ होते हैं, जैसाकि सांस्य द्वारा सकल्पित किया गया है, और न ये परस्पर समस्यारमक रूप में मिश्रित होते हैं, दरन् उनका सहयोग केवल 'पूरुष' के निर्माण के हेतु होता है। इस प्रकार, जैसे रुई भपना विस्तार तनुभी के रूप में करती है वैसे ही ईश्वर 'माया' के रूप में अपनी अभिव्यक्ति करता है। निर्मुं ए के कप में ईश्वर स्वयं ही अपने सर्व गुर्खों को उत्पन्न करता है, अपने सत्-अश में वह 'सत्व' को उत्पन्न करता है, अपने आनन्दांश में वह 'तमस्' को उत्पन्न करता है और भपने चिद्-भश में वह 'रजस्' को उत्पन्न करता है।"

'पुष्व' सववा 'सात्मन्' की परिमाचा तीन इष्टिकोशों से दी जा सकती है-उसकी सनादि, गूए-रहित, 'प्रकृति' के नियन्त्रक, एव सहसर्व के विषय के रूप में

मुखानावरकत्वे प्रकाशकत्वे सुखारमकरवे च सति सुखास्करपा ज्ञानासकरपा च देहिनो-देहाद्यासक्ति-जनकं सत्त्वम् ।

<sup>-&#</sup>x27;बनुसाध्य' पर टीका, पृ० १७०।

सरंबात् सावम्, प्रानन्वांशात् तमः चिदंशात् रथस् ।

<sup>-</sup>वही, पृ० १७२।

व संप्रत्यक्षनीय के रूप में परिभाषा की जा सकती है, उसकी केवल स्व-प्रकाशक के रूप में भी परिभाषा की वासकती है, और, पुनः, उसकी इस रूप में भी परिभाषा की जा सकती है कि वह यद्यपि जगत् के पुर्शो अथवा दोषों से वस्तुतः प्रमावित नही होता है, तथापि उनसे साहबर्य रकता है। एक स्व-प्रकाश व ब्रानन्दमय स्वरूप की ब्रात्म-सत्ता सर्व-प्रकार के विषयों के समाव में भी एक प्रकार की चेतना एवं सानन्द होते हैं, जैसाकि सुषुष्ति भवस्या में होते हैं। इस प्रकार चैतन्य ही भारमन् के यथार्थ स्वरूप का प्रतिनिधिस्व करता है, जो हमारे साधारण अनुभव में विविध प्रकार के सज्ञान से सम्बन्धित होता है और स्वय को ज्ञान के विषयो से परिसीमित करता है। 'पूरुष' एक है, यद्यपि वह मगवद की इच्छा के कारण 'माया' की आन्ति-जनक शक्ति के द्वारा मनेक के रूप में मासित होता है। इस प्रकार कर्ता एवं मोक्ता का पत्यय भ्रान्ति के कारए। उत्पन्न होता है। इसी कारए। से मोक्ष सम्भव होता है, क्योंकि यदि 'पुरुष' स्वमावतः स्वतन्त्र व मुक्त नहीं होता तो उसे किसी भी साधन से मुक्त करना सम्मव नहीं होगा । चुंकि 'पुरुव' स्वभावत: स्वतन्त्र होता है, इसीलिए जब वह एक बार मुक्त हो जाता है तब उसका फिर कोई बन्धन नहीं हो सकता। यदि बन्धन बाह्य प्रशुद्धताओं से साहचर्य के रूप का होता तो मोक्ष में भी किसी भी समय उक्त प्रशुद्धताध्रो से साहचर्य का फिर धवसर बना रहता, चूकि सर्व बन्धन व धमुद्धताए भ्रान्ति के कारण होते हैं इसलिए जब एक बार वह ट्रट जाता है तब फिर से किसी बंधन की कोई संभावना नहीं रहती। परन्तु 'प्रकृति' दा प्रकार की होती है-(भ्र) 'प्रज्ञान' से संवधित प्रकृति-जो विकासारमक कम का कारए। होती है, ग्रीर (व) ईश्वर में स्थित-'प्रकृति' जो ईश्वर ग्रथवा ब्रह्मन् में सर्व वस्तुग्रों को भारता करती है। 'जीव' सर्यवा प्रापचिक व्यक्ति 'पुरुष' का एक प्रश माना जाता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि 'पुरुष' के प्रत्यय का ब्रह्मन् के प्रत्यय से तादास्म्य होता है, इस कारए। से 'बीव' एक झोर तो 'पुरुष' का झश माना जा सकता है, झीर दूसरी झोर अविकारी ब्रह्मन् का झश माना जा सकता है। 'जीव' के विभिन्न प्रकार के बनुभव यद्यपि 'कर्म' से उत्पन्न प्रतीत होते हैं, तवापि वस्तुतः वे मगवद्-इच्छा से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि जिस किसी का भी ईववर उत्थान चाहता है, उससे वह सत्कर्म करवाता है, भौर जिस किसी का भी वह पतन चाहता है उससे वह असत्कर्म करवाता है। 'प्रकृति' अपने प्रमुख अर्थ में ब्रह्मन् से एक-रूप होती है, वह ब्रह्मन् का ऐसा

<sup>-</sup>बहो, पृ० १७५-६।

स्वरूप है विससे वह वगत् की शुष्टि करता है। विश्व प्रकार बहुनतू एक घोर सत्, वित् व मानव्द से एक-स्थ होता है, तथा इसरी घोर वह उनसे संबंधित माना जाता है, उसी प्रकार 'म्कृति' 'मूलों' का तादास्थ तथा उनकी स्वामित मानी वा सकती है। यही स्वरूप-मत्त की 'म्कृति' का सांस्थ-नत की 'म्कृति' से विभेद है। 'महत्' सादि सम्य तरव मूनाधिक सांस्थ-मलाली के मनुवार ही 'म्कृति' से विकसित होते हुए बाने वाते हैं, परन्तु 'जनस्' की एक 'इन्द्रिय' नहीं माना जाता।

#### प्रमाख

पुरुषोत्तम कहते हैं कि 'ज्ञान' धनेक प्रकार का होता है। इनमें से 'नित्य-ज्ञान' चार प्रकार का होता है-ईश्वर का स्वरूप जिसमें उसका सर्व सत्तामों से तादारूय होता है भीर वह 'मोक्ष-स्वरूप' होता है, उसके महानृव भद्र गुर्गों की भनिव्यक्ति, सृष्टि के प्रारम्भ में देदों के रूप में उसकी ब्रिमिब्यक्ति, ईश्वर के सकल क्रेय रूपो में शाब्दिक ज्ञान के रूप में उसकी श्रमिश्यक्ति । शाब्दिक ज्ञान में उसका रूप स्वयं को म्यक्तियों में अभिव्यक्त करता है, इसी कारण से शब्दों के साहचर्य के विना कोई ज्ञान नहीं हो सकता- गू गों में मी, जिनके वासी नहीं होती, संकेत होते हैं जो माया का स्थान लेते हैं। यह पाँचवे प्रकार का ज्ञान है। फिर, एक प्रकार का इन्द्रिय-ज्ञान होता है भीर चार प्रकार का मानसिक ज्ञान होता है। मानसिक "ज्ञान में वह क्वान जो 'मनस्' द्वारा उत्पन्न होता है 'संशय' कहलाता है, वनस् का व्यापार 'संकल्प' एवं 'विकल्प' होता है। 'बुद्धि' का व्यापार सशय का मतिकमरा करके निश्चय के रूप में ज्ञान को उत्पन्न करता है जो एक दोलायमान स्वरूप का होता है। स्वप्नो का ज्ञान ज्ञान से संबंधित 'ग्रहंकार' से उत्पन्न होता है। 'चित्त' सुबुष्ति की ग्रवस्था में बात्मन् का प्रत्यक्षीकरण करता है। इस प्रकार 'धन्तः करण' का चतुर्विष ज्ञान होता है, यह एवं इन्द्रिय-ज्ञान तथा पूर्व-कवित पाँच प्रकार के ज्ञान दस प्रकार के ज्ञान को निर्मित करते हैं। एक अन्य दृष्टिकोए। से 'काम,' 'सकत्य,' 'विचिकित्सा,' 'अद्वा,' 'मश्रदा,' 'बृति,' 'ब्रघृति,' 'ही,' 'घी,' 'भी' सभी मनस् होते हैं। सुख एव दु:स भी उसी में स्थित रहते हैं क्योंकि वे इन्द्रियों से संबंधित नही होते । ज्ञान कैवल तीन क्षाणों तक ही नहीं रकता, किन्तु तबतक बना रहता है जबतक कि उसका ज्ञान के प्रन्य विवयों के द्वारा अतिकमण नहीं हो जाता, और तब भी वह 'संस्कार' के रूप में शेष रहता है। यह इस तच्य से सिद्ध होता है कि 'मनस्' तब उसकी झोर झपना ध्यान निर्दिष्ट करता है तब वह उसे स्मृति में सोज सकता है, चुंकि मनस् सन्य विषयों में व्यस्त रहता है इसलिए उक्त ज्ञान की खोज नहीं की जा सकती। 'स्मृति' को उचित धम्यास से दृढ़ बनाया वा सकता है, तथा वस्तुओं का विस्मरल अयवा नृटिपूर्ण स्मर्ण विविध प्रकार के दोवों के कारण हो सकता है, इन उदाहरणों में भी जान का विनाश नहीं होता, बल्कि 'माया' के प्रमाव से वह बाइल रहता है।

'प्रमाराों' से संबंधित ज्ञान 'सात्विक' ज्ञान होता है, 'सस्व' का 'प्रमा' से साहबर्य होता है, धौर जब वह विलीन हो जाता है तब त्रृटि उत्पन्न होती है। 'प्रमा' की परिभाषा बवाधित-ज्ञान धयवा ऐसे ज्ञान के रूप में दी बाती है जो बाध-योग्य नहीं हो। 'जिस 'सत्व' के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है उसकी दृद्धि धनेक कारएों से हो सकती है, प्रयात् शास्त्रों, विषयों, जनता, देश, काल, जन्म, कर्म, ध्यान, मंत्रों, शुद्धी-कररण एवं संस्कारों से। 'सत्व' में जो ज्ञान प्रमुखतः प्रवल होता है वह यह प्रत्यय होता है कि एक सामान्य तत्व सर्वत्र विद्यमान है, केवल यही ज्ञान पूर्ण रूप से सत्य होता है। जो ज्ञान 'रजस्' से सम्बन्धित होता है वह पूर्शतः सत्य नही होता, यह वह ज्ञान होता है जो हम प्रपने साधारण प्रववा प्रत्यक्षात्मक वैज्ञानिक ज्ञान में प्राप्त करते हैं, जो त्रृटियों एवं संशोधन के योग्य होता है। यह "रजस' क्षान खपनी प्रयम धमिष्यक्ति के समय अपने स्वरूप में निविकल्पक होता है, जो हमें केवल वस्तुओं कै मस्तित्व का ज्ञान प्रदान करता है। पर, इस श्रवस्था में इन्द्रियों का विषयों पर प्रथम अनुप्रयोग होता है जो 'सस्व' गुल उत्पन्न करते हैं, तथा 'रजस' से कोई साहचये नहीं होता, इस कारण से उक्त निर्विकल्पक ज्ञान यद्यपि 'रजस्' ज्ञान का प्रारम्भ होता है तथापि वह 'सात्विक' माना जा सकता है। विशुद्ध इन्द्रिय-ज्ञान श्रवका संवेदन इन्द्रियों में घन्तर्निहित नही माना जाता । प्रथम तो इन्द्रिय-प्रक्रिया 'सत्व' को उत्पन्न करती है, अतएव इन्द्रियों के अनुप्रयोग से उत्पन्न प्राथमिक ज्ञान इन्द्रियों के विशिष्ट गुर्गो,-इष्टिक, श्रवसीय मादि का प्रवहन नहीं करता, बल्कि केवल भस्तिस्व काप्रवहन करता है जो किसी इन्द्रिय का विशिष्ट गुरा न होकर केवल 'सस्व' के स्वरूप को ग्रमिव्यक्ति होता है। ऐसा ज्ञान बच्चपि इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होता है तथापि उनमें स्थित नहीं होता। 'मनस्' के विकल्प के द्वारा ही शुद्ध सत् के रूप में यह ज्ञान इन्द्रिय-लक्ष्मणों के साहचर्य में विशिष्ट रूपों को ब्रह्ण करता है। उक्त क्यापार का अनुप्रयोग इतना इत होता है कि हमें उसका सरलता से बोध नहीं होता, भीर इस कारए। से हम प्राय: 'निर्विकल्पक' ज्ञान के पूर्वभ्रस्तित्व का पता लगाने में धसमधं रहते हैं।

सविकल्पक जान की दशा मे, चाहे वह घट के जान की भौति सरल हो, घषवा भूमि पर घट के जान की भौति बटिल हो, वही कियाबिथ होती है जिसमें पहले दिख्यों के द्वारा सन् का निर्विकल्पक होगा आता है, जो 'रवस' के बाद के भूमाय से नाम-च्य से सम्बण्यित हो जाता है, इन्दियों द्वारा प्रदत्त सन् ही दिख्यों के साहम्पर्य में 'रजस्' द्वारा सनुप्रों रित 'यन्त-करण्य' के प्रमाय से नाम-च्य में ध्रमध्यक्त

ग्रवाधित—'क्रानत्व' वात्र—योग्य-व्यतिरिक्तत्वं वा तल्लकासम् ।

<sup>-&#</sup>x27;प्रस्थानरत्नाकर' पृ० ६ ।

होता है। प्रस्थक में जिस सिद्धाल का मनुसरण किया बाता है यह नानात्व के क्य में ब्रह्म की बहायबीय सिम्यांक के सनुकर होता है, जिसमें निष्कुत बहुन स्वयनी रच्छा एमं विचार के हारा स्वय को सनेकता के रूप में प्रकट करता है, प्रस्थित वह सर्व काल में स्वयं में एक बना रहता है, प्रस्थीकरण की रखा में हान्या स्वयं प्राप्त मान मनुस्थान से खात्व में स्वयं के प्रशास के स्वयं के सहस्यं में हिम्माधील 'बनतःकरण' के 'एकस' तत्व के हारा नाम कर से सम्बन्धित हो बाता है। स्विकल्पक झान वो प्रकार काहोता है, विचार-इंदि 'बोर' 'बमुहालम्बन्दुर्ड, 'पूर्वोक का सर्व है सम्बन्धित कान ('लाठो लिए हुए एक मनुष्य'), तथा प्रवादक्त का स्वयं है सन्दुर्खों के समुद्ध के रूप में झान ('एक नाठो चीर एक पुस्तक') सत्त विचयां (यथा चट) का ज्ञान एक सम्बन्धित ज्ञान माना जाता है। ये सभी विचित्र प्रकार के से सिकल्पक झान बस्तुतः एक ही प्रकार के होते है, स्वयोंक वे सब इन्दियों डारा सत्त की समिव्यक्ति एवं 'बात-करण' डारा नान-कर के प्ररोपण के स्वयं हारा का हत ही है स्वयं कि हत है हम स्वयं कि सह स्वयं हारा सत्त हो हो है, स्वयं कि वह इन्दियों डारा सत्त की समिव्यक्ति एवं 'बात-करण' डारा नान-कर के प्ररोपण के सरक काला सारा में निहत होते हैं।

एक झन्य इंटिटकोस्स से सिवकल्पक ज्ञान पाँच प्रकार का हो सकता है,-(१) संबाय (२) विषयास, (३) निवचय, (४) स्मृति स्रोर (१) स्वरूप।

'सम्रय' की परिवाद्या एक ही विषय में दो वा स्रोक विरोधी धर्मों के ज्ञान के पर क्या में की जाती है (एकस्मिन धर्मिण विषय-गाना-कोट्य-स्वयाहि ज्ञान स्वयम्)। 'बलदेव' की परिवाद हाईट्यों के सम्बन्ध में जो विषय है उनमें मिल्र बाग्र विषयों के ज्ञान-क्य में की जाती है। 'निक्स्य' का स्वयम् जा सम्बन्ध का सम्बन्ध का का का का का का स्त्रीत के विवाद के स्त्रीत के ज्ञान (प्रतुप्त ) का स्मर्थ सदा एक विषय का त्रयंशीकरण होता है ज्ञाक क्ष्मिल केवल साम्ध्यारिक होती है बच्चित स्त्रम का त्रयंशीकरण होता है उनका सम्बन्ध का त्रयंशीकरण, प्रतुप्त केवल स्त्रम्यार्थ के ज्ञान के ज्ञान के स्त्रान के स्त्रान

यह मम्बक् ज्ञान वो प्रकार का हो सकता है-प्रत्यक्ष धार गरीका । प्रत्यक्ष हांद्रय भीर उसके विषय के सन् सम्बक्त के उत्पक्ष होता है (इंद्रियायं-मृत-सम्प्रद्योग-मृत्य-ज्ञानम्) ! स्मृति की परिभाषा एक ऐसे ज्ञान के रूप में की जानी है जो न निदा से भीर न बाधु विषयों के उत्पक्त होता है, बॉल्क पूर्व सस्कारों से उत्पक्त होता है, जो पूर्व ज्ञान के सूक्त सस्तित्व में निहित होते हैं। स्वनानुषव विशिष्ट पृष्टि होने हैं, सत्तर्य साधारण सनुमाव के वस्तु ज्ञान से उनका विभेद किया ज्ञाना चाहित, वे देवरद डारा 'स्वाप' में निर्मित किये नाते हैं। वस्तुतः यह मण्ड के मत से मिल्ल होते हैं स्वार स्वत्य इत्तर स्वाप्त के स्वार के मिल्ल होते हैं स्वार स्वत्य इत्तर स्वाप्त के स्वत्य होता स्वाप्त स्व

१ प्रस्थानरत्नाकर, वृ० २०।

माने जाने चाहिए, वे विचार द्वारा उत्पन्न भ्रम-मात्र होते हैं। वल्लम के मनुसार स्वप्नानुभव सृष्टि होने के कारण उनके ज्ञान को सी यदार्च मानना चाहिए। सुपुष्ति स्वप्नानुमवों की एक जाति-विशेष होती है जिसमें बात्मम् स्वय को श्रीभव्यक्त करता है (तत्र ग्रास्म-स्फुरसांतुस्वतस्व)। चिन्तन (संकल्पयाविकल्पके रूप में, ग्रथवा अन्वय व्यक्तिरेक विधि के द्वारा, अथवा मानसिक संशय अथवा ध्यान के रूप में) का स्मृति के अन्तर्गत समावेश किया जाता है। लज्जा मय (ही, मी) भादि भहंकार के क्यापार हैं ज्ञानात्मक बुत्तियों के नहीं । प्रत्यमित्रा को सम्यक् ज्ञान (निश्चय) माना जाता है। भ्रम्यास-जन्य हढ़ ज्ञान की दशा में तो पूर्वानुभव-संस्कार 'सहकारी' के रूप में कार्य करते हैं भीर प्रत्यभिज्ञा की दशा में स्मृति 'सहकारिएगी' के रूप में कार्य करती है। इस प्रकार प्रत्यिभन्ना स्मृति के कारण उत्पन्न मानी जाती है, पूर्वानुमव-संस्कार के कारए। नहीं। इस अधिमान्यता का कारए। यह है कि यद्यपि प्रत्यमित्रा में पूर्वा-नुमव-संस्कार की प्रक्रिया होती है तथापि स्मृति का व्यापार उसमे प्रत्यक्ष सहायता प्रदान करता है। प्रस्यमित्राकास्मृति से यह ग्रन्तर है कि जहाँ पदवादुक्तः पूर्वानुभव-सस्कारों से अपरोक्ष रूप में उत्पन्न होती है, वहाँ पूर्वोक्त वर्तमान प्रत्यक्षीकरण के साहचर्य में स्मृति की प्रक्रिया से अपरोक्ष रूप में तथा पूर्वीनुमव-संस्कारों की प्रक्रिया से परोक्ष रूप में उत्पन्न होती है।

प्रभा गय अस से विभेद इस नच्या से निहित है कि पश्चाद्वक से पूर्वोक्त से कुछ स्थिक होता है, इस प्रभार धुक्ति-रजत के उदाहरण में प्रभा धुक्ति के अरखकीकरण में निहित होती है, किन्तु मिया जात जस पर माने रजत के भारपेश हैं। तिहत होता है, इस श्रीतिरक्त जल ही से अस निहित होता है। "कुछ ऐसे जसहरण हो वक्ते हैं वो भागत: सत्य होते हैं भीर क्षत्रत: मिय्या होते हैं तथा दनमें प्रभा की प्रवस्ता होने अपना तहीं मुझ्या जात के सत्य सचया निष्या कहा जा सकता है। पुरुषोत्तम की इस क्सीटी के भनुसार जात के सत्य भाषणा निष्या कहा जा सकता है। पुरुषोत्तम की इस क्सीटी के भनुसार जियकता, कता-प्रथम प्रतिक्सणों में अरखकीकरण में प्रभा की अवनता होती है क्योंकि वे भनुकरण के डारा ऐसे मानव

भ प्रभास-तन्ये हद-प्रतीति-रूपे जाने यथा पूर्वानुष्य-सस्कारः सहकारी तथा प्रत्यमिकार्या स्पृतिः सहकारिग्गी, विशेषस्तावन्त्वेदक-प्रकारक तिक्ववार्यं तस्या प्रवस्यप्य- येकसात् । प्रतो यथाऽनुद्वाहकांतर-प्रवेशेऽपि यथार्थानुभवस्वानपायस्याकार्यं निक्चय-रूप तथा स्मृत्या विषयेग् च पूर्व-स्थित-ज्ञानस्योहेपन्तत् प्रत्यमिकाऽपि इति हेवस् । — वहीं पूर्व-स्थित-ज्ञानस्योहेपन्तत् प्रत्यमिकाऽपि इति हेवस्

भ्रम-प्रमा-समूहालम्बन तु, एक-देश-विकृतमनन्यवद् भवतीति न्यायेन भ्रमाधिक्ये विपर्याति । प्रमाधिक्ये च निरुवयः।

<sup>-&#</sup>x27;प्रस्थानरत्नाकर,' पू० २४--२६।

को उत्पन्न करते हैं वो उन वास्तविक विषयों द्वारा उत्पन्न किया वा सकता था-जिनका उन्होंने बनुकरण किया है।

पुरुषोत्तम 'करए।' एव 'कारए।' में विभेद करते हैं। 'करए।' उत्पन्न किए जाने वाले कार्यों के गतिशील कर्ता से सम्बन्धित एक असाधारस कर्ता होता है (अयापार-बदसाधारए। म्), 'कारए।' शक्ति का वह बाबार होता है जो बाकृतियों के बाविर्माव एवं तिरोमाव को उत्पन्न कर सके (बाविर्माव-शक्त्याधारत्वं कारहात्वम्)। वह जो विशेष बाकृतियों को उत्पन्न करता है, बचवा कुछ बाकृतियों के तिरोमाव के लिए कार्य करता है, उसे कमशः उनका कारए। माना जाता है, इसलिए वह शक्ति जो एक उपादान कारए। के कार्यों को हमारे व्यवहार के लिये अभिव्यक्त कर सकती है, उसे उक्त कार्य का 'बाबिर्माव-कारता' माना जाता है। 'बाबिर्माव' वस्तुमों का वह पक्ष होता है जिसके द्वारा अथवा जिसके कारण उनका अनुभव किया जा सके अथवा वे व्यवहार योग्य वन सकें, और उसका समाव 'तिरोमाव' कहलाता है। उक्त माविर्माव एवं तिरोमाव की शक्तियां प्रधान रूप से ईश्वर में होती हैं, तथा गौरा रूप से उन विषयों में होती हैं जिनके साथ उसने उन्हें विशिष्ट रूपों में सम्बन्धित किया है। 'कार्य-नियत-पूर्व-हत्ति' के रूप में कारण की नैयायिक परिभाषा को धर्वेश माना जाता है क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय-दोष का समावेश होता है। कार्य के सम्बन्ध में नियत पूर्वता में कारएता के प्रस्थय का समावेश होता है और कारएता में निरुपाधिकता का समावेश होता है।

कारएण वो प्रकार का होता है-नाहार-प्य (इसे 'प्यमवाल' मी कहा जाता है) भ्रांप निमित्त । पर कर ताहार-य में नेदानेद के प्रप्य क मानवेच होता है, जिसमें भ्रेष धमेद के एक प्रकार के रूप में प्रतीत होता है, धीर धमेद को कारएजा का सार-तत्व माना जाना चाहिए। पुश्चीतम हम्य एव पुरु के प्रत्य का परित्याग करते हैं, विसक्तें प्रमानवार्य के सावन्य के सावार पर व्यावमा की जाती है, धीर जिवकें हम्य को गुए का कारएण माना जाता है, एक पुरु हम्य के समकातीन धमित्यारित मान होता है, धीर प्रचारक को सुवीत का तहीं मान जा तकता। 'उपादान कारएज प्रमान जाता है, परित्य प्रचार का कारएज का प्रयाद के सावार का स्थाप के स्थापर के क्या में प्रतिवर्तनवीताता), धीर परिवर्तनवीत (चया, मट धादि में मृत्यिका की धमित्यर्तनवीताता), धीर परिवर्तनवीत (चया, मट धादि में मृत्यिका की धमित्यर्तनवीताता), धीर परिवर्तनवीत (चया, मट धादि में मृत्यिका की धमित्यर्तनवीताता), धीर परिवर्तनवीत (चया, मित्यस्य प्रवर्वों का संयोध

उपादानस्य कार्यं या व्यवहार-नोचरं करोति सा शक्तिराविकां।
 ग्राविमीवक्च व्यवहार-योग्यत्वम् ।
 तिरोनावक्च तदयोग्यत्वम् ।

<sup>–</sup>वही, पृ०२६।

सबबा उनकी बति को एक पृथक् कारण नहीं याना बाता है, वैसाकि नैयायिकों द्वारा सामा बाता है, वरन् उसे उपादान कारण का एक माग याना बाता है।

एक 'हेर्नु' के स्वरूप को निर्वारित करने वाली व्याप्ति का स्वरूप दो प्रकार का होता है-'वान्यमं बीर 'व्यतिर्क'। 'वान्य' का वार्ष है एक तत्व का ऐसा भावान्यत कि केवन उदके सत्व है ही (उनके साद उदिस्त्य प्रकेत निर्दर्गक तत्वों प्रवत्ता उपाधियों के मध्य में) कार्य उत्पन्न होता है।' व्यतिरक' का प्रयं है उत्य तत्व का धमाव जिसमें कार्यानाव का समावेश होता है, धर्वात् वह तत्व जो कार्य के समाव में धनुपत्थित रहता है (कार्यातिरकेशानवस्थानम्)। कार्याता का व्यापार वह व्यापार होता है वो कारण एव कार्य के मध्य एक कही के रूप में प्रतिन्य प्रकात है, इस प्रकार इन्द्रियार्थ-सन्तिकर्थ का गतिशीन कारण इन्द्रियों का व्यापार होता है। इंश्वर की इच्छा के उदाहरण में वनत्व की उत्पत्ति के लिए किसी गत्यात्यक व्यापार को धनिवार्थ ने मीं माना वाला।

'प्रस्थक-प्रमाण' की परिमाणा विज्ञान प्रकार के प्रस्थकीकरणों के धनुमव इंग्डिय-वाक्तियों के धनुसार की जाती हैं। इस प्रकार छः 'प्रमाण' होते हैं, प्रयांत् इंग्डिय-संबंधी, स्वसं-संबंधी, प्रस-संबंधी, अवस्थ-संबंधी, प्रायः-संबंधी प्रकार के प्रहेट-स्वर के विवरीत यहाँ मनन् को एक इंग्डिय-बंधिक माना पाता है। सर्व शक्तियों परमाण्यीय स्वरूप की मानी जाती हैं। इस्थेग्निय रूप का प्रस्थक तभी कर सकती है जब एक 'प्रमिथ्यक्ति रूप' (उद्भूत-रूपवस्व) होता है, प्रेतों के परमाणु इंग्डिय-पोषर नहीं होते क्योंकि उनका कोई उद्भूत रूप नहीं होता। इस्तिए विज्ञान इंग्डिय डारा सर्व इंग्डिय मुखों के प्रस्थकीकरण के लिए इमें यह मानना पहता है कि स्वर्ध गण्य प्रारं इंग्डिय-मुखों के प्रस्थकीकरण के लिए उक्त गुण उद्भूत होने चाहिए।

संकर के सहैतवादी नेवांत के समान यहाँ तमस् (संबकार) को एक पृषक् तत्व माना जाता है न कि प्रकाश का प्रमास मात्र माना बाता है। दस्ये समाय को जस सामय के प्रवास के स्वास के स्वास के स्वास के स्वास के सामय के प्रवास के स्वास के स्वास के सामय के प्रवास के सामय के प्रवास के सामय के सामय के प्रवास किया तिरोमांव के संबंध में प्रकट होता है। इस प्रकार एक घट के प्रागमांव के उदाहरण में उस उपाया का कारण को ही घट का प्रागमांव माना बाता है वो घट के सामित्रक से सहायक होता है। "अवसामाव" के उदाहरण में वह कारण घट के विदोमांव में सहायक होता है, और इस प्रकार उन विशेष पुण के संबंधित होता है कि व्यंतामांव माना जाता है। इस प्रकार समाय के प्रयास का

तत्र स्व-स्व-ब्याप्येतर-वाबत्कारख-सत्त्वे यत्सत्त्वे झवस्यं वत्सत्त्वमन्वयः ।

कारता के प्रत्यव में समावेश किया जाता है, अतः धमाव 'समवायिकारता' का एक विशिष्ट प्रकार है, धीर इसलिए उसका उससे तादारम्य होता है।

वस्तकों के दृष्टि-प्रत्यक्ष की विधि के सबंध में सांस्य और वेदांत एक 'इसि' की उपस्थित को स्वीकार करते हैं ('इति' का अर्थ मानसिक अवस्था होता है) जब एक बस्तु की छोर देखकर हम अपनी झाँखों को अंद कर लेते हैं, तब उस विषय की एक पश्चात्-प्रतिमा का उदय होता है। यह पश्चात् प्रतिमा स्वयं उस विषय में स्थित नहीं हो सकती, क्योंकि हमारी बाँखें बन्द होती हैं. वह 'बहकार' अववा 'बुद्धि' में स्थित होनी चाहिए। सांस्थ और वेदांत के द्वारा यह माना जाता है कि उक्त 'इति' निकट एवं सदर बाह्य विषयों तक जाती है और इस प्रकार 'बुढि' एवं विषय में एक संबंध को स्थापित करती है। सहज ही यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि उक्त 'दृत्ति' एक द्रव्य नहीं होती अतएव वह दूर-दूर सक गमन नहीं कर सकती। सांख्य और वेदांत यह प्रत्युत्तर देने हैं कि चुकि ऐसा गमन प्रत्यक्षी-करण के तथ्यो द्वारा सिद्ध होता है इसलिए हमें उसे स्वीकार करना पडता है. ऐसा कोई नियम नहीं है कि केवल अस्तिस्ववान द्रव्य ही गमन करने की योग्यता रखते है, भीर हुव्य के धमाव में कोई गमन नहीं होना चाहिए। किन्तु मैयायिकों का मत है कि कुछ किरसों बाँसों से विकीसां होती है और विषय तक जाती हैं, जिससे 'मनस' एवं 'बात्मन्' के साहचयं में डन्द्रिय-सन्तिकवं उत्पन्त होता है और फलतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है, इसलिए वे एक प्रयक्ष 'हल्ति' के शस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। किन्तु पुरुषोत्तम 'हित्त' को स्वीकार करते हैं, पर उसी रूप में नही जिस रूप में वेदांती और सांस्य स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार यह 'इसि' 'बृद्धि' की एक अवस्था होती है जो काल-तस्य के द्वारा उत्पन्न की जाती है और जिसके 'सत्य' गुगा की प्रबलता को भ्रमिक्यक्त किया है। इस प्रकार काल को 'बद्धि' में स्थित एक तस्व के रूप में स्वीकार किया जाता है, न कि इन्द्रियों में स्थित तत्व के रूप में जैसाकि शंकर के बेदान्त में माना जाना है ('वेदान्त परिमाया मे धर्म राजा-ध्वरन्द्रि द्वारा की गई व्याख्या के बनुसार)। उनके बनुसार काल का कोई वर्ग नहीं होता, किन्तु फिर भी उसको दृश्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है। किन्त पृश्योत्तम के धनुसार काल बुद्धि का एक निर्धारक होता है, तथा धन्य उपसाधनों सहित मानसिक प्रकाश के लिए उत्तरदायी होता है, वे झागे कहते हैं कि विषय से उत्पन्न किरसों नेत्र-गोलक का वेधन करती हैं और उसमें कतियय संस्कारों को उत्पन्न करती हैं जो नेत्र के बंद होने के कारण किरणों के इक जाने पर भी क्षेत्र रहते हैं। ये नेश-पटल-गत संस्कार 'सत्व-गूरा' की अभिव्यक्ति रूपिसी 'बृद्धि' में प्रकाश की उत्पत्ति के उपसाधन होते हैं।" इस प्रकार 'बुलि' 'बुढि' की एक श्रवस्था होती है ।

उक्त सन्तिकवं-जन्यमपि सविकल्पकं ज्ञानं चक्षुवादि-मेदेन बुद्धि-बृस्था जन्यत इति

सुक्ति-रवत के मिन्या प्रत्यक्ष में यह माना काता है कि 'रवम्' की शक्ति के पूर्वकाल में समुद्रा रवत के संस्कार प्रत्यक्षीकरण के विषय पर सारोपित हो जाते हैं, तथा 'तमम्' के हारा सुक्ति का स्वरूप साम्ब्रादित हो जाता है, इस प्रकार एक सुक्ति का रखत के रूप में प्रत्यक्षीकरण होता है।

निर्विकल्पक ज्ञान, उस धवस्था में उदित होता है, जब 'शुद्ध' इन्द्रिय-प्रक्रिया के प्राथमिक क्षरा में सिक्ष्य होती है, धीर वह सविकल्पक तब बनता है जब इन्द्रिय-शक्ति के साहयस में 'शुक्त' के रूप में बुद्धि रूपान्तरित होती है। यद्यि एक 'शुक्ति' के द्वय होने पर पूर्व 'शुक्ति' तिरोहित हो जाती है तथापि वह 'शंस्कार' के रूप में बनी रहती है, जब में 'संस्कार' वाद में विधिष्ट कारखो घयबा धवस्थाओं के हारा जायत किए जाते हैं, तब हममें स्कृति उत्पन्न होती है।

किन्तु ईश्वर-साक्षारकार साथारण प्रथमीकरण से उत्पन्न नहीं होता। ईश्वर के स्वरूप का साक्षारकार केवन उसके धनुष्ठह से प्राप्त किया जा सकता है, जो सर्व-मुत्तों में 'भाकि' का बीज होता है, व्यक्ति में यह धनुष्ठह प्रक्ति के रूप में धामित्रयक्त होता है।'

"प्रमारा" के रूप में 'धनुमान' की यह परिचाया दी वाती है कि वह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा प्रमावभानी जान प्राप्त किया जाता है, दूसरे शब्दों में सदुमान वह जान है नो एक सन्य ज्ञान के मान्यम ने प्राप्त किया जाता है, भीर ही, यह प्रक्रिया 'स्थापित-सान' से प्रमायित होनी हैं। "व्याप्ति" का सर्व है 'वास्प' में शुट्टें'

बृत्तिविचायंते । तत्र नेत्र-निनीलने कृते बहिद् ध्ट-पदार्थस्येव किश्वदाकारां नेत्रा-न्तर्मासते । सः भाकारो न बाह्य-वस्तुनः । याध्ययमतिहास तत्र तस्यावस्थ-वचनत्यात् । स्रतः सः स्रान्तरस्यैव कस्यचन प्रवितुमहंतीतिः......

या बुद्ध-वृत्तिः सस्काराभानद्यायं वस्यतैतित्रच्यते सा वृत्तिकुंद्वेयं तस्वास्तरं नाध्यतःकरण् परिखामानपरः । किन्तु बुद्ध-तस्वस्य काल-बुष्य सस्वादि पुण- क्रितोत्रस्या विवेदेव । नव तध्यतस्या विवेदेवं निर्मयामावेन विध्यतस्यात्रित्वं विवेद्यस्यात्रेत्वं तद्यस्यात्रस्य विद्यतस्यात्रः विद्यतस्यात् । व्यत्यकारकत्व वृत्तेदुं वंटत्वमिति शक्यम् । माया गुणस्य रत्य-तस्यस्यत्वेत विद्येपक्षत्येन च वर्षणे नुबस्येव नेत्र-मोलकेऽपि बाह्य विषयाकार समर्यण्-तदाकारस्य सुष्यत्यताः । स एवं मायिक स्राकारो नयन किरणेषु नेत्र-वृद्धणे प्रत्यावृत्तेषु मोनकान्तरपुत्रुपति ।

—स्यानरात्माकरः ९० १२३—१४ ।

व वरखं चातुष्ठहः। स च धर्मान्तरमेव, न तु फलाविष्टा। सस्यातुष्ठहिमिच्छामीति-वावयात्। स च म्रात्त-बीव-मूतः। म्रातो मक्स्या माममिजवानाति मक्स्या त्वनस्या सवयः मक्स्याङ्क्षेकया बाह्य इत्याविषु न विरोवः। —वही, पृ० १३७।

का निक्सायिक श्रास्तर, प्रयांत् बहाँ-बहाँ एक हितुं होता है, वहाँ-बहाँ एक 'वास्थ' होता है, और वहाँ-बहाँ 'वास्थ' का समाय होता है, वहाँ-बहाँ हेतु 'का समाय होता है, 'हेतु' यह होता है विसके हारा हर एक सनुनान में समसर होते हैं, और 'वास्थ' स्थाइति प्रयथा निषेत्र होता है। 'वास्थ-प्रयय-कृष' का सनुस्राध करते हुए पुरुवोत्तम कहते हैं कि, वब एक गुण स्वयना वर्ष का एक निक्सायिक स्रस्तित्व होता है, तब उनमे परस्पर समया एक्सीय स्थापित होती है, या 'हेतु' के बृत्त को 'वास्थ' के बृत्त के संपात होता है, तब 'वास्थ-स्थापित' होती है, भीर जब 'हेतु' का बृत्त 'वास्थ' के बत्त के सम्यांत होता है, तब 'विषय-स्थापित' होती है।'

पुरुषोत्तम 'केवलान्वथि' प्रकार के सनुषार को स्वीकार नहीं करते, क्यों कि बहुत में 'खाम्ब' का समाब होता है। यह सागरित सर्वेष हैं कि उक्त परित्तावा ऐसे सनुमान के उवाहरण (विसर्वे कोई समावारक स्वताएं उपसब्ध नहीं होती) में लागू मही होती, अर्थात, यह सान है, क्षेण कहानू न तो बेख है सीर न परितावा-योग्य है। एक विषय एक क्य में बेब होने पर जी सम्य क्य में क्यावित बेब न हो। सतः उपरोक्त सनुमान में भी समावारक उवाहरण उपलब्ध होते हैं, इसलिए 'केवलान्वविं प्रकार के सनुमान को न्वीकार नहीं किया जा सकता, अबही यह पान जाता है कि स्वाचित का निर्वारण केवल सन्वय के डारा ही किया जाना वाहिए।"

जब 'ताध्य' के साथ 'हेतु' का समानाधिकरण्य एक धयवा प्रनेक उदाहरणों में देखा जाता है, तब उससे प्रांगिक सरकारों की जायित हो जाती है और उनके द्वारा समिनायें समानाधिकरण्य की स्मृति का उदय होता है, तथा तदनुसार 'हेतु' द्वारा 'खाध्य' का निर्वार्थ होता है। जब हम रसोहें में विह्न एवं भूत्र का सह-प्रसिद्ध देखते हैं, तब पूच एवं बह्नि का धर्मनाधिकरण्य जात होता है, तरवष्यात् जब पर्यंत में पूच्य देखा तहा है और बह्नि के साथ पूच्य के सरानाधिकरण्य का समरण स्वार्थ काता है, वह पूच्य के साथ पूच्य के सरानाधिकरण्य का समरण स्वार्थ काता है, वह पूच्य में हम स्वार्थ काता है। पूच्योत्म को 'समुनित' का कारण होता है। पुच्योत्म वो प्रकार के 'समुनाव' को स्वीकार करते हैं, स्ववंत् , 'केवस-व्यतिक्क 'बहु मावासका' वो प्रकार के 'समुनाव' को स्वीकार करते हैं, स्ववंत्, 'केवस-व्यतिक्क 'बहु मावासका'

तियत-वर्ष-साहित्ये उत्रवोरेकतरस्य वा व्याप्तिरितः । उत्रवोः समव्याप्तिकयोः कृतकत्वानित्यत्वादि-क्यवोरेकतरस्य विषय-व्याप्तिकस्य धूमार्टीनयत-धर्म-साहित्ये प्र-व्यामिषरित-वर्ष-कर्षे सामानाधिकरच्ये व्याप्तिः ।

<sup>—</sup>प्रस्थानरत्नाकर, पृ० १३६-४० ।

सर्वप्रापि केनचिद् क्येल हेयत्वादि-सत्वेऽपि क्यान्तरेल तदमावस्य सर्वजनीनत्वाच्य
केवलान्वयि-साच्यकानुमानस्वैदामावात् ।

—सही, पृ० १४१ ।

उदाहरण उपलब्ध नहीं होते हैं भीर व्याप्ति केवल सनाव के हारा होती है, तथा 'सम्बय-व्यक्तिरेक' नहीं व्याप्ति को सन्वय-व्यक्तिरेक की संयुक्त प्रखाली के द्वारा झात किया जाता है।

सनुमान के द्वारा प्रम्य स्पक्तिमों को हड़ता से मनवाने के लिए सांचारसात: शंच तक-वास्त्यों को स्वीकार किया बाता है, वे हैं 'प्रतिका', तेषुत, 'उदाहरएए', 'उपनय', प्रोर 'निममन'। इस प्रकार 'पर्वत विद्याना है, 'प्रतिका' है, 'पृष्ठि वह पुक्रवान हैं तेषु है, 'यवा रतोई-सर में 'उदाहरएए' है, को-को पुक्रवान होता है वह-वह विद्वाना को प्रकान नहीं होता वह-वह विद्वाना नहीं होता 'उपनय' है, 'स्तिलए सभी तो पुक्र दण्टिगोचर होता है वह भी विद्वा है नम्बन्धित है 'तिमपन' है। किन्तु स्तको पुक्रव तक-वास्त्य मानने की स्वावयकता नहीं है, वे एक हो संदित्तव दके-वास्त्य के स्वयय है।' किन्तु वस्तुता पुक्शोतम इन तीन को स्विमाग्यता देते हैं, स्वर्गत, प्रतिका,' हेत्' सीर 'एटान्त'।

पुरुषोत्तम 'उपमान' सबवा धनुपत्तिव को पुरुष 'प्रमाण' नहीं मानते । 'उपमान' वह 'प्रमाण' होता है जिसके हारा ऐसे दो विवयों की समस्थात हां में साम के तिल हारा ऐसे दो विवयों की समस्थात का पूर्व काल में तिनमें से एक काल होता है, इसे अन्य को तब कात करने में समयं बनाता है जब हम उसको देखते है, इस प्रकार एक मनुष्य जो एक मैव को नहीं जानता, किन्तु जिसे यह बता दिया जाता है कि मैस देखने में गाय के समान होती है, मैव को बन में देखता है भीर उसे मैस के कम में कात करता है। उसका दर्शन होते ही उसे समरण होता है कि एक मैस ऐसा पह होता है जो देखने में माय के समान होता है, भीर इस प्रकार वह जान जाता है कि वह एक मैस है। यहाँ समस्थता को स्मृति की सहायता से प्रयक्ष उक्त यह के एक मैस हो को स्वतीय को प्रयक्ष उक्त यह के एक मैस हो कर स्वतीय को स्वताय होता है, भार स्व

पार्थसारची मिश्र की मीति पुरुषोत्तम भी 'ध्यांपत्ति' को एक पृथक् 'प्रमाण' मानते हैं। इस 'अपार्थित' का अनुमान से विभेद करना चाहिए। इसका एक विधिष्ट उराहरण यह दिया जा सकता है कि हम जब एक ब्यक्ति को घर में नहीं पाते हैं तब यह मान सेते हैं कि उसका घर के बाहर अस्तित्व है, एक जीपित व्यक्ति की बर में प्रमुपस्थिति के जान से कारण एवं कार्य के क्य में संबंधित नहीं होता, धौर फिर मी से समझालिक होते हैं। जीपित ब्यक्ति की चर के बाहर उपस्थिति की मामजा के आधार पर ही चर में उसके प्रमाय की आधार पर ही चर में उसके प्रमाय की आधार पर ही चर में उसके प्रमाय की बाहर उसके प्रस्ताव के प्रमाय को में प्रिरंत

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> वही, पृ० १४३।

करता है। अन्तिविरोग ही हमें झात तच्य से श्रञ्जात की सोर प्रवृत्त करता है, अवएव वह एक पृथक् 'प्रमारा' नाना जाता है।

पुरुषोत्तम का मत है कि ऐसे कुछ उदाहर हों में वहाँ जान स्मृति के सहायक प्रमाब से उत्पन्न होता है उसकी प्रामाणिकता स्वतः स्मृतं नहीं होती वरन् उसे केवल परियोगक सावनों से ही प्रान्त काता है, जबकि सन्य ऐसे उदाहर छा हो सकते हैं वहाँ जान स्वतः प्रामाण्य हो सकता है।

#### मक्ति का प्रत्यय

मध्य, बल्लभ एवं जीव गोस्वामी सभी 'मागवत-पुराएए' के ऋरूगी में भौद उसके प्रति प्रत्यधिक श्रद्धा रखते वे, मध्व ने 'भागवत-तात्पर्य' लिखा, जीव गोस्वामी ने 'षट्-संदर्भ' ग्रीर वल्लम ने न केवल 'भागवत' पर एक टीका ('सुबोधिनी') लिली, वरन 'मागवत' के उपदेशों पर आधारित स्वय अपनी 'कारिकाओं' पर भी एक टीका ('प्रकाश') 'तत्वदीपिका' लिखी। 'तत्वदीपिका' चार ग्रन्थो से निर्मित है-'बास्त्रायं निरूपरा.' चार बज्यायों का 'सर्व-निर्शय.' 'प्रमारा' 'प्रमेयफल' ग्रीर 'साबना' जिनमें से प्रथम में ८३ ब्लोक हैं, दूसरे में १०० ब्लोक हैं, तीसरे में ११० तथा जीये में ३५ बलोक है। १८३७ बलोकों के तीसरे ग्रन्थ में 'मागवत-पूरागा' के द्वादश 'स्कन्धो' पर विचार अयक्त किए गए है। चौथा ग्रन्थ, जिसमे 'मिक्ति' का विवेचन किया गया था केवल बाशिक रूप में ही उपलब्ध हैं। इस ग्रन्तिम ग्रन्थ पर दो टीकाए है, कल्याग्रराज द्वारा रचित 'निवन्ध-टिप्पम् ' और एक गोत्धुलाल (जिन्हे बालकुष्णा मी कहते हैं) द्वारा रचित टीका। 'कारिकाम्रो' पर 'प्रकाश' नामक टीका की, परन्तु प्रस्तुत लेखक को वह सम्पूर्ण रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है। 'तत्वदीपिका' के अनुसार 'गीता' ही एकमात्र 'शास्त्र' है, जिसे स्वय भगवान ने गाया है, एकमात्र ईश्वर देवकी-सुत क्रुब्ए है, 'मत्र' केवल उसके नाम है, स्रीर एक मात्र कमें ईश्वर-सेवा है, बेद, कृष्ण के बचन (जिनसे 'स्मृतिया' निर्मित हैं). क्यास के 'सूत्र' तथा व्यास द्वारा जनकी व्याख्याए (जिनसे 'मागवत' निर्मित है), उनके चार 'प्रमारग' हैं। यदि वेदों के सम्बन्ध में कोई सशय हो तो उनका कृष्ण के बचनो से हल हो जाता है, पदचादक्त के सम्बन्ध में सवयों की व्याख्या 'सुत्रों' से हो जाती है, तथा 'व्यास-सूत्रो' से सम्बन्ध की कठिनाइयो की व्यास्था 'भागवत' के द्वारा की जानी चाहिए। जहाँ तक मनु एवं धन्य 'स्मृतियां' का सम्बन्ध है, उनमें से केवल उतना ही भश प्रामाशिक है जो उपरोक्त से सगत है, किन्तु यदि वे किसी माग में विरोध-बस्त हैं तो उन्हे बन्नामाणिक समक्षना चाहिए। का यथार्थ उद्देश्य हरि-भक्ति है, तथा जो जानी पुरुष भक्ति का अनुसरण करता है बह सर्वोत्तम है, फिर भी कई ऐसे विचार तान्त्र हो चुके हैं जो 'मक्ति'-मत के स्नति-

रिक्त मतों का उपवेध देकर भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं। ईस्वर की मक्ति न करके 'शान्त्रों' की उपासना करते से बड़ी सन्य कोई भ्रान्ति नहीं है, ऐसे उपासक सवा संबन में 'रहते हैं भीर जन्म एवं पुनर्जन्म से पीड़ित होते हैं। भ्रमने ज्ञान की परा-काट्य सर्वज्ञता है, 'क्षमें की पराकाट्य स्थाने मन का संतोध है, 'मित्ते' की परा-काट्य तब स्थाती है सब ईस्वर प्रसन्न होता है। 'मुक्ति' की प्रान्ति से सन्म एवं पुनर्जन्म का विनाध होता है, किन्तु अनन्न बहान की समिन्यक्ति होने के कारका उसका कथापि विनाध नहीं होता । जन पत्र स्थान योगे' 'पाया' के संबटक तत्व हैं।

ईवर के माहारम्य के पूर्ण जान सहित उसके प्रति जुदक एवं सर्वाधिक स्नह में 'मिक्त निहित होती है, केवन उसी से मुक्ति हो सकती है, सम्प्रमा नहीं।' मदापि 'मिक्त' स्वीप 'मेक्ति' साधना' है मीर 'मोल' साध्य है, तथापि साधनावस्या ही सर्वोक्तम होती है। को अपिक स्वाधानस्य में प्रविष्ट हो जोते हैं उनको सपनी धारमा में उस धानत्य की मतुपूति होती है, किन्तु वे यक्त जो उक्त सबस्या में प्रविष्ट नहीं होते सीर न 'भीवन्मुक्ति' की सबस्या में प्रविष्ट होते हैं, पर सपनी सर्व हमित्रारों एवं 'सन्तःकरण' के ईश्वर का धानन्य केते हैं, साधारण गुहस्यी होने पर मी 'नीवमुक्ती' से श्रेष्ठ होते हैं।"

'श्रीय' स्वरूपतः घाण्यिक होता है, तथापि चूंकि उसमें ईश्वर के धानन्य की धानन्य की धानन्य की धानन्य हो। धुढ चिन् के रूप में उसके स्वरूप का श्रायक्षीतरण साधारण इतियों बारा नहीं किया जा सकता, किन्तु में उसके स्वरूप का श्रायक्षीतरण साधारण इतियों बारा नहीं किया जा सकता, किन्तु कित 'शोग' के बारा घषवा निका हिल्म इतिय होत्र से हम इत्यादका कि कि 'शीव' 'श्राविधा' के बारा ऐसा सम्भव हो सकता है। धाईत वेशत के हम सत्त का, कि 'शीव' 'श्रविधा' से उत्पन्न होते हैं, इस घाचार पर प्रत्याक्षान किया जाता है कि, यदि 'श्रविधा' का सम्भव ज्ञान के ब्रारा विनाध होता तो 'श्रविधा' के अन्य से निर्मत व्यक्ति की सारित रचना का विनाध होता तो 'श्रविधा' के उत्पनः 'शीव-पुक्ति' धसम्भव हो जाती।

माहारम्य-ज्ञान-पूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः, स्नेहो अक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिनं
 चान्यया।

स्व-तत्त्र-मक्तानां तु गोपिकादि-तुस्यानां सर्वेन्द्रियेस् तथाञ्तः करिएः स्व-क्षेरण् चाञ्जन्दानुभवः। सतो मक्तानां जीवन-मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपा-सहित-गृहाधमेव विशिष्यक्षे।

<sup>-&#</sup>x27;तत्वदीपन' पर बस्लम की टीका, पृ० ७७।

बहात् का 'सच्चिवानंद' के रूप में वर्शन किया गया है-वह सर्वव्यापी, स्वतन्त्र एवं सर्वज्ञ है । वह सजातीय, विकाशीय-स्वयत-हैत से रहित है-अर्थात् बीव, जड़ एवं अन्तर्यामिन संबंधी देत से रहित है। ये मगवान के तीन रूप हैं, तथा उससे मिश्र नहीं है। वह अन्य सहस्त्रों श्रूम गुस्तों, पवित्रता, भइता, दयासूता आदि से संबंधित है, वह जगत् का घारगा-कर्ता एवं 'माया' का नियंता है। ईश्वर एक मीर तो जगत् का 'समवाय' एवं 'निमित्त कारल' है, अपनी सुष्टि से हिंबत होता है, भीर कभी-कभी उसको भपने में परावतित करने में भानन्द लेता है, दूसरी भोर वह सर्व विरुद्ध वर्मी का बाश्य है, और विविध रूपों में मोहित करता है तथा जगत की अभि-म्यक्ति के माविर्माव एवं तिरोभाव का कारण होता है। वह बल भी है भीर कूटस्य भी है। व चूंकि सुविट उसकी एक बानिव्यक्ति है, इसलिए जीवन की विवसताओं के लिए उस पर कुरता बचवा पक्षपात का दोष नहीं लगाया जा सकता। विषमता की क्याक्या करने का यह प्रयास, कि वह 'कर्म' से उत्पन्न होती है, हमें इस कठिनाई में बाल देता है कि ईश्वर 'कर्म' के अधीन है और स्वतंत्र नहीं है, उससे इस बात की भी क्याक्या नहीं होती कि विभिन्न व्यक्ति विभिन्न 'कर्मी' की क्यो करते हैं। यदि भन्तर्यामिन् के रूप में ईश्वर स्वयं हमसे शुम अथवा अधुम कार्यों को करवाता है, तो वह हमें उनके लिए उत्तरदायी नहीं ठहरा सकता, तथा कुछ में सुल तथा कुछ में दुल का वितरण नहीं कर सकता, किन्तु इस मत के अनुसार उक्त सर्व कठिनाइयां हल हो जाती हैं कि सम्पूर्ण सुष्टि भारम-सुष्टि है तथा भारमाभिव्यक्ति एव 'जीव' ईश्वर के म्रतिरिक्त कुछ मी नहीं हैं। इंश्वर जगत का सुष्टा है, फिर मी वह 'सगूगा' बयवा 'गुल-सम्पन्न' इस कारल से नहीं है कि जिन तत्वों से उसके गूलो का निर्माण होता है वे उसके विरुद्ध नहीं जा सकते और उसे अपनी स्वतन्त्रता से विचत नहीं कर सकते । चुंकि वह गूखों का नियंता है, इसलिए उनका ग्रस्तित्व एव ग्रनस्तित्व उस पर प्रामित रहता है। इस प्रकार ईश्वर की स्वतंत्रता का प्रत्यय प्रतिवार्यतः उसके 'सगुरा' व 'निर्मु रा' दोनों होने के प्रत्यय को प्रेरित करता है। सकर का यह मत

स-नातीय विजातीय-स्वगत-हैत-बिजतम् स्व-मातीया जीवा, विजातीया जड़ाः, स्वगता प्रन्तयामितः । प्रिष्यपि मगवान धनुस्युतस् त्रिरूपश्च मवतीति तैनिरूपितं हैतं मेबस्तद् विजतम् ।

<sup>—&#</sup>x27;तस्वार्वतीर' और उस पर टीका, पू॰ १०६।

बर्स-बादानस्वरं नाना-बादानुरोवि तत्। बनन्त-मृति तद् बह्य कृटस्य जनसेय व।

विश्व तर्द-कर्मारामात्रव युक्त्यगोचरव्। भ्रावित्रवि तिरोववेर्वेहनं बहु-स्पतः।

—वही पु॰ ११६।

—वही, प॰ ११६।

भारम-मुच्टेन वैषम्यं नैष्टं व्यं नापि निवते । पन्नान्तरेऽपि कर्यं स्थान् निवतं तत्
 पुनवं हत् । —वही, पृ० १२६-३० ।

कि बह्मन् 'श्रीयवा' के बंबन से बगद के कम में नासित होता है एक आरान उपवेश (अठारखा-बास्त्र) है, क्योंकि वह देवनर के गौरन को कम करता है, तथा उसका सर्व कक्तों के द्वारा बहिष्कार किया जाना चाहिए:

वो व्यक्ति ईश्वर को सब कुछ मानता है तथा स्वयं को उससे विकीर्स मानता 🖡 भीर वो उसकी प्रेम-पूर्वक सेवा करता है, वही बक्त कहलाता है। श्रान अथवा भ्रेष के भ्रमाय में केवल एक निम्न कोटि का मक्त होता है, किन्तु दोनों के भ्रमाय में कोई स्थिति भक्त हो ही नही सकता, यद्यपि शास्त्रों का अवत्य करके वह अपने पापों का निवारण कर सकता है। उच्चतम मक्त सब कुछ त्याय देता है, उसका मन केवल कृष्ण से घोतमीत रहता है, उसके लिए पुत्र, कुल, धन, धर बादि का कोई महत्व नहीं होता अपितु वह पूर्णतः ईश्वर-प्रेम में निमम्न रहता है। किन्तु ईश्वर के अनुप्रह के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से कोई भी मक्ति मार्ग पर आक्य नहीं हो सकता। 'कर्म' स्वयं ईश्वर की इच्छा के स्वरूप का होने के कारए। अपने भापको मक्त के प्रति उसकी दया अथवा कोध के रूप में अभिव्यक्त करता है, वह अपनी दया से उसके निकट बाता है और वाहे यह पतित बनस्या वें भी क्यों न हो उसका उद्घार करता है, तथा जो उसके भादेशों का पालन नहीं करते अथवा गलत राह पर ममसर होते हैं उनके पास वह कोषपूर्वक ग्रमिगमन करता है और उन्हें पीड़ित करता है। कहा जाता है कि कमें का नियम रहस्यमय है, इसका कारता यह है कि हमें यह ज्ञात नहीं है कि ईश्वर की इच्छा स्वय को किस रूप में व्यक्त करेगी, कमी-कभी उसके अनुप्रह से वह एक पापी का भी उद्घार कर सकता है, जिसे फिर अपना दण्ड नहीं मोगना पड़ता।

'शामिबर-पूज' में 'अफि' को ईश्वर के प्रति वरम अपुरिक (परापुरिक) के क्य मंदिकांवित किया गया है। 'धानुरिक' 'राग' ही को कहते हैं, इसविए 'परा-नुरिक्तिदेवर' रोज़ंक का मार्च है धाराध्य-विषय के प्रति परस राग (धाराध्य-विषयक-रागत्वय)।' यह राग बुझ से संबंधित होता है (सुझ-नियतो राग)। हमें स्मरण है कि 'विष्णु-पुराल' में प्रहताद यह च्च्चा व्यक्त करता है कि वह प्रैक्टर के प्रति उसी प्रीति का धानुषक करे निसका धविकेशी वन विषयों के प्रति सनुप्रक करते हैं।' हमें प्रैक्टर में परमानन्य की प्राप्ति होनी चाहिए, प्रैक्टर के प्रति ऐसा

 <sup>&#</sup>x27;शाण्डिल्य-सूत्र' १.२ (स्वप्नेश्वर द्वारा टीका) ।

या प्रीतिरिविक्तानां विषयेष्यनपायिनी तामनुस्मरतः सा मे हृदयान् भापसपंतु ।
 —'विष्णु-पुराण्' १.२०.१ ।

सहय एव स्वत:-स्कूर्ल बनुराग ही 'बिक्त' कहनाता है।" यदि उपासना की संकल्पना का सभाव भी हो भीर केवल सनुराण हो, तो भी हम 'मिक्त' पर का सनुत्रयोग कर सकते हैं, जैसाकि कृष्ण के प्रति नोपियों के उदाहरण में प्राप्त होता है। किन्तु सामारएत: वह ईश्वर के माहारम्य की संकल्पना से उद्भूत होती है। यह मिक अनुराग-स्थरूप होने के कारण इच्छा से सबंधित होती है न कि किया से. जिस प्रकार ज्ञान के लिए किया की कोई बावस्थकता नहीं होती, उसी प्रकार ईश्वरो-म्मूसी इच्छा, प्रक्ति एवं बनुराग से संतुष्ट हो जाती है। " 'अक्ति' को 'क्रान' मी नहीं माना का सकता, क्योंकि 'कान' धीर 'अजन' दो अिश्व-मिश्व प्रत्यय होते हैं। झान बनुराग के लिए केवल परोक्ष रूप में बावस्यक हो सकता है, किन्तू अनुराग से ज्ञान प्रेरित नहीं होता। एक युवती एक युवक को प्रेम कर सकती है, यह प्रेम किसी नवीन ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता, वरन अपना पूर्णत्व स्वय प्रेम ही में प्राप्त करता है। 'विष्णु-पुरालु' में हम प्रेमाधिक्य के कारला गोपियों द्वारा मुक्ति की प्राप्ति की बात सुनते हैं, बत: बनुराग किसी ज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति करवा सकता है। किन्तु, 'योग' ज्ञान और मक्ति दोनों का उपसाधन होता है। 'अक्ति' 'श्रद्धा' से भी भिन्न होती है, जो 'कर्म' का भी उपसाधन बन सकती है। करन्य के अनुसार ईश्वर के ऐश्वयं के प्रत्यय सहित 'मक्ति' मोक्ष को उत्पन्न करती है। बाद-रायगा के बनुसार यह मोक्ष शुद्ध चैतन्य के रूप मे बात्मन के स्वरूप में निहित होता है। वाण्डिल्य के अनुसार मोक्ष आत्मन् की अनुमवातीतना के प्रत्यय से सबंधित होता है। मक्ति के बाधिक्य से 'बुद्धि' का बावबोध ईश्वर के बानन्द में विलीन हो जाता है, 'बुद्धि' ही वह 'उपाधि' है जिसके माध्यम से ईश्वर स्वय को 'जीव' के रूप में स्निन-व्यक्त करता है।

अपने 'मिक्त-मार्तण्ड' में गोपेश्वरजी महाराज 'शाण्डित्य-सूत्र' की 'मिक्त' विश्यक व्याख्या का मनुसरण करते हैं और उसके यथावत मावार्ष के सबस में एक लम्बे

¹ तुलना की जिए 'गीता' १०.६:

मञ्जिता मद्-गत-प्राणा बोधयन्तः परस्पर कययन्तदस्य मां नित्य तृष्यन्तित्व रमन्तिच…

न कियाक्त्यपेक्षणा ज्ञानवत् । 'खाष्टित्य-सूत्र' १.१.७ । सा मक्तिनं कियात्मिका भवित्यहंति प्रयत्नान्वेषामावात् ।

<sup>-</sup>स्वप्नेश्वर पर टीका।

तथापि बह्य-विवयिण्याः रतेर्बह्य-विवय-बानोपकारकस्यं न प्रस्यक-गम्यम् । किन्तु तरुष्यादेः रतौ तथादर्शनेन ब्रह्मभोचराबाभप्यनुषातस्यम् ।

<sup>-</sup>बही, १.२.१५ पर स्वप्नेदवर की टीका।

विदेवन में प्रविष्ट होते हैं। वे यह घंस्वीकार करते हैं कि 'भक्ति' एक प्रकार का क्कान सबवाएक प्रकार की 'अदा' है, सौरन 'मिक्त' एक प्रकार का कर्म समया क्यासना है। रामानुज 'मिक्त' की परिमावा 'बुबाम् स्मृति' के रूप में देते हैं भीर इसे एक प्रकार का ज्ञान ही मानते हैं। विविध प्रकार की उपासना अथवा उससे सम्बन्धित कर्म-काण्ड 'मक्ति' को उत्पन्न करते हैं, किन्तु वे स्वयं 'मक्ति' नहीं माने का सकते । 'मक्ति-चिन्तामरिए' में 'मक्ति' को 'योगे वियोगहत्ति प्रेम' के रूप में परिभाषित किया गया है, भर्यात वह ऐसा प्रेम है जिसमें जब दोनों साथ होते हैं सब वे विलग होने से भयभीत रहते हैं, और जब वे साथ-साथ नहीं होते तब उनमें संयोग की व्याकृत उत्कच्छा बनी रहती है। वाण्डिस्य, हरिदास और गुप्ताचार्य श्री इसी मत का अनुसरए। करते हैं। किन्तु गोविन्द्र चक्रयर्ती इस प्रेम का यह सक्षण बताते हैं कि वह एक ऐसा प्रगाद व्यसन है जो अनेक विपत्तियों एवं संकटों के होते हुए भी निरन्तर बना रहता है, और परमायं ठक्कुन अपनी 'श्रेम-लक्षण-चन्द्रिका' में उसको किसी विषय के प्रति एक अनिवर्गनीय लागसा के रूप में परि-माधित करते हैं। अपनी 'प्रेमरसायन' में विश्वनाथ उसकी एक प्रेम-पूर्ण लालसा अथवा इच्छा के रूप में परिमाचा देते है कि वह ऐसा प्रेम है जिसका चरमोरकर्ष प्रगाद धानन्द में होता है।

गोपेदवर जी महाराज 'भक्ति' की उक्त सभी परिमाधाओं से असहमति प्रकट करते हैं जो नाजसा और इच्छा को उसका प्रमुख तत्त्व मानती हैं। कोई भी इच्छा एक 'पूरवार्थ' नहीं बन सकती, एक पुत्र अथवा किसी भी अन्य प्रिय संबंधी के प्रति प्रेम में हम किसी प्रकार की इच्छा का योगदान नहीं देखते, इसके प्रतिरिक्त, इच्छा एक अप्राप्त विषय की ओर संकेत करती है, जबकि 'मक्ति-अनुराग' ऐसा नहीं करता ।

कुछ विद्वान कहते हैं कि मिक्त मन के द्ववित होने के कारए। होती है, यह भी मान्य नहीं है, क्योंकि उसका विषय के प्रति कोई उल्लेख नहीं होता । श्रम्य विद्वान उसको ऐसे विषय सथवा उपाधि के रूप में परिभाषित करते हैं जिसके प्रति प्रेम

भहष्टे दर्शनोत्कण्ठा हब्टे विश्लेष मीस्ता नाहब्टेन न हब्टेन भवता लम्यते सुखम् । -अक्ति-मातंग्ड, पृ० ७५ ।

गाड-व्यसन-साहस्र-सम्पातेऽपि निरन्तरं न हीयते यदीहेति स्वाद तत्त्रे म-लक्षराम् । -वही ।

वस्तु-मात्र-विषयिसी वचनानहां समीहा प्रेम ।

<sup>-</sup>वही ।

४ यथा योगे वियोधे-बलि: प्रेम तथा वियोगे योग-बलिरिय प्रेम । -वही ।

नामक काम-मावना प्रवाहित होती है। यह परिजाया बांतिक्यारत है क्योंकि सकल प्रक्ति का सकेत हिस्तर के प्रति होना चाहिए, तया इसके समुद्रार 'पाफि' काम-मावना का एक गाय वन जाती है। किन्तु गोपेरवरवी बल्लम के 'तल्ल-बीच-प्रकाम' का उल्लेख करते हैं और उसमें बंगीकृत यह को स्वीकृत करते हैं विसके समुद्रार 'पाफि' 'पाच' बातु एवं 'क्ति' प्रत्यय से निर्मित है, प्रत्यय का मर्च 'प्रेम' होता है। यह एक सामाय नियम है कि बातु और प्रत्यय मिशकर एक पूर्ण सर्च का निर्माण करते हैं जिसमें प्रथम का मर्च प्रकाहिता है, इस प्रकार 'पाफि' का सर्च 'पाच' स्थान' स्थान' की किया होता है। स्थान प्रसाद से स्थान का स्थान प्रकाहिता है। इस प्रकार 'पाफि' का सर्च 'पाच' स्थान' स्थान 'की किया होता है। 'खेता 'एक सारोरिक क्यापार (पाच, स्त्री देवा, सीचय देवा) है। पूर्ण करते के निर्मा होता है। स्थान से सारोपिक क्यापार (पाच, स्त्री देवा, सीचय देवा) है। पूर्ण करते के निर्मा होता होना साहए, सीर प्रेम के विना देवा कस्ट्यायक होगी, परन्तु वांक्रनीय नहीं होगी, प्रेम मी सपनी पूर्णता के लिए सेवा की स्रोपना रसता है। इस नत के प्रति पुरुवोत्तम हारा स्थानी 'प्रतिन्तृत-विहत्ति' में सापति स्वता है। इस नत के प्रति पुरुवोत्तम हारा स्थानी 'पाफिन्तृत-विहत्ति' में सापति स्वता है। इस नत के प्रति पुरुवोत्तम हारा स्थानी 'पाफिन्तृत-विहत्ति' में सापति स्वता है।

'तत्व-वीध-प्रकाल' का उत्केल करते हुए गोपेक्टराजी महाराज यह विकार व्यक्त करते हैं कि क्लाम के प्रमुद्धार 'जार्क का प्रबं 'क्नेह' होता है, किन्तु पीर हम हस स्वस्त को विश्वमेलाहरूक हरिट से नेते हैं तो उत्काल प्रवं 'डिया' होता है, उनके विश्वमें में 'प्रमे' एवं 'सेवा' दोनों 'जािक' के मावार्य को निर्मित करते हैं।' परन्तु वे 'जािक' के प्रस्तय का प्राये किमास करते हैं, और कहते हैं कि 'अिक' के भावार्य को निर्मित करते वाले 'सेवा' के प्रस्तय का प्रयो जिस्में के प्रस्ता का करते वाले 'सेवा' के प्रस्ता का प्रयोग के प्रस्ता का प्रयोग है।' प्रस्ता अपना प्रयान होती है और प्रमा प्रयान में मन कर देती है।'

यमुपाधि समाधित्य रस बाद्योनिगद्यते तमुपाधि बुधोत्तंसाः प्रेमेति परिचक्षत ।

<sup>—</sup>नही, पृ० ७६।

प्रेम-पूर्वकं काधिक-व्यापारस्यं प्रक्तित्वम् \*\*\*\* प्रथमा श्रीकृष्ण-विषयक-श्रीमपूर्वककाधिक-व्यापारस्य । — 'श्रक्ति-मातंत्र्य,' पृ० ७६।

तस्मिन् कृष्णे पूर्व भावनित तत् भावतं तद्यश्चिमं ततः क्रमेला भगवदेकतानम् .....
 गम्भीरता प्राप्तं, वश्चेतस्तदेव सेवास्पम् । समावाविव भगवति लयं प्राप्तमिति
 मावत् । —वही, पृ० ६२ ।

वे धपने कथन के समर्थन में आगे वल्लम की 'निक-वींधनी' से एक धवतरस्य उद्देशत करते हैं :

<sup>&#</sup>x27;ततः प्रेम तथा शक्तिम्बंसनंच यदा अवैदिति, यदा स्वाद स्वसनं कृष्णे कृतार्थः स्वात् तदैवहि।

<sup>-</sup>वही, पु॰ दर्।

''तिक' के एक फल सबसा उसके एक लकता का 'सर्वात्य-साव' के रूप में बस्तेन किया गया है। प्रेम की प्रवाद कंटरपना के द्वारा में नी सर्वन प्रपने प्रिय के सर्वान करता है, तथा वियोग में भी वह धरने प्रिय को चारो घोर प्रत्यक्ष देखता है, किन्तु, ईमतर सब-कुछ होने के कारण, वह स्वानाविक ही है कि मक उसका सर्व सस्तुयों में दर्धन करे, क्योंकि वे सब ईस्वर की प्रविक्याक्तियों हैं।' सर्वात्य-माव महैतवाद एक का उदाहरण नहीं माना चा तकता, जैता कि 'मर्यादा-मार्ग' के प्रमुत्यामियों द्वारा स्वाक्या की गई है, वह तीय में म से संबय रखता है। 'पुष्टि-मार्ग' (वलसम सम्प्रदाय) का यह मत हरिचरण हारा भी स्वीकार किया गया है, जिनको गोपेश्वर ने सपने मत के समर्थन में उद्घुण किया है।'

'भीक' को 'धलंकार-सास्त्र' में विश्वत सन्य 'रखों' के समानात्तर एक रस माना जाता है, इस्तिए, यह 'यनवां एवं सरीर को तीझ सानन्द से 'व्यावित कर देता है, नानों ने भगवन्न-कर हो जाते हैं" इस अकार प्रते 'मिकन्स' का 'स्वायी-आव' है। कुछ विद्यानों ने उसकी हरित हृदय में ईस्वर के प्रतिवित्त्य के रूप में परिभावा दा है, इसके प्रति पुरुषोत्तम ने सपने 'प्रतिवित्त्यवार' में तथा गोपेक्वर ने इस साबार पर सायत्ति की है कि निरासकार ईस्वर का कोई प्रतिवत्त्य नहीं हो सकता, तथा इस साधार पर मी कि इस नत के सनुसार 'भीक' ईस्वर से एक-क्य हो जायगी, और प्रेम का प्रतित हृदय से ताडास्थीकरण करना करिन है।' यदि 'सारमानुमय' को

विवाद-भावेत सर्वत्र तथानुभव-रूपं वत्कार्यं ताइसप्रियस्वानुभवः, इति सर्वात्म-भावो तक्षितः।

<sup>--&#</sup>x27;माध्य-प्रकाश' पर 'बहा-मुझ', 'मिक मार्तच्य' पृ० ८५ में उद्घृत । ष्मतः सर्वात्म-मानो हि त्यापारमापेश्रमा गुतः भावस्वक्यफलकः स्व-सम्बन्ध-प्रकाशतः । वेहादि-स्कृति-रहितो विषय-स्याग-पूर्वकः भावारम-काम-सम्बन्धि-रमसादि-कियाः ।

स्वतन्त्र-मक्ति-शब्दास्थः फलारमा झायतां जनैः । —वही, पृ० ६६ ।

यत्र मनः सर्वेन्द्रयातां भ्रानन्द-भात्र-कर-वाद-मुलोदरादि-भगवद्-स्पता तत्र भक्तिरस्तैव । —वही, पृ० १०२ ।

भ बही 'जीव' द्वारा 'बट्-सदमं' (पु॰ २०४) में दी गई 'अिक्तं' की परिभाषा का उल्लेख करना रुचिकर होगा, वहीं 'अिक्तं' का भववान में एक दुहरे परितास के रूप में बर्गन किया गया है, भीर 'अर्क को स्वयं मानस्यय मनुभव के स्वरूप का बताया है, 'सन-रूपकाके: सारभूता ह्वाविनी नाग वा चित्तस्यय एवं चारभूत-हृत्तिविकेषो जिल्हे: सा च राज्यस्याया। मिक्रमंत्रित कर्कतुं च निक्रियन-निजामकर्मिट: सर्वेदा विष्ठति । स्वत् एवोक्तं भववान मक्ते मक्कियन।

संकर के महैतवाद की भाँति केवल सास्थत् से तादारूपीकरण के झवबोध के रूप में समका जाय, तो ईश्वर के प्रति अनुराग में कोई सानन्द नहीं होगा।

सायन एवं बहुन् के दार्थिक तावार-वीकरण का कमन केवल 'मिर्क' के सक्य को इद बनाने के उद्देश से किया बाता है, उससे केवल यही प्रदिश्त होता है कि सनुराम के द्वारा विस्त एकर का सनुमन किया जाता है उसकी दार्थिक पुष्टि मी की जात करती है। प्रेम की प्रगादता में कृष्ण के साथ एकर की प्रावना साम्ब्यक होती है जिसे 'मिर्क' मान का एक 'व्यविचारी मार्च' मानना चाहिए, तथा प्रेम उसका 'प्यायो'-भाव' होता है, इस प्रकार ताबारप्य की मानना भक्ति का चरमोरक में नहें कर एक व्यविचारी-भाव' होता है, इस प्रकार ताबारप्य की मानना भक्ति का नाम' में फलित नाम' में फलित नाम' में फलित नाम' में कित नाम' में में कित नाम' में मिक प्रविक्त से स्वायं में में में सिक प्रविक्त से स्वायं में से स्वायं कर नीकाती से स्वायं में में ति स्वायं कर नीकाती से साम्बार्थ में से सिक प्रविक्त से स्वायं में सिक प्रविक्त से स्वायं में सिक प्रविक्त से स्वायं के सिन्त से स्वायं में सिक प्रविक्त से स्वायं कर नीकाती से साम्बार्थ में सिक प्रविक्त से स्वायं कर नीकाती से साम्बार्थ में सिक प्रविक्त से स्वायं कर नीकाती से साम्बार्थ में सिक प्रविक्त से स्वायं कर नीकाती से साम्बार्थ में सिक प्रविक्त से स्वायं कर नीकाती स्वायं कर नीकाती स्वायं कर नीकाती से साम्बार्थ कर नीकाती स्वायं कर नीकाती है। '

'मिल' का 'फलरूप' साधन-रूप' सीर 'खगुल' में वर्गीकरण, किया जा सकता है। 'खगुल-मिल विभिन्न प्रकार के स्थान, बान व 'क्म' का स्था हो तकती है, सीर तरतुसार बह तीन प्रकार के होती है। ये पुनः विभिन्न प्रकार के गुलों के सेवित होने के मनुतार इक्शानी प्रकार की हो तकती है। 'कन' के रूप में 'पिल' फं प्रकार की होती है, सीर 'साधन' के रूप में वह दो प्रकार की होती है, सावत, बान के संग के रूप में (बानांगमुत), सीर मुक्ति-दान्नी के रूप में (बिक्त स्वातन्थेन मुक्ति-वानी)। 'बानांगमुत-मिक्त 'स्वातन्थेन मुक्ति-वानी)। 'बानांगमुत-मिक्त 'स्वातन्येन मुक्ति-वानी है, 'बान-स्थित,' बैराम्य-प्रमा,' सोर 'कमं-मिक्त '। बान-सिक्त' तीन प्रकार की होती है, 'बान-स्थित,' बैराम्य-प्रमा,' सोर 'कमं-मिक्त '। बान-सिक्त' तीन प्रकार की होती है। 'ब्यन-सिक्त' तीन प्रकार की होती है। 'ब्यन-सिक्त' के दिन एक प्रकार की होती है। 'ब्यन-सिक्त' के प्रकार की होती है। 'ब्यन-सिक्त' के वल एक प्रकार की होती है।

केन कं पश्चितित श्रुतेः भेद-विलोपकत्वेन भजनानन्दान्तराय-मृतं यदि स्वास्मत्वेन शान सम्पादयेद भजनांद नादधात् ।

<sup>–&#</sup>x27;अक्ति-मातंण्ड' पृ० १३६ ।

श्रति गाइ भावो नेदस्कृतिरिप एकोब्यामिकारिमावः।

न तु सार्वेदिकस्तदा स्वारमान तस्वेन विक्रियन्ति । -वही, प्र० १३६ ।

यथा मनवान् मानसीयस्तइद् मनवत्स्यसम्य नैक्ट्यात् मनस्याविमेवन्ती मिक्तरिप
 मनो धर्मत्वेन व्यवह्रियते । यथा बह्वि—नैकट्य तारतन्येन मनस्यनुमय-तारतन्यम् ।

<sup>-</sup>वही, पृ० १४२।

सगवन्-कृषा के द्वारा विका प्रमुख सावन से 'क्तिं' प्राप्त की वाती है वह हैइयन की पवित्रता। हृदव की पवित्रता को प्राप्त करने के लिए सोलह सावन
निर्मारित किए गए हैं जिनमें ने कुछ बाह्य हैं भीर कुछ सानतरिक। तीन वाह्य
सावन सानिक लगन, यह, भीर पृतिपुत्रता है। वर्ष बस्तुमों में देशवर के प्यान का
सम्मास चीचा है। मनत् के 'सत्य' स्वरूप का विकार पविदा है। सर्व 'कर्मों' का
तयाग एवं माविक का नास खता है, पुत्रव प्यक्तिमों के प्रति धादर की घनिमयिक
सातवा है। दीनों के प्रति दया साववा है। सर्व पुत्रों को प्रमुत्त सन्दृत्य एवं मित्र
मातवा है। 'यान' धीर 'नियम' कम्यः स्ववे धीर स्वार्यहर्वे हैं। उपयोगकों से
सातवा है। 'यान' धीर 'नियम' कम्यः स्ववे धीर स्वार्यहर्वे हैं। उपयोगकों से
सातवा है। 'यान' धीर 'नियम' कम्यः स्ववे धीर स्वार्यहर्वे हैं। उपयोगकों से
सातवा है। स्वार्योग स्वयुप्तवा चीदहर्वा है, धीर भववकाम का अवस्य एवं कीर्तन तेरहवां
है। सावंगीम सद्मावना चीदहर्वा है। सत्यंग पन्नहवा है धीर सहंकार का स्वत्रवा

परन्तु 'मिक्त-मार्म' के दो महत्वपूष्ठं सन्ध्यदायों में एक मन्तर है। जो 'मर्थादा-मिक्त' का मनुसरण करते हैं उनके मत में 'मिक्त' विश्वास्ट कर्ताच्यां व धनुष्ठानों के पालन द्वारा स्वय धपने प्रयत्नों से प्राप्त की जा सकती है, 'पुण्ट-मार्क्त' के धनु-पामियों के मत में किसी प्रयास के विना सगवई धनुबह से 'मिक्त' प्राप्त की जा सकती है।'

यल्लभानुवायी पुष्टि-सिक्तं सम्बदाय में बाते हैं, सतएव व्यक्तिगत प्रयास की स्वपरिद्धार्स प्रावस्वकता को स्वीकार नहीं करते । 'ययोदा' सम्बदाय के बानुवायों जी इस बात से तहस्त हैं कि 'साधनों का पासन तमी तक करना चाहिए जब तब प्रेम प्रकट नहीं होता, जब प्रेम एक बार प्रकट हो जाता है, तब बहु 'खामनों हारा निर्मारित नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह स्वयं को स्वतः स्कूतंता से सिम्ध्यक्त करता है। 'पुष्टि-सम्प्रयाय' के ब्रमुखायियों के लिए 'साधन' किसी भी स्तर पर 'भक्तंक' के निर्मारित नहीं कर सकते क्योंक वह भववद् धनुष्ठ से उत्पक्त होती है (पुष्टिनाने वरस्त्रोव नहीं कर सकते के ब्रमुखायों के ब्रमुखायों के ब्रमुखायों के स्वत्रा स्वत्रोव स्वाचन के प्रवत्रोव स्वाचन के स्वत्रोव स्वत्रोव स्वत्रोव स्वत्रोव स्वाचन के स्वत्राव स्वत्रोव स्वत्राव स्वत्रोव स्वत्राव स्वत्र स्वत्र स्वत्राव स्वत्राव स्वत्र स्वत्राव स्वत्राव स्वत्र स्वत्य स्वत्य स्वत्र स्वत्य स्वत्र स्वत्र स्वत्य स्वत्य

कृति साध्य-साधन-साध्य-मिक्तमैयादा-मिक्कः तद्वाहितानां अगवदनुग्रहेक प्राप्य-पृथ्टि
 मिक्कः ।
 —'मिक्कः-मातंब्द' पु० १११ ।

मर्यादायां हि श्रवलादिनिः पापक्षये श्रे मोत्पत्तिस्ततो बुक्तिः । पुष्टि मार्गांगीकृतेस्तु प्रायनुष्रहृद्याच्यत्वेन तत्र पापादेरश्रति-बन्यकत्वाच्छत्वलादिक्या श्रे मक्या च युगपत् पौर्वापर्येश वा वैपरीत्वेन वा श्रवति । —वही, प्र०११२ ।

संबंधित प्रेम के रूप में परिचाया दी नई हैं, किन्तु वगवान के ऐक्टवं से साहचवं 'विक्ति' का एक धनिवायं अंध नहीं है। पुरुषोत्तम 'विक्तं' की परिचाया सर्व फतों के प्रति विद्याप को स्था में देते हैं। मन की सुद्धता झान एवं 'पुरि' अपया भगवान के प्रतुष्क से उत्तर के पित के साम के स्वाप्त की बा ककती है, इसलिए प्रेम के उदय के लिए जो एक मात्र वर्ष पर सकती है। इसलिए प्रेम के उदय के लिए जो एक मात्र वर्ष परमूख वा सकती है। इसलिए प्रेम के उदय के लिए जो एक मात्र वर्ष परमूख वा सकती है। इसलिए प्रेम के उदय के लिए जो एक मात्र वर्ष परमूख है।

यह कहना ससम्मव है कि नगवान किस कारण से सपने सनुषह को प्रदान करने के लिए प्रसन्न होता है, नह दुःस निवारण के लिए ऐवा नहीं कर सकता, क्योंकि स्रनेक दुव्यायों के लिए नहीं करता। यह भगवान का एक विशेष सर्म है सिक्स द्वारा नह कुछ लोगों के माध्यम ते स्थान सनुषह को सम्बन्धक करने के लिए उनकी प्रमानतित करता है।

'मित' के फल के सबंब में विविध मत है। वस्तम ने बपमी 'सेवांकल-विवृति' में कहा है कि उसके फलस्वरूप हम मगवान के स्वरूपानुमव की 'स्रालीकिक सामर्प्य' प्राप्त कर सकते हैं, सबया मगवान के निरम्तर 'सायुव्य' का सनुमव कर सकते हैं, तब इंडिंग सार्प्त हम प्राप्त कर सकते हैं। यह 'पुष्टि-मार्य' का बर्गुन कर सकते हैं। उस्ते 'स्राप्त के स्वरूप के स्वरू

बस्लम धपनी 'मिति-बाँचनी' में कहते हैं कि 'मिति' का बीज भगवर्-धनुप्रह के कारण 'भें में के रूप में विज्ञान रहता है, और जब वह ट्रज़ होता है, तब वह खार, मिति-बास्त्र के श्रवस्त्र एवं भगवन्नान के कीर्तन से बांसडूब होता है। जब एक

भारते वेदोक्तलेऽपि वेद-तारपर्य-गोचरलेऽपि जीव-इतर्वध-साधनेष्य-प्रवेसातदसाध्य साधनात् फर्स-वैतक्षण्याच्च स्वस्थतः कार्यतः फ्लस्वोत्तव्यच्चित्र वेदोक्त-साधनेन्योऽपि मिन्नैव तत्तदाकारिका पुष्टिरस्तीयवत्ती हेतोः विश्व इति मार्ग-वयोऽप न संवेह् इत्यथः। पुष्टि-प्रवाह-सर्वाध-वदः पर टीका, 9० ६।

वेषु साधन द्वारा सक्त्यनिष्यक्तिः तेषु सा धनुभूता साव-क्ष्येण वनसि तिष्ठति, ततः पुत्रादिषु ताधनेष्यनुष्ठीयमानेषु ग्रेसादि-क्ष्येण क्रमादृदभूता अवति ।

<sup>-&#</sup>x27;मिक्त-विविनी-विवर्ति' (पुरुषोत्तम द्वारा), स्लोक ४ ।

ध्यक्ति गुहस्याध्यम में घपने वर्णाश्रम कर्तव्यों का मन की पूर्ण एकावता से पालन करता हमा कृष्ण की उपासना करता है तब यह बीज सहड होता है। कर्लब्यों में व्यस्त रहते समय भी उसे अपना यन अगवान पर केन्द्रित रक्षना चाहिए, इस प्रकार बह प्रेम विकसित होता है जिसका विकास बनुराग बचवा व्यसन में होता है। यह 'मिक्त' का सहद बीज कभी नष्ट नहीं हो सकता, ईश्वर के प्रति प्रेम के द्वारा ही ग्रन्थ मासिक्तियों का नाम होता है. भीर इस प्रेम के विकास से एक व्यक्ति 'व्यसन' बन जाता है तभी व्यक्ति अपना उद्देश्य सुगमता से प्राप्त कर सकता है। 'मक्ति' कभी तो स्वत:स्फर्त होती है, कभी घन्य मक्तों के संवर्ग से उदित होती है धीर कभी अनुकुल अम्यास से उत्पन्न होती है।" 'अक्ति' के कमिक विकास का सार अवस्थाओ के एक आरोही कम में वर्णन किया गया है, वे हैं-'भाव,' 'प्रेम,' 'अराय,' 'स्नेह,' 'राग,' 'अनुराग' और 'व्यसन' । मगवान के लिए 'व्यसन' जो प्रेम की प्रगादतम ग्रमिष्यक्ति है, भगवान के बिना रह सकने की ग्रसमर्थता है (तदविना स्थातमशक्ति). ऐसे अनुराग से युक्त व्यक्ति के लिए वर में ठहरना और अपने साधारण कर्तव्यों को करना असम्भव हो जाता है। पुर्व अवस्थाओं में यद्यपि एक व्यक्ति वर में एक प्रतिथि की भौति रहने का प्रयस्न कर सकता है तथापि वह अपने माबोद्देग की सम्चित ग्रमिक्यिक में विविध प्रतिवन्धकों का ग्रनुमव करता है, सांसारिक ग्रासिक्तियाँ दिव्या-सक्ति में सदा बाधक होती हैं जो 'मिक्ति' के विकास में सहायक होती हैं।"

परमृत बल्ला धीर महैतवादी 'सम्यास' के हम के त्याम के विरुद्ध हैं, क्यों कि वह समीचित कल को उत्पन्न करने में झसमर्थ होने के कारण केवन परचाताप का जनक हो सकता है। मान-मार्ग अपना कल संकड़ो जनमे में उत्पन्न कर सकता है और वह सम्य अनेक साथनां पर निर्मर करता है, इसलिए ज्ञान-मार्ग के स्थान पर मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। ' 'जिल-मार्ग में त्याम 'अक्ति' एवं उसके समुखित पालन की सावस्थकता से में रित होता है, सावना से नहीं।

<sup>&</sup>lt;sup>९</sup> देखिए पृ० ३ ४ ५ पर टिप्पसी ३ ।

स्तेहाशस्ति-व्यसनाना विनाशनं । तथा सति कृतमपि सर्वे व्ययं स्यात् । तेन तत् स्यागं-कस्ता यतेत ।

<sup>--&#</sup>x27;भक्ति-वींबनी' स्तोक ६ पर बालकृष्ण की टीका। <sup>3</sup> धतः कली स सन्यासः पश्चातापाय नान्यया। पाषाण्डित्वं अवेन् वापि तस्मात्

काने न सन्यसेत् । -बस्त्वम का 'सत्यास-निर्हाय,' इलोक १६ ।

ज्ञानार्थमुत्तरंग च सिद्धिजनमञ्जीः, ज्ञानं च साचनार्थेकं यज्ञादि-अवस्थान् मतं परमः। गोकुलनाच के विवरस्य अहित बल्लम का 'सन्यास-निर्संय' स्लोक १५ क्षे

'सक्ति' के कर्तों का 'धलीकिक सामप्यं,' 'खानुक्य' धीर 'खेबोपयोगी देह' के रूप में पहले ही वर्णन किया जा चुका है, तवा उनका बत्तव के 'खेबाफल' में बाते धीर विवेचन किया गया है, वित पर विविध टीकाकारों ने धरने अनेक मननेवां छहित सिक्ता है। इस प्रकार देवकीनन्दन चौर पुरुखोत्म के मत में 'धलीकिक-सामप्यं' का धर्ष यह है कि मनवान में एक विशिष्ट धावेचां होता है धयवा वह भक्त को एक विशेष में रेखा प्रवान करता है जितके कारण वह मनवान के पूर्ण धानन्द के स्वरूप की समुभूति करने में समर्थ होता है। किन्तु हरिराज का मत है कि उसका धर्म मनवान के निव्हानुभव की गोयाता होता है, कत्यावराज का मत है कि उसका धर्म मनवान के साथ बैकुष्ठ में दिश्य गायन करने की सामप्यं होता है। गोपीश का मत है कि उसका धर्म मनवान के साथ बैकुष्ठ में दिश्य गायन करने की सामप्यं होता है। गोपीश का मत है कि उसका धर्म मनवान के साथ बैकुष्ठ में दिश्य गायन करने की सामप्यं होता है। गोपीश का मत है कि उसका धर्म मनवान के साथ प्रवास के बीधाम्या मानवा है।

'उद्देग,' प्रतिसम्' और 'सोग' 'अक्ति' के वाक माने जाते हैं। 'उद्देग' का समं दुट व्यक्तियों डारा उत्पक्ष किया गया स्थ सववा पांथां के डारा उत्पक्ष की गई मानिक सस्यरता होता है, 'प्रतिवस्य' का सर्थ सामान्य बाधाए होता है, सीर 'सोग' का सर्थ सरीर एवं मन के सुक-दु-को की साधारण सनुप्रतिवर्ध है। टन बाधाओं का निवारण उनको उत्पक्ष करने वाले कारणों के सिच्या स्वक्त के अवबंध से किया जा सकता है, किन्तु यदि सक्त के प्रतिक्रमणों से मगवान कोचिन हो जाता है और स्थना सनुष्ठह प्रदान नहीं करता तो बाधाओं का निवारण नहीं किया जा सकता के सिक्य स्थन स्थन स्थन स्था जो स्वारण किया जा सकता के डारा वाचाओं को उत्पक्ष करने वाने निच्या बंध का निवारण किया जा सकता है वह हस विवचात में निवारण किया जा सकता है वह हस विवचात में निवारण हो कि अर्थण वस्तु प्रभू में प्रदान

शत धलीकिक सामध्ये नाम पर प्राप्ति-विवरता श्रृत्युक्त-भगवस्वरूपानुमवे प्रदीप-बदावेश इति सुत्रोक्त-रीतिक-मगवदावेशवा योग्यता यया रसात्यकस्य मगवतः पूर्यं-वरूपानयानुम्वः। श्री देवकीनन्दनादाव्येवमादुः। श्री हरिरायास्तु भगविद्वरहानुमय-सामध्येमित्याहुः। श्री कत्यालराबास्तु भगवता सह गानादि-सामध्ये मुख्यानामेवेत्याहुः। तथा योपीनात्यलीकिक-मयनानन्दानुमवे स्वरूप-योग्यता इत्याहुः।

<sup>-</sup>सेवाफत, 'स्त्रोक १ पर पुरुषोत्तम की टीका।

कदाचित् दुःसंगादिना ब्रति-पक्षप्रति-मन्नप्रित प्रदेषेण तद्दाहे, प्रयोरतिकाषेत
प्रार्थनयापि क्षमा-सम्बादना-रहितेन तस्तिम् प्रयुः फत-प्रतिवस्यं करोतीति स
मगवत् कृतः प्रतिवस्यः।

—खेवाफलं स्त्रोक १ पर हरिराज की टीका।

की है, जब कुछ बहान् है, तथा कोई 'वाचना' नहीं है, कोई 'कल' नहीं है, धोर कोई मोक्त नहीं है। ' वो व्यक्ति मयनान के धानन्दस्य स्वक्ष्ण का उपयोग करने का प्रमास करता है वह बहुव ही बाधाओं का निवारण कर तेता है। प्रकार के प्रमे प्रमास करता है वह बहुव ही बाधाओं का निवारण कर तेता है। प्रकार के प्रमे प्रमानन्दर की धरेखा उत्तम है (विषयानन्द ब्रह्मानन्दायेक्षा प्रजनानन्दर माहालादा)। संसारिक संस्कृतों की स्वाति के उत्तम मानविक धरियरण मयनद्व धरुवह की प्राप्ति में बाधक होती है, 'क्मा' के फ्यां के त्यार उत्तम जिलारण किया जा सकता है। 'अपित के उत्तम जावाक की स्वात होता है, 'क्मा' के क्यां में स्वात होता है। 'अपित के उत्तम जावाक की स्वात क्षा जावाक की स्वात का प्रमान कर स्वात हो। 'अपित के उत्तम जावाक की स्वात क्षा जावाक की स्वात का प्रमान कर स्वात हो। 'अपित के स्वात का प्रमान का स्वात की अपित का स्वात का प्रमान की स्वात का प्रमान की स्वात की स्वात की स्वात कर स्वात

#### बन्लम के अनुयायियों द्वारा वन्लम वेदान्त के प्रकरणों की व्याख्या

वल्लम के मनुवाधियों द्वारा वेदालत के विनिन्न प्रकरशां पर धनेक ऐसे प्रातेख तिखें गए यो प्यान देने योग्य हैं। बल्लम द्वारा धपनी 'खुवाधियों में 'बावबत-पुराए' (३. ७. १०-११) पर मार्च के मनुवार फ्रम एक वस्तु पर एक ऐसे वर्ष पथवा गुण के विस्था धारोपए में निहित होता है 'बिसमें वह वस्तुत: नहीं होता ! वस्त्रा महे कि प्रतेत पहुए करके बालकृष्णा मुट्ट (विनकों दल्लु मट्ट भी कहते हैं) वल्लम सम्प्रदाय के धनुतार प्रम का एक दार्थानक सिद्धान्त विकसित करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि प्रथम अस्त्र में सम्पर्क करते हैं। यो कहते हैं कि प्रथम अस्त्र में सम्पर्क स्थापित होता है, और उसके फतस्वरूप एक निविकत्यक झान (शामाय्य ज्ञान) जलाव होता है, और उसके फतस्वरूप एक निविकत्यक झान (शामाय्य ज्ञान 'पुद्ध' के 'सत्त्रपुर्ण' को जाग्रत करता है धीर फतत. सम्यक् ज्ञान को उत्पन्न करता है विदेश के सत्त्रपुर्ण को जाग्रत करता है धीर फतत. सम्यक् ज्ञान को उत्पन्न करता है वि

विवेकस्तु ममैतदेव प्रमुना इत सर्व ब्रह्मात्मकं कोऽह किथ साथनं कि फलं को दाता
 को मोक्ता इत्यादि रूप: ।

<sup>ै</sup> मिल-मार्गे सेवाया उत्तम-मध्यम-साधारस्माच कारकमेस्म एतत्कस-त्रयमेव, नो

<sup>- &#</sup>x27;सेवाफल' इलोक ६ पर हरिराज की टीका।

ग्रंथा वसे चन्द्रमसः प्रतिबिम्बितस्य तेन वसेन कृतो गुएः कम्पादि-पर्गः प्रासको विद्यमानि मिर्प्येव इस्पते न बस्तुतश्चन्द्रस्य एवमनात्मनो देहवेर्थमों जनम-बन्ध-इःसादिक्यो इस्ट्रतत्मनो जीवस्य न ईववरस्य ।

<sup>-&#</sup>x27;सुबोधिनी,' ३. ७. ११ ।

है। इसलिए 'सबैनिएाँय' में यह कहा जाता है कि 'सत्व' से संबंधित 'बुढि' की 'प्रमारा' मानना चाहिए। 'मागवत' (३. २६. ३०) में संशय, भ्रम, निश्चयारमक ज्ञान, स्मृति व स्वप्न को 'बुद्धि' की स्रवस्थाएं माना गया है, स्र अत का पारिमाधिक लक्षणा 'बुद्धि' का एक व्यापार माना जाना चाहिए। इसी प्रकार से मनस् एवं क्रानेन्द्रियां सामान्य क्रान उत्पन्न करते हैं, जो बाद में 'बुद्धि' के व्यापार द्वारा विभेदीकृत हो जाता है। जब 'माया' के 'तमस्' गुरुष से 'बुढि' झाच्छादित हो जाती है, तब जो बुक्ति ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में है उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, इस प्रकार शाच्छादित 'बुढि' बुक्ति के रजत-सम चमकीले नुरा से जायत अपने रजत के पूर्व संस्कार के द्वारा रजत के प्रत्यय को उत्पन्न करती है। शंकर सम्प्रदाय की व्यास्थानुसार मिथ्या रजत की सृष्टि 'पविद्या' से प्राच्छादित शुक्ति पर होती है। बतः शुक्ति-रजत की रजत एक वस्तुगत सृष्टि होती है, और इस प्रकार वह एक सापेक्षिक यथार्थ विषय होता है जिसके सम्पर्कमें वक्षु-इन्द्रिय बाती है। वल्लम के बनुसार शुक्ति-रजत 'बुद्धि' की एक मानसिक सृष्टि है। कानेन्द्रियों एव मनस् के सन्निकर्षद्वारा उत्पन्न प्रथम सामान्य-ज्ञान युक्तिका श्रान होता है, क्योकि युक्ति-रजत एक 'बुद्धि' की मृष्टि होती है,सम्यक् ज्ञान में 'बुद्धि' वही ब्रह्श करती है जिसे अनोनिद्रयो ने प्रत्यक्ष किया है। भ्रम का यह मत 'भ्रन्यथा क्याति' कहा जाता है, ग्रर्थात्, जिस वस्तु ने ज्ञानेन्द्रियाँ सम्पर्कमें हैं उससे ग्रन्थया किसी वस्तुका प्रत्यक्षीकरण । शंकर द्वारा दी गई अम की अयाख्या गलत है, क्यों कि यदि 'माया' द्वारा रचित एक शुक्ति-रजत होती है तो चुक्ति के प्रत्यय की व्याख्या करना ग्रसम्भव होगा, क्योंकि एक बार सरवित शुक्ति-रजत का नाश करने वाली कोई वस्तु नहीं होती। चूँकि शुक्ति-रजत शुक्ति को भाच्छादित कर देती है भीर शुक्ति-रजत का नाश शुक्ति के प्रस्थय के श्रतिरिक्त श्रन्थ किसी वस्तु द्वारा नहीं हो सकता, इसलिए बुक्ति-रजत के विनाश की व्यास्या नहीं की जासकती। यह सुफाव दियाजाताहै कि बुक्ति-रजत 'माया' के द्वाराज्यपन्न की जाती है और 'माया' के द्वारा ही नष्ट की जाती है, तो 'माया' द्वारा उत्पन्न जगदाभास के प्रत्यय को 'माया' द्वारा विनाशयोग्य माना जा सकता है, ग्रीर सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिए कोई प्रयास नहीं किया जा सकता। बल्लम के अनुसार जगत् कदापि मिथ्या नहीं है, हमारी 'बुद्धि' ही मिथ्या प्रत्ययों का सृजन करती है, जिन्हें मध्यवर्ती सृष्टि (अन्तरालिकी) माना जा सकता है। पारमाधिक भ्रम के उदाहरणा में जब ब्रह्मन् नानात्मक जगत् के रूप में प्रतीत होता है-उसका एक ऐसी सत्ता के रूप में भवनोध होता है जो भनिष्यित स्वरूप की होती है। यही सत्ता गुणों एव भामासों से संबंधित होती है, यथा, जज्मार स्वीर घट, जो 'बुद्धि' द्वारा रवे हुए मिथ्या प्रत्यय

इयदिवं बौद्धमेव रजतं बुद्ध्या विषयी-किवते। न तुसामान्य-काने चक्रुविषयी-भूतमिति विवेक:।

होते हैं। इन मिथ्या प्रत्ययों का निवारत दोवों के दूर पर सम्भव होता है, न कि भ्रम के श्रीविष्ठान के ज्ञान द्वारा, इस प्रकार एक अज्ञार श्रववा घट की बौद्धिक सृष्टि मिथ्या हो सकती है, यद्यपि इसमें प्रापिक जन्मर शयवा घट के निषेध का समावेश नहीं होना। अतः जगत् की सृष्टि एवं जगत् के विनाश विषयक प्रत्यय ऐसे मिथ्या प्रत्यय हैं जिनकी हमने सृष्टि की है। 'जीव' ईश्वर का ग्रश होने के नाते सस्य है, वह जब जन्म एव पुनर्जन्म के चक का विषय माना जाता है तभी मिथ्या होता है। इस प्रकार जगत्-प्रपंत्र सत्य अथवा मिथ्यास्य उसको प्रत्यक्ष करने की पद्धति पर निर्मर करता है, वतः जब एक व्यक्ति जगत् का प्रत्यक्षीकरण करता है भीर उसे ब्रह्मन के रूप में ज्ञात करता है तब जगत् के यथार्थ नानात्व से संबंधित उसका बौद्धिक प्रत्यय तिरोहित हो जाता है। यद्यपि वस्तुत: प्रध्यक्ष किया गया अगत् यथावत बना रह सकता है। इस प्रकार 'माया' की मृष्टि बाह्य न होकर भान्तरिक होती है। इसलिए दृष्य जगत् स्वरूपतः मिथ्या नहीं है, केवल ईइवर से पूचकु एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में उसका प्रत्यय मिथ्या होता है। 'माया' शब्द का प्रयोग दो प्रथों में किया जाता है-ईश्वर की उस शक्ति के रूप में जिसके द्वारा वह सब कुछ बन सकता है, तथा भ्रम को उत्पन्न करने वाली बक्ति के रूप में और पश्चादक्त पूर्वोक्त काएक अग होती है।

निकन्तु दुक्योराम धनने 'स्वातिषार' में एक निक स्वास्था प्रस्तुत करते हैं। उत्तर कपने हैं कि खुक्ति-प्यत का प्रभा मांगा' के डारा बुद्धि-हाँच के विषयपत व वहाँचता के उत्तर कहोंगा है, इस प्रभार प्रवेशित होत हो एक विषय के रूप में बात की जाती है। 'यह बहुँचत विशेष पूर्व सस्कारों के उदय से सर्वोषत होता है। यह मानना पतत हैं कि धारानत हो प्रमा का धीषध्वात होता है, स्वेशिक खुक्ति-प्यत के प्रथानीकरण में धारानव तो धारान-वेतना का धीष्यात होता है, किसी में मी 'मैं प्यत हैं' प्रथय उपस्थित नहीं होता।

श्रत्रापि बौद्धेव घटो मिथ्या, न तु प्रपचान्तवंतीति निष्कषं ।

<sup>—</sup>वही, पृ०६।

सधा च सिद्ध विषयता-वैशिष्ट्येन प्रपचस्य सत्यत्व मिष्यात्वंच । एवं स्वमते प्रपंचस्य पारमाधिक-विचारे अञ्चात्मकत्वेन सत्यत्वम् । —'वादावनी,' १०० ।

तयात्र चक्षु-समुक्त-प्रपंच-विषयके ब्रह्मस्य-ज्ञाने उत्पन्ने बौद्ध एव प्रपची नश्यित । न तु चक्षुणुं हीतोऽयमिस्ययाः। —यही, पु० ६ ।

म्रत: शुक्ति-रजतादि-स्वले मायया बहि:क्षिप्त-बुद्धि-कृत्ति-रूपं ज्ञानमेवार्थाकारेए।
 स्थायत इति मन्तव्यम् ।

<sup>-</sup>वही, पृ० १२१।

नगत् के निष्यास्य के तिद्वान्त के विकक्ष कथन करते हुए निरियर गोस्वामी सपने प्रयाचवार में कहते हैं कि जनत् का निष्यास्य स्थापित नहीं किया वा सकता। यदि दस्य अगत् के निष्यास्य का तात्स्यं भूत, वर्तमान व मविष्य में उसका समाव होता है, तो उसका समाव होता है, तो उसका समाव किया होता है, तो उसका समाव क्षिया होता है तो उसका समाव क्षयानामाय' के स्वरूप का है, तो, चूंकि उक्त प्रत्यव निषेच को जाने वाली वस्तु के मित्तस्य पर प्राप्तित होता है भीर चूंकि उत्त वस्तु का श्रास्तस्य नहीं होता, हसलिए प्रत्यस्यामाय' के रूप में भी समाव का श्रास्तस्य नहीं होता। यदि जगत् के प्रमाव का सर्व यह है कि वह अस को रचना है, तो पुतः गम्मीर श्राप्तियां उत्तरी है, एक भग केवल एक पूर्व सम्यक्ष ज्ञान की तुलना में ही अम कहा जा सकता है, जब एक पूर्व सम्यक्ष ना समाव नहीं होती, तो जगत् एक भ्रम नहीं हो सकता।

महि जगत के स्वरूप को 'सविचा-कर्य' माना जाय, तो सोचना स्वामांविक है कि 'शविचा' किसमें स्वरूप रहती है? बयुन (शंकरवादियों के प्रमुद्धार) निर्मुण होने के कारण, 'पिवणा' बयुन का एक गुण नहीं हो सकतो । बयुन के प्यतिचा' नहीं हो सकतो क्यों कि कह 'श्रीवचा' को किसी वरत के सम्बन्ध कान को प्राम्व के स्वरूप के सम्बन्ध कान का मान्वाहत नाना जाय, तो जिल बस्तु का सम्बन्ध कान धाण्यादित होता है उसके कि अपने 'प्रमिचा' में सम्बन्ध कान को मान्वाहत नाना जाय, तो जिल बस्तु का सम्बन्ध कान धाण्यादित होता है। यदि ऐसा है तो नेक्ष के मुण 'प्रमिच्चा' के सम्बन्ध कान को सम्बन्ध का महिष्य के सम्बन्ध का महिष्य के सम्बन्ध के कारण अपने स्वन्ध के सम्बन्ध के स्वन्ध के सम्बन्ध के सम्बन्ध के स्वन्ध के सम्बन्ध के सम्बन्ध के सम्बन्ध के सम्बन्ध के स्वन्ध के सम्बन्ध के सम्बन्ध के सम्बन्ध के स्वन्ध के सम्बन्ध के स्वन्ध के स्वन्

पुनः, संकरवादियों की 'स्रविचा' सन् एवं ससन् हे विश्व परिश्वापित की गई है, किन्तु ऐसा कोई पदार्थ किसी को जात नहीं है, क्योंक वह विरोध-प्रस्त है। प्रव कंकरवादी यह कहते हैं कि जगन का मिध्याल उसकी सन्विवनीयता में निहंत होता है, क्रन्तुतः यह पिष्पाल नहीं होता—विद ऐसा होता तो बहान स्वय मिष्या हो जाता। 'श्रुति-गठ कहते हैं कि उसका वाली, विचार प्रवा मन्तु के हारा वर्णन समझन नहीं है। यह नहीं कहा ना सकता कि बहान की सन् के का में परिभाषा दी जा सकती है, क्योंकि सामझों में यह कहा गया है कि वह न सन् है मीर न सन्तन है (न सदननासित्युक्तते)। पुनः, वसन् 'विकार' नहीं साना वा सकता, क्योंकि यदि यह एक 'विकार' है, तो किकका है, वह बहान का किशर नहीं हो सकता, क्योंकि बहुन के स्विरिक्त सन्तर, क्योंकि

वल्लभ मत में जगत् निष्या नहीं है, और, जैसाकि उतर वर्णन किया जा चुका है, ईववर उसका 'समवायी' एवं 'निमित्त-कारल' है। 'समवायि-कारल' को सर्व प्रकार के बस्तित्व में ब्याप्त संकल्पित किया गया है, जैसे मुत्तिका कर में ब्याप्त रहती है, किन्तु, बर के बसदस ईक्वर में कोई 'विकार' नहीं होता, क्योंकि मुत्तिका के बसदस्य ईक्वर में दच्छा-बर्तिक होती हैं। यह प्रामाची विरोध सबैच हैं कि गुण-क्यों से जुक्त कर्गाफ कांबुल से तारात्यीकरण, नहीं किया वा सकता, क्योंकि ब्रह्मार् का स्वकल केवल शास्त्रों से निर्धारित किया वा सकता हूं, धीर वे निव्हित कप से यह पोपला करते हैं कि ब्रह्मार्ग में सब कुछ बनने की शक्ति होती हैं।

'भेदामेदस्वरूप-निर्लंब' में पुरुषोत्तम कहते हैं कि वेदांत के 'साकार्यवाद' सत के स्वतृत्ता स्मत स्तुत्त् सारफ्य ही से बहुत् में स्पनः सिराद्ध रखती हैं। 'जीव' मी देवद के संग्र होने के कारण उसमें सिराद्ध रखते हैं। कारणावस्त्रा और वःर्या-वस्ता में यह ने के हिए एक्चाइक में किराप्य मुख्य स्वया वस्त्र साम्बन्धक हो जाते हैं। जगत् में जो क्षेत्र हमें दिष्टगत होता है उससे सर्वत्र का विरोध नहीं होता, स्वोंकि सामासी रूप स्त्रीप परसर मिन है देवद के साथ क्षेत्र के उनके तास्त्रिक सर्म का ब्याचात नहीं कर सकते।' धनः बहुत्त एक टिल्कोल से निरवयब माना जा सकता है, सीर स्वय दिष्टमणे से सावयब माना जा सकता है। सीर स्वय दिष्टमणे से सावयब माना जा सकता है।

परन्तु 'प्रपच' धीर नानाश्यक जगत धीर 'ससार' धचवा जन्म-पुनर्जन्म के वक में एक पेन हैं। 'ससार' के प्रत्या से तारायं यह है कि ईवर ने स्वय को कार्यों एव 'जीवो' धीर कमों के कर्ताधां व धनुभव के भोक्ताघों की संकरणना' में परिएत किया है। ऐसा प्रत्या मिन्या होता है, ज्यापं में कोई कारण धीर कार्य नहीं होते, कोई वधन धीर भोक्ष नहीं होता, क्योंकि सब कुछ ईस्वर-स्वरूप होता है। इस विचार की ब्याव्या बस्तम गोस्वामी के 'अपच-मसार-भेद' में की गई है। जिस प्रकार सूर्य धीर उसकी किरएं एक होती हैं, उसी प्रकार ईश्वर के पुण उस पर धार्थित होते हैं धीर उससे एकक्प होते हैं; धानासी विरोध सास्त्रों के प्रमाण द्वारा इर हो जाता है।"

सृध्दि-कम के सबय में पुत्रशीत्तम मृध्दि के विशिष मतों का खण्डन करने के परमान कहते हैं कि बहुत्त 'सत् ' "बित् व ' धानन्द' के तादास्त्य के रूप में स्वय को इन गुणों के रूप में प्रभिय्यक करता है, धौर फलत: स्वयं का सत्ता, चैतन्य व किया की बाक्ति के रूप में विशिष्टीकरण करता है, धौर वह असासक 'माय' होता

 <sup>&#</sup>x27;वादावली' पृ• ३१ में गोपेश्वरस्वामी की 'वादकथा' ।

है। ये विशिष्टीकृत गुष्ट स्वयं को निक-निक प्रयक्तित करते हैं, वे जिन बस्तुमों से सम्बन्धित होते हैं उनके बेसों के प्रस्य को तरान्य करते हैं, धीर स्वयं को विभिन्न करते हैं। वाधि के स्वयं को सिक्ति निक्र प्रतीत होते हैं, तथापि वे ईस्वर की इच्छा होते हैं। किया-चिक्त से सम्बन्धित संघ स्थयं को बढ़ पदार्थ के क्या में धानिय्यक्त करता है। वब वैतन्य-चिक्त प्रस्य स्थय में धानि-स्वक्त होती है तब वह 'बीब' होती है।' वगत् के हिन्दकोश से बढ़ाम् 'विवर्तकारण' होता है, स्वयर को धाला-सुष्टिक है हिन्दकोश से बहुम्म 'विवर्तकारण' होता है, कियर को धाला-सुष्टिक है हिन्दकोश से वह 'पिरशाम' होता है।'

## विट्ठल द्वारा बल्लम के विचारों की व्याख्या

बल्लम के पुत्र विद्वल ने 'विद्वान्सण्डन' नामक एक महत्वपूर्ण यन्य सिखा या, जिस पर पुरुषोत्तम द्वारा 'खुवर्णसूत्र' नामक एक टीका है। इस रचना के प्रमुख विचारों का प्रव विचरण दिया जाता है।

भनेक ऐसे उपनिषद्-पाठ हैं जो यह वोषणा करते हैं कि ब्रह्मन, किन्ही विशिष्ट गुर्गो से रहित (निविशेष) है, भीर अन्य वे हैं जो कहते हैं कि वह विशिष्ट गुर्गों से युक्त है, बर्थात् वह 'सविशेष' है। पूर्वोक्त मत के समर्थक कहते हैं कि विपक्षी द्वारा बारोपित 'गुलों' बयवा 'धर्मों' के ब्रस्तित्व का ब्रविष्ठान उन्हें कहीं न कही मानना पड़ेगा । यह बिषिष्ठान गुर्सों से रहित होना चाहिए, श्रीर यह गुरा-रहित सत्ता उन पाठों द्वारा भस्वीकृत नहीं की जा सकती जो बह्मनू के पूरा-सम्पन्न होने की बोबसा करते हैं, क्योंकि पदचाड़क पूर्वोक्त की मान्यता के आधार पर ही सम्भव हो सकता है, भ्रथवा दूसरे शब्दों में पूर्वोक्त पश्चादक्त का 'उपजीव्य' है। परन्त्, यह तकंदियाजासकताहै कि जो श्रृति-पाठ अह्मानु के गुरूप-रहित होने की घोषरणा करते हैं वे ऐसा गुरुगों के निषेष द्वारा ही करते हैं, तो गुरुगों को मुख्य माना जा सकता है, क्योंकि गुरा-रहित का निर्घारता केवल गुरा। के निषेध द्वारा ही किया जा सकता है। इसका उत्तर यह है कि, चुंकि श्रृति-पाठ निर्गुशा पर बल देते हैं, इसलिए निर्मु स गुर्सा के माध्यम से सबबोध करने का प्रयास विरोध-धस्त है, ऐसे विरोध में गूल एवं निर्मुल दोनों के समाव का समावेश हो जाएगा सौर हम 'शुन्यवाद' पर भा जाएंगे। यदि, पून:, यह तर्क दिया जाता है कि गूणों का निवेध केवल सामान्य म्यावहारिक गुणों का उल्लेख करता है न कि वेदों द्वारा मान्य गुणों का, तो एक उचित बापिल उठती है, क्योंकि 'अति-पाठ' निश्वयपूर्वक यह बोबग्रा करते हैं कि बहान पूर्णत:

देखिए पुरुषोत्तम का 'सृष्टिमेदवाद,' पृ॰ ११४।

एव च धन्तरा-सुव्टिं प्रति विवर्तीनादानत्वमात्म-सृष्टिं प्रति परिएए।स्यु-पादानत्वं ब्रह्माएः।
 —बही, पृ० ११३।

सक्यनीय व मनिवंचनीय हैं। किन्तु माने यह तक दिया का सकता है कि यदि बहाम को कुछ ऐसे गुर्सों का बांबिक्टान मान लिया जाय जिनका उसके प्रति निवेध किया नया हो, तो ऐसा निवेध भी घस्थायी रूप से सापेका हो आयगा धीर निरपेका **क्**म से लागू नहीं होगा । एक घट तपाने से पूर्व काला होता है, और जब उसे तपा लिया जाता है तब वह काला न रहकर भूरा हो जाता है। प्रस्ताबित उत्तर यह है कि सोपाधिक के रूप में बहुतन के प्रति गुर्खों को स्वीकार किया जाता है, और निरु-पाधिक के रूप में बह्मनू के प्रति गुर्गों का निषेच किया जाता है। जब एक व्यक्ति का हृदय सोपाधिक ब्रह्मन् की उपासना द्वारा शुद्ध हो जाता है तब वह ब्रह्मन् के निरुपाधिक स्वरूप का धवबोध करता है। ऐसे बहानू के स्वरूप की बोचला के प्रयोजन से श्रति-पाठ उसके निर्वास होने का कथन करते हैं: वे उसको गुरा-सम्पन्न तब भीषित करते हैं जब वह 'बविद्या' से उपाधियस्त हो जाता है। इसका विद्रल यह उत्तर देते हैं कि यदि ब्रह्मन को जगत का स्वामी माना जाय तो उसे निगुंश नहीं कहा जा सकता है। यह तर्क नहीं किया जा सकता कि इन गूखो का 'प्रविद्या' से उपाधिप्रस्त बहान के संबंध में कयन किया गया है, क्योंकि, चैंकि बहान और 'प्रविद्या' दोनो अनादि है इसलिए सुच्टि-कम निरतर बना रहेगा, सुच्टि-कम एक बार 'प्रविद्या' द्वारा भारम्म होने पर किसी श्रन्य वस्तु के द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकेगा। नेदान्त पाठो में इच्छा-शक्ति से संबंधित ब्रह्मन् जगत् का काररण माना जाता है, बह्मनु के अन्य गुलों को उसकी इच्छा से अनुप्रेरित माना जा सकता है। शंकरवादी मत जिसके अनुसार इच्छा सोपाधिक बह्मानु से प्रदल होती है-में विशिक्ष प्रकार की इच्छाओं का कोई कारण नहीं बताया जा सकता । यदि यह कहा जाय कि विभिन्न प्रकार की इच्छामी व गुलो का प्रतिभास सोपाधिक के गुलो को स्वीकार करने की बावश्यकता नहीं रहती: बत: यह मानना गलत है कि ब्रह्मन उन 'गुलों' से प्रथक मस्तित्व रखता है जिनका वह उपाधियों के द्वारा मधिष्ठान होता है। 'महा-सूत्र' में भी ब्रह्मन के प्रति जिज्ञासा का सुत्रपात करने के तुरस्त पश्चात बादरायरा उसके स्वरूप का लक्ष्या यह बताते हैं कि उससे जगत की सृष्टि एव विनाश सम्रसर होते हैं, किन्तु 'ब्रह्म-सूत्र' का कथन है कि उक्त सुजनात्मक अ्यापार केवल एक सोपाधिक बह्मन् का उल्लेख करते हैं। यह कहना गलत है कि चूंकि विशुद्ध बह्मन् के स्वरूप की अयाख्या करना कठिन है इसलिए 'ब्रह्म-सूत्र' पहले जगत की सुष्टि का कथन करता है और फिर उसका निषेध करता है, क्योंकि जगत का सभी के द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है, और उसकी सुध्ट का कथन करके फिर उसके निवेध करने में कोई धर्य नहीं होता-यह तो इस कथन के समान होगा कि "मेरी माँ बाँम है"। यदि जगत् का भस्तित्व नहीं होता तो वह उस रूप में मासित नहीं होता । वह 'वासना' के कारण नहीं हो सकता, क्योंकि, यदि जनत का कदापि श्रस्तित्व नहीं होता, तो उसका कोई प्रमुभव नहीं होता और कोई 'वासना' नहीं होती। 'वासना' को उत्पन्न करने के लिए अन्य उपकरलों की जी धावश्यकता होती हैं, और यहाँ कोई ऐसा उपकरला वहीं है।

यह नहीं कहा जा सकता कि 'श्रविद्या' 'जीवों' में स्थित होती 🕻, क्योंकि 'जीवों' को ब्रह्मन से एकरूप कहा जाता है तथा उनका दृश्य भेद मिथ्या ज्ञान के कारण होता है। यदि ज्ञान 'धविखा' का विनाश करता है, तो 'जीव' की 'धविखा' का उसमें बाध:स्थित 'बाविद्या' द्वारा नाश हो जाना चाहिए। पन: यदि जगत बसत है तो उसके कारण, 'अविद्या' भी असत होनी चाहिए। 'जीव' क्या है ? उसे ब्रह्मन का प्रतिबिग्व नहीं माना जा सकता. क्योंकि जिसके रूप होता है उसी का प्रतिबिग्व हो सकता है, धाकार-रहित घाकाश में प्रतिबिम्बित नहीं होता वरन अपर मण्डराती हुई किरलों प्रतिबिम्बित होती हैं। इसके खितरिक्त, 'भविद्या' ब्रह्मनु के समान ही सर्व-व्याप्त है। फिर प्रतिबिग्व कैसे हो सकता है ? पुनः ऐसा प्रतिबिग्ववाद हमारे समस्त नैतिक प्रयत्नों को मिथ्या बना देगा, और मोल भी अनका फल होने के नाते मिथ्या होनी चाहिए, क्योंकि जिस साधन से वह प्राप्त किया जाता है वह प्रति मिथ्या है। इसके श्रतिरिक्त, यदि वेद स्वय 'अविद्या' के कार्य के रूप में मिश्या है, तो यह मानना गलत है कि उनके द्वारा वरिंगत ब्रह्मन का स्वरूप सत्य है। पन: प्रतिविम्बो के उदाहरण में यथार्थ प्रत्यक्षकर्ता होते हैं जो प्रतिविध्वत प्रतिमाए स्वय भवना प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकतीं। किन्त विवादयस्त उदाहरण में कोई ऐसे प्रत्यक्षकर्ता नहीं होते। यदि परमारमन् का 'श्रविद्या' से साहचर्य नहीं होता है तो वह जीवां का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकता, भौर यदि वह 'प्रविद्या' से संविधत है तो उसकी जीवो के समान ही पदवी होती है। पुनः, कोई यह नहीं सोचता कि 'जीव' 'भ्रन्त:करण्' पर बह्मनु का एक प्रतिबिम्ब है, ऐसे मत के अनुसार, चूँकि 'जीवन्मुक्त' के 'प्रन्त:करण्' होता है इसलिए वह एक 'बीव-मुक्त' नहीं हो सकता। यदि 'बीव' 'प्रविद्या' पर एक प्रतिबिम्ब है, तो अपनी 'प्रविद्या' का नाश हो जाने के कारए। 'जीव-मूक्त' का शरीर शेष नही रह सकता। चूँकि ज्ञान के द्वारा प्रत्येक वस्तु का विनाश हो जाता है, इसलिए 'प्रारब्ध कर्म' के उदाहरण में मेद क्यो होना चाहिए ? यदि 'प्रारब्ध कर्म' के कारए बरीर का अस्तित्व बना रहे, तो भी कोई अनुभव सम्भव नहीं होना चाहिए। जब एक व्यक्ति एक सर्प को देखता है तब सर्प के हट जाने पर भी उसका शरीर कांपता है, यह कम्पन पूर्व संस्कारों के कारण होता है, परन्त 'प्रारक्य-कम' के ऐसे कोई पूर्व संस्कार नहीं होते, बनएव उसका ज्ञान के द्वारा विनाश हो जाना चाहिए, उक्त साहरय गलत है। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि 'जीव' के प्रतिबिम्ब होने का सिद्धांत गलत है।

शंकर वेदांत की एक ब्रन्स व्यावधा है-जिसमें यह माना जाता है कि ब्रह्मन् से पुंचक् प्रस्तित्वमय 'जीव' का बामास एक मिथ्बा प्रत्यन है, इस मिथ्या प्रत्यन से प्रेरित होकर सोय आत्योवित के निए अनेक प्रयस्तों में बुटे रहते हैं। इस ब्याख्या के खुनुसार भी यह समझ्तान करिन है कि उक्त सिच्या प्रश्यक की उसित होता है धीर वह फिस्से स्थित हता है। बीब स्वयं अम का एक धंय होने के कारण उसका एक इच्छा नहीं हो तकता, धीर न 'धिन्या' धीर 'बहुन्य' संबंध के स्वक्य की स्थाख्या की वा सकती है, वह संयंग का संबंध नहीं हो तकता, चीकि अम के पूर्व कोई अम नहीं होता, वह विचयल एन हों हो तकता, चीकि अम के पूर्व कोई अम नहीं होता, वह विचयल एन हों हो तकता, चीकि अम के पूर्व कोई अम नहीं होता, वह विचयल एन हों हो तकता, चीकि उसका संबंध दोनों सनादि है तथा 'अमि अम में यह तकता है। पुन, यदि 'धिन्या' धीर उसका संबंध दोनों सनादि है तथा 'अमें में में प्रमादि है, तो यह निर्चारित करना कांठन है कि क्या 'धनिक्या' ने 'धीव' की सुन्दि की सम्बा' की ने 'धनिक्या' के सुन्दि की है।

इसलिए यह मानना पडेगा कि 'जीवो' का बधन ग्रथवा उनका श्रस्तित्व श्रनादि नहीं है। उनका बधन 'प्रविद्या' से उत्पन्न किया जाता है जो ईश्वर की एक शक्ति है, भीर वह केवल उन्हीं 'जीवो' के प्रति क्रियान्वित होती है जिन्हें ईश्वर बद्ध करना चाहता है। इस कारए। से हमें सर्प एव अन्य प्राश्मियों के सदक्ष अनेक प्राश्मियों को स्वीकार करना पटता है जो कभी भी 'ग्रविद्या' की बचन-शक्ति के ग्रघीन नहीं थे। र सर्व वस्तुए 'ग्राविर्माव' एव 'तिरोमाव' के रूप में मगवद्-क्रपा से प्रकट होती है भीर लुप्त होती हैं। प्राविभवि-शक्ति वह है जिसके द्वारा वस्तुओं में अनुभव का विवय बनने की योग्यता द्याती है (ब्रनुभव-विषयत्व-योग्यता-विर्भावः), ग्रीर तिरोमाव-शक्ति वह है जिसके द्वारा वस्तुए इतनी भाच्छादित हो जाती हैं कि वे भनुगव के योग्य नहीं रहतीं (तद्-विषय-योग्यतातिरोमावः)। इसिनए जब वस्तुन्नों का अत्यक्षीकरण नहीं होता तब भी उनका शस्तित्व बना रहता है, साधारण इन्द्रियानुमव में श्रस्तित्व की परिमापा प्रत्यक्षीकरता विषयक योग्यता के रूप में दी जाती है, किन्तु पारमाधिक प्रयं में वस्तुए जब प्रत्यक्ष नहीं की जाती तब भी वे ईक्वर में ग्रस्तित्व रखती हैं। इस मत के प्रमुसार भूतकाल में घटित होने वाली सभी वस्तुए तथा भविष्यकाल में घटित होने वाले सभी कार्य ईववर में ग्रस्तित्व रखते हैं ग्रीर उसकी इच्छा के भनुसार, उसका भाविर्माव भौर तिरोमाव होता है।3

मस्मिन् पक्षे जीवस्य वस्तुतो ब्रह्मत्वे भदमानस्य जीव-पदवाच्यतायादव दुष्टत्वं न तु स्वक्पातिरेकत्व न वा मोक्षस्य धपुक्वार्थत्वं न वा पारलीकिक-प्रयल्त-प्रतिरोधः ।

<sup>- &#</sup>x27;विद्वन्-मण्डन' यर पुरुषोत्तम का 'सुवर्गं-सूत्र,' पृ० ३७।

यद् बन्यने तिहण्खा तमेव स बन्नाति । —पुरुवोत्तम का 'सुवर्एं-सूत्र' पु॰ १४ ।
 प्रस्मिन् काले सस्मिन् देशे इर कार्य इदं भवतु इति इच्छा-विषयत्थमाविर्मातः तदा तत्र तत्मा मयत् इति इच्छा-विषयत्थं तिरोभाव. । —वही, पु॰ १६ ।

'जीव' डैश्वर का एक बंध बाना काता है, 'बीव' के इस स्वरूप को शास्त्रों की बाप्तता के द्वारा ही जात किया वा सकता है। ईश्वर का संख होने के कारख उस में ईरवर का पर्शत्व नहीं होता अतरव वह उसके समान सर्वह नहीं हो सकता । 'बीब' के विभिन्न दोष ईव्बर की इच्छा के कारण होते हैं। बत: 'बीव' को अनुभव की विविधता प्रदान करने के लिए इंश्वर ने अपनी सर्वशक्तिमान सक्ति को 'बीव' में बाच्छादित कर दिया है तथा उसके नैतिक प्रयत्नों को उपलब्ध करने के लिए उसे बंधन से सबंधित कर दिया है और स्वतंत्र बना दिया है। आनंद के रूप में अपने स्वरूप को बाज्छादित करके ईश्वर का एक बंध 'बीव' के रूप में प्रकट होता है। हमें जात है कि मध्य के अनुपायी भी जीव को ईश्वर का अंश मानते हैं, किन्तु उनके धनसार वे उससे मिल्ल होते हैं, धौर बहान एवं 'जीव' का तादातम्य केवल एक दूरस्थ क्षयं में होता है। निम्बाकों के अनुसार 'जीव' ईश्वर से मिन्न होते हैं, और फिर मी उसके समान होते हैं। वे भी 'जीवों' को इंडवर के मंश मानते हैं, किन्तु उसके साथ जीवों के मेळ एवं समेद दोनों पर बल देते हैं। रामानुज के अनुसार ईश्वर 'जीवों' को बपने अन्तर्गत चारल करता है और बपनी इच्छा से 'जीव' के ज्ञान के स्वरूप का विस्तार एवं सकोच करके उनके सकल व्यापारों पर ग्राधिपत्य रखता है। भास्कर के धनुसार 'जीव' का स्वमावत: इंडवर से तादारम्य होता है, और केवल परिच्छिन्नारमक डपाधियों के द्वारा ही वह उससे भिन्न प्रतीत होता है। विज्ञान भिक्ष के धनुसार, यद्यपि 'जीव' इंडवर से नित्य मिन्न होते हैं, तथापि वे सजातीय होने के कारण उससे धविमक्त होते हैं।

किन्तु बरलमानुवायी यह मानते हैं कि 'जोव' इंस्वर के अंध होने के कारण उससे एकस्प होते हैं, वे 'आविमांब' एवं 'निरोमान' के रूप में उसके स्थापार के द्वारा 'जीवो' के रूप में प्रतीत होते हैं, जिसके कारण इंस्वर में पाए जाने वाली कुछ सक्तियों पर्व पुर्ते को जीवों में सास्त्रप्रवाद हो जाता है, और कुछ स्थाप वालियों को अमिन्यित हो जाती है। जड़ पवार्ष की अमिन्यित हो जाती है। जड़ पवार्ष की अमिन्यित हो जाता है, और केवल उसका सत् रूप अमिन्यक्त होता है। इस प्रकार इंस्वर हो हा जोता है, जीवें के स्वर दोनों की पूलभूत निर्वारक होती है। इस प्रकार इंस्वर को इच्छा 'जीव' एवं जड़ दोनों की पूलभूत निर्वारक होती है। इसले विश्वर जीवों में वित्त एत गुण की विश्वरता की भी स्वर्यास्त्र होती है। इसले विश्वर जीवों में वित्त एत होती है। किन्तु इस मत के विरोध में एक सम्मीर साथित है, स्थोंक किर जुन एवं अष्टम् 'कमें अम्ब हो जाते हैं। जीवें स्वर्य हो नत के विरोध में एक सम्मीर साथित है, स्थोंक किर जुन एवं अष्टम् 'कमें अम्ब हो जाते

जीवानां निरुप-निर्म्नात्वमंगीकृत्य द्यविभाग-नक्षणमंगीकृत्य सजातीयत्वे सति
 व्यविभाग-प्रतियोगित्वमंत्रत्वं तदनुषोगित्वं च व्यविक्षत्वम् ।

<sup>--&#</sup>x27;सुवर्ग-सूत्र' पृ० ६५ ।

हैं। इसका उत्तर वह है कि ईश्वर धायने धारवानन्य के हेतु बीच को विभिन्न सोमायाओं एवं शास्त्रमों से सम्माय करके घपने मनाह में कारों और उनके कालों की एक ऐसी योचना चारएक किए एकात है कि वो कोई धाप्रक कार्य करेगा उसे धापुक कम प्रवान किए वाएंगे। वह ऐसा केवल निर्माय प्रकार से धापने रसानुमय के लिए करता है। इस प्रकार कमें का नियम मनवान पर निर्मंद करता है धौर उसके प्रधीन रहता है। इस प्रकार कमें का नियम मनवान पर निर्मंद करता है धौर उसके प्रधीन रहता है। देश पर वस्त्रम नहते हैं कि ईस्वर ने कारों के बुस्तव एवं धापुनाय की ब्याव्या सालों में कर दी है। ऐसा करके वह वो जीवा 'एक प्रकार दी कोर्य-विधि का प्रमुद्धरण करने पर पुना हुमा है उसके वेसे हो कार्य करवाता है। 'जीव' की इच्छा ही उसके डार्य किए वाने वाने 'कमें' का कारण होती है, व्यक्ति की स्थाप उनके पूर्व संस्कारों के द्वारा निर्मारित होती है, किन्तु उन तम में मणवन्-क्ष्मा हो धारित की किया होती है। इस सम्माय में हुय वहां सामायान 'पुनियमों' के मेरों का विश्वरी-करण करते हैं-प्यादामार्ग हम बात से संस्कार के बात होता है। 'वा संस्कार होता की संस्कार होता की संस्कार होता की सामायान किया को बोच के प्रयत्नों धौर 'कमें' के नियम का कारण मानवा है।'

उपनिषयों का कथन है कि जैसे स्क्रुनिय धान्त ने विकीर्ण होते हैं, उसी प्रकार 'जीवों का भी बहान से विकीरण हुआ है। यह उपहरण बनाता है कि 'जीव' हिवार के कार्य हैं, स्वरूप में परमाच्याय हैं वि उससे विकीरण हुए हैं और पुनः उसी में कप हो जीते हैं)। इंस्वर में नम (बहा-मार्थ) का धर्म यह है कि वस ममवान संतुद्ध होता है तब बह 'जीव' ने सपने धानन्द स्वरूप तथा ऐस्वर्य को प्रकट करता ने

भी श्रीवृंव मुक्त्या धन्यत्सर्वमुपसर्जनीजूतं तथा च तद्येक्षया मगवान् विचित्र-रसानु-मवार्थमेत्र यः करिष्यति तमेव यः करिष्यति तमेवं करिष्यामीति स्वयमेव कार्याची चकार ।

<sup>--</sup>विद्वन्-मण्डन, पृ० ६१।

भानार्यस्तु पथा पुत्रं यतमान-वनं या यदायं-मुख्य-दोषी वर्ख्यवर्षि यत्-प्रयत्ना-मिनिक्षं प्रयति तर्वव कारवति । फल-मानार्वं खूर्तो कमिष्ठा-कथनाल् फलदाने कमिष्ठाः स्थानार्व्धं जीत-इन-प्रयत्नापेकः, प्रयत्ने तत्-कमिष्ठाः स्थारिक स्थानं मोक्प्रवाहापेकः कार्यतीति न बहुएखो दोवनन्वोऽपि, न वंवयननेदरस्यं । सर्यादा-मार्गस्य तर्वव निर्माखाल् । यह यत्नाया तत्र पुष्टि-मार्थाचीकार इत्याहः । प्रयमपि पक्षः स्वकृतसर्याद्वया एव हेतुलेन कथनान् यवादाकरखो च कोडेच्छम् खुते हेत्वन्त-रस्य सम्मवादस्यकुकाक्षातिर्थ्यते ।

<sup>-</sup>विद्वत्-मण्डन, पृ० ६२ ।

है। ' मुक्ति-काल में मक्तों का बनवान में तब हो बाता है, वे उससे प्रमिन्न हो जाते हैं, और उससे पुषक् कोई मस्तित्व नहीं रसते । सबतार के समय समयान प्रपत्ती स्वैच्छा से प्रपत्ते उन पंत्रों के सबतीलों कर सकता है वो उसमें तीन मुक्त प्रारिखों के कप में प्रसित्त रसते वे। "

यह झापत्ति की जाती है कि 'जीवो' को स्वरूप में परमाण्वीय नहीं माना का सकता क्योंकि उपनिषद् उन्हें सर्व-स्थापी के रूप में विशित करते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि 'जीव' स्वरूप में झाए विक हैं तो वे सरीर के सभी धनों में वेतन नहीं होंने। यहाँ चन्दन का साहत्य उपयुक्त नहीं है जो एक स्थान में रहकर चारों घोर की वाबू को सुगंधित बना देता है, क्योंकि चारों बोर की सुगंध सुक्ष्म कर्यों की उपस्थिति के कारण होती है । बात्मन के संबंध में ऐसा नहीं हो सकता, बैतन्य बात्मन का एक मुख होने के कारण तब तक कियान्वित नहीं हो सकता जब तक झारमन द्रव्य उपस्थित न हो। दीपक एवं उसकी किरलो का साहक्य भी निर्धिक है, दीपक का विभ स्वक्य नहीं होता, क्योंकि प्रकाश सुक्ष्म प्रकाश कर्यों की उपस्थित के फलस्वरूप होता है। इसका विद्रल यह उत्तर देते हैं कि बादरायण स्वयं 'जीवो' के स्वरूप को परमाण्डीय बताते हैं। न यह आपत्ति वैध है कि गुएा द्रव्य के असाव में कियान्वित नहीं हो सकते । नैयायिक भी यह स्वीकार करते है कि 'समवाय' का सबध उसके द्वारा संबंधित पदों के दिना स्थित रह सकता है। यह आपत्ति कि एक द्रव्य की सुगध सुक्षम करागे की उपस्थिति के काररण होती है-वैध नहीं है, क्योंकि एक डिध्वे में बन्द एक कस्तुरी का दकडा चारों बोर ब्रपनी सुगन्ध फैलाता है, और ऐसे उदाहरएगे में कस्तुरी के सुक्षम करागों के लिए डिब्बे के बाहर बाने की कोई सम्भावना नहीं होती. जब कोई लहसून का स्पर्श करता है तब हाथ घो लेने पर भी गध का निवारण नहीं होता । इसलिए यह स्वीकार करना पडेगा कि किसी द्रव्य की गथ स्वय उस द्रव्य से अधिक अवकाश में स्थित रह सकती है। अन्य विद्वानों के विचार में आरमन अपिन के समान है, और जैसे भ्राम्न उच्छाता व प्रकाश से संबंधित होती है, उसी प्रकार चैतन्य मारमन् से संबंधित होता है, उनका यह तक है कि चैतन्य स्वरूप होने के कारगा

सहा मायहच मगबदुक्त-साधनकरलेन संतुष्टात् मगबत बानन्द-प्राकट्यात् स्वपुरा-स्वक्रमैहवयदि प्राकटयाञ्चेति सेयमः । —वही, पु० १६ ।

बारमन् बाराविक नहीं हो सकता । यह भी सबैच 👢 क्योंकि उपनिषद-पाठ यह बोबस्या करते हैं कि ज्ञान बात्मन् का गुए है तथा उसका उससे तादारम्य नहीं है। उच्छाता व प्रकास का भी प्रश्नि से तादाल्य नहीं होता, कुछ हीरों कीर 'मंत्रों' की सक्ति से भग्नि की उप्लाता की सनुभूति नहीं होती, उपल बत में उप्लाता होती है, यश्वपि उसमें प्रकाश नहीं होता । इसके श्रतिरिक्त उपनिषद्-पाठ किक्चयपूर्वक भारमन के शरीर में अभिगमन की घोषणा करते हैं. और यह तभी सम्मत हो सकता है बदि बारमन परमाण्यीय हो । यह बापति कि उपनिषद-वाठ बारमन के बहान से तादात्म्य की बोवगा। करते हैं 'जीवों' के परमाध्वीय स्वरूप की शस्त्रीश्रुति के कप में स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि यह तादात्म्बी हरण इस तथ्य पर आधारित है कि जीवों में पाया जाने वाला ज्ञान श्रथवा झन्तः प्रज्ञा वस्तुतः भगवान का ग्रूसा है। 'जीव' बहान से अपने परमाण्यीय स्वरूप में उद्देशत होते हैं तथा बहान अपने गुरहों की उनमें सभिन्यक्त करता है ताकि वे उसकी दास्यता कर सके। इस प्रकार भगवद-सेवा मानव का धर्म है, उससे सतुष्ट होकर भगवान कभी-कभी मानव को अपने अन्तर्गत प्रविष्ट करा तेता है, अथवा भन्य काल मे जब वह अपना सर्वोच्च अनुग्रह प्रदान करना है तब वह उसे अपने निकट स्थापित कर लेता है जिससे कि वह उसके दास्य के मधुर भावावेश का झानन्द ने सके।

संकरवादियों के मत ने ब्रह्मत् 'निविधय' है तथा सकन विशिष्टता 'अविद्या' जन्य है। यह सत वीद्युष्ट है अमेरिक लिलत 'अविद्या' जीवों में स्थित नहीं हो करती, यदि वह होती तो वह ब्रह्मत् के स्वरूप को प्रमावित नहीं कर रकती थी। न वह ब्रह्मत् के स्वरूप को प्रमावित नहीं कर रकती थी। न वह ब्रह्मत् में स्थित हो सकती है, क्यों कि ब्रह्मत् होने के नाते सकत 'अविद्या' का निनावकर्षा होता है, दुनः, यदि 'अविद्या' सनादि काल से ब्रह्मत् में स्थित होती तो कोई 'निविध्य' नहीं हो सकता था। सतः यह स्वीकार करना परेगा कि कहान् में काल कर्म की खिक होती है, तथा ये सक्तिया उसके दिवस को सविध्येय विद्या से सान कर्म की खिक होती है, तथा ये सक्तिया उसके दिवस को सविध्येय विद्या के स्थित स्थाप के स्थाप कर स्थाप के स्थाप के स्थाप के स्थाप के स्थाप के स्थाप के स्थाप कर स्थाप के स्थाप के स्थाप कर स्थाप के स्थाप कर स्थाप के स्थाप कर स्थाप के स्थाप के स्थाप के स्थाप कर स्थाप

धतय्व सहज्ञ-हरि-वास्य-तदशस्त्रेन बहा-न्वरूपस्य च निवानसर्ग-प्रमु-शीयोकुल नाथ चररा-काल-वास्ययेक स्वयमः। तेन चालिसतुष्टतः स्वय प्रकटीमूप्य निज-गुणास्त्रस्य दत्ता स्वर्धिनम् प्रवेशयति स्वरूपाननातुमनार्थम्। स्वयवाप्रयुग्हे निष्ठे स्वाप्ययित त्योऽपिक-रत-वास्य-करणार्थमिति। वही, पृ० ११०।

महाप्यपि मूर्तामूर्तक्षे सर्वतः बेदितब्ये एवं स्वनेन प्रकारेस बेदितब्ये महास्य एते रूपे
 कित्त- महास विविक्यो।
 -'विहन-मण्डन,' पृ० १३८।

यदि 'शाया' को बहान् की शक्ति माना बाय, तो वल्लम उसे स्वीकार करने को तैयार है, किन्तु यदि 'माया' को मिच्या माना जाय तो वे ऐसे पदार्च के सस्तित्व की बस्बीकृत करते हैं। सर्व ज्ञान और सर्व भ्रान्ति बह्यन से उदमुत होते हैं, तथा वह तवाकवित विरोधी गुलों से एकरूप है। यदि एक प्रथक 'माया' को स्वीकार किया जाय तो यह प्रश्न उठना स्वामाविक है कि उसकी पदवी क्या है ? 'जह' होने के कारए। वह स्वयं कर्ता नहीं मानी जा सकती, यदि वह ईश्वर पर भाश्रित है तो उसे केवल एक साधन के रूप में संकल्पित किया जा सकता है-किन्तु यदि ईश्वर स्वरूपत: बनन्त शक्तियों से सम्पन्न है तो उसे ऐसे जड साधन की बावश्यकता नहीं हो सकती। इसके मतिरिक्त, उपनिषद् यह बोषला करते हैं कि ब्रह्मन् विश्व सत्ता है। यदि हम उन्हीं उपनिषद्-पाठों का बनुकरल करें तो बह्मन को 'गुए।' से इस अर्थ में संबंधित नहीं माना जा सकता कि वे 'गुरा' सत्व, रजस व तमस गुराो के रूपान्तररा हैं। अत: यह मान्ना पड़ेगा कि 'माया' ब्रह्मन् के स्वरूप को उसके विशिष्ट गुर्खों में निर्धारित अथवा रूपान्तरित करती है। यह कहना भी बापत्तिजनक है कि 'माया' की अभि-व्यक्ति ईश्वर की इच्छा से की जाती है, क्योंकि, यदि ईश्वर की इच्छा स्वत: शक्ति-शाली है तो उसे अपने उट्टेश्य की पुलि के लिए किसी 'उपाधि' की आवश्यकता नहीं हो सकती । वस्तुत: ईश्वर धौर उसके गुराों में किसी भेद अववा विभेद का कथन करना सम्मव नहीं है।

# वल्लम का जीवन (१४८१-१४३३)

बस्सम का दर्शन ] { ३७०

किया । उनका वेदाध्ययन धनेक शिक्षकों की देख-रेख में हवा जिनमें त्रिरम्मसय, अस्थनारायस्य दीक्षितं और माधवयतीन्द्र वे । ये सब शिक्षकं मध्य-सम्प्रदाय के वे । श्रपने पिता के देहावसान के पश्चात वे तीर्थ-यात्रा पर निकल पढ़े और उनके दामोदर, ग्रम्भ, स्वभ, स्वयम व ग्रन्य कई शिष्य होने लगे । दक्षिशा में विद्यानगर के सम्राट के दरबार में एक शास्त्रार्थ की सूचना मिलने पर वे अपने शिष्यों सहित 'मागवत-पूराख' भीर ईश्वर के प्रस्तर प्रतीक (शालिबाम शिला) को साथ लेकर उस स्थान के लिए रवाना हुए । शास्त्रार्थ बद्धान के सविशेष स्वरूप की समस्या पर या विध्यास्वासी सम्प्रदायी होने के नाते वस्ताभ ने बहान के सविशेष स्वरूप के पक्ष में तर्क किया धीर कई दिन तक चलने वाले दीवं विवाद के पश्चात के विजयी रहे । यहाँ उनकी महान् मध्य उपदेशक व्यासतीयं से मेटें हुई । विद्यानगर से वे पम्पा की स्रोर गए और वहाँ से ऋष्यमूल पर्वत, वहाँ से कामाकाष्त्री, तदनतर कांची, विदम्बरम् भीर रामेश्वरम् गए। वहाँ से वे उत्तर की झोर लौटे और कई स्थानों से होते हुए महिष-पूरी झाए तथा उस स्थान के सम्राट द्वारा उनका उत्तम स्वागत किया गया, वहाँ से वे मोललकोट (जिसे यादवादि भी कहते हैं) ग्राए । तत्पदवात् वे उदिपि गए भीर वहाँ से गोकर्सा, जहाँ से वे पुन: विद्यानगर (विजयनगर) के निकट बाए और सम्राट के द्वारा उनका उत्तम स्वागत किया गया। तब वे पाण्डरण की स्रोर चले. वहाँ से नासिक फिर रेवा नदी के किनारे होते हुए महिष्मती गए, वहाँ से विसाल, वेजवित नदी के किनारे एक नगर से बललानिरि और वहाँ से मधुरा गए। मधुरा से वे बुन्दावन सिद्धपुर जैनो के महंतपट्टन, बद्धनगर गए और वहाँ से विश्वनगर गए। विश्वनगर से गुजरात गये और गुजरात से माध्य होते हए सिन्धु नदि के मुहाने तक गए। वहाँ से वे अमक्षेत्र, कपिलक्षेत्र गए, फिर प्रमास और रैवत और फिर द्वारका गए। वहाँ से वे सिन्ध नदी के किनारे-किनारे पंजाव की छोर अग्रसर हए। वहाँ से वे कुक्क्षेत्र आए तदनतर हरद्वार, ऋषिकेश, गगोति और यमुनोति गए। लीटने पर वे केदार और बदरिकाश्रम गए। फिर वे कन्नीज झाए, फिर गंगा के किनारे, प्रयोध्या भीर इलाहाबाद बाए, और वहाँ से बनारस भाए। बनारस से वे गया और वैद्यनाथ बाए और फिर वे गगा व समुद्र के सगम पर आए। फिर वे पूरी भाए। पूरी से वे गोदावरी गए, दक्षिण की भोर भवसर हुए भीर पनः विद्या-नगर आए। फिर वे काठियावाड़ प्रदेश में होकर पून. द्वारका की स्रोर सप्रसर हुए, वहां से वे पूष्कर बाए, पूष्कर से पून: इन्दावन और फिर बदरिकाश्रम बाए। वे पून: बनारस माए भीर गंगा के संगम तक माकर वे बनारस लौट गए, जहाँ उन्होंने देवन भट्ट की पूत्री महालक्ष्मी से विवाह किया । विवाह के पश्चात् वे पूत: वैद्यनाथ के लिए खाना हुए और वहाँ से वे पुनः द्वारका के लिए अवसर हुए, और वहां से फिर बदरिकाश्रम, वहां से वे बन्दावन बाए । वे पनः बनारस लौटे । वे बन्दावन भाए । बन्दावन से वे बनारस भाए, वहाँ उन्होंने एक महा 'सोमयाग' किया। उनके पुत्र विद्वसनाय का बन्म १२१- में हुया था जब वे मधने सैंतीसर्वे वर्षे में वे। सपने सेच जीता जीता महानि संसार का त्याम कर दिया और वे 'सम्मासिन्द' हो गए। उनका देहालमान १२३३ में हुया। कहा जाता है कि उन्होंने भीरासी सम्म जिसे मीर उनके भीरासी मुख्य सिध्य वे।

## वल्लभ और उनके शिष्यों की कृतियां

बरुलम की सबसे महत्वपूर्ण कृतियों में उनकी 'मागवत-पुराएं' पर टीका ('मुबोधिती') उनकी 'बद्धा-पुत्र' पर टीका, झीर स्वयं उनके 'तस्वरीए' पर उनकी 'फ्रकास' तामक टीका हैं। 'मुबोधिती' पर 'मुबोधिती-सेख' और 'सुबोधिती-सोजन तिबय-सोजन 'तामक एक घव्य टीका मी है, 'रावधंचाच्याय' की टीका पर पीताम्बर हारा 'रासधंचाच्यायी-प्रकाश' तामक टीका लिखी गईं। 'बहु-पुत्र' पर बल्लम के माध्य, 'प्रशुपाध्य' पर पुरुबोत्तम हारा एक टीका लिखी गईं ('माध्य-प्रकाश'), एक म्यन्य तिर्पित हारा ('विवरण्') लिखी गईं हैं। एक म्यन्य हम्ब्राराम हारा ('बहु-सुत्रागुमाध्य-प्रदेश) और एक घन्य, 'बसप्रबोधिती' सीघर द्यार्ग हारा लिखी गईं। उस पर सलु मुद्द हारा सिक्कित एक चन्दु समुद्दी स्तास्त्री की टीका 'प्रशुपाध्य-

<sup>\*</sup> देखिए साफेश्ट का 'Catalogus Catalogorum'.

बल्लम का दर्शन

निमुहार्य-वीपिका' वी, एक धन्य पिठुल के विषय पुरतीवर द्वारा ('धाणुमाय्य-याक्या'), बीर किसी धलाव नेलक हारा पैराल-पन्तिका' रवी गई वी। वस्तम द्वारा तिवित पंतरितिकां पर्यो गई वी। वस्तम द्वाराज द्वारा प्रार्थित प्रार्थ प्रार्थ पर परिवास्त्रकी महाराज द्वारा प्रार्थ प्रार्थ पर्यार्थ पर्याद महार्थ द्वारा 'धायर एक पर्यो हो तिवास है, जिनकें से प्रथम, खारनार्य-प्रकरण में रावितिक स्वस्थ की १०५ कारिकाए समासिक्ट है, द्वितीय विचान, पर्वतिग्रंथ-करूण मं रावित्ति प्रकार से स्वस्ति पियां का विकेचन करता है, तृतीय विचान पर्याचनार्य-करण 'जिनकें में प्रथम, प्रार्थ हो हाथ्य सम्पार्थ का सार्यां का स्वतिग्रंथ-करण 'जिनकें प्रथम प्रयाद प्रकार हो हाथ्य सम्पार्थ का सार्यास समासिक हो जाता प्रथम के प्रविचेतिक प्रयाद हो सार्य हो

बरूलभ के लघु ग्रन्थों मे सर्व प्रथम हम 'सन्यास-निर्माय' का उल्लेख कर सकते हैं. जो बाईस इलोको से निर्मित है, जिनमें वे तीन प्रकार के सन्यास का विवेचन करते हैं-'कमेंमार्ग' का 'सन्यास.' 'ज्ञानमार्ग' का 'सन्यास' और 'मक्तिमार्ग का सन्यास'। उस पर कम से कम मात टीकाएं गोकुलनाय, रधूनाय, गोकुलोत्सव, दो गोपेश्वरो, पुरुषोत्तम सौर एक उत्तरवर्ती बल्लभ द्वारा लिखी गई। इनमें से शोकुलनाय (१५५४-१६४३) विठ्ठलनाथ के चौथे पुत्र थे, उन्होंने 'श्री सर्वोत्तम-स्तोत्र,' 'वल्ल-भाष्टक, 'सिद्धांत-मुक्तावली,' 'पूष्ट-प्रवाह-मर्यादा,' 'सिद्धांत-रहस्य,' 'बत्:इलोकी,' 'भैयात्रय,' 'मक्ति-विधनी' भौर 'सेवाफल' पर भी टीकाए लिखी । वे एक महानू यात्री और गुजरात में बल्लम मत के प्रचारक वे, तथा बल्लम की 'सुबोधिनी' टीका को लोकप्रिय बनाने के लिए बहुत प्रयत्न किया। विठ्रलनाथ के पाँचवें पुत्र रघुनाथ का जन्म १४१७ में हुआ था, उन्होंने बल्लम के 'बोडश-मन्य' तथा 'बल्लमान्टक,' 'मथूराष्टक,' 'भक्ति-हस' और 'मक्ति-हेतू' पर भी टीकाए लिखी, साथ ही 'पुरुषोत्तम-नाम-सहस्र.' 'नाम-चन्द्रिका' पर भी टीकाएं लिखी। कल्याराराज के कनिष्ठ भ्राता भौर हरिराज के वाचा गोकुलोत्सव का जन्म १४८० में हुमा या, उन्होंने भी 'योडश-स्य'पर एक टीका लिखी। धनक्याम के पुत्र गोपेक्बर का जन्म १५६० में हुआ था, भन्य गोपेश्वर कल्यासाराज के पुत्र व हरिराज के कनिष्ठ भ्राता थे। पुरुषोत्तम नामक टीकाकार १६६० में उत्पन्न हुए। विद्वलराज के पुत्र वल्लम, अन्य टीकाकार, रघुनाथ (बल्लमाचार्य के पाँचवें पुत्र) के प्र-प्रपोत्र १६७५ में उत्पन्न हुए, और उन्होंने बस्लमाचार्य के 'ग्रस्माच्य' पर एक टीका लिखी । यह बस्लम पहले वाले बस्लम से मिन्त ये जो विद्वलेषवर के पुत्र ये।

बल्लम का 'सेबाफल' बाट स्तोको की एक लघु पुल्तिका है बिसमें मगबद् उपासना की बाधामी धौर उसके फर्सो का विवेचन किया गया है, उस पर कल्याए-राज द्वारा टीका की वहुँ थी। वे विद्वलगय के द्वितीय पुत्र गोविन्दराज के पुत्र वे बौर १५७१ में जन्मे थे, वे हरिराज के पिता वे बौर उन्होंने 'बोडश-प्रन्थ' पर टीकाएं सिखीं तथा उपासना के कर्मकाण्डों पर भी लिखी। इस इन्ति पर देवकीनन्दन द्वारा भी टीका की गई, जो नि:सन्देह पुरुषोत्तम से पूर्व वे। एक देवकीनंदन, रचुनाय (बिठ्ठलनाथ के पांचवें पुत्र) के पुत्र का जन्म १४७० में हुशा, इसी नाम के एक प्रपोध १६३१ में उत्पन्न हुए थे। उस पर हरियन जो धन्यवा हरिराज भी कहे जाते हैं-की भी एक टीका थी, जो १५६३ में उत्पन्न हुए थे, उन्होंने धनेक लघु ग्रंथ लिखे। उस पर विट्ठल के पुत्र बल्लम की एक बन्य टीका भी थी। दो बन्य बल्लम भी थे-एक तो देवकीनन्दन के पौत्र को १६१९ में उत्पक्ष हुए, और दूसरे विठ्ठलराज के पुत्र को १६७५ में उत्पन्न हुए, यह सम्मव है कि 'सेवाफल' की टीका के लेखक वही बल्लम वे जिन्होने 'सुबोधिनी-लेख' लिखा। पुरुवोत्तम, गोपेश धौर एक तेलगु बाह्यस, मालु भट्ट द्वारा अन्य टीकाएं हैं, उनका दूसरा नाम बालकृष्ण दीक्षित था। वे सम्मवतः सत्रहवीं सताब्दी के मध्य में बीवित थे, उन्होंने वल्लम के 'ध्रशुभाष्य' पर 'सरपुमाष्य-नियूढ़ार्य-प्रकासिका' सौर 'सुबोधिनी' पर एक टीका ('सुबोधिनी-योजन-निबंब-योजन-सेवाकौमुदी'), 'निर्णयार्णव' 'प्रेम्य-रत्नार्णव' और 'घोडश ग्रन्थ' पर एक टीका लिखी । कल्याराशाज मट्ट द्वारा एक बन्य टीका है । उन्होंने 'तैतिरीय उपनिषद्' पर विल्व मगल के 'कृब्ल-कर्लामृत' पर, धौर 'अक्ति-विधिनी' पर टीकाएं लिखी। श्रीनाथ मट्ट के पौत्र भीर गोपीनाथ मट्ट के पुत्र लक्ष्मरण मट्ट द्वारा भी एक टीका है और भन्य दो सज्ञात लेखकों द्वारा टीकाएं हैं।

बस्तम की 'मिति-बिंक्सी' प्यारह इसोकों की एक लचु पुस्तका है जिस पर हारकेख गिरदर बातकुष्ण मृटु (क्तरदर्शी बस्तम के पुत्र), सानु भट्ट, जयगोपास मृटु, बस्तम, कस्ताखराज, पुश्चोत्तम, गोपेश्वर, कस्त्राखराज स्त्रीर बातकृष्ण मृट्ट हारा टीकाएं तिस्त्री सई हैं, एक प्रत्य सम्रात सेसक को टीका भी है।

'तान्यास-निर्णय' 'खेबाफन' घोर 'जिंत-र्वावनी' वस्तभ के 'थोडस-यन्थ' में समाविष्ट हैं, धन्य पत्म 'यमुनाष्टक, 'आवातंत्र,' 'विकात-पुकासती,' 'पुविस्-प्रवाह-मर्यादा,' 'विकात-स्हस्म,' 'जवरल', 'यन्तकरए-प्रवाश', 'विकष्ठवंशाध्य,' कृष्ण्याध्य,' 'यनुःकांकि,' 'अति-व्यंवनी,' 'जवर्त्व' घोर 'यच्याद्यं हैं। 'यमुनाप्टक' पवित्र न स्व यमुना की स्तुति में नी स्तोको का एक जबु प्रत्य है, जिसमें बल्लम कहते हैं कि सुस (काम) घोर दु:स की निहत्ति (नोक्ष) बगत् में वो प्रमुख पुरुवायं है, सो प्रम्य 'वम' घोर 'वम' में छारा 'काम' की प्राप्ति हो सकती है। 'मोर्ज को प्राप्ति वहाने प्रसाद के की वा सकती है। 'विकात-मुकासती' 'विक्त' र रक्कीश सनोकों का एक लचु बन्य है, वो हैस्वर के प्रति सर्व बस्तुकों के परिखान पर बन सेते हैं। 'पृथ्व-प्रवाह- बस्सम का दर्शन ] [ ३८१

मर्यादा' पण्चीस श्लोकों का एक लच्च प्रन्य है जिसमें बल्लम कहते हैं कि पाँच प्रकार के स्वामाविक दोव होते हैं, महंकार-बन्य, देशन, कालब, दुष्कर्म-बन्य ग्रीर संयोगन । ईश्वर के प्रति बपनी सर्व वस्तुयों के समर्पण द्वारा इन दोवों की निवृत्ति हो सकती है, ईश्वरापंत्र के परवात हमें वस्तुओं को जीवने का अधिकार है। 'नवरान' एक नी वलोकों का प्रत्य है जिसमें सब बस्तुओं के ईवबर के प्रति परिस्थाग एवं समर्पण पर बस दिया गया है। 'धन्त:करएा-प्रबोध' एक दस क्लोकों का ग्रन्थ है जो आत्म-परीक्षा एवं क्षमा के हेत् ईश्वर से प्रार्थना की बावश्यकता पर वस देते हैं. बीर इस मन को यह प्रबोध करने की बावस्थकता बताते हैं कि सर्व एस्पुओं पर ईश्वर का स्वामित्व है । 'विवेक-चैंगीलव' सनह बलोकों का एक लघ ग्रन्थ है । वह हमें ईडवर में पूर्ण विश्वास रखने का आंग्रह करता है, और यह अनुसव करने का आंग्रह करता है कि यदि ईश्वर के द्वारा हमारी इच्छाओं की पृत्ति नहीं की गई है तो उसका कोई कारण होना चाहिए जिसके प्रति वह प्रवगत है, वह सर्वश्र है और सदा हमारे कल्याम का ध्यान रखता है। इसलिए किसी भी वस्त की प्रवल इच्छा करना धनवित है. ईश्वर के मरोसे पर सब वस्तुओं को खोडना और जैसा वह उचित समके वैसा ही उसे प्रबंध करने देना ही सर्वोत्तम है। 'कृष्णाश्रय' स्थारह इस्तोको का एक ग्रन्थ है जो सभी बातों में कृष्णा, प्रम पर निर्मर करने की बावध्यकता की व्याख्या करते हैं। इसी बाश्रय का चार ब्लोकों का एक ग्रन्थ 'चतःश्लोकि' है। 'मिक्त-विधिनी' एक ग्यारह दलोकों का ग्रन्थ है जिसमें बल्लम कहते हैं कि हम सब में ईश्वर-प्रेम का बीज विश्वमान है, केवल वह विभिन्न कारलों से घवरुद्ध रहता है, जब वह स्वयं को प्रकट करता है तब हम अगत के सर्व प्राशियों को प्रेम करना आरम्म कर देते हैं, जब बह तीवता में मिनदूद होता है तब हमारे लिए सासारिक विषयों के प्रति मासक्त होना ग्रसम्मव हो जाता है। जब ईश्वर प्रेम इतना तीव हो जाता है, तब उसका विनाश नहीं हो सकता। 'असभेद' में बीस इलोक हैं जो मक्तों के विभिन्न प्रकारी एवं भक्ति की पद्धतियों का प्रतिपादन करते हैं। 'पचपाद्य' पाँच बलोकों का एक ग्रन्थ है।

कहा जाता है कि बस्तम के पुत्र बिठ्ठन दीक्षित स्वया विठ्ठनेस्य (१११८-६८) ने निम्म तिबित एकाए जिस्सी "स्ववार-तारवस्य-त्वात्र "स्वर्या," कृष्ण्य-मागृत, "पात्री," कृष्ण्य-मागृत, "पात्र-तारवस्य-त्वात्र "स्वर्या," कृष्ण्य-मागृत, "पात्र-तारवस्य-ताय-तारवस्य-ताय-ताय-ताय-ताय-ताय

मुक्तावली' पर टीका, 'सेवा कीमुदी,' 'स्वतन्त्रतालेखन' और 'स्वानिस्तोत्र' । इनमें से 'विद्या-मण्डन' सबसे महत्वपूर्ण है, उस पर पुरुवोत्तन हारा टीका की गई और हम चसे विस्तार से देख चुके हैं। 'विद्या-मण्डन' एवं गिरिवर के 'सुदाईतमार्तण्ड' के कण्डन का प्रयास १८६८ में एक संकरवादी विचारक सदानन्द की 'सहस्राक्ष' नामक रचना में किया गया था। इसका विद्रलनाथ (उन्नीसवीं सदी के) द्वारा 'प्रमंजन' में पन: खण्डन किया गया, घीर उस पर बर्तमान सदी के गोवर्षन शर्मा द्वारा एक टीका है। 'सहस्राक्ष' से हमें ज्ञात होता है कि बिट्टल ने नवदीप में स्थाय तथा वेद, 'मीमांसा' व 'बह्मसत्र' का अध्ययन किया या और वे शास्त्रार्थ करते हुए व प्रति-पक्षियों को पराजित करते हुए विभिन्न देशों में कुए के छीर उनका उदयपुर के स्वरूप सिंह द्वारा बहुत सम्मानपूर्वक स्वागत किया गवा था । विठ्ठल की 'यमुनाष्टक विवृति' पर हरिराज द्वारा टीका की गई। वल्लम की 'सिद्धान्त-मुक्तावली' पर उनकी टीका पर रधनाय के पुत्र बजनाय द्वारा टीका की गई। वस्तम के 'मधुराब्टक' पर विद्रूल द्वारा टीका की गई, और उनकी रचना पर आगे धनश्याम द्वारा टीका की गई। 'मधुराष्टक' पर हरिराज, बालकृष्ण रखनाय भीर बल्लभ द्वारा अन्य टीकाएं भी थीं। विद्रल ने बल्लम के 'न्यासदेस' भौर 'पृष्टिप्रवाह मर्यादा' पर भी टीकाएं लिखी। उनके 'भक्ति-हेत' पर रधनाय द्वारा टीका की गई, इस रचना में विकल भक्ति के उदय की सम्माव्य विधि का विवेचन करते हैं। वे कहते हैं कि दो प्रमुख विधिया होती है, जो 'मर्यादा मार्ग' का मनुसरण करते हैं वे धपने कर्सव्यो का पालन करते हैं भौर समय माने पर भगवत्-प्राप्ति करते हैं, किन्तु वो 'पृष्टिमार्ग' के मनगामी है वे पूर्णतः भगवतु-कृपापर भाश्रित रहते हैं। सगवत-कृपा दान, यक्षादि शुभ कर्मी सथवा निर्मारित कर्त्तंव्यों के अनुपालन पर निर्भर नहीं करती। 'जीव' स्वरूपत: ऐसे स्वामाविक विषय होते हैं जिन पर श्रम कमों ने मंतुष्ट होने पर ईश्वर अपना अनुग्रह करता है। किन्तु यह मानना अधिक सभीचीन है कि ईश्वर का प्रनुग्रह किन्ही भी प्रवस्थाओं से स्वच्छन्द व स्वतन्त्र होता है, भवावदिच्छा नित्य होने के नाते कारए। व कार्यों से उत्पन्न ग्रवस्थाकों पर निर्मार नहीं हो सकती । प्रतिपक्षियों का यह मत गलत है कि शम कमों एवं ईक्वर के लिए नियत कर्तव्यों के पालन से 'असि' प्राप्त होती है, और 'मिक्त' द्वारा ईश्वर का अनुबह होता है, और उसके द्वारा मोक्ष होता है, क्यों कि यद्यपि विभिन्न व्यक्ति भूभ कर्मों के पालन से शुद्धता की प्राप्ति कर सकते हैं, तथापि कुछ ब्यक्ति ज्ञान से सम्पन्न हो सकते हैं और अन्य व्यक्ति 'भक्ति' और इस शंतर की इस मान्यता के श्रतिरिक्त कोई व्याक्या नहीं की जा सकती कि ईश्वर का ग्रनुग्रह स्वतन्त्र व उपाधि-रहित है। यह मान्यता भी गलत है कि श्रनुग्रह के सहकारी कारण से जिल-शक्ति 'मिक्त' को उत्पन्न करती है, यह मानना कही अधिक उत्तम है

१ देखिए सामेव्ट का 'Catalogus Catalogorum'.

कि ईश्वर का अनुसह स्वण्यत्वता से प्रवाहित होता है और सन्य अवस्थाओं के सहयोग की अपेक्षा नहीं रखता. क्योंकि शास्त्र ईश्वरानग्रह के स्वच्छन्द प्रयोग का कथन करते हैं। जिन व्यक्तियों को देवर 'मर्यादा मार्ग' में प्रवृत्त करता है वे कर्तव्य-पालन, विश्त-गुद्धि, मक्ति बादि के द्वारा कालान्तर में बपने मोक्ष की प्राप्ति करते हैं, किन्तु विन व्यक्तियों को वह अपना विशेष अनुषह प्रदान करता है उनको 'पृष्टि-भक्ति' के मार्ग में अंगीकार कर लिया जाता है, वे नियत कर्लब्यों के अनुपालन के दिना भी 'अक्ति' की प्राप्ति कर लेते हैं। कर्तव्यों का निर्धारण केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए होता है जो 'मर्बादा-मार्ग' में होते हैं, 'मर्यादा' अथवा 'पृष्टि-मार्ग' की अनुसरण करने की प्रवत्ति स्वतन्त्रव स्वतः स्कृतं भगवदिच्छा पर निर्मर करती है." स्रतएव 'मयीदा-मार्ग में भी 'मित्त' ईववरान्यह के कारण होती है न कि कर्तव्यों के सनपालन से । भगविद्या को सर्व कर्मी-चाहे उन्हें हम स्वत्रं करें प्रथवा चाहे वे प्राकृतिक व भौतिक कारणों से घटित हो-के संबंध के प्रति विद्रल का मत हमें निमित्तवादी सिद्धांत का स्मरण दिलाता है जो लगभग उसी काल में प्रतिपादित किया गया या जब विद्रल ने उसका निरूपए। किया। वे कहते हैं कि, जो भी कार्य घटित हुए, हो रहे हैं धयवा होंगे वे उनके तत्काल पूर्व में स्थित भगवदिच्छा के कारण चटित होते हैं, इस प्रकार सकल कारराता पूर्व क्षरा में स्वत: स्फूर्त मगवदिच्छा के काररा होती है। इसलिए तथाकथित कारणों व अवस्थाओ, अथवा 'प्रागभाव' अथवा निवेधात्मक कारणो व धवस्थाओं के धभाव की कारणता को धस्वीकृत किया जाता है, क्यों कि ये सभी तत्व कार्य हैं. बतएव बटित होने के लिए भगविद्या पर बाधित रहते हैं. क्योंकि उसके श्रमाव में कुछ भी घटित नहीं हो सकता। भगवदिच्छा सकल कार्यों व घटनाओं की भरम काररण है। चंकि मगवदिच्छा इस प्रकार सर्व घटनाओ अथवा विनाशो की एकमात्र कारण है, इसलिए वही किसी ब्यक्ति में 'मिक्त' के उदय की एकमात्र कारण है। उसी की इच्छा से लोग विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों से सर्वधित होते हैं, किन्त वे भिन्न-भिन्न प्रकार से कार्य करते हैं तथा उनमें 'मिक्त' होती है अथवा नहीं होती

येषु जीवेषु यथा भगवदिच्छा तबैब देशा प्रवृत्तेरावस्थकत्वात् ।
 'भक्ति-हेत-निर्मय,' प्र०७ ।

<sup>ै</sup> बिहुल के 'अक्ति-हम्बं' (१० ४६) में यह कहा गया है कि 'अक्ति' का मर्प 'स्तेह' होता है: 'अक्तिप्रस्पव सक्ति: स्तेहैब'। उपायना स्वयं 'अक्ति' नहीं होती, किंतु उसे उपायन कर कस्ती है, श्वांक 'मक्ति' स्तेह स्वरूप होती है, इसनिए उसके संबंध में कोई विश्व नहीं हो सक्ती

यदा यदा यत् यत् काय्यं भवति भावि अभूद वा तत्-तत्कालोपायो क्रिमकेग्रैव तेन तेन हेतुना तत् तत् काय्यं किरिप्ये इति ततः पूर्वं भगवदिच्छा अस्त्यासीद् वा इति सत्त्रअसः।

है। कहा बाता है कि विट्ठत सकवर से किन्त ये। उनकी सम्य इतियाँ सी 'पुष्टि-प्रवाह-मर्वावा' सौर 'विद्यात मुकावली' पर ठीकाए, 'सजुनाध्य-पूर्ति' ('मजुनाध्य-पर एक टीका), 'निक्य प्रकात,' 'युकोषती टिप्पणी' ('सुबोषिती' पर एक टीका), जिसे प्रत्यवा 'सम्यावावच्छेद' सी कहते हैं। वस्त्यावाय के प्रथय पुत्र गोपीवासजी महाराज वे जिन्होंने 'सामन्त्रीपक' एवं सम्य लचु प्यनाएं तिसीं। विट्ठत उनके क्षितीय पुत्र ये। विट्ठत के सात पुत्र सीर बार कम्याएं सी।

विठ्ठल के प्रयोत्त, विठ्ठल के शिन्य व पुरुषोत्तम के पिता पीताम्बर ने 'प्रवतार-बादावली, 'भक्तिरसत्ववाद,' 'द्रव्य-शुद्धि' और उस पर टीका तथा 'पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा'पर एक टीका लिखी। पुरुषोत्तम का जन्म १६७० में हुमा था, उन्होंने निम्नसिवित ग्रन्थ लिके-'सुबोधिनी-प्रकाश' ('भागवत-पुराएग' पर वस्त्रभ की टीका 'सुबोधिनी' पर एक टीका), 'उपनिषद्-दीपक' वस्लम की 'तत्वार्थ-दीपिका' पर उनकी 'प्रकाश' नामक टीका पर 'धावरएा-भंग,' 'प्रार्थना-रत्नाकर,' 'भक्ति-हस-विवेक,' 'उत्सव प्रतान, ' 'सुवर्ग्-सूत्र' ('विद्वन्मण्डन' पर एक टीका), और 'धोडश-ग्रन्थ-विदृत्ति'। कहा जाता है कि उन्होंने चौदीस दार्शनिक एवं धर्मशास्त्रीय बच लिखे, जिनमें से इस लेखक को सत्रह उपलब्ध हुए हैं, बर्धात्, 'भेदाभेद-स्वरूप-निर्ह्मय,' 'भगवत्-प्रतिकृति-पूजनवाद,' 'सृष्टिभेदवाद,' 'क्यातिवाद,' 'श्रंयकारवाद,' 'बाह्यलत्वादि-देवतादि-वाद,' 'जीव-प्रतिविम्बत्व-लण्डन-वाद,' 'प्राविभाव तिरोभाव-वाद,' 'प्रतिविम्बवाद,' 'भन्तपुरकर्थ-बाद,' 'ऊर्ध्व-पुण्डू-बाद,' 'माला-बारगा-बाद,' 'उपदेश-विषय-शका-निरासवाद,' 'मूर्ति-युजन-बाद, 'शाखा-चक-धारएा-बाद'। उन्होंने 'सेवाफल' 'सन्यास-निर्णय व 'भक्ति-वर्षिनी' पर टीकाए, 'भाष्य-प्रकाश' भीर 'उत्सव-प्रतान' भी लिखे। उन्होंने इन टीकाचों को भी लिखा-'निरोध-लक्षगा,' 'जलभेद,' 'पचपाव' चौर 'सिद्धान्त-मूक्तावली' व 'वालबोध' पर विठ्ठल के 'भक्ति-हंस' पर 'तीर्घ' नामक टीका। उन्होने 'गायत्री' पर विठ्ठल के भाष्य पर एक उपभाष्य 'बल्लभाष्टक' पर एक टोका, 'बेदांत-करएामाल' भीर 'शास्त्रायं-प्रकरण-निबन्ध' तथा 'गीता' पर एक टीका भी लिखी । कहा जाता है कि उन्होंने नो सी सहस्र श्लोक लिखे, और वे निःसन्देह वस्लभ सम्प्रदाय के सबसे प्रमुख सदस्यों में से एक है।

विद्वल के शिष्य मुरलीयर ने कल्लय के 'आव्य' पर 'आव्य-टोका' नामक एक टोका तिली, 'परतलांबन,' अति-चित्तामांख,' 'श्रयवन्ताम-परेख' 'अववन्ताम-नेवर' मी तिली। १६४- में उत्पन्त, निद्वल के प्रशीय नत्तन ने 'सुबोधिनी-'लेल' 'तिवाफल' पर एक टोका, 'वोडवा-मन्व' पर एक टोका, 'शीता-कल-दीपनी' तथा सम्य प्रवाद तिल्लीं। कल्याणुराज के पुत्र व विद्वल के प्रपीय गोपेयर-वशी महाराज १४६५ में उत्पन्त हुए ये, बीर उन्होंने बत्तम के 'प्रकाख' पर 'रिवर्ग नामक टीका स्वोधिनी सुमुक-वोशिनी' और हरियाज के 'शिकापन' पर एक द्विनी टीका लिलीं। क्षम्य योपेक्बर, जो योगी गोपेक्बर के नाम से विहित हैं, बीर जो 'मिति-मार्तफ्ट' के के, सम्मे समय के परकात् १७०१ में उत्पन्न हुए के। १०४५ में उत्पन्न गिरिवरजी ने 'माध्य-विवरण' क सम्य रचनाएं निर्कों।

विट्ठल के शिष्य मूरलीयर ने बल्लम के 'अस्माध्य' पर एक टीका, 'शाण्डिल्य-सूत्र' पर एक टीका, 'परतत्वांजन,' 'मक्ति-चिन्तामिश्,' 'भगवन्नाम दर्पश्' ग्रीह 'भगवन्नाम-वैभव' लिखे । १५५७ में उत्पन्न रचनाय ने वस्लम के 'मिक्त-इंस' पर 'नाम-चन्द्रिका' नामक टीका तथा उनके 'मक्ति-हेत-निर्णय' और 'वल्लमाष्टक' पर टीकाएं ('मक्ति-तरंगिसी' भौर 'मक्ति-हेत्-निसंय-विश्वति') भी सिखीं। उन्होंने 'पुरुषोत्तम-स्तोत्र' धौर 'वल्लमाष्टक' पर भी एक टीका लिखी। वल्लम ने, जो धन्यथा गोकलनाय के नाम से विदित हैं, और जो १४५० में उत्पन्न हुए थे, 'प्रपंच-सार-मेद' धीर वस्लमाचार्य की 'सिद्धांत-मुक्तावली,' 'निरोध-लक्षण,' 'मधुराष्टक,' 'सर्वोत्तमस्तोत्र,' 'बल्लमाष्टक' व 'गायत्री-माध्य' पर टीकाए लिखी । विद्युल के पुत्र गोविन्दराज के पुत्र कल्यासाराज १५७१ में उत्पन्न हुए ये और उन्होंने 'जलभेद' एवं 'सिद्धांत मुक्तावली' पर टीकाएं लिखी। १४६० मे उत्पन्न उनके भ्राता गोकलत्सव ने 'त्रिविधा-नामावली-विकृति' पर एक टीका लिखी। रघूनाथ के पुत्र धीर विट्ठल के पीत्र देवकीनन्दन (१५७०) ने बल्लभाचार्य के 'बाल-बोध' पर 'प्रकाश' नामक टीका लिखी । विदल के पीत वनस्थाम (१५७४) ने विद्रल की 'सवराध्टक-निवृत्ति' पर एक उप-टीका लिखी। क्रजनाथ के पत्र व वल्लभाचार्य के शिष्य कृष्णचन्द्र गोस्वामी ने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'भाव-प्रकाशिका' नामक एक सक्षिप्त 'टीका अपने पिता ब्रजनाय की 'ब्रह्म-सत्र' पर 'मरीचिका' नामक टीका के नमने पर लिखी। इन बजनाय ने 'सिद्धांत-मुक्तावली' पर भी एक टीका लिखी। कस्यासाराज के पुत्र हरिराज (१४६३) ने 'शिक्षा पात्र' तथा 'सिद्धांत-मुक्तावली,' 'विरोध-लक्षण,' 'पंचपादा,' 'मधुराष्टक' पर टीकाएं भौर कल्याराराज की 'जलभेद' पर टीका की प्रतिरक्षा मे एक 'परिशिष्ट' लिखा। 'धनस्याम' के पत्र गोपेश (१५६८) ने 'निरोध-सक्षरा' 'सेवाफल' और 'सन्यास-निर्णय' पर टीकाएं लिखी। हरिराज के भ्राता गोपेश्वरजी महाराज (१५६८) ने हरिराज के 'शिक्षापात्र' पर एक हिन्दी टीका लिखी। विठल के शिष्य द्वारकेश ने 'सिद्धांत-मुक्तावली' पर एक टीका लिखी। कल्यासाराज के क्षिष्य जयगोपाल मट्ट ने 'सेवाफस' भौर 'तैसिरीय उपनिषद्' पर टीकाएं लिखी। विठ्रल के प्रपौत वल्लम (१६४८) ने 'सिद्धांत-मूक्तावली,' निरोध ' 'नक्सगु,' 'सेवाफल,' 'सन्यास-निर्णय' 'भक्ति-वींघनी ' 'जलभेद' झौर 'मधराष्टक पर टीकाएं लिखी । क्यामल के पत्र बजराज ने विरोध-सक्षण पर एक टीका लिखी । इन्दिवेश और गोवर्षन मट ने कमशः 'गायत्रयर्थ-विवर्ण' बौर 'गायत्रयमं' लिखे। श्रीघर स्वामि ने बल्लम के 'ब्रागुनाब्य' पर 'बाल-बोधिनी' टीका लिखी । विदल के प्रयोज गिरियर ने 'विद्वानुमण्डन' का धनुसरए। करते हए 'सिद्धाईत-मार्तेण्ड' धोर 'प्रपंचवाद' लिखे । उनके विषय रामकृष्ण ने 'सिद्धाईत-वार्तेण्ड' पर 'प्रकाध' नामक टीका तथा 'बुदाईत-परिकार' नामक एक सन्य एका तिस्ती । धीगी गोपेवचर (१७००) ने वात्रकथा, 'धालवादा, 'जिल-मार्तेण्ड, 'एकुपिकिरफ् साला,' दुक्वरिम के 'आध्य-मकास' पर 'परिब' नामक टीका धोर पुश्चितम के 'वेदान्ताधिकरण्याता' पर एक टीका लिखी । गोकुलोत्सव ने वत्लम की 'विविधा-नामावती' पर एक टीका लिखी । क्षेत्रकर पहु ने 'ब्रह्मविधा-मावन' इरिदास ने 'हरिदास निकार' एक्साराम ने वत्लम के 'धालुनाध्य' पर 'प्रवीच' धीर इच्छाराम के विषय निकेष्यान ने 'व्यविकार निकार' के

## विष्णुस्वामिन्

परम्परा से विष्णुस्वामिन् विश्वदाद्वैत सम्प्रदाय के प्राचीनतम संस्थापक माने वाते हैं जिसका वल्लम द्वारा जीलोंद्वार किया गया। श्रीवर मीं 'भागवत-पराला' पर बपनी टीका में विष्णुत्वामिन का उल्लेख करते हैं, और सम्भवतः उन्होंने 'भागवत-पुरासा' पर एक टीका लिखी थी, किन्तु ऐसी कोई रचना झब उपलब्ध नहीं है। विष्णुस्वामिन के मत का एक संक्षिप्त विवरण 'सकलाचार्य-मत-संग्रह' (एक सक्षात लेकक द्वारा) में मिलता है, जो बल्लम के मत का सारांश-मात्र है, उसमें कुछ भी नवीनता नहीं है जिस पर यहाँ विचार हो सके। फिर भी यह रचना बल्लम के दर्शन का समावेश नहीं करती, जिससे यह माना जा सकता है कि वह कदाचित् वल्लम के भागमन से पूर्व लिखी गई थी. तथा उसमें समाविक्ट विध्यास्वामिन का मत या तो विष्णुस्वामिन् के पारम्परिक विवरण से प्राप्त किया गया था अथवा उनकी कुछ रचनाओं से जो वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए यह असम्भव है कि 'संकलाचार्य मत-संग्रह' में विष्णुस्वामिन का विवरण वस्तुतः वल्लम के मत का संक्षिप्त कथन है जिसे प्राचीन लेखक विष्णु स्वामिन पर आरोपित कर दिया गया है। किन्तु वल्लभ स्वयं अपने मत के जन्मदाता के रूप में विष्णुस्वामिन, का कभी उल्लेख मही करते, बल्लम के अनुयायियों में इस संबंध में मतभेद है कि बल्लम ने विष्णु-स्वामिन् के पदिचल्लो का अनुसरण किया अथवा नहीं। यह आग्रह किया जाता है कि जहाँ वल्लभ ने उपनिषदों के विशुद्ध मद्भीतवादी पाठों पर बस दिया और ब्रह्मन् को समेदात्मक, स्वयं से एकरूप व सपने गुणों से एकरूप माना, वहाँ विष्णुस्वामिन ने बेदांत-पाठों में निहित बैत पर बल दिया। विलाभ स्वयं 'भागवत-पराखा' (३. ३२.

इस प्रकार निर्मयराम 'श्रीवकरण-संग्रह' (पृ० १) में कहते हैं: तस्यापि वृश्रोगलेन व्याच्यानवापेक्षतया तस्य व्याच्यातारों विस्तुस्वापि-मच्च-प्रकृतयों ब्रह्माहैत-वास्त्य सेथ्य-सेवक-मावस्य च विरोधं मन्त्राना प्रवेद-बोचक-श्रुतिषु लक्षणया मेद-नरस्य सुद्धे मेदमंगीच्छ: ।

३७) पर सपनी 'पुनोधनी' टीका में विष्णुत्वामिन, के मत का इस कम में वर्णुत करते हैं कि वह 'तमल्' मुस के द्वारा बहुम्ब व वन्नत् में वेद का प्रतिपादन करता है, तबा इसका त्वमं सपने मत से विमेद करते हैं वो बहुन्द का पूर्णुतः निर्मुण के रूप में प्रतिपादन करता है।' 'सकलावामं-मठ-संबह' में दिवा हुणा विष्णुत्वामिन, का सत्य विवरस हमें यह सोव करने में कोई सहायता नहीं देता है कि क्या उनका मत दलस के मत से मिल्न या, और, यदि, वह मिल्न वा तो किन-किन विवयों में। यह मी ससमन नहीं है कि 'सकलावामं-मठ-संबह' के सेवह ने त्वमं विष्णुत्वामिन की किसी रचना को नहीं देवा वा सीर उससे बल्ला के मत को विष्णुत्वामिन पर स्वानान्तरित कर दिवा, जो कुछ परम्पराधों के सनुसार सुद्धादेत यत के बन्नवाता वे।'

'बस्लभ-दिग्बिजय' के बनुसार दक्षिए। में पाण्ड्या राज्य का एक विजय नामक राजा था। उसके एक देवस्वामिन् नामक पुरोहित था जिसका पुत्र विष्णुस्वामिन् था। उत्तर-मारत में एक महान बार्मिक-सुवारक, शुकस्वामिन वेदांत में उनके सहपाठी थे । विष्णुस्वामिन् द्वारका, इन्दावन होते हुए पूरी गए और तत्पश्चात् बर लौट ग्राए। बुद्धावस्था में उन्होंने भ्रपने बरेलू देवताओं को भ्रपने पुत्र को सौंप दिया, भीर बैच्याब परिपाटी से संसार-त्याग करके वे कांबी झाए । उनके वहां कई शिष्य थे. यथा, श्रीदेवदर्शन, श्रीकष्ठ, सहस्राचि, सटवति, कुमारपद, परभत व सन्य । अपनी मस्य से पूर्व उन्होंने अपने मत के अध्यापन का कार्य-मार वीक्षेत्रदर्शन को सींप दिया । उनके सात सौ प्रमुख अनुयायी ये जो उनके मत का उपदेश देते थे, उनमें से एक राजविष्णुस्वामिन् मान्ध्र प्रदेश में एक उपदेशक बन गया। कहा जाता है कि इस काल में विष्णुस्वामिन के मठ और ग्रंथ बौदों द्वारा जला दिए गए थे। एक तमिल सन्त, विल्व-मगल श्रीरंगम् के मठाधीश की गही के उत्तराधिकारी हुने। विल्यमगल ने कांची के मठाबीस की गही देवमंगल को सौंप दी, और इन्दावन बले गए। फिर प्रमाविष्णुस्वामिन मठाधीश की गद्दी के उत्तराधिकारी बने, उनके धनेक शिष्य थे, यथा, श्रीकष्ठगर्म, सत्यवती पण्डित, सोमगिरि, नरहरि, श्रान्तनिधि व सन्य । अपनी मृत्यु से पूर्व उन्होंने आन्तानिक को अपनी गही पर अमिक्ति किया। विष्णुस्वामिन् के गुरुकों में एक गोविन्दाचार्य थे, जिनके शिष्य बल्लभाचार्य बताए जाते हैं। विष्णुस्वामिन की तिथि का अनुमान लगाना कठिन है, किन्तु यह सम्मावना हो सकती है कि बारहवीं भवना तेरहवीं क्षताब्दी में विद्यमान थे।

ते च साम्प्रतं विध्युस्वाम्यनुसारितः तत्ववादिनो रामानुष्यच तमो रजः-सत्वीमन्ता सस्मत्प्रतिपादिताच्च नैर्यु व्यादस्य ।

बबुनायजी महाराज द्वारा निश्चित 'वल्लम-दिग्विवय' में इस परम्परा का निश्चय रूप से संस्थापन पाया बाता है।

#### अध्याव ११

# ६'तन्य और 'उनके ऋनुयांघी

## चैतन्य के जीवन-कथाकार

चैतन्य निम्बाक ग्रीर वल्लम के उत्तराधिकारी वैद्याव सुधारकों में प्रन्तिम थे। वस्तत: वह वस्तम के सबर समकालीन थे। जहाँ तक हमें विदित है, उन्होंने स्वय प्रथमे दर्शन का निरूपण करने वाली कोई रचना प्रथमे पीछे नही छोडी, धौर उसके संबंध में जो कुछ हम जात कर सकते हैं वह उनके समकालीन व उत्तरवर्त्ती प्रशसकों एवं जीवन-कथाकारों की रचनाओं से ही प्राप्त हो सकता है। इनमें भी हमें उनके दर्शन से खिंबक उनके चरित्र एवं उनकी भगवद-भक्ति के विशिष्ट स्वरूप का ही ज्ञान होता है। इसलिए यह कहना घरयन्त कठिन है कि चैतन्य का दर्शन क्या है संस्कृत, बंगला, असमी व उड़ीसा में उनकी कई जीवन-कवाएं लिखी गई, भीर चैतन्य की जीवन-कथा की सामग्री का एक बालोचनात्मक ब्राध्ययन कुछ समय पूर्व बगला में खा॰ बिमन बिहारी मजनदार द्वारा प्रकाशित किया गया था। चैतन्य की अनेक जीवन-कयाओं में से जो मुरारिगुप्त व इन्दावनदास द्वारा लिली गई हैं वे चैतन्य के जीवन के प्रयम भाग का विवरण देती हैं. तथा पश्चादक्त का ग्रन्थ उनके प्रारम्भिक जीवन का सबसे अधिक प्रामाशिक व उत्तम निरूपश माना जाता है। पन: कृष्ण-दास कविराज द्वारा लिखित 'जीवनी,' जो चैतन्य के जीवन के द्वितीय एवं तृतीय आगों पर बल देती है-को उनके जीवन के सबसे अधिक रुचिकर काल का अत्यधिक वार्शनिक एवं शिक्षाप्रद निरूपण माना जाता है। वस्तुत:, बन्दावनदास की 'वैतन्य-मागवत' भौर कृष्णदास कविराज की 'चैतन्य-चरितामृत' चैतन्य पर सबसे महत्वपूर्ण जीवन-कथा-संबंधी कृतियां हैं। हम मुरारिगुप्त का उल्लेख कर चुके हैं जो यद्यपि चैतन्य के समकालीन ये, तथापि संस्कृत में ग्रातिरंजनाओं से पूर्ण एक लघू रचना लिखी थी। जयानन्द और लोजनदास द्वारा रचित 'जैतन्य-मंगल' नामक झन्य जीवन-कथाएं भी उपलब्ध हैं। कहा जाता है कि गोविन्द व स्वरूप दामोदर नामक चैतन्य के व्यक्ति-गत परिचारकों ने उनके संबंध में कुछ टिप्पशियां लिखी थीं, किन्त वे अब स्पष्टत: लप्त हो गई हैं। कवि कर्रापर ने 'चैतन्य-चन्द्रोदय-नाटक' लिखा जिसे कृष्णदास कविराज की रचना का प्रमुख स्रोत कहा जा सकता है। वृन्दावनदास का जन्म शक १४२६ (१४०७ ई०) में हमा बा. उन्होंने सपने जीवन के प्रथम पन्तह वर्षों में 

## चैतन्य का जीवन

मैं यहां मुख्यतः 'चैतन्य-मागवत' 'चैतन्य-च-प्रोदय-माटक' व 'चैतन्य-चरितामृत' का धनुसरण करते हुए चैतन्य के जीवन का केवल एक संक्षिप्त विवरण देने का प्रयास करूँगा।

इस सबय नवड़ीय मुसलमान झासकों के प्रचीन था जो प्रत्याचारी हो गए थे। विकारर पण्डित के पुत्र धीर एक महान् पण्डित, सार्वजीन मट्टाचार्य, उड़ीसा के हिन्दू राजा, प्रतापस्य की सरण नेने के लिए वहीं चले गए थे।

चैतन्य ने सुदर्शन-पण्डित की संस्कृत पाठवाला (टोल) में बाध्ययन किया । सम्मवत: इस पाठशाला में उनका अध्ययन कलाप व्याकरण और कतिपय 'काव्यों' तक ही सीमित रहा । कुछ उत्तरकालीन जीवन-वरित्र लेखकों का कथन है कि उन्होंने न्याय (तर्क-शास्त्र) मी पढा था, किन्तु इसकी पृष्टि में कोई सम्यक प्रभारत उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु उन्होने बर पर ही कुछ 'पुराखों' का विशेषत: महान अस्ति-पन्य 'श्रीमदमागवत' का बाध्ययन किया था। एक विद्यार्थी के रूप में वे बास्तव में बहुत ही प्रतिमाशानी ये, किन्तु वे ग्रत्यधिक ग्रमिमानी मी ये, और अपने सहपाठियों को वाद-विवाद में पराजित करने में विशेष मानन्द लेते थे। भपने प्रारम्भिक जीवन से ही भक्ति-गीतों में उनकी प्रवस रुचि थी। कृष्ण के साथ अपना एकाकार करने में विशेष बानन्द लेते थे। उनके साथियों में निम्नलिखिल का उल्लेख किया जा सकता है श्रीनिवास पण्डित व उनके तीन माई, वास्टेव दत्त, मुकून्द दत्त व लेखक जगाई, श्रीनमं पण्डित, मुरारिगुप्त, गोविन्द, श्रीघर, गगादास, दामोदर, बनद्रशेक्षर, मुकुन्द, सजय, पुरुषोत्तम, विजय, वकेश्वर, सनातन, हृदय, मदन और रामानन्द । चैतन्य ने धपने पिता से भी वेदो में कुछ शिक्षरण प्राप्त किया था। जन्होंने विष्णु पण्डित और गंगादास पण्डित से भी शिक्षण प्राप्त किया था। अपने जीवन के इस काल में उनका हरिदास और गदाधर से धनिष्ट परिचय हो गयाथा। -

चैतम्य की पहली पत्नी, तक्ष्मी देवी, बो बस्तम मिथ की पुत्री थी, सर्थ-रख के मर नई, फिर उन्होंने विक्कृतिया है विबाह किया। घरने पिता की तृत्यु के स्वचात् वे परचात्-संदेपेट संस्कार का सनुष्ठान करने के लिए गया गए, कहा जाता है कि बही उन्होंने परमानन्य पुत्रे, ईयरर पुत्रे, प्युनाय पुत्रे, बहानन्य पुत्रे, धमर पुत्रे, गोपाल पुत्रे धौर बमन्य पुत्रे वेदे बंद महानुमानों के मेंट की। उनको हैक्कर पुत्रे ने सीक्षा दी, धौर उन्होंने संदार को त्यागने का निक्चय कर लिया। किन्तु वे नव्यधि नीट धौर कुछ काल तक 'मानवठ-दुराए' का उनदेश देवे रहे।

नवहींप में नित्यानन्द नामक एक 'शबपूत' उनके साथ रहने लगे। उनकी मित्रता ने पैतन्य में मनवद-में म के माशकेय की सानि को सीर अधिक प्रज्यतित किया, बीर वे रोनों स्थय सहयरों सहित सहांच्य नृत्य एवं संगीत में स्वतीत करते में। इसी काल में उनके स निज्यानन के प्रमाब से दो शराबी, अवार्ष और नेक्सी. क्षेत्रज्ञ में म-पंच में संपरिवर्शित हुए। बोड़े काल के पश्चात सपनी नाता की सनुमति से उन्होंने सम्पास महत्त्व कर लिया सोर कटवा की सीर प्रस्थान किया, तथा वहाँ से सम्ब्रेत से मेंट करने के लिए शान्तिपुर गए। इस स्थान से वे सपने धनुयायिमों सहित पुरी के लिए रवाना हुए।

यह है चैतन्य के प्रारम्भिक जीवन की संक्षिप्त क्यरेला, सर्व शिवपूर्ण घटनाओं से रहित तथा उनके विभिन्न जीवन-चरित्र लेखकों में इस पर बहुत श्रंसों में एक-मत हैं।

इन्स्प्रदास कविराज की बंगला रचना 'चैतन्य-वरितामुठ' सम्मवत: उनका एक साधुनिकतम जीवन-वर्षत है, परणु अपनी मुद्दता के कारण वह सहस्र ही 'चैतन्य की सम्म जीवन-कवाओं से नोकप्रियता में धावे वह वर्ष है। वह चैतन्य के जीवन को तीन जागों में विवादित करते हैं 'धारिनीका' (प्रचम प्राम) 'मध्यलीका' (वितीय प्राम), धीर 'धन्यलीला' (धनितम प्राम)। प्रचम प्राम पहले चौबीस वर्षों के विवरण से निर्मित है, विवाद कर में चैतन्य में संदार का परिष्यान किया। वे सम्म वीबोस वर्षों कर वीवित्त है, विवाद के स्वीवित कर की विताद की सम्म विवाद कर की विवाद कर

धपने जीवन के चौबीसवें वयं में त्यवास-ग्रह्ण के पच्चात् नाम (जनवरी) मास में उन्होंने इन्दाबन के लिए प्रस्थान किया घोर तीन दिन तक राह प्रदेश (बंगात) में बात्रा की । उन्हें इन्दाबन की राह झात नहीं थी, धौर नित्यानन्द उन्हें सानितुर से गए। चैठन्य को माता कई धन्य लोगों, श्रीवास, रामई, विद्यानिष, ग्रह्मार, वेकदवर, पुरारि, युस्तान्दर, श्रीचर, व्यव, वायुदेव, मुकुन्त, बुद्धिमनं सान, नन्दन धौर संबय के सहित उनसे मिसने के लिए सानितुर साई। सानितुर से चैनन्य गया के किनारे-किनारे सानेवदर (उदीसा-स्थित) होते हुए नित्यानन्द, पंडित जगदानन्द, सानेदर पिष्टत, धौर सुकुन्द दत्त के साम पुरी के लिए रचाना हुए। फिर वे याजपुर धौर साक्षीगोपाल के निकट से होते हुए पुरी भाए। वहीं पहुँच कर वे सीचे जनभाव के मिनक में गए, उन्होंने मूर्ति की धोर स्थित्यात किया और में मूर्तिक हो। गए। सार्च-मीम मुद्रावार्व, जो उन्ह स्वय पुरी में निवास करते से, उनको धपने पर पर लाए, वहीं नियानन्द, सानोदर सभी भाए धौर उनके साच पुरते तो। यहाँ चिरायन्त नियानन्द, सानोदर सभी भाए धौर उनके साच पुरते तो। यहाँ चैत्रव

कुछ समय तक सार्वभौग के वर पर रहे और उनके साथ वाद-विवाद किए जिनमें उन्होंने शंकर के प्रदैतवादी सिद्धान्तों का खण्डन किया।

कुछ समय परचात चैतन्य दक्षिए। के लिए रवाना हए, धीर पहले कुमेस्यान बाए, जो सम्मवतः गंजम जिले (दक्षिली उडीसा) में स्थित है, फिर वे गोदावरी के किनारे होकर निकले और रामानंद राय से मिले। 'मिक्त-भाव' के सहम पक्ष पर खनके साथ एक वीधं वार्तालाप के कम में चैतन्य उनसे शस्यधिक प्रमाबित हए. उन्होंने उनके साथ कुछ समय मक्ति-संगीत व हर्षीन्मादों में व्यतीत किया । तत्पश्चात उन्होंने पुन: अपनी यात्रा आरम्भ की और कहा जाता है कि वे मिल्लकार्जुन-तीर्थ, श्रहोवल-नुसिंह, स्कन्दतीयं, भीर भन्य स्थानो से होकर निकले तथा बाद में कावेरी-तट पर श्रीरगम् में घाए। यहाँ वे वैकट मट्ट के घर में बार-माह तक रहे, तत्पदवात वे ऋषम पर्वत पर गए, जहाँ उनकी परमानन्द पूरी से मेंट हुई। यह कहना कठिन है कि उन्होंने दक्षिए में कहाँ तक यात्रा की, किन्तु वे कदाचित् त्रावनकोर तक गए। यह भी सम्भव है कि वे कुछ ऐसे स्थानों पर भी गए जहाँ मध्वाचार्य का बहुत प्रमाव था, भीर कहा जाता है कि उनके मध्य-सम्प्रदाय के बाचायों के साथ सवाद हुए । उन्होने वैष्णववाद के दो महत्वपूर्ण हस्तलेख, 'बह्य-सहिता' व 'कृष्ण-कर्णामृत' की खोज की, और उनको अपने साथ ले आए। कहा जाता है कि वे कुछ और आगे पूर्व में नासिक तक गए. किन्तु यह कहना कठिन है कि इन यात्राक्षों की कथा कहाँ तक सत्य है। लौटती यात्रा में उन्होंने पून. रामानन्दराय से मेंट की, जो उनके पीछे-पीछे परी गए।

उनके पुरी लीटने के पश्चान् पुरी के तत्कालीन नरेग प्रतापद्ध नं उननं परिचित्त होने की विजय की भीर वे उनके हिष्या हो गए। पुरी के चैतरम काशी मिश्र के मक्तान में रहने लगे। उनके प्रमुखायियों में सन्य अविक्रयों के साथ जनार्वन, रूप्यादास विक्रा माहिति, प्रयुक्त मिश्र, जगन्ताव दास, पुरारि माहिति, प्रयुक्त मिश्र, जगन्ताव दास, पुरारि माहिति, प्रयुक्त के प्रतीत करते वे। चैतन्य प्रपत्ता धायकां समय मक्ति-गीतो, नृत्यों व हवाँनमादों में अपतित करते वे। १४१४ ई० में वे धनेक प्रनुवायियों सहित इन्दावन के लिए रवाला हुए, किन्तु अब तक वे पाणिहाटि और कामारहाटि भाए तब तक उनके निकट हतना जन-समुदाय इक्ट्रा हो गया कि उन्होंने धपना कार्यक्रम रह कर दिया और वे पुरी लीट भाए। सामामी वर्ष की धरद-ऋतु में व सालबद महाचार्य के साथ पुत: इन्दावन के लिए रवाला हुए और वनारस प्राप्त, वहाँ उन्होंने बाद-विवाद में अकाश्वनर नामक एक

भावनीम के साथ इस घटना के सबंध में बहुत मतभद है, सस्कृत के 'चैतन्य-चौरता-मृत' और 'चैतन्य-चन्द्रोदय-नाटक' इस्ए।दास कविराज की बंगला 'चैतन्य-चरिता-मृत' के यहाँ प्रस्तुत किए गए विवरस से सहमत नहीं हैं।

दुविक्यात उपदेशक को पराचित किया, यो श्राहैतवादी विद्वांतों को मानते थे।
कृत्वावन में उन्होंने श्री कर पोस्ताओं, उदबदास मायद व सन्य लोगों से मेंट की।
तरिश्वात उन्होंने नृत्यावन व मयुरा छोड़ दिए धीर पंगा-तट से होते हुए हमाहवाद
गए। वहाँ वे बल्लम मुद्ध धीर रचुपति उपाध्याय के मिले धीर उन्होंने औरक्ष की
सविस्तार शामिक उपदेश दिया। बाद में वैतन्य सनातन से मिले धीर उनको धीर
शामिक उपदेश दिया। वे बनारस लीट, नहीं उन्होंने प्रकाशानन्य को पढ़ागा, फिर वे
पुरी लीट साए धीर वहाँ कुछ समय विताया। 'वेतन्य-वितामृत' में वैतन्य दिवाद साम्य को स्वाद से इन्हें कुछ समय विताया। 'वेतन्य-वितामृत' में वैतन्य की
देशवीय प्रेरशासस्या में उनके हवोंन्याद का वर्शन करने वाली कई कथाए कही गई हैं,
एक सबसर पर वे हवींन्याद की सवस्था में समुद्र में कुद पड़े वे धीर एक मछुए नै
उन्हें बाहर निकाला। परन्तु यह दुर्यांग्य का विषय है कि हमें उनकी मृत्यु के संबक्ष

## चैतन्य का भावावेशवाट

चैतन्य के धार्मिक जीवन में मिक्त के ऐसे अनन्य शारीरिक विकृतिजन्य लक्षरा ध्यमिक्यक होते हैं जिनकी कदाचित किसी भी धन्य ज्ञात संत के जीवन मे जोई समानता नहीं पाई जाती । सम्मवत: उनकी निकटतम समानता संत कासिस प्राफ ग्रमिमी के जीवन में पाई जा सकती है, परन्तु चैतन्य का भावना-प्रवाह अधिक आत्म-केन्द्रित व प्रमाह प्रतीत होता है। अपने मामिक जीवन के प्रारम्भ में वेन केवल 'कीर्तन' नामक एक विचित्र प्रकार के ब्रात्मोन्मत्त गीति नृत्य में निमन्न रहते थे, वरन् वे पूराएगे में कथित कब्ला के जीवन की विभिन्न घटनाम्रो का प्रायः अनुकरला भी किया करते थे । किन्त भ्रापने सन्यास जीवन की परिपक्तता के साथ-साथ उनका उन्माद भीर कृष्ण के प्रति उनका प्रेम इतन। अभिवृद्ध हो गया कि उनमें लगभग पागलपन एवं मिरगी के लक्षण विकसित हो गए। उनके रोम-रन्ध्रों से रक्त चूने लगता, उनके दांत किट-किटाने लगते. उनका शरीर एक क्षमा ही में सकवित हो जाता. और यागामी क्षमा में फूलता हुआ प्रतीत होता। वे अपना मूख फर्स पर रगड़ लिया करते और रोने लगते तथा रात्रि में उन्हें नींद नहीं आरती थी। एक बार वे समृद्र में कृद पढ़े, कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता कि उनकी हड़ियों के जोड़ विस्थापित हो गए हैं, और कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता कि उनका करीर संकृत्रित हो गया है। उनके गीतों का एक-मात्र आशय यह था कि उनका हृदय प्रम कृष्ण के लिए पीड़ित और विदीएं हो रहा है। उन्हें रामानन्द राय के स्वप्न, चण्डीदास और विद्यापित की कविताएं, विल्व-मगल का 'कृष्ण कर्णामृत' तथा जयदेव के 'गीत-गोविन्द' को पढ़ने में अनुरक्ति थी, इनमें से अधिकांश रत्यारमक माचा में कृष्ण-प्रेम के रहस्य-गीत वे। ऐसी हर्षोन्मल 'मक्ति' का विवरण हमें 'पुराणों' 'गीता' अथवा भारत के किसी भी अन्य धार्मिक साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, 'भागवत-पूराख़' में निःसन्देह एक दो खन्द हैं जो एक प्रकार से उस 'अक्ति' का पूर्वामास देते हैं वो हमें चैतन्य के जीवन में दिखाई देती है-परन्तु चैतन्य के जीवन के बिना बारीरिक विकृतिजन्य धार्मिक धनुमृति का हमारा भण्डार. धर्म में विश्वद्व भावावेशवाद की एक सबसे धाविक फलदायक उपज से शुन्य रहता । चैतत्व ने लगभग कुछ भी नहीं लिखा, उनके उपवेश ग्रल्प थे, और हमारे पास जन परिसंवादों का कोई प्रामासिक समिलेख नहीं है जिनमें उन्होंने भाग लिया बतलाते हैं। उन्होंने बहुत कम उपदेश दिए, उनका उपदेश प्राय: उनकी प्रपत्नी रहस्यारमक श्रद्धा एवं कृष्ण-प्रेम के प्रदर्शन में निष्टित होता था, फिर भी जो प्रभाव उन्होंने अपने समकालीन व्यक्तियों तथा अपनी मृत्यू के पश्चातु की कुछ शताब्दियों पर डाला वह श्रसाधाररा था। उनके समय में संस्कृत व बंगला साहित्य को एक नवीन प्रेरणा मिली. और एक बर्ब में बंगाल मिक्त-मय-गीति-काव्य से सिक्त हो गया । उनके जीवन-चरित-लेखकों द्वारा दिए गए विवरएों से हम जो कुछ संग्रहीत कर सकते हैं उसके श्रातिरिक्त उनके अपने दर्शन का कोई विवरत देना हमारे लिए कठिन है। जैसाकि द्रम द्वारो देखेंगे. उनके सम्प्रदाय के सदस्यों में जीव गोस्वामी ग्रीर बलदेव विद्याभवता ही सम्भवतः ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने एक प्रकार के दर्शन का निरूपण करने का प्रयास किया।

## चैतन्य के दार्शनिक मत के विषय में 'चैतन्य-चरितामृत' से संग्रह

सिस्तरच नहीं रसतों। वस्तुतः बहुन्तु सर्व 'प्राकृत' गुणों से रहित है, किन्तु वह वस्तुतः समाष्ठत गुणों से पूर्ण है। इसी दिष्टकोण से उपनिषदों ने बहुन्द का निर्तृ एां (गुण-रहित) के रूप में भी देखें निष्का है। जीवारसाएं 'साय-सिक्त के नियं क्षण में प्रति हों, किन्तु इंदवर 'प्राया-सिक्त' का नियनता होता है और उसके साध्यम से जीवारसाओं का भी नियमक होता है। इंदबर पपनी सजितन्त होता है और उसके साध्यम से जीवारसाओं का भी नियमक होता है। इस प्रकार जगत् निष्या नहीं है, पर, एक झुष्टि होने के कारण नाववान है। 'बहु-सुभ' की संकरवादी व्याक्या यत्तत है भीर उपनिषदों के साख्य के समुक्त नहीं है।

'जैतरम परितामुत' की 'मध्य-सीला' के मध्याय - में हमें भेग के ब्रादर्श की क्रिमक सेध्वता के संबंध में जैतन्य भीर रामानन्य के मध्य जो प्रसिद्ध दार्शाला हुआ था वह मिलता है। रामानन्य कहते हैं कि देवर के प्रति प्रति वर्ण-अमें के स्वृत्यावन वे उत्पन्न होती है। यहाँ यह व्याग देने की बात है कि 'मिल-रामानुत-रिन्मु' के सनुसार 'मिल' दार्योगिक झान 'कर्म' अथवा 'वैराम्य' की इच्छा से किसी भी प्रकार से प्रमावित हुए बिना तथा अपने स्वार्थ की अजिलाया से सम्बन्धित हुए बिना स्थय को इच्छा भी सेबा-मात्र के लिए उतके प्रति प्रनुरक्त करने में निहिन होंगी है।'

'बैतन्य-वरितामुल' में उद्वृत 'विच्या-पुराय' इस मत को मानता है कि वर्ण-वर्ग एवं धाअम-पर्ग के क्षपुरातन के द्वारा ही देवर को उपानना की जा सकती है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या वर्ण-वर्ग व धाअम-वर्ग का ऐसा धानुपानन एक व्यक्ति को 'मिक्ति' की प्राप्ति करवा तकता है प्रथमा नहीं। यह 'मिक्ते का पर्म केवल देवर के लिए ही उसकी सेवा करना है (धानुकूल्येन इन्छानुसेवनम्), तो वर्ण-वर्ग का धानुपानन उसकी प्राप्ति की धोर एक धानिवार्ण वर्रण नहीं माना जा सकता, उसका एकमात्र योगदान चित्त की खुढि हो सकता है जिसके द्वारा चित्त देवर के भगुग्रह को शहुए करने के योग्य वन वाप। रामानद के इस उत्तर से संतुष्ट न होकर चेतन्य उनसे धाग्रह करते हैं कि वे 'मिक्त' की धाषक धन्छी व्याक्या करे। उत्तर में रामा-नद कहते हैं कि एक घीर मी उन्नत धन्वया वह होती है जिबमें एक घण्ये सर्व सर्ग-पानन में ईश्वर के प्रति धायने सकत स्वार्थों का त्याग कर देता है, किन्तु एक घीर मी धाषक उत्तर धन्तया होती है जिबमें एक व्यक्ति स्वर्ण देवर-प्रेग के द्वारा धपने

भ्रत्याभिलाविताश्चन्यं ज्ञान-कर्माद्यनादृतम् ।
 भ्रानुकृत्येन कृष्णानुसेवनं मक्तिरुत्तमा ।

<sup>–&#</sup>x27;मक्तिरसामृत-सिन्धु' १·१.६ ।

सर्व धर्मी का त्यान कर देता है। जब तक एक व्यक्ति स्वयं अपने लाभ के संबंध के सर्व विचारों का परित्याग नहीं कर सकता, तबतक वह प्रेम-मार्ग में प्रप्रसर नहीं हो सकता । भागामी उन्नत भवस्या वह है जिसमें मक्ति ज्ञान से भमिसिणित हो जाती है। किन्त, विश्व मिक में ज्ञान का कोई भी अवरोधक प्रमाव नहीं होना चाहिए, दार्शनिक ज्ञान और कोरा वैराग्य मिक्त के मार्ग में बाधक होते हैं। र्रहतर के स्वरूप का जान और मानव व ईडवर के बनिष्ट संबंध का जान मिक्त के लिए अवाधक माना जा सकता है। हमारे मन की ईश्वर के प्रति सहज एवं अनन्य बासक्ति ही 'प्रेम-मक्ति' कहलाती है, वह पाँच प्रकार की होती है-- 'बान्त' (शान्त प्रेम) 'दास्य' (ईश्वर का सेवक) 'संस्य (ईश्वर से मित्रता),' 'वात्सल्य' (ईश्वर के प्रति समता) और 'माधुर्य' (सखुर प्रेम, खबवा प्रेमी के रूप में ईश्वर का प्रेम) । द्यत: विभिन्न प्रकार के प्रेम श्रेच्ठता के कम में उपरोक्त विधि से व्यवस्थित किए जा सकते हैं, वस्तत: अपने पति अथवा प्रेमी के रूप में ईश्वर का प्रेम उच्चतम होता है। इन्दावन में कृष्ण की प्रेम-कथायों में गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम. ग्रीर विशेषतः राधाकाकृष्याके प्रति प्रेम इस उच्चतम प्रेम का प्रतिरूप है। रामानंद ध्यपना सम्माथण इस कथन से समाप्त करते हैं कि प्रेम के उच्चतम शिखर पर प्रेमी धीर प्रेमिका एकत्व में विलीन हो जाते हैं. नथा उन दोनों के माध्यम से प्रेम की एक ब्रह्मिय ब्रिअव्यक्ति फलीभूत होती है। जब प्रेमी ग्रीर प्रेमिका प्रेम के सञ्चर दग्ध-प्रवाह में झपना व्यक्तित्व को बैठते हैं तब प्रेम झपने उच्चतमा स्वरमान को प्राप्त कर लेता है।

बात में, 'मध्य लीला,' प्रध्याय २६ में 'शुद्ध मंत्रिक के स्वरूप की व्याख्या करते हुए पैत्रिय कहते हैं कि छुद्ध मंत्रि बढ़ होती है जिसकों मत्ति यह नामताधों सर्व स्पेपचारिक उपास्ता, वर्ष झात कर्म का परित्याय कर देता है और सपनी सर्व इंदिय-बाक्तियों से कुच्छा के प्रति झासक हो जाता है। एक सच्चा नक्त ईश्वर से कुछ भी नहीं चाहता, फिन्तु केवल उसे प्रेम करते से संतुष्ट रहता है। उसमें मानची ग्रेम के समस्य ही तक्षरों का प्रदर्शन होता है, वो श्रेष्ठता की पराकाच्छा पर यहंच जाते हैं।

'मध्य-सीला' के ग्रध्याय २२ में यह कहा गया है कि मिक की तीवता की मिलता मावावेश की ख्रवाइता की मिलता पर निर्मर करती है। वो ब्यक्ति कृष्णु का मक्त होता है उसमें प्रारम्भिक नैतिक गुण होने चाहिए, उसे द्यानु, सत्यवक्ता, सबके प्रति समान, प्रहिसक, उदार-चित्त, कोलत, विचुद्ध, निःस्वार्यी, धपने व म्या व्यक्तियों के प्रति सान्तिमय होना चाहिए, उसे परोवकारी होना चाहिए, कृष्णु को धपना एकमान भावय मान कर उसी पर साचारित रहना चाहिए, किन्ही सन्य एक्यामां आवय मान कर उसी पर साचारित रहना चाहिए, किन्ही सन्य एक्यामां

में भावत्क नहीं होना चाहिए, इन्एा की उपासना करने के प्रयत्न के मितिरक्त मन्य कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए, दिवर रहना चाहिए अपनी सर्व नासनामों को पूर्ण नक्ष में स्वता नाहिए, उसे ससावधान नहीं रहना चाहिए, सम्य व्यक्तियों का मादर करने के सिए तरपर रहना चाहिए, उसे प्रश्नों को मोदर करने के सिए तरपर रहना चाहिए, उसे प्रश्नों को सेथ्यूवंक सहन करने के सिए तरपर रहना चाहिए, उसे प्रश्नों को सेथ्यूवंक सहन करने के सिए तरपर रहना चाहिए, उसे प्रश्नों का मन्यः उदय होगा। एक सच्चे वैद्याव को स्वित्र वेद्याव ने स्वत्र होगा। एक सच्चे वैद्याव को स्वत्र होगा वेद स्वत्र होगा। एक सच्चे वैद्याव को स्वत्र होता उस सामित रहना चाहिए। इच्छा पर माश्रित रहना मोद उसके प्रति मार-स्वर्ण करना एक वैद्याव का चरम वर्ग है। इच्छा पर माश्रित रहना मोद उसके प्रति मार-स्वर्ण करना एक वैद्याव का चरम वर्ग है। इच्छा-प्रमाण करना एक वैद्याव को मार-स्वर्ण में प्रति मार-स्वर्ण होता है। इच्छा-प्रता को सिम्प्यांक होता है, मीर चूंकि वह वीवासमामों का एक प्रत्यक स्वर्ण होता है इसिए ईस्वर के प्रति जीवासमामों का मार-प्रवाण प्रति वास होता है इसिए इच्छा नत नत पुर्त रह सकता है, किन्य वह उपयक्त प्रवक्त सम्बन्ध होता है जीवासमामों का स्वर्ण वासव-जीवन का एक मुल-प्रत तथ्य है, वह कुछ कान तक पुर्त रह सकता है, किन्य वह उपयक्त प्रवक्त सम्बन्ध होता है जावत होता है। स्वर्ण होता है। वह इच्छा होता विद्याव है।

जीवात्माएं देश्वर की झाविनी और 'सांगत' बाकि दोनो की अंशमायी होती हैं, तथा 'साया-वाक्ति जड़ पदार्थ में अभिक्यक होती हैं। दन दो बाकि-समुदायों के मध्य में होने के नाएण जीवात्माएं 'तटस्थ-वाक्ति कहनाती हैं। एक जीवा-त्मा एक बार वड़ बाक्तिमाँ व साकर्यकों से प्रदत्त होती है, और देश्वर की 'झादिनी-वाक्ति' से वह ऊपर की बोर प्रेरित होती है। इसलिए एक मनुष्य को ऐसा पथ प्रहुष करना चाहिए कि जहात्मक साकर्यकों एव इच्छायों की बाक्ति कम्मशः घट जाय, विसक्ते फतस्वरूप वह ईश्वर की 'झादिनी-वाक्ति' के द्वारा धागे बाक्यित हो सके।

### चैतन्य के कक्ष साथी

चैतन्य के एक श्रांति प्रियपात्र निर्धानय थे। उनके जन्म और मृत्यु की यथार्थ निषि का पता लगाना कठिन है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे चैतन्य से कुत्र वर्ष के हैं थे। वह जाति के बाह्यण थे, परन्तु 'सबसूत' वन जाने के कारण जाति नेय नहीं मानते थे। वह चैतन्य के द्वार के तो पुरी में चैतन्य की प्रयुक्तित में बंगान में बैद्याय कर्म का प्रचार करते थे, कहा जाता है कि उन्होंने बंगान के प्रमेक बोढ़ों व निम्म जाति के हिन्तुओं को मैक्स चैत्र विकास अधिक प्रमेक बोढ़ों व निम्म जाति के हिन्तुओं को मैक्स चित्र वाता है कि उन्होंने बंगान के प्रमेक बोढ़ों व निम्म जाति के हिन्तुओं को मैक्स चित्र वाता है कि जीर कतना के भीरदास करता है भीरदास स्वाप्त करता के भीरदास करता है भीरदास करता है भीरदास स्वाप्त करता है भीरदास करता है भीरदास करता है भीरदास स्वाप्त करता है भीरदास करता है भीरदास स्वाप्त स्वाप्त स्वाप्त करता है भीरदास स्वाप्त स्वा

सर्वेल के आई सूरवदास सर्वेल की दो कन्याओं से विवाह कर लिया, ये दो परिनयां समुधा और बाह्नवी थीं। नित्यानन्य के पुत्र नीरचन्द जिन्हें नीरमद्र भी कहते हैं, वैच्छाव इतिहास के उत्तरवर्ती काल में एक प्रमुख विद्वान हुए।

प्रतापद्ध पुरुषोत्तमदेव के पुत्र के, वो १४७६ में खिहासनास्कर हुए सीर प्रतापद्ध स्वयं १४०६ में खिहासनास्कर हुए। वे बहुत विद्यान के बीर साहित्यक विवादों में विद्यान के पित साहित्यक विवादों में विद्यान के पित साहित्यक विवादों में में स्वित जनके सर्वयं में कहते हैं कि उन्होंने क्षणनी देना लेकर रामेश्वरए पर चढ़ाई कर दी थी भीर विवानगर नामक प्रसिद्ध नगर को ले लिया, उन्होंने मुस्तमानों है भी ग्रुद्ध किया वा धौर उन्हों पर साक्ष्मण करने है रोका। पुरी में चीरण के कार्यों की लिया मुख्यता १९६६ मीर १४३६ के मच्या ने पहली है। रामानन्द राम प्रतापद्ध के एक मत्री थे, धौर उनकी मध्यस्थात ते चीरण प्रतापद्ध के सम्पर्क में साए थो उनकी एक समुदादी हो गए। प्रतापद्ध के संपरिवर्तन विहत चैतन्य की प्रतिष्ठा ने उद्देश के कार्य साम के उन समुदाय पर एक गम्मीर प्रभाव झाला धौर उनके कनस्वरूप प्रवाद एवं को दस्ता का श्रद हमा वि

चैताय के काल में हुसेनखाह गौट के नवाब थे। इस्लाम में सपित्यतित दो बाह्यण, जिनके सकर मिलक धौर रिवर लास मुलनमानी नाम थे, उनके दो उच्च प्रिकारी थे, उन्होंने चैतम्य को रामकेलि में देखा था धौर वे उनसे सार्थिक प्रमानित हुए थे। पीछे प्रपनी समस्त सपित उन्होंने निवंशों में बांट दी श्रीर सम्यासी होकर वे सनातक धौर क्य नाम से विक्यात हुए, कहा जाता है कि रूप चैन्या से बनारक में मिले, जहाँ उन्हों उनसे उपयोग सन्हान रचनाए लिली, यथा-'ललित माचव' 'विवरयमाध्य' 'जुक्यवल-नीनमांग,' 'उत्किकिन: स्वारी (१११० में लिलित) 'उदब-इत' 'उपयेशामुल' 'कार्यव्य-पु जिका,' 'गंझाटक' 'पीनिक्ट-विकटावली' 'गीरा कुरूवनदे चैतमाटक, वान केलि कीमुरी, नाटक चिटका, 'पानुकार-प्रमानिक,' प्रमान्य-वादमी,' 'गुकुत्य-पु जिला,' 'पानुकार-क,' 'रसामुल' 'किया कुरुवानेलि,' 'पानुकार-क,' 'रसामुल' 'विवाप कुरुवानेलि,' 'पानुकार-कुरुवानेलि,' 'पानुकार-क,' 'रसामुल' 'विवाप कुरुवानेलि,' 'पानुकार-क,' 'रामक-व्यक्ति' 'रसवमाला' 'रहस्तुत-व्यक्त,' 'विधायादक,' 'रस्वप्त-व्यक्ति' 'रसवमाला' 'रस्वप्त-व्यक्ति' 'रसवमाला' 'रस्वप्त-वाद्वि' 'रसवमाला' 'रसव्यक्त-वाद्वि' 'रसव्यक्ति' 'रसव्यक्ति' 'रस्वि' 'रस्वि'

सनातन ने निम्नलिखित रवनाएं सिक्षीं—'उज्ज्वस-रस-कथा' 'उज्ज्वस-गीलगरिए-टीका,' 'मित-बिन्हु,' 'मोत-क्रुक्टमें,' 'मानवत-कम-संदर्भ,' 'मागवतामृत' 'योग-साक-माक्याना,' 'विक्या-तोविया),' 'हरियक्ति-विवास,' मेति-रसामृत-किन्नु। बन हुनैन साह ने यह मुना कि सनातन उन्हें खोड़ वेने का विचार कर रहे हैं, तब उन्होंने जन्हें कारावार में बाल दिया, परंजु बनातन ने कारावार के सम्यक्ष को पूंस दे दी, जिसने उन्हें नुक्त कर दिया। उन्होंने दुस्त गया पार कर सम्यास-श्रीयन प्रहरण कर लिया, भीर धपने माई रूप से मेंट करने के लिए मधुरा गए, तथा पैतन्य से मेंट करते हेतु पूरी नीटे। पूरी में कुछ माह तक रह कर यह इन्दायन गए। इस बीच रूप भी पूरी चले गए वे भीर यह भी इन्दायन लीट भाए। यह दोनों महानृ मक्त ये भीर उन्होंने धपना जीवन कुष्ण की उपासना में स्वतीत किया।

षडीताबायं का वास्तविक नाम कमनाकर प्रद्वावार्य था । उनका जन्म १४३४ में हुमा था, धौर इस प्रकार वह चेतन्य से बावन वर्ष वडे में, वह संस्कृत के बहुत बड़े विष्यत के धौर वान्तिपुर में निवास करते के । वह धनना प्रध्ययन समाप्त करने के तिए नवडीए गए। इस समय जोग बहुत जड़वादी वन गए थे, प्रदेत इस पर बहुत दु, बी थे, धौर प्रपने मन में उनके मानन-परिवर्तन के लिए फिसी महान् शांक के उदय के लिए प्रार्थना करते थे। सन्यास-बहुए करने के पश्चात चीत्रपुर में प्रदेत के यहाँ गए थे, जहीं दोनों हर्षोन्मार पुक्त नृत्यों का धाननर तेते थे, उस समय प्रदेत कावक्र प्रचार प्रवृत्ता के के हा वाता है कि चैतन्य से मेंट करने के लिए पुरी पए थे। बुद्ध विद्यानों के अनुवार धाँत है कि चैतन्य से मेंट करने के लिए पुरी पर थे। इन्हां विद्यानों के अनुवार धाँत है कि चैतन्य से मूंट थे, तथा धान्य विद्यानों के अनुवार १५०४ में (जो धाँवश्वतानीय है)।

सद्वेत और नित्यानन्य के सतिरिक्त चैतन्य के सनेक सन्य साथी वे जिनमें एक भीवास स्ववा श्रीनिवास थे। यह सितह्य के एक ब्राह्मण थे वो नवडींग में प्राक्तर स्व गए थे धीर यथेव्छ धनाइय थे। उनकी ठीक-ठीक जन्म-तिश्व बताना सम्बव स्व गए थे धीर यथेव्छ धनाइय थे। उनकी छील हो चुको थी (जब जयानद ने सपना 'चैतन्य-मंगल' लिखा)। मंत्रवतः जित्त समय चैतन्य का जन्म हुस्य वह वालीस वर्ष के थे। बातक चैतन्य श्रीवास के पर बहुधा बाया करते थे। यथि प्रपने प्रारम्भिक जीवन में वह न्यूनाधिक सास्था-रहित थे तथाि 'शागवत' के प्रथम के प्रात्म प्रति मुत्राचिक सास्था-रहित थे तथाि 'शागवत' के प्रथम के प्रथम के प्रति मुत्राच्य थे। जब गया से लीटने पर चैतन्य का मन ईववरोन्मुक्षी हुस्या, नव श्रीवास का घर ह्योंग्याद मुक्त नृत्यों के रामूमि वन गया। इसके उपरांत श्रीवास चैतन्य के एक महान् श्रिष्य वन गए। चैतन्य के जीवन-कवाकार, इन्दावनदास की माता नारायणी श्रीवास की एक मतिशी थे।

प्रतापद्ध के मंत्री एवं 'वगन्नाथ-वस्तम' के लेलक रामानन्दराय की चैतन्य श्रायिक प्रश्नता करते थे। वे मध्य मारत में विद्यानगर के मूल-निवासी थे। 'वैतन्य-चरितामृत' में विद्यात प्रसिद्ध वार्तालाथ प्रदर्शित करता है कि कैसे स्वयं चैतन्य ने परा श्रातक के संबंध में रामानन्द से शिक्षा ती। श्रापनी घोर से रामा-नद राग सी चैतन्य के प्रति बहुत श्रासक वे घोर प्रायः उनके साथ समय व्यतीत करते थे।

#### अध्याव ३३

# चॅतन्य के 'अनुयायी जीव गोरवामी व बलदेव विद्याभूषरा का दर्शन

### तत्व-मीमांसा

जीव गोस्वामी चैतन्य के तुरन्त पश्चान् सम्पन्नता को प्राप्त हुए थे। उन्होने 'भागवत-पुराएा' पर एक टीका लिखी जो उनके प्रमुख ग्रन्थ 'घट-संदर्भ' का द्वितीय सध्याय (मागवत-संदर्भ) है। इस सध्याय में वे कहते हैं कि जब महान ऋषि सपना परम तरव से तादारम्यीकरण करते हैं तब उनके मन प्रमु की विविध शक्तियों की धनुभूति करने में श्रसमर्थ रहते हैं। उस समय प्रम का स्वरूप एक सामान्य रूप में लक्षित होता है (सामान्येन नक्षित तथैव स्फुरत, पृ० ५०), और उस अवस्था में बहान की शक्तियाँ उससे भिन्न प्रत्यक्ष नहीं की जाती। परम तत्व अपनी स्वरूप शक्ति (स्वरूपास्थितया एव शक्त्या) के कारण अपनी अन्य सर्व शक्तियों का मुलाश्रय बन जाता है (परासामपि शक्तिनां मुलाभयरूपम्), भौर भक्ति-माव के द्वारा मक्तों को विभिन्न शक्तियो का स्वामी प्रतीत होता है, तब वह मगवान कहलाता है। विश्वद्ध भागन्द तो विशेष्य है, भीर. बन्य समस्त शक्तियाँ उसकी विशेषण होती है, बन्य समस्त अक्तियो से विशिष्ट होने पर वह 'भगवान' कहा जाता है। इस प्रकार बह्यन का प्रत्यय सगवान द्वारा निर्दिष्ट सम्पूर्ण व्यक्तित्व की धाँशिक श्रमिव्यक्ति होता है, यही मगवान सर्व प्राशियों व उनकी गतिविधियों के नियंत्रक के पक्ष में परमात्मन के रूप में सभिध्यक्त होता है। ब्रह्मन, मगवान् व परमात्मन् के तीन नामो का प्रयोग पूर्ण मिश्चित ग्रर्थ के विभिन्न पक्षो पर जो बल दिया जाता है उसके प्रनुसार किया जाता है, इस प्रकार ज्यों-ज्यों ईश्वर के एक विशेष पक्ष का बाविर्माव उपासक के बनुभव में होता है, वह उसे बहान, मगवान ष्यवा परमात्मन के नाम से सबंधित कर लेता है।

मानन्द-मात्रं विशेष्य समस्ताः शक्तयः विशेषसानि विशिष्टो मगवान् ।

<sup>--</sup>वट्-संदर्म, पृ०५०।

तत्रैकस्यैव विशेषसा-मेदेन तदविकिष्टत्वेन च प्रतिपादनात् तर्पैव तत्-तदुपासक-पुरुषानुभव-भेदाच्च ग्राविर्माव-नाम्नोभेदः । —वही, पृ० ५३ ।

बहुत्त् पत्र की शतुपूति तब होती है वब उपायक के सन के सन्मुल विशिष्ट मुखों एवं चिक्रमों का साविमांव नहीं होता। उपायक के साव्यक्ष्म के रूप में बुद्ध चैतन्य का बोच करने में बुद्ध चैतन्य के रूप में बहुत्त् का बोच मी हो बाता है, साव्य-चक्क्ष बहुत्त् के साच तावाय्य का बोच विशेष मक्ति-सावना के हारा उदित होता है। चंकर हारा व्याच्या किए गए बेरांत के सहैतवादी सम्प्रदाय के अनुसार धारमन् का बहुत्त्व के तावाय्य 'तत् त्यमित' नायक बेदान्त महानाव्य के उपरेश के हारा उदित होता है। कित्तु यहाँ तादाव्य मक्ति-साथना स्वया उससे उत्पक्ष देवरानुबह के हारा आविभूत होता है।

प्रवान का बान 'वैकुट' कहा जाता है। इस बब्द की दो व्यावस्थाएं हैं, एक अर्थ में वह 'नायां से बाहत बहान से स्वत्यं से एकक्त कहा जाता है, क्या व्यावसा में वह एक ऐसी सत्ता कहा जाता है वो न तो 'रवत्' एवं 'तमस्' में धिना प्रक्रिक की किए हो ने के कारण ध्रवत्यं की। सम्बान की स्वक्त धार्कि की प्रमिष्मित होने के कारण ध्रवत्यं बुद्ध 'सत्य' के क्य में उसे एक मिन्न हम्म से पुक्त माना जाता है। यह बुद्ध 'सत्य' संस्थावादियों के जह 'सत्य' से विन्न होता है, बो 'रजस्' व 'तमस्' में सर्वापत होता है, बो 'रजस्' व 'तमस्' में सर्वापत होता है, धीर हम कारण से उसे 'प्रमानक समान जाता है। हसी कारण उसे नित्य एक धर्मपत्रवर्तविता साना जाता है। सावारण 'पूर्ण' वेले-'सत्य,' 'पत्रक्ष' बीर 'उमस्' 'काल-बीत्त क्षां प्रमान से तरदंग होते है, किन्तु 'सत्य-वैकुट्ड' 'काल' के नियंत्रण में नहीं होता ।'

१ वही, पृ० ४४ । ततु सूल्य-विष्-रूपलं पदार्थानुमने कथं पूर्श-विद्याकार-रूप-मदीय-ब्रह्म-स्वरूपं स्कृत्तु तत्राह, धनन्यबोध्यारमतया चिदाकारता-सान्येन मुद्धस्थं पदार्थस्य-बोध्य-स्वरूपतया । यद्यपि ताहगारमानुबबानग्यर तत्नय-बोध्यता-कृती साषक-शक्ति-विल्तायापि पूर्व तदर्थस्य कृत्या सर्वत्रापि उपविध्यया साधन-मदाप्य धराप्तितस्य श्रीश्रवतः प्रमावदेश तद्यपि तत्रवेश्यते । —सृही, पृ० १४ ।

न्या वेश्वरूठात् परं ब्रह्मास्य तस्य परं मिन्नं न नवति । स्वरूपतिः-विवेधा-विकारेशः मायया नाहतं तदेव तद्-रूपम् । —नहीं, पू० ५७ ।

यत्र बैकुच्छे एअस् तमस्य न प्रवर्तते । तथोमिश्यं सहयरं अङ्ग्यत् सत्यं न तदि ।
 किन्तु अन्यदेव तच्य या सुच्छु स्थापविष्यमाणाः ।
 मायातः परा अगवत्-स्वरूप-शक्तिः तस्याः

वृत्तित्वेन विद्-रूपं शुद्ध-सत्वारव्यं सत्त्वम् । -वही, पृ॰ ४८ ।

र यह मत कि पूर्यों का विकास 'काल' की गाँउ से होता है, सांस्य के साधारण प्राचीन मत में स्वीकार नहीं किया जाता, पर वह 'पंचराव' सम्प्रदाय का एक सिद्धान्त है।

इस प्रकार 'बैकुष्ट' फिल्ही पुणों से रहित होने के कारण एक धर्ष में निविधेष (मैदरहित) माना जा सकता है, किन्तु एक सम्य सर्व में यह कहा जा सकता है कि उन्हों भी मेद का सन्तित्व होता है, यदापि वे केवल सुद्ध 'सत्व' समवा ईस्वर की स्वक्य-विक्त के कप के हो सकते हैं।"

'स्वरूप-शक्ति' और 'मामाशक्ति' परस्पर विरुद्ध होती हैं, तथापि वे दोनों ईव्वर में घारए। की जाती हैं। <sup>क</sup> ईव्वर की शक्ति एक साथ ही 'स्वामाविक' ग्रीर 'मचिन्त्य' होती है। मागे यह माग्रह किया जाता है कि सामारए। जगत् में भी वस्तुओं की शक्तियाँ प्रचिन्त्य होती हैं, प्रवीत् न तो उनका वस्तुओं के स्वरूप से निगमन किया जा सकता है, धौर न उनका साक्षात् प्रत्यक्ष किया जा सकता है, किन्तू जनको मानना पढ़ता है क्योंकि ऐसी मान्यता के बिना कार्य की व्याख्या सम्मव नहीं होगी। 'अचित्य' शब्द का यह भी अर्थ होता है कि यह कहना कठिन है कि शक्ति इत्य से एक रूप है बयवा वह उससे मिन्न है, एक झोर तो शक्ति को द्रव्य से बाह्य नहीं माना जा सकता तथा दूसरी कोर यदि वह उससे एक रूप होती तो कोई परिवर्तन, कोई गति, कोई कार्यनहीं हो सकताया। द्रव्यका प्रत्यक्ष किया जाता है। परन्तु शक्ति का नहीं, किन्तु, चूँकि एक कार्य समया एक परिवर्तन उत्पन्न होता है इसलिए उपपत्ति यह होती है कि इब्य ने अपनी शक्ति अथवा शक्तियों के माध्यम से ब्यापार किया होगा। इस प्रकार, द्रव्य में स्थित शक्तियों के ब्रस्तित्व को तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु एक उपपत्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है। ब्रह्मन् के सबध में भी ऐसा ही होता है, उसकी शक्तियाँ उसके स्वरूप से एकरूप होती है, मतएव उससे सह-नित्य होता है। 'अचिन्त्यत्व' को प्रत्यय प्रत्यक्षतः विरुद्ध प्रत्ययो का सामंजस्य करने के हेतू प्रयुक्त किया जाता है (दुर्घट-घटकस्वं ह्यचिनस्यस्वम्)। 'म्रन्तरंग-स्वरूप-शक्ति' ब्रह्मन् के स्वरूप में स्थित रहती है (स्वरूपेस) तथा 'बैकूफ' आदि नामों से सुचित उसकी विविध अभिव्यक्तियों के रूप में भी स्थित रहती है (वैकुण्ठादि-स्वरूप-वैभव-रूपेसा)। र दितीय शक्ति (तटस्य शक्ति) का प्रतिनिधिस्व

ननु गुगुाद्यमावान् निविशेष एवासी लोक इत्याद्यंस्य तत्र विशेषस्तस्याः शुद्ध सत्त्वात्मिकायाः स्वरूपानितिरक्त-सक्तिरेव विश्वास-रूप इति ।

<sup>–</sup>षट्-संदर्भ, पृ० ५६।

ते च स्वरूप शक्ति माया शक्ति परस्पर-विरुद्धे तथा तथोवृंतयः स्व-स्व-गण् एवं परस्परा-विरुद्धा श्रपि बह्वयः तथापि तासायेकं निधानं तदेव । -वही, पृ० ६१ ।

वोके हि सर्वेषां भावानां मिल्-मन्त्रादीनां शक्तयः स्विन्त्य-झान-गोचराः स्विन्त्यं तकसहं यथ्जानं कार्यान्ययानुपपत्ति-प्रमासुकं तस्य गोचराः सन्ति ।

<sup>-</sup>बही, पू० ६३-४।

<sup>¥</sup> वही, प्र•६५।

शुद्ध बीवास्मामों द्वारा किया बाता है। तृतीय बक्ति (वहिरंद-माया-वक्ति) का सर्व बह्माम्बीय पदार्थों के विकास-कम् एवं उनकी मूल 'प्रवान' के द्वारा प्रतिनिधित्व किया बाता है। यहां सूर्य, उसकी किरएँस मेर परवर्तन के फलस्वक्थ म्रीमध्यक्त विभिन्न रंगों के साहस्य को प्रस्तुत किया बाता है। 'याया' की बाह्य बक्ति (वहिरग शक्ति) बीवों को प्रमावित कर सकती है किन्तु बहुन् को नहीं।

'माया' की 'मागवत' (श्रीधर की व्याख्या के अनुसार) में इस रूप में परिमाया दी जाती है कि वह किसी भी विषय के बिना अभिज्यक्त होती है और फिर भी मिध्या प्रतिबिम्ब की मौति वह अपने स्वरूप में प्रत्यक्ष नहीं की जा सकती। इसकी 'भागवत-संदर्भ' में एक भिन्न रूप में व्याख्या की गई है, जहाँ यह कहा गया है कि 'माया' वह है जो परम सत्ता अथवा बहान के बाहर प्रतीत होती है. और बहा-प्राप्ति के पश्चात जिसका आभास समाप्त हो जाता है। अपने स्वरूप में उसका कोई आमास नहीं होता अर्थात बहान के बाश्रय के बिना वह अपनी अभिव्यक्ति नहीं कर सकती. इस प्रकार वह 'जीव-माया' और 'गुल-माया' इन दो रूपों में ब्रह्मन से संबंधित रहती है। जिस 'ब्रामास' के साटक्य की श्रीघर द्वारा 'मिच्या प्रतिविम्ब' के रूप में व्याख्या की गई थी उसकी यहाँ सर्य-मण्डल के बाहर से सर्य के प्रकाश के परावर्तन के रूप में क्याख्या की जाती है। सर्व के प्रकाश का ग्रस्तिस्य सर्व-मण्डल के आवय के बिना नहीं हो सकता । किन्तु यद्यपि ऐसा नहीं होता, तथापि सूर्य के प्रकाश का स्वतंत्र कार्य हो सकता है भीर वह प्रतिबिध्यत भयवा परावर्तित होने पर मण्डल के बाहर कीडा कर सकता है, जैसे, वह एक मनध्य की सांखों को चकाचींय कर सकता है, और उन्हें भवने यथार्थ स्वरूप के प्रति संघा बना सकता है, तथा स्वयं को विविध रंगो में अभिव्यक्त कर सकता है। इसी प्रकार तम का साहदय यह प्रदक्षित करता है कि यकपि जहाँ प्रकास होता है वहाँ तम का सस्तित्व नहीं हो सकता, तथापि वह स्वयं नेत्रों के प्रकाश के बिना प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। 'प्रकृति' और उसके विकार केवल ग्राभव्यक्तियाँ ग्रचवा ग्रामास मात्र हैं, जिनकी 'माया' की शक्ति के द्वारा ब्रह्मन के बाहर सच्टि की जाती है, 'माया' की प्रक्रिया 'प्रारा' 'मनस' व इन्द्रियों के व्यापार तथा शरीर इस कारण सम्भव होते हैं वे कि ईश्वर की मौलिक 'स्वरूप-शक्ति' से परि-क्याप्त होते हैं। विस प्रकार एक लोहे का टकडा, जो भ्राप्त से भ्रपनी उच्छाता प्राप्त करता है. स्वयं उस ग्रान्त को जला ग्रववा किसी रूप में प्रमावित नहीं कर सकता, उसी प्रकार 'माया' एवं उसके झामास, जो ईववर की स्वरूप-शक्ति से घपना

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद्विचादात्मनो मायां यथा भास यथा तमः ।

स्वरूप-भूतास्थामन्तरंगां शक्तिः सर्वस्थापि प्रदृत्यन्यथानुपपत्था ।

<sup>-</sup>बही, पृ० ६६।

तरच प्राप्त करते हैं, स्वयं ईश्वर धवना उत्तकी स्वरूप-तक्ति को किसी थी. रूप में प्रभावत नहीं कर सकते।

'जीव' शरीर को ज्ञात कर सकते हैं, किन्तु वे परम तस्व एवं सर्व वस्तुओं के **परम ट**च्टाको ज्ञात नहीं कर तकते। 'मावा' के द्वारा ही विभिन्न वस्तुएं एक भामासी स्वतंत्र मस्तित्व रसती हैं, भौर जीवों के द्वारा ज्ञात की जाती हैं, किन्दू बहान् का यथार्थं व बनिवार्थं स्वरूप सर्वं वस्तुओं में सदा एक-रूप रहता है, और, चूँकि उस बवस्था में कोई द्वेत नहीं होता है इसलिए कुछ भी जेव नहीं होता है और न ही उससे पृथक् कोई रूप होता है। जो परम तत्त्व सर्व वस्तुओं को अभिन्यक्त करता है वह स्वयं को भी श्रमिव्यक्त करता है-विद्व की उच्छा रहिमयां जो श्रपना श्रस्तित्व विह्न से प्राप्त करती हैं, वे स्वयं विह्न को नही जला सकतीं। " 'गुरा,' 'सत्व,' 'रजस्' व 'तमस्'-'जीव' में स्थित रहते हैं, न कि ब्रह्मन् में, इसी कारए। से, जब तक 'जीव' 'माया' की शक्ति से सज्ञान में रहते हैं, तब तक इत का मामास होता है, जो झाला एवं जेय के घामास को भी उत्पन्न करता है। पूनः 'माया' दो प्रकार की कही गई है, 'गुरग-माया' को 'जड़ारिमका' होती है, और 'श्रारम-माया' जो ईश्वर की शक्ति होती है। 'जीव-माया' का प्रत्यय भी होता है, जो पुनः तीन प्रकार की होती है-सुजनात्मक (भू), रक्षात्मक (श्री) घौर विनाशात्मक (दुर्गा) । 'ब्रात्म-माया' ईश्वर की 'स्वरूप-कार्ति होती है। एक अन्य अर्थ में 'माया' को तीन 'मुखों' से निमित माना जाता है। 'योग-काया' सब्द के भी दो अर्थ होते हैं-जब उसका प्रयोग योगियो अववा ऋषियों की शक्ति के सर्थ में किया जाता है तब उसका सर्थ योगाम्यास से प्राप्त चमत्कार पूर्ण सक्ति होता है, जब उसका ईश्वर (परमेश्वर) के लिए प्रयोग किया जाता है, तब उसका धर्य गुद्ध चैतन्य के रूप में उसकी चिच्छक्ति की भ्रमिव्यक्ति होता है (बिच्छक्ति विलास)। जब 'माया' का प्रयोग 'घारम-माया' ग्रयवा स्वयं परमेश्वर की 'माया' के रूप में किया जाता है, तब उसके तीन धर्व होते हैं, धर्यात् उसकी 'स्वरूप-शक्ति' ज्ञान व किया से समाविष्ट उसकी इच्छा (ज्ञान-किए), तथा चैतन्य के रूप में उसकी शक्ति का विलास (चिन्छक्ति-विलास)। इस प्रकार, 'बैकूण्ट' में

श्वरूप-वैभवे तस्य जीवस्य रिम-स्वानीयस्य मण्डलस्थानीयो य झाला परवात्मा स एव त्वरूप-शक्त्या सर्वमभूत, 'धनावित एव भवनास्ते, न तु तत् प्रवेशेन, तत्तत्र इतरः स जीवः केनेवरेश करण-मुतेन कं वदायं पर्वत्, न केनापि कमणि पर्वत्-तित्यवं, नहि एतम्यः त्वराक्त्या सूर्य-मण्डलान्तरत्व-वैचवं प्रकार्यवेषुः, न चारिष्को विद्वि निवेषुः।

मीयते सनया इति माया-सन्देन शक्ति मात्रमपि मध्यते । -वही, पृ० ७३ ।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> वही, पू॰ ७३-४।

कोई 'सामा' नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं 'माया' सववा 'स्वरूप-शक्ति' के रूप का होता है, इस प्रकार 'पैकुण्ठ' मोक से एक-रूप होता है।

अब एक बार यह स्वीकार कर लिया जाता है कि परमेश्वर की स्रवित्स्य शक्ति समस्त विरोध-प्रस्त दृश्य-घटनाओं की ब्याख्या कर सकती है. तथा 'योग-माया' के द्वारा परमेश्वर किसी भी रूप सामास सम्बा दृश्य-घटना की प्रत्यक्ष समिव्यक्ति कर सकता है, तब गौडीय सम्प्रदाय के वैद्यावों के लिए उक्त प्रत्यय को बर्मशास्त्रीय उपयोग में साना सरस हो गया। उन्होने परमेश्वर धौर उसकी शक्तियों के तल्बमीमांसात्मक प्रस्यय को धर्वच्याव स्वरूप की उपेक्षा करके. उक्त तत्त्वमीमांसाध्मक सत्र के विस्तार बारा 'मागवत' में वरिंगत बन्दावन के कथ्या की जीवन-घटनाओं के बमेशास्त्रीय स्वरूप में अपने वार्मिक विश्वास की प्रतिरक्षा करने का प्रयास किया । इस प्रकार वे मानते में कि अपने शरीर एवं वस्त्र व बाभूषण केंद्रि सहित कृष्ण, 'गोपियाँ' जिनके साथ दे रास-लीला करते थे, और यहाँ तक कि बुल्दावन की गौए और वक्ष भी सीमित रूपों में भौतिक अस्तित्व रखते हुए भी उसी काल में परमेश्वर की स्वरू:-शक्ति की अभि-व्यक्ति के रूप में बसीम बौर बाज्यारिनक होते हैं। वैध्युव किसी भी विरोध से नहीं डरते थे, क्योंकि चातुर्य से ब्राविष्कृत तत्त्वमीमांसारमक सुत्र के बनुतार परमेश्वर की शक्ति का तार्कातीत स्वरूप ऐसा या कि उसके द्वारा वह सभी प्रकार के सीमित रूपों में स्वयं को श्रमिष्यक्त कर सकता वा, और फिर भी शुद्ध भानन्द व वितृ के रूप में प्रपने चरम स्वरूप में स्थित रह सकता था। विरोध केवल प्रामासी है, क्योंकि स्वयं इस मान्यता से ही कि परमेश्वर की शक्ति तर्कातीत है, सीमित के प्रसीम से, सान्त के धनन्त से नादारम्यीकरण की कठिनाई हल हो जाती है। " 'वट्-संदर्भ' का सेसक यह सिद्ध करने के लिए बत्यधिक परिश्रम करता है कि 'मागवत-पूराएए' में वरिंगत कृष्ण का बामासी भौतिक रूप ब्रह्मन से एकरूप है। यह एक ऐसी धवस्था नहीं है जिसमें एकरूपता की बहान से 'बत्यन्त तादातम्य' के रूप में व्यथवा बहान पर धवलम्बन के रूप में व्यास्था की जानी चाहिए, यदि ब्रह्मनू शुद्ध चित्त में प्रपनी प्रशि-व्यक्ति करता है तो वह किसी भी प्रकार के गूगात्मक भेद से रहित ग्राईत के रूप में

श्वही, 90 %— ६२ । सत्य-सानानन्तान-वेक-एस प्रतित्वाद युगपदेव सर्वमपि तत्तद्दे-स्थं वर्तनेत्व, किन्तु युवं सर्वदा सर्वं न पश्यवेति (१९ ८७) । तत्तदम यदा तत्व यत्रांचे तत्तदुपासना फलस्य स्थरम्य अकानेच्या तदेव तत्र तद् रूपं प्रतादि इति । इयं कदेत्यस्य युक्तिः । तस्मान् तत्तन् सर्वमपि तस्मिन् भी कृष्ण स्थे-जज्युँ तमिरवेसम्यापि तात्यमं पुरसंहरति (१० १०) । तदित्यम् मध्यमाकारेत् सर्वाधारत्वात् विमुत्वं सावितव् । सर्व-तत्वादापि साध्यते । चित्र वर्तत्वदेवेन सपुषा पुणपत् पृथक् युरेष्ठु द्वष्टर-साहस्यं रिक्य एक उदावहृत् ।

प्रकट होना चाहिए, यदि इच्छा के क्य से बहान के संबंधित होने पर उक्त क्य एक सिरिक्त सम्पारोप्य के क्य में प्रतीव होता है तो वह बहुन की समिस्यक्ति नहीं होता । यह प्राप्त नहीं किया वा सकता है कि इच्छा का सपिर प्रत्य के गिरू उपस्य है, क्योंकि उसमें 'पवस्' की एक उपस्य है, क्योंकि उसमें 'पवस्' होता है तो उन्या जन सपिर खुद 'खल' के निर्मात नहीं होता। यदि उसमें कोई 'पवस्' होता है तो उन्य एक संवय समस्य होगी तथा उसमें बहुन की कोई सिम्मण होता है तो वह एक सबुद्ध प्रतस्या होगी तथा उसमें बहुन की कोई सिम्मण होता है तो वह एक सबुद्ध प्रतस्या होगी तथा उसमें बहुन की कोई सिम्मण होता है है सकती। इसके सर्विपत्त स्थानवत्त पुराएगं का सुत्य-गढ स्थान के नित्यक हो विकट है कि इच्छा का सपीर केवल खुद 'यत्त' पर ही निमंद करता है, क्योंक उसका क्यम है कि इच्छा का सपीर स्था हो खुद 'यत्त' पर ही निमंद करता है, क्योंक उसका क्यम है कि इच्छा का सपीर स्था हो खुद 'यत्त' पर ही निमंद करता है, स्था के उसमें कर खुद प्रदानन्य की विमान समिन्न करों में प्रकट होता है, और चूंकि ये सम्बं कर खुद प्रदानन्य की विमान समिन्न सिक्त होता है, इसलिए वे मक्त के लिए बहुन हे स्थिक सानन्यतायी होते है।"

'परमारम-सन्दर्भ में 'कीव' प्रमदा श्विक का एक ऐसी तत्ता के क्य में नतीन किया गया है जो अपने स्वक्य में बुद्ध और 'माया' से प्रतीत होता है, कियु जो 'माया' से उपक्ष कर्म कियु-हित्यों का प्रत्यक करता है और उनसे मानित होता है, उसे 'केवम कहा जाता है, क्योंकि वह स्वयं को अपने आग्तारक एवं बाहा शरीर (क्षेत्र) से संबंधित करके सच्यक करता है।' और अधिक प्रत्यक प्रयं में परमेवदर मी 'क्षेत्रम' कहा जाता है, क्योंकि वह न केवल 'माया' वरन् उससे प्राप्ता संवत्र सं बीवो के अस्तर्यामिन् के रूप में अववहार करता है, और किर मी अपनी स्वयन्धनाक से स्वरूपस्य रहता है।' 'क्षेत्रम' की युद्ध निर्विध नैतन्य (निविध पिट्-वस्पु) के अपने में महत्वावादी आग्रास्था नहीं, वरन् नरस अस्तर्यामिन् के रूप में अग्रास्था की जानी माहिए। यह सत वृद्धिपूर्ध है कि निविधेष सुद्ध नैतन्य परस सत्ता है। फलत: 'व्यक्ति' (आग्रास्य पुरुष) परमेवदर में विशेष क्षा वारा है--वस्वाहुक पूर्वोक्ष

तस्य शुद्ध-सत्वस्य प्राक्कतत्वं तु निचिद्धमेव तस्मात् न ते प्राक्कत-सत्त्व-परिएगमा न वा तत्-प्रजूराः किन्तु स्व-प्रकाशता-सक्षण् शुद्ध-सत्व-प्रकाशिता ।

<sup>- &#</sup>x27;बट्-सन्दर्भ, पृ० १४८ व १४७।

<sup>ै</sup> वही, पृ० १४६।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> वही, पृ० २०१।

मायायां मायिकेऽपि धरतवांमितया प्रविष्टोऽपि स्वक्य-सक्तया स्वक्यस्य एव न तु तत्-संविक्तस्यर्थः, वासुदेवलेन सर्व-क्षेत्र ब्राहुत्वात् सोऽपरः क्षेत्रक्र धारमा परमास्मा ।
 तदेवमपि पुक्यं क्षेत्रकृत्यं परमारमन्येव ।

की उपासना का विषय होता है। अन्तर्यामिन के रूप में परमेश्वर का यह रूप 'परमारमन' कहा जाता है।

धारों यह माना जाता है कि परमारमण धारनी धनिस्थाकि तीन क्यों में करता है-असम उन जीक्रों एवं अकृति की सर्वाष्ट के सविष्ठाता स्वामी के कप में जो शांक्षित स्पूर्णमां के सदस्य उसमें से उत्पन्न हुए है-सक्षंण ध्यवा महाविष्णु, दिविश सर्व जीवों की सम्बन्ध के सन्तर्यामी के क्या में (समिष्ट-वीवात्वर्यामी)-'अपूर्ण'। अपन्न भीर दिवीय धवस्था में धन्तर यह है कि प्रथम धवस्था में तो 'जीव' और 'अकृति' एक धनिक प्रवस्था में हाते हैं, जबकि दिवीय में 'जीवों' की समस्य प्रकृति से पृथक हो वाती है भीर स्वतंत्र क्या में स्थित एहती है। परमेक्यर का तृतीय एक वह है जिसमें वह प्रयोक मण्या में उसके धन्तर्यामी के क्या है निवास करता है।

'वीवों' को परमाण में परमाण्वीय कहा जाता है, वे संख्या में घनत होते हैं और परमेश्वर के घंग-मान होते हैं। 'माया' परमाश्य की वाक्ति होती है धौर इस सब्द का प्रयोग विभिन्न प्रसमों में निज-निज्ञ घर्यों में किया जाता है, उसका धर्य स्थंक्य-साक्ति, बाह्य सक्ति हो सकता है, धौर उसका 'प्रयान' के धर्य में भी प्रयोग किया जा सकता है।

'यट् संदर्म' का लेकक इस साथारण नेदांत मत का निषेष करता है कि कहान् युद्ध चैतन्य है तथा वस्तुमों ('विषय' घथवा 'प्राया' धयवा 'प्राया' है। वह 'पाया' और कहान् के संबंध को भनुमवातीत एवं ताकितीत मानता है। जिस प्रकार एक विशेष प्रीयिक्ष में बिनिम्न व विरोधी शक्तियों निवास कर सकती हैं, उसी प्रकार आगासों को उत्पन्न करने वाली विनिम्न शक्तियों परमेश्वर में निवास कर सकती हैं, यद्याप उसके साह्वयं का रूप सर्ववा प्रव्यास्थ्येय व धियन्त्य हो सकता है। हैंत का प्रामास बहुन में 'प्रज्ञान' की उपस्थित के कारण नहीं होता धिनितु उसकी धियन्य याक्तियों के कारण होता है। जगत् के हैत का चरम धाईत्वाच से सामंत्रस्य परप्रेश्वर की धनुमवातीत एवं तकतिति शक्तियों के धास्त्रस्य की मायता के प्राधान्य पर ही किया जा सकता है। इस तम्य से यह भी व्यास्था हो जाती है कि परमारमन्

<sup>े</sup> तदेवं सन्दर्भ-द्रवे ब्रक्ति-त्रय-विवृत्तिः इता । तत्र नामामिन्नता-वर्गत-प्रान्ति हानाय संग्रह-इतोकाः माया स्यादस्वरंगायां वहिरंगाच्य सा स्पृता प्रधानेऽपि वर्षाद् इष्टा तद्-वृत्तिमाँहिती च सा प्राचे त्रये स्यात् प्रकृतिस् विच्छाकिरस्वन्तरंगिका सुद्ध-भीवेऽपि ते हस्ये वर्षास्त्रान-वीर्षयोः। चिन्तया-वर्षास्त्र-कृत्योस्त् विच्याकिरस्योस्तं विच्याकिरस्योस्तं विच्याकिरस्योस्तं विच्याकिरस्योस्तं विच्याकिरम्यान्ति स्थान्ति प्रमानायाः सा स्पृता प्रधानास्वाहता-स्थक्तं त्रयुष्टे प्रकृतेः परं न मायो न विच्यक्तिमित्याख्यान् विचेकिमः। —वही, प्रकृते प्रधान

की ब्रक्ति परभारमन् के एकत्व व विशुद्धता को जवानित किए विना सपना जड़ अतिका में कैंसे क्यान्तरण कर सकती है। देश प्रकार सुक्य 'जीव' और जगत् की सुक्य कहास्मक ब्रक्तियों, दोनों का विकीरण परमारमन्त्र है होता है, जिससे जगत् के जिए एवं स्वित्त दोनों संशों की जर्मात होती है। परमारमन्त्र स्वयं में उपरोत्त का 'निमित्त-कारण' माना जा सकता है, जबकि अपनी बाक्तियों के बाह्चयें में वह जगत् का 'जपादान-कारण' माना वा सकता है। ' चूँकि परमारमन्त्र की शक्ति का परमारमन्त्र के सक्य से तादारम्य होता है, इसमिए स्वत्तवाद की स्थित का सम्बन्ध संत्राण होता है।

संशों और संशो के संबंध पर "वर्-संदमें के लेखक का कवन है कि संशो संशों का संवात नहीं होता, भीर न संशों को संशों का स्पंतरण सपवा संशों में उत्पक्ष एक एक है किया हों। और न संशों का संशों के से म स्थवा सोन्य माना जा सकता है। यदि संशों संशों से सर्वेदा मिन्न होता तो संशों का संशों के संशों के सांशों के सर्वेदा निम्न होता तो संशों का संशों के कोई संबंध नहीं होता, यदि संग्र संशों में सर्विद्या निम्न होते तो कोई मी सब संशों में कहीं मी गाया जा सकता था। इसितए संशों मीर संशों का सबंध तकतीत सरक्ष का होता है। इस स्थित ते "यर्-संदमें का सेवक इस निक्कर पर पर्वेद्वात है कि नहीं कहीं मी किसी संशों का सामात होता है, वह सामात उत परमात्म की समिश्यक्ति के कारण होता है, जो चरम कारण एवं परम सात है (तस्मार्वस-चुद्वामानन कर्म यत्र तरीत्में तत् नेत्र परमात्म तथा परम तथा है (तस्मार्वस-चुद्वामानन कर्म यत्र तरीत्में तत् तथा सर्वन परमात्म तथा सर्वकारण-स्त्येत, पु० २५२)। इसितए पूषक संशितों की सर्व समिश्यक्तियों साहस्थता के कारण तरक सिन्या सामात्म देती हैं, स्थापिक वहां कहीं भी एक संशी होता है वहां परमात्म की प्रस्थिक्ति होती है। इस प्रकार सर्व वयत् को एक माना जा सकता है, सत्यत्म तकक हैत सिन्या है। "

जिस प्रकार धनिन-लकड़ी, स्फुलिंग व धूम से पृथक् होती है (यद्यपि पश्चादुक्त दो को प्रायः धन्नि से वृटिपूर्वक एकरूप माना जाता है), उसी प्रकार पृथक् हस्टा

<sup>&</sup>lt;sup>9</sup> वही, पृ० २४१ ।

<sup>ै</sup> बही, पु॰ २५०।

वस्मात् सर्वेश-बृद्धि-निदानात् वृथ्यः देहैश्य-बृद्धिः साहस्यभ्रमः स्थात्, पूर्वापरावयवा-मुस्तमाने सति परस्परमाध्येशस्य स्थितस्थाः स्थयस्थामारप्येन पेश्यासारस्थात् प्रत्यययम्पेशतत्या प्रतीतेः, सोऽयं देह इति भ्रमेव भवतीप्रपर्यः, प्रति-बृक्षं तदिदं वर्गः इतिवतः।

<sup>-</sup>बट्-सन्दर्भ, पृ० २४३ ।

स्वया बहान कहा जाने वाला भारमन भी उन पंच भूतों (इन्द्रियों, सन्त:करण भीच प्रवान) से प्रवक् होता है जिनको एक साथ 'बीव' की संज्ञा दी वाली है।

को व्यक्ति परमात्मन् पर अपना मन स्थिर रखते हैं तथा जगत् को उसकी अभिव्यक्ति समझते हैं वे फलतः उसमें स्थित परम सत्ता के तत्व का ही प्रत्यक्ष करते हैं किन्तु जो व्यक्ति जगत को परमात्मन की ग्रामिक्यक्ति के रूप में देखने के ग्राम्यस्त नहीं हैं वे उसे बज्ञान के प्रभाव रूप में ही प्रत्यक्ष करते हैं, इस प्रकार उनके लिए परमात्मन उस शाववत सता के रूप में प्रकट नहीं होता जो जगत में परिव्याप्त है। को अपक्ति खुद स्वर्ण का व्यापार करते हैं वे उन विविध क्यों (कंगन, हार प्रादि) को मुख्य नहीं देते जिनमें स्वर्ण ब्रियब्यक्त होता है, क्योंकि उनकी मुख्य ब्रियहिंच शुद्ध स्वर्ण में होती है. किन्तु बन्य वे व्यक्ति होते हैं जिनकी मुख्य अभिष्ठिच शुद्ध स्वर्ण में नहीं होती वरन उसके विविध मिथ्या क्यों में होती है। इस जगत् की उत्पत्ति परमातमन के द्वारा अपनी अन्तर्निहित शक्ति के माध्यम से स्वयं को उपादान कारख बनाकर की गई है, जैसे ही अगत् की उत्पत्ति होती है, वह उसमें प्रविष्ट हो जाता है तथा उसका प्रत्येक बंश में नियंत्रण करता है, और बंतिम बबस्था में ('प्रलय' काल के समय) वह अभिव्यक्ति के विविध रूपों में स्वयं को पृथक कर लेता है, और अपनी निजी बन्तर्निहित सक्ति से सम्पन्न होकर अपने विश्वद्व सत् के रूप में पून: स्थित हो जाता है। इस प्रकार 'विष्णु-पूराएा' में यह कहा गया है कि श्रज्ञानी व्यक्ति जगत को विश्व ज्ञान के रूप में देखने के स्थान पर उसे विषयों के दृश्य व स्पर्श-योग्य अगत् के रूप में देख कर विश्रांत होते हैं, किन्तु जो व्यक्ति हृदय से पवित्र एवं झानी होते हैं वे प्रज्ञिल जगत को परमात्म-स्वरूप, शुद्ध चैतन्य-स्वरूप में देसते हैं।

## जगत् की स्थिति

इस प्रकार बैच्छात तंत्र में जगत् (रज्दु-सर्ग के सदक) मिथ्या नहीं है, किन्तु (यट के सदक) जासवान है। द्वानत् की कोई सत्ता नहीं है, क्योंकि, यद्यपि वह मिय्या नहीं है, तथापि उसका जून, वर्तनान व मबिच्य में कोई सवाधित सांतर नहीं होता, केवन बची बस्तु को सत् माना वा सकता है जो न तो निय्या होती है धीर न काल में बांचित पश्चितत्व रखती है। ऐसी सता का केवन परवास्त्र प्याचा उसकी

यथोल्मुकात् विस्कृतियाद् यून्नादिप स्वसम्मवात्यात्मत्वेन विमतास्थानिः पृपगु-स्मुकात् भूतेन्द्रयान्तःकरस्यात् प्रधानाञ्चोव-संक्षितातात्मा तथा पृथग् प्रष्टा मगवाय् बद्धा-संक्षितः ।

<sup>–</sup>वही, पृ०२५४।

श्वति के प्रति ही कथन किया वा सकता है। उपनिषद् कहते हैं कि प्रारम्थ में केवल परम सत्ता, 'सत्' का ही धास्तित्व था, इस पद का वर्ष बद्धानु की सुरूप अध्यक्त शक्ति और ब्रह्मनु का पारस्परिक तादारम्य होता है। 'सरकार्यवाद' के सिद्धान्त को इस तथ्य के संबंध में सत्य माना जा सकता है कि परमारममू की सुक्रम शक्ति ही विविध रूपों में धपनी धमिन्धक्ति करती है (सुक्मावस्था लक्षरा-तच्छक्तिः)। धव यह प्रश्न उठता है, कि यदि जगत का उपादान कारण परम 'सत्' है तो क्या उसे उसके समान ही बाविनश्वर होना चाहिए, बावि जगत बाविनश्वर है, तो वह (शक्त-रजत के सहशा) मिच्या क्यों न होना चाहिए, धौर, फलत: 'विवर्तवाद' को सस्य क्यों न माना जाना चाहिए? ऐसे प्रश्न का उत्तर यह है कि यह तर्ज करना गलत है कि चैंकि कोई बस्तु 'सत्' से उत्पन्न होती है इसलिए वह भी 'सत्' होनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक दशा में ऐसा नहीं होता, यह नहीं कहा जा सकता कि कार्य के गूगों का कारख के गुर्हों से पूर्ण तादात्म्य होना चाहिए, अन्ति से जिन प्रकाश किरखों का विकीरख होता है उसमें दग्ध करने की शक्ति नहीं होती। " 'विष्णु-पूराण' पर भपनी टीका में श्रीघर यह कथन करके कि बहान का एक अपरिवर्तनशील और एक परिवर्तनशील **क्य** होता है, परिवर्तनशील की धपरिवर्तनशील से उत्पत्ति की सम्मावना की आमासी ग्रसम्बद्धता की व्यास्या ग्रन्ति एवं उससे उत्पन्न किरणों के उपयुक्त साहस्य के भाषार पर करते हैं। पून:, धन्य उदाहरखों में, शक्ति पर अभिव्यक्त रजत के समान एक बामास सर्वदा मिथ्या होता है, क्योंकि उसका केवल बामास होता है परन्तु उसकी कोई उपयोगिता नहीं होती, इसलिए धनेकों धन्य वस्तुएं हैं जिनके प्रति यश्चपि यह विश्वास किया जाता है कि उनका एक विशेष स्वभाव है तथापि वस्तुत:, वे सर्वधा भिन्न होती हैं भीर उनके सर्वधा भिन्न प्रभाव होते हैं। इस प्रकार किसी काष्ठ विष के प्रति यह विश्वास किया जा सकता है कि वह सौंठ है, और उस रूप में उसका प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु फिर भी उसके विधेले प्रभाव बने रहेगे । यहाँ, एक बस्तु के किसी अन्य बस्तु होने के मिथ्या ज्ञान के होते हुए भी बस्तुए अपने स्वामाविक गुणों को बनाए रखती हैं, जो मिध्या प्रत्यय से प्रभावित नहीं होते ।

एक बस्तु में किसी परिवर्तन मबबा उपयोग को उत्पन्न करने की जो शक्ति होती है वह सर्व कालो में व स्वानों में, भववा वस्तु के परिवर्तन के साथ उपस्थित

ततो विवर्त-वादिनामिव रज्यु-वर्ष-वत्र निष्यात्वं किन्तु घट-वन्नव्वरत्ववेतं तस्य ततो मिष्यात्वामावे यपि विकालाव्यविवारा-नावाज्यवतो न सत्त्वं विवर्तं परिज्ञामा-सिद्धत्वेन तद् दोव-द्यानाववत्येव हि वस्तुनि सत्त्वं विवयिते यथा परमारमिन तष्यक्षत्ते वा ।

वही, पुरु २५६।

नहीं रह सकती, बतएव किसी परिवर्तन अथवा उपयोग को उत्पन्न करने की शक्ति एक नित्य एवं स्थायी गुए। न होने के कारण सत्ता का पारिमाधिक लक्षण नहीं मानी का सकती, इसलिए शुक्ति-रवत के सहश एक मिथ्या बामास, जिसका केवल एक दृश्य क्ष्म है किन्तु जिसमें कोई सन्य उपयोग स्थवा परिवर्तनों को उत्पन्न करने की सक्ति नहीं होती, उसे सत् नहीं माना जा सकता । केवल वही सत् है जो मिध्या विषयों समवा उन विषयों के सभी उदाहरणों में उपस्थित होता है जिनमें किसी प्रकार का उपयोग होता है, सत् वही है जो मिथ्या अथवा सापेक्षतः वस्तुगत सर्व प्रकार के अनुभवों के अधिष्ठान एवं भाषार के रूप में स्थित रहता है। हमारे जारों सोद विश्वमान तथाकथित यथार्थ जनत् यद्यपि निःसन्देह परिवर्तनों श्रयवा उपयोग को उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न है, तथापि वह नाशवान है। परन्तु 'नाशवान' सब्द केवल इसी घर्ष में प्रयुक्त किया गया है कि अन्यन् उस मूह कारण-परमात्मन् की शक्ति में पुनः लय हो जाता है-जिससे वह उत्पन्न हुमा था। केवल इस तच्य से कि हम जमत् के साथ व्यवहार करते हैं भौर वह कुछ उद्देश्य भ्रषवा उपयोग की पूर्ति में सहायक होता है यह सिद्ध नहीं होता कि वह सत् है, क्योंकि हमारा मामार भौर हमारा व्यवहार केवल अंघ परम्परा के आधार पर उनमें किसी यथार्यता को माने बिना बापसर हो सकता है। पारस्परिक विश्वास पर बाबारित परम्पराची की शृंखला का प्रचलन किसी ग्रविष्टान के बिना उनकी यथायंथा ग्रववा उनकी 'विज्ञान' स्वरूपता को सिद्ध नहीं कर सकता। इस प्रकार परम्पराद्यों का प्रचलन उनकी सत्यता को सिद्ध नहीं कर सकता। इस प्रकार जगत न तो मिच्या है और न नित्य है, अपित् वह सत् है, और फिर भी अपने धामासी रूप में नही रहता, किन्तू बह्मनू की शक्ति के बतर्गत अपनी बन्यक्त बवस्वा में स्वयं को विलीन कर देता है, और इस बयं में 'सत्यकार्यवाद' भौर 'परिखानवाद' दोनों सत्य हैं ।"

यह मानना गलत है कि प्रस्ताः स्वत्त का कोई सिन्तित्व नहीं था तथा अन्ततः भी मह पूर्ण कर से नम्द हो बायना, स्वॉकि, चूँकि पूर्ण स्वतः किसी मी अम्य प्रकार के धनुस्त से रहित होती है, और एकरक धानन्दानुष्य स्वक्ष्य की होती है, इयितए कुक्ति-त्वत की सांति एक सिन्धा प्रध्याय के रूप में वयत् को व्यावस्य करना धसम्बद है। इसी कारण से जगत् की हृष्टि की ध्याक्या 'परिण्याम' (अथवा विकास) के साहस्य के साथार पर करनी चाहिए, कुक्ति-त्वत धववा रन्तु-सर्प की मीति मिम्पा सामासों के साहस्य के साथार एन नहीं। सपनी सिन्तरम् सिन्तर्य के साथार एक नहीं। सपनी सिन्तरम् सिन्तर्य के सिन्तर्य के सिन्तरम् सिन्तर्य के सिन्तरम् सिन्तर्य के सिन्तरम् सिन्तर्य के सिन्तर्य के सिन्तर्य के सिन्तर्य के सिन्तर्य के सिन्तर्य के सिन्तर्य सिन्तर्य के सिन्तर्य के सिन्तर्य के सिन्तर्य सिन्तर्य के सिन्तर्य के सिन्तर्य के सिन्तर्य सिन्त्य सिन्तर्य सिन्तर्य सिन्तर्य सिन्तर्य सिन्त्र सिन्त्य सिन्त्य सिन्त्य सिन्तर्य सिन्त्य सिन्त्य सिन्तर्य सिन्तर्य सिन्त्य सिन्त्य सिन्त्य सिन्तर्य सिन्त्य सिन्त्य सिन्त्य

<sup>&#</sup>x27; 'षट्-संदर्भ' पृ० २५६।

मतो मिन्त्य-संस्था स्वरूपादच्युतस्यैव तव परिएगम-स्वीकारेए द्रविएा-जातीनां

सिष्ठान कारण के क्य में सममना मृदिपूर्ण है। यदि जनतू स्वक्यतः विश्व सिर्वल रकता है, तो कारणुता का व्यापार निर्वण्ड हो बाता है, यदि जनतू स्वक्रत का व्यापार निर्वण्ड हो बाता है, यदि जनतू स्वर्ण कर्माक स्वेत है। विश्व कारणुता के व्यापार की संक्रप्यता भी सहस्थत है। इसलिए वगत् न दो पूर्णंतः वत् है और न पूर्णंतः सवत् है, वरद् केवल एक स्वय्यक्त क्यां से सुदे । वट मृतिका में एक प्रव्यक्त क्यां में संवातित होता हो, याद कारणुता है, और कारणुता के व्यक्त क्यां के को व्यक्त करने में संवातित होता है, अत् भी वरण कारणुत्त में एक प्रव्यक्त क्यां में प्रविद्यव्य क्यां में प्रवृत्तित होता स्वाता है। इत प्रकार वह नात्रागिवक बक्ति के द्वारा वह व्यक्त क्यां में प्रकट किया बाता है। इत प्रकार वह नात्रागिवक विश्व केवल केवल होता है, परास्थान व्यक्त स्वयं के प्रवृत्ति केवल विश्व केवल होता है, परास्थान व वर्ष-सुष्टा है तथा व्याप्त में स्वयं वाह्युक्तों के तिए उत्तरदायों है। इस प्रकार वह मानना गवत है कि 'जीव' क्या प्रयासना वाहिए, परास्थान व वर्ष-सुष्टा है तथा व्याप्त में स्वयं प्रवृत्ती के तिए उत्तरदायों है। इस प्रकार वह मानना गवत है कि 'जीव' क्या प्रयासन स्वक्यतः सत्य है, प्रवास क्यां प्रविद्या क्यां है। इस प्रकार वह मानना गवत है कि 'जीव' क्या प्रयासन स्वक्यतः सत्य है, प्रवास क्यां प्रियान स्वक्र की प्रिष्ट करता है, परवासन स्वक्यतः सत्य है, प्रतास क्यां कियी मिष्टा वस्तु की प्रिष्ट करता है। इस क्रियान स्व विश्व हिस्स करता।

इस प्रकार बैप्शव सत्र 'प्रकृति-सव्य' के विद्धान्त को स्पीकार करता है। मोझ के समय जगत् का नाश नही होता, क्यों कि परोप्य की शक्ति के स्वरूप का होने के कारण, वह नष्ट नही हो सकता, यह जुबिरत है कि 'जीव-मुक्ति' की ध्वरूप में स्पीर बना रहना है। मोझ की ध्वरूप में जगत् तंत्रथी नवें मिध्या सकरनाएं विजीन हो जाती है, किन्तु जगत् स्वरूपतः बना रहता है, क्योंकि वह मिध्या नही है, इस प्रकार मोझ एक धारमात तुषार की धारूपता, ठैजन के वस्तुया लोग की सकस्या नहीं हैं। जिब्द प्रकार वस्तुगत जगत् का परोप्य को धारूपते हो ता ता त्यास्य बताया जाता है उसी प्रकार इन्द्रियों एव बुद्धि का भी बताया जाता है। जब उपनियद् यह कहते हैं कि मनस् को परोप्य सा हार्य स्वारूप्त को जाती है, तब इसका केवल यही एक कर है। " चरण कारण का कार्य वे तासास्य

द्रव्य मात्रारणां मृत्लोहादीनां विकल्पा वेदा घट-कुण्डलादयस्त्रेयां पन्यानो मार्गाः प्रकारास्त्रेरेव प्रस्ममिक्यमीयते न तु कुत्रापि भ्रम रचलादिभिः।

<sup>-</sup>वही, पृ० २६०।

<sup>&</sup>lt;sup>1</sup> सत्य-स्वामाविकाचिन्त्य-शक्तिः परमेश्वरस्तुच्छ-मायिकमपि न कुर्यात् ।

<sup>—</sup>वही, पृ० १६२ ।

श्र स्वत्तनमनोऽमृत्रत मनः प्रवापतिमित्यावौ मनः सन्देन समस्टि-मनोऽभिष्ठातः
श्रीमाननिष्देव । —वट्-सन्दर्भ, पृ० १६२ ।

(बगूर्ब) होता है धीर बादि धीर धंत युक्त होता है, वहाँ-वहाँ वह मिध्या होता है, क्योंकि यहाँ कारण धीर कार्य के प्रत्यक धर्माम्याधित हैं तथा पुषक् कम से निमित्तित नहीं किए या सकते, 'हासिए कारणता के प्रत्यक धर्माम्याधित हैं तथा पुषक् कम से निमित्तित नहीं किए या सकते, 'हासिए कारणता में गूर्व-वित्तित हो। कार्य का सहस्रक कास्तित हो। उसके व्यक्त व्यक्तित की सिद्ध करता है, इस प्रकार जगत् परमेश्वर की स्वामाधिक धाक्ति के क्या में बस्तित द रखता है, और इस कारण से वह नित्य सत् है। तिनक से परिवर्तन एवं प्राम्थिक की व्याक्या परमेश्वर के उस्तेल बिना प्रयदा उससे स्वतंत्र कम में नहीं की जा सकती, यदि ऐसी व्याक्या सम्मव होती हो। जगत् नी स्वयं-प्रकाश विद्ध बंतन्य होता।

यह कहा गया है कि 'जीव' बस्तुत: परवेश्वर की यक्ति होते हैं, किन्तु फिर भी वे प्रपत्ते स्वप्रकाशन के म्राइल होने के दोष से पीड़ित हो सकते हैं। 'जीव' 'लटस्व मार्कि' से मून होते हैं, किसके द्वारा उनको स्वप्रकाशन बाहत हो सकता है।' यह मार्वर जोवों के द्वारा परवेश्वर के स्वक्र के प्रति जिल्लामा की मार्वमा के मार्वमा के मार्वमा से परमेश्वर की इच्छा ते ही दूर किया जा मकता है। 'यह-संदर्म' के म्रनुसार जगत् एक प्रयास सुचित है, परनु वह कुछ प्रमुमोरन सहित एक प्रत्य मत का उन्लेख करता है कि जगत् एक मार्वायी हिए है वो 'जीवो' को बगत् ने वचार्च स्वपुत्त परिलाल में विवयस करने के लिए खलती है। किन्तु इस मत का यंकर के म्रदूरतायों मत से विवयस करने के लिए खलती है। किन्तु इस मत का यंकर के म्रदूरतायों मत से विवयस करने के लिए खलती है। किन्तु इस मत का यंकर के म्रदूरतायों मत से विवयस करने के लिए खलती है। किन्तु इस मत का यंकर के महत्त्व मत्ते में कि है कि प्रवाद का का का का का मत्त्व है। किन्तु अह सात मंत्र मित जनत-प्रथ को मित्रमांक करता है, 'है मीर वह 'पर-संदर्म' से भी इस तात में मित्र है कि प्रवाद का जन को एक यार्व होट मत्त्र है। किन्तु अह कहता पड़ेगा कि बैरलयों की मुख्य प्रविचित्र का बात की काल मित्रलाने वाले इन्हास का वार-विवादों में नहीं है, उनको प्रतिज्ञा के मुख्य प्रवाद उनका तंत्र एक व्याव-हारिक मार्मिक भावावेश्वराद का तंत्र है, भी रहन कारण, ऐक के स्विप्त के लिए यह हिए सम महत्व की है कि जनत सत्त्व है प्रयाद मत्त्व है। उनको मुक्य प्रिकृत वात वहत कम महत्व को है कि जनत सत्तु है प्रयाद मत्त्व है। उनको मुक्य प्रविचित्र वात वहत कम महत्व की है कि जनत सत्तु है प्रयाद मत्त्व है। उनको मुक्य प्रिकृत वात वहत कम महत्व की है कि जनत सत्तु है प्रवाद मत्त्व है। उनको मुक्य प्रविचित्र वात है का स्वत्व है। प्रवाद मत्त्व है। उनको मुक्य प्रविचित्र वात हता का स्वत है। उनको मुक्य प्रविचित्र वात स्वत है।

भन्तः करणः-बहिः करणः विषय-रूपेणः परमात्म-लक्षणः ज्ञानमेव माति तस्मादनन्यदेव बृद्धयादि-वस्तः इत्यर्षः । —वही, पृ० १६२ ।

मावत् कार्यं न जायते तावत् कारस्यत्यं मृत-गुक्त्यादेनं सिद्धयति कारस्यात्वासिद्धौ
 म कार्यं न वायते एवेति परस्पर-वापेकात्व दोशात् । —वही, पृ० २६५ ।

व बही, पूर २६६।

अस्येतैव कर्ता सस्यमेव इष्टारं प्रति सस्यैव तथा शक्त्या वस्तुनः स्फुरलात् लोके प्रिष सयैव इत्यत इति ।

परमेरवर के प्रति उसकी यक्ति के धानंद में निहुत होती है। धाने यह माना गया है कि वसत् के सावारण अनुसब की व्यावना वसत्-वंबंधी साहस्थताओं के द्वारा खुवारू क्या के की वा सकती है, किन्तु परमेश्वर बीव, धारामाओं और जबत् के मध्य स्थित अनुमवातीत संबंध की इस प्रकार कोई ख्याचा नहीं की वा सकती। उपनिषद्-गठ बीव एवं 'परसेश्वर' के तादास्थ्य की योगणा करते हैं, किन्तु उनका तात्यमें केवन यहीं है कि 'परसेश्वर' और 'जीव' समान क्या से खुढ चैतन्य हैं।

## परमेरवर और उसकी शक्तियाँ

'यट्-संदर्भ' का पुनरावसोकन करने पर यह समस्या हमारे सम्मुख खड़ी होती है कि बहान शुद्ध चैतन्य भीर भपरिवर्तनशील है वह 'प्रकृति' के साधारण 'गुणो' से किस प्रकार संबंधित हो सकता है। कीड़ा की साधारण साहस्यता परमेश्वर पर लागू नहीं हो सकती, बच्चे कीड़ा में प्रानंद लेते हैं प्रथवा धपने साथियों द्वारा खेलने के लिए बोत्साहित किए जा सकते हैं, किन्तु परमेश्वर स्वयं में तथा बपनी शक्तियो में बाहम-सिद्ध है वह किसी के द्वारा किया में प्रोत्साहित नहीं किया जा सकता, वह सदा प्रत्येक वस्तु से विलग रहता है, भीर किसी प्रकार के भावावेश से प्रमावित नहीं होता, क्यों कि 'वह' गुर्णातीत है, इसलिए गुर्ण भीर उनके कार्यों से सर्वावत नही किया जा सकता। हम यह भी प्रश्न उठा सकते हैं कि कैसे 'जीव,' जो परमेश्वर से एकरूप है, घनादि 'अविद्या' से संबंधित हो सकता है। उसके शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने के कारण उसकी चेतना काल, दिक, उपाधियों अथवा किसी बान्तरिक या बाह्य कारण के द्वारा किसी क्प में 'बाइल' नहीं होनी चाहिए। इसके ब्रतिरिक्त, चुंकि परमेश्वर सकल शरीरों में 'जीव' के रूप में विद्यमान रहता है, इसलिए 'जीव' दुःल ग्रथवा 'कर्म' के बंधन में नहीं रहना चाहिए। ऐसी कठिनाइयों का हल परमेश्वर की 'माया-शक्ति' के विवेकातीत स्वरूप में मिलता है जो ताकातीत होने के कारण साधारण तर्क-शास्त्र के डपकरएों से बहए। नहीं की जासकती। परमेक्बर की शक्ति को 'बनरंग' और 'बहिरंग' रूपों में संकल्पित किया जाने वाला सत्य व्याख्या करता है कि घटना परमेश्वर की बहिरग शक्ति के क्षेत्र में घटित होती है वह स्वय उसकी अंतरंग शक्ति को प्रभावित नहीं कर सकती, इस प्रकार यद्यपि परमेश्वर 'बीवों' के रूप में 'माया' भीर उससे उत्पन्न जगत-प्रपंच के प्रमाद में हो सकता है तथापि वह सर्वकाल में ध्रपने श्रंतरंग स्वरूप में श्रप्रभावित रहता है। परमेश्वर की तीन प्रकार की शक्तियों ('स्वरूप' मथवा 'मंतरंग' 'वहिरंग' भीर 'तटस्व') के मध्य स्थित तर्कातीत एवं विवेकातीत विभेद

सत्यं न सत्यं न: कृष्ण-पादाञ्जामोदमन्तरा जगत् सत्यं प्रसत्यं वा कोऽयं तिस्मम्
 दुराग्रह: । —वही, पृ० २६९ ।

सबा उनके साथ उसका संबच उन कठिनाइयों की व्याच्या कर देता है वो साधारणत: खबेस प्रतीत होती हैं। वह तकतित संकल्पना ही इस बात की व्याच्या कर देती हैं। कि कैंदे परोक्षर 'माया' के प्रमान में रहकर भी उकका निम्मनक हो सकता है। 'भीव' वस्तुत: हु-कों के प्रमान में नहीं होता, किन्तु फिर भी वह परोक्षर की 'माया' के द्वारा ऐसा प्रतीत होना है, जिस प्रकार स्वप्नों में एक व्यक्ति को सम् प्रकार के स्वस्थ्य एवं विकृत प्रमुख्य हो सकते हैं, उसी प्रकार परोक्षर की 'माया' के द्वारा भीव पर कायानुमन प्रतापित किए बाते हैं। निष्कुद्ध 'बीव' में सब्दुतत का सामाया उसकी 'उपाधि' के रूप में कियानित 'याया' के प्रमान वे उत्पन्न होता हैं– वैसे गतिहीन सन्द्रामा बहती हुदै तरी की नहरों पर कम्पायमान प्रतीत होता है। 'माया' प्रमान के द्वारा 'जीव' सपना 'प्रकृति' के तादात्म्य स्थापित कर नेता है बीर 'प्रकृति' के प्राराण स्थापित कर नेता है बीर 'प्रकृति' के प्रशां को सपने गुण सनस्ता है।"

## अपने मक्तों के साथ मगवान का संबंध

ह्मी बाहरूप के बाधार पर परमेश्वर के बचतारों की भी व्याक्या की जानी चाहिए। जयत् की दिस्पति के लिए परमेश्वर का 'झवतार' लेना समजा किसी प्रकार का प्रयास करना प्रावस्थ कर नहीं है, क्यों कि वह सर्वस्थाणी व्यक्तिय नहीं है, 'पुरायों में विराह परमेश्वर के बहुवर के के बहुवर के विराह गए, हैं। वे उसके 'मको' की बहुतुन्नुरित के लिए परमेश्वर की स्वक्त वाक्त की समिक्यिक से प्राविकृत किए जाते हैं (स्वक्या-कस्त्याविकरूरण)। इसने स्वमावतः यह सिकत होता है कि परमेश्वर सम्वी के हु-ज एवं मोत्रा से प्रमावित होता है, तथा वह उनके मुख से प्रसन्न होता है। 'परमेश्वर की स्वक्त विक्त की सारभूत प्रक्रिया की 'झाव्या' कहा जाता है, और इस 'झाव्या' के सारभूत 'प्रक्रिया की 'झाव्या' कहा जाता है, और इस 'झाव्या' कहा कर तोने में पर कि हिन्स संबंध की स्ववस्त रहती है।' 'परमेश्वर प्रवास के स्ववस्त होती है। 'परमेश्वर प्रवास की स्वक्त होती है की कियुद्ध सानन्द-सब्क होती है।' 'कर स्ववस्त प्रकास के में होती है।' 'सावान साम-विद्ध है क्योंक 'माक्त के स्वर्शक स्वित्त प्रकास में होता

<sup>&</sup>lt;sup>९</sup> षट-संदर्भ, पृ० २७०।

यया जले प्रतिबिध्वतस्यैव चन्द्रमसी जलोपाधिकृत कम्यादि-मुलो धर्मो दृष्यते न त्याकाल स्थितस्य तद्वद्वनाधनः प्रकृति-स्थोपाधेर्थमेः श्रातमाः श्रुद्धस्या तक्षपि धहुलैय सोऽव्यमित्वावेशान् मायया उपाधि-तादास्थ्यपश्राहुकादामासस्य प्रतिबिध्व-स्थानीयस्य तस्य द्रष्टुदाध्यात्मिकावस्थस्येव यष्टपि स्थात् बुद्धः घसौ तदभेदामिभावेन त पश्यति । -वही, पृ० २०२ ।

परम सार भूताया भवि स्वरूप-सक्ते: सार भूता ङ्कादिनी नाम या इतिस्तस्यैव सार-भूतो वृत्ति विशेषो अक्तिः सा व रत्यपर-पर्यामा । अक्तिमंगवित मक्तेषु विश्वस्त-निकाभय कोटिः सर्वेदा तिष्ठित । —वहीं, प्र० २७४ ।

है, और भगवान की एक शक्ति होने के कारण वह स्वरूपत: न तो उससे मिल है और न अक-कप है। 'अक्ति' क्क में उसकी खक्ति की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति मात्र है. जिसमें दैत का समावेश होता है और जिससे मगवान में बानन्य की एक विशिष्ट श्वमित्यक्ति का उदय होता है जिसकी व्याच्या मक्त की 'मक्ति' से उत्पन्न सुद्ध के क्य में की जा सकती है। जब गयवान यह कहता है कि वह 'मक्त' पर आधित है. तब इस प्रत्यय की केवल इसी मान्यता पर व्याख्या की जा सकती है कि 'मिलि' मगवान की स्वरूप-शक्ति की सार-भूत है, मक्त अपनी 'मक्ति' के द्वारा भगवान के स्वरूप को स्थयं से घारण करता है। यब प्रवन उठता है कि क्या अनवान वास्तव में भक्तों के द्वारा द:ल की धनुभूति किए जाने पर स्वयं नी उसकी धनुभूति करता है, भीर क्या वह उक्त द:स के अनुभव से सहानुभृति में प्रवृत्त होता है। कुछ का कथन है कि मगवान स्वरूपत: सर्वानन्दमय होने के कारण दु:ब की अनुभूति नहीं कर सकता, किन्त बन्य कहते हैं कि उसे द:स का उस रूप में ज्ञान होता है जिस रूप में वह मत में विद्यमान रहता है न कि स्वयं में। परन्तु 'वट्-संदर्म' के लेखक की धापत्ति है कि इससे कठिनाई हल नहीं हो जाती, यदि परमेश्वर को द:स का धनुभव होता तो यह कोई महत्व की बात नहीं है कि वह उसकी बनुमृति स्वय अपने द:ल के रूप में करता है सथवा पर-दू:स के रूप में। इसलिए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, मद्यपि परमेश्वर को किसी प्रकार से द:ल का ज्ञान हो सकता है, तथापि उसको उसका अनुभव नहीं हो सकता, अतएव परमेश्वर के सर्वव्यापी होने पर भी, चुंकि उसे मानवों के दु:स का कोई अनुसव नहीं होता, इसलिए प्रत्येक को अपने इ.स से मूक्त न करने के लिए उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता । अक्तों का सूख अपनी अक्ति की बनुमृति में निहित होता है, भीर उनका दृ:ख उनके द्वारा परमेश्वर प्राप्ति में बाधाओ के कारण होता है। अपने मक्त के प्रति भगवान की कल्पित दया उसकी 'दैन्यात्मक मक्ति के बनुसव से होती है, साधारण दु:ल के बनुसव से नहीं। जब अगवान धपने भक्त की इच्छाओं को पूर्ण करने का प्रयास करता है तब वह दू:ल के अनुभव से में रित नहीं होता बरन मक्त में उपस्थित मिक्त से में रित होता है। यदि मगवान को दूसरों के द: कों का अनुसब होता और यदि सर्वव्यापक होने पर भी वह उनकी दु: कों से मुक्ति नहीं करता, तो उसे कुर मानना पड़ता, इसी प्रकार यदि वह केवल कुछ को ही दु:ख से मुक्त होने में सहायता देता और दूसरों को दृ:सी होने के लिए छोड़ देता तो उसे एक पक्षपाती भगवान मानना पड़ता। किन्तु परमेश्वर को धन्य लोगों के द:सो का कोई अनुभव नहीं होता, वह केवल दूसरों की मक्ति की अनुभृति करता है। प्रार्थना की उपयोगिता यह सिद्ध नहीं करती कि परमेश्वर पक्षपाती है, क्योंकि उसे कोई भी प्रिय नहीं है अथवा उसका कोई भी शत्रु नहीं है, किन्तु जब मिक्त के द्वारा मक्त किसी वस्तू के लिए उसकी प्रार्थना करता है तब वह सक्ति के माध्यम से उसके हृदय में विश्वमान होने के कारल उसे उसकी इच्छा का विषय प्रदान करता है.

इसलिए परमेश्वर के लिए जगत् की रक्षा अववा स्थिति के हेत् अवतार की अवस्थाओं से गमन करना भावस्थक नहीं है, किन्तु फिर भी वह परमेश्वर को की गई प्रार्थनाओं की संतुष्टि के लिए ऐसा करता है। परमेश्वर के सकल बवतार मक्तों की कामनाओं की पूर्ति के लिए होते हैं। अपने मक्तों को कामनाओं की पूर्ति में परमेश्वर के अयव-हार की बगावता परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति के तर्कातीत रूप की अगावता में निहित होती है। यद्यपि परमेश्वर के समस्त कार्य पूर्णतः स्वतंत्र एवं स्व-निर्धारित होते हैं तथापि वे किसी न किसी प्रकार से मनुष्य के खुमाशुम कर्यों के अनुकूल होते हैं। जब परमेश्वर अपने भक्तों से द्वेष रखने वालों को दण्ड देता है, तब मी श्रेफ दण्ड उसमें द्वेष के उदय के कारए। नहीं दिया जाता है, प्रत्युत उसकी 'झादिनी-इति' के रूप में किया-शील उसके मानंद स्वरूप के कारण दिया जाता है। किंतु 'वट्-सदर्म' का लेखक इस तथ्य की व्याक्या करने में शसमय है कि निष्यक्ष एवं वासना-रहित परमेश्वर भपने मक्तों के लिए राक्षसों का विनाश क्यों करता है भीर वह स्पष्टतः यह स्वीकार करता है कि परमेश्वर की महानता का अवर्शनीय स्वरूप तब दृष्टिगीचर होता है जब सबके प्रति पूर्ण निष्पक्ष होने पर भी वह कुछ के प्रति पक्षपात करता है। यद्यपि वह 'माया' के प्रभाव से चतीत होते हए भी चपने मक्तों पर दया करने के लिए वह स्वय को 'माया' के रूप में प्रकट करता हुआ तथा उसके प्रभाव से अविष्ट होता है। परमेश्वर के अनुभवातीत 'सत्व' गुए की अवस्था स 'प्रकृति' के साक्षारए 'गुलो' को उसके द्वारा अंगीकार करने की अवस्था तक सकमला तर्कातीत होता है तथा उसकी ब्याक्या नहीं की जा सकती । किन्तु 'बट्-संदर्म' का लेखक सदा इन तथ्यो पर बल देने का प्रयास करता है कि परमेश्वर एक बोर तो बपने भक्तो के हितों की पूर्ति के अपने उद्देश्य से प्रेरित होता है, तथा दूसरी आरे उसकी सर्वित्रयाए पुरांत: भारम-निर्धारण एव भन्य व्यक्तियों के हितों से प्रेरित होने में भसंगति होती है। वह आसे कहता है कि यद्यपि साधाररातया यह प्रतीत हो सकता है कि परमेश्वर सासारिक घटना-चक्र मे अथवा अपने भक्तो के जीवन में कुछ निर्णायक अवसरों पर किया में प्रवृत्त होता है, तथापि चूं कि जगत् की उक्त घटनाएं 'माया' के रूप में उसकी निजी शक्ति की अमिन्यक्ति के कारएा भी घटित होती हैं, इसलिए अगत् की घटनाओं भीर उसके निजी प्रयत्नों में जो समानान्तरवाद हृष्टिगोचर होता है उससे यह मत असत्य नहीं हो जाता कि पश्चाद्क आत्म-निर्धारित होते हैं। इस प्रकार उसके निजी प्रयस्त स्वभावत: 'भक्ति' की प्रेरेगा के कारण स्वय उसके द्वारा उत्तेजित किए जाते

भव्य यदि केचित् मक्तानामेव द्विवान तदा तवा मक्त-पक्ष-पातान्त:-पातिस्वाद मगवता स्ववं तद्देवे व्यपि न बोचः प्रस्तुत मक्त-विवयक-तद्-रतेः पोवकस्वेन् ख्रादिनी-वृत्ति-पुतानन्दोल्तास-विशेष एवासी ।

<sup>-&#</sup>x27;बट्-सदर्म,' पृ० २७८ ।

है, जिसमें परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की स्वयं परमेश्वर में स्थिति के रूप में दिविध क्रिक्यित होती है। यह पहले कहा जा चुका है कि 'अस्ति' परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की सारमत तत्व होती है जिसके संघटक तत्त्व मक्त और मनवान होते हैं। इस प्रकार सांसारिक घटनाओं के द्वारा परमेश्वर की खित्तयों की प्रेरणा अथवा उलेबना केवल एक बागास-मात्र (प्रवत्यामास) होती है जो परमेश्वर की बात्म-निर्धारित किया के अनुकल घटित होती है। आये यह कहा जाता है कि जगत की सब्टि करने में परमेश्वर की किया भी अपने मक्तों को संतब्ट करने में उसकी दिन से प्रेरित होती है। काल उसकी किया को ग्रामिनिश्चित करने वाला लक्षरण होता है, धीर जब काल की गति के माध्यम से परमेश्वर सुध्टि में स्वयं की प्रवस्त करने का निश्चय करता है, तब अक्तों के प्रति बया के कारण 'प्रकृति' में विलीन अपने अक्तों की सृष्टि करने की इच्छा करता है। किन्तु उनकी सृष्टि करने के लिए उसे 'प्रकृति' की साम्यावस्था को विज्ञुब्ध करना पडता है, बीर इस उद्देश्य से विचार के रूप में उसकी स्वत: स्फूर्त किया (जीव-माया के रूप मे) उसकी शक्ति को उसकी 'स्वरूप-शक्ति' से पृथक कर देती है, इस प्रकार पूर्वोक्त की साम्यावस्था विश्रव्य हो जाती है, भीर 'रजस्' प्रवल हो जाना है। ऐसा कहा जा सकता है कि यह विक्षीभ एक माभासी दग से उद्दीप्त होता है (तच्छेषतात्मकप्रमावेनैबोद्दीप्त) मथवा 'काल' की शक्ति से उत्पन्न होता है। " जब परमेश्वर अपनी नानात्मक मुध्टि में स्वानन्द लेने की इच्छा करता है, तब वह 'सत्व' को उत्पन्न करता है, और जब वह अपनी सम्पूर्ण सृष्टि के साथ सूप्त होने की इच्छा करता है, तब वह 'तमस' की मुख्ट करना है। इस प्रकार परमेश्वर के सकल सुजनात्मक कार्य उसके मक्तों के लिए बारम्म किए जाते हैं। परमेश्वर के निदामन्न होने की अवस्था अंतिम प्रलय की स्थिति होती है। पुनः, यद्यपि परमेश्वर सब में 'भ्रन्तर्यामिन्' के रूप में भ्रस्तित्व रखता है, तथापि वह उस रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता, अपितु वह केवल भक्त के लिए ही वस्तुत: अपने यथार्थ 'अन्त-र्यामिन्' स्वरूप में प्रकट होता है।

'यट्-सदमं' का लेखक पंच राजों के चार 'ब्यूहों' के सिद्धात के विपरीत तीन 'ब्यूहों' के सिद्धांत के पक्ष में है। इसिलए वह एक, दो, तीन घीर चार व्यूहों की विजिन्न परम्पराधों के लिए 'महामारत' का उत्तेख करता है, घीर कहता है कि इस सर्वगित की व्याख्या एक स्वया प्रधिक 'ब्यूहों के ब्यूहों में सम्पन्न के द्वारा की वासनती है। 'मानवन-पुराए' को मी यह संज्ञा इसी तत्य के कारए। ची गई है कि वह 'मगवनाए' को प्रमुख' के कर में स्वीकार करता है।' इस ब्रह्मन के

<sup>°</sup> वही, पृ० २८३।

वही।

संबंध में 'जिज्ञासा' की रामानुज द्वारा ज्यान के रूप में व्याख्या की गई है, परस्तु 'बट्-संदर्भ' के अनुसार यह 'ध्यान' एक निष्टित रूप में जगवान की उपासना के ब्रातिरिक्त कुछ भी नहीं है, क्योंकि किसी भी 'ब्यान' (ब्रयवा परमेश्वर की उपासना) में लीन होना तबतक सरल नहीं होता जबतक कि उसे ऐसे रूप से सर्वावत न कर लिया जाय जिस पर व्यक्ति अपने मन को स्थिर कर सके। बह्यानु का अपरिवर्तन-शील सत्य के रूप में वर्णन किया जाता है, और चुकि केवल द:ख परिवर्तनशील होता है इसलिए उसको पूर्णतः बानन्दमय मानना चाहिए । बहान को 'सत्यम' भी माना जाता है क्योंकि वह बारम-निर्धारक होता है, और उसका बस्तित्व किसी बन्य सत्ता के बस्तित्व अथवा इच्छा पर निर्मर नहीं करता । वह स्व-प्रकाशत्व के रूप में बपनी शक्ति द्वारा 'माया' के रूप में बपनी धन्य शक्ति पर बाविपत्य रखता है, बीर स्वयं में उससे प्रस्पर्व्य रहता है। इससे यह प्रकट होता है कि वद्यपि 'माया' उसकी एक शक्ति है तथापि स्वरूपतः वह 'माया' से बतीत होता है। 'माया' से उद्भत यवार्थ सुष्टि प्रत्नि, जल ग्रीर पृथ्वी तत्त्वों से निर्मित होती है जो प्रक दूसरे के ग्रंकों में हिस्सा बटाते हैं । शंकरवादी कहते हैं कि जगत एक यथार्थ सुध्टि नहीं है, किन्तु श्रुक्ति में रजत के सहश एक मिध्या श्रध्यारोपए। होता है, किन्तु ऐसा अम केवल समानता के कारण ही हो सकता है, धौर, यदि उसके द्वारा शक्ति रजत के रूप में संकल्पित की जा सकती है, तो यह भी सम्भव है कि रजत भी शक्ति के रूप में कूसंकर्ल्यत की जा सकती है। यह सत्य नहीं है कि अस का 'ममिष्ठान' एक होना चाहिए भीर भ्रम का सनेकरव होना चाहिए, क्योंकि सनेक वस्तुमा के सवात मे एक वस्तु का भ्रम होना सम्भव है, अनेक बक्षा, पवंतों और काहरो की संस्थित से एक धन-खण्ड का संयक्त प्रभाव उत्पन्न हो सकता है। विषयों के जगत का सदा प्रत्यक्ष किया जाता है, जबकि ब्रह्मन का स्व-प्रकाशत्व के रूप में प्रत्यक्ष किया जाता है. और ब्रह्मन को भी यदि मिच्या मानना सम्भव है तो उसका यह तात्पर्य हो जायगा कि ब्रह्मन की जगत का अधिष्ठान नही माना जा सकता। इसलिए जगत को यथार्थ मानमा चाहिए । यह अद्वेतवादी मत असत्य है कि बह्मन पूर्णतः निविशेष है, क्योंकि बह्मन का नाम ही स्वयं यह प्रदर्शित करता है कि वह सर्वाधिक महान् है। जगत् भी न केवल उसमें से उद्भूत हुआ है. बल्कि उसमें स्थित रहता है भौर भन्ततः उसमें ही विलीन हो बायगा। इसके अतिरिक्त, कार्य की कारण से कुछ समानता होनी चाहिए तथा दृष्य एव स्पर्ध-योग्य जगन जिसका परमेश्वर कारण है, स्वमावत: यह संकेत करता है कि कारण स्वय गुण-रहित नहीं हो सकता। इस मान्यता के प्राचार पर भी कि बहुन की इस रूप में परिमावा दी जानी चाहिए कि वह ऐसी सत्ता है

साध्य-धर्माव्यभिचारि-साथन-धर्मान्वित-वस्तुविधयत्वान्न तावप्रमासः ।
 -'षट संदर्भ,' पृ० २७ ।

जिन्नसे बगदाबास उत्पन्न हुआ है, यह बात विद्ध होती है कि वह स्वयं एक निमेदास्यक गुरा है, भीर यदि बहान को स्व-प्रकाश की माना बाव तो स्वप्रकाशस्य स्वयं एक ऐसा गुरा है जो बहान का बस्य विषयों से विमेद प्रविद्यात करता है। यदि स्वप्रकाशस्य एक विमेदास्यक गुरा है, भीर यदि बहान को उससे कुक माना बाय तो उसे निविशेष नहीं माना जा सकता।

#### मक्ति का स्वरूप

'यर्-संदमें का लेकक 'क्रूप्यु-संदमें में वैश्यानों के इस तत्कालीन प्रिय विषय का विवेचन करता है कि मगवान कृष्ण अनुसूर्ण देशवरत्व की ग्रामिश्यक्ति है। उक्त विवेचन का गहीं विस्तारपूर्वक वर्त्यन करना उचित नहीं है, भ्रतायन उसे छोड़ देना चाहिए।

'मित-संदर्भ' में 'यद-सदर्भ' का लेकक 'मित्र' के स्वरूप का निक्पण करता है। वह कहता है कि, स्वर्धा 'जीव' परदेवदर की शित्र के घार होते हैं, त्यापि परद तरल के सत्य बान के धनादि धनाव के कारण उनका चित्र उत्यक्ष चित्र वह हो बार्य प्रवाद के सारण उनका चित्र उत्यक्ष चित्र उत्तक है। बार्या प्रवाद के बार्य का मान के कारण उनका चित्र उत्तक है। बार्या है, धीर इस दुवंतता के कारण उनका घारम-बान 'माया' से प्राच्छादित हो बाता है, वे 'प्रधान' (सार्य', 'रजद्' धीर 'तमक्') के स्वय से एक-रूप समम्में के सम्मासी हो, बार्य हु के सम्मासी हो, बार्य हु के सम्मासी हो, बार्य हु के सम्मासी हो, बार्य प्रदेशन के पको से मंदित दु:खों से पीड़ित होते हैं। 'किन्तु जिन 'जीवो' ने सपनी धर्म-सावना द्वारा पूर्वजन्म से परोवतर के प्रति फुकाब पैनृक सम्मात के क्ष्य में प्रपाद किया है, सम्मा परदेशन की सोर परदेशन के प्रवाद का मित्र का में वार्य के स्वरूप होते हैं। परमेश्वर की उपस्ता के द्वारा ही परमेश्वर की सपरीकानुकूति का उदय होता है, जिवसे सकत दु:बों का माया हो जाता है। उपनिवस्त का से क्ष्य के प्रतिचार करता चाहिए। के स्वरूप करता का प्रतिचार करता चाहिए। का स्वरूप करता का प्रतिचार करता चाहिए। का स्वरूप करता चाहिए।

भगजनमादि भ्रमो यतस्तद् ब्रह्मीत स्वोत्रेका पक्षे च न निर्विध बस्तु-विद्धिः भ्रम-पुत्पमात सामि ब्रह्मीत उपनमात् । सामित्व हि प्रमावेकस्ततया उच्चते । प्रमावत्व तु बहादस्थावतके स्वस्य परस्य च स्थवहार-भोग्यतापादन-स्वमावेन मवति । तथा सति विश्वेषक्ष तदमावे प्रकासतिक न स्थातुम्मतिक स्थात् ।

ऐसी साधना व्यक्ति को परमेश्वर के निकट ने वाती है, क्योंकि कहा जाता है कि जसके द्वारा बहुा-प्राप्ति सम्भव होती है। 'प्रष्टांग-योग' की प्रक्रियाए भी एक व्यक्ति को ईववर-प्राप्ति के निकट ने जाती हैं। कमें का धनुपालन भी एक व्यक्ति को ईश्वर-साम्निध्य की प्राप्ति में सहायक होता है, अपने कर्तव्यों के पालन द्वारा एक व्यक्ति परमेश्वर के धादेशों की भाजा मानता है, और नित्य कर्तक्यों के उदाहरए। में तो कला को कोई लाभ नहीं होता. क्योंकि उन कमों के फल स्वभावत: परमेश्वर को समर्पित किए जाते हैं। 'मक्ति' से संबंधित ज्ञान भी परमेश्वर के अतिरिक्त विषयों से हमारे मन को प्रथक करके निवेधारमक ढंग से सहायक होता है, फिर भी भगवन्नाम के की लंग एवं भगवान के प्रति भावावेश के उत्भाद में अभिव्यक्त 'अक्ति' को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है। 'अक्ति' के दोनों रूपों का केवल एक ही उड़ेस्य होता है, प्रयांत परमेश्वर को सस देना, इसजिए उनको 'बहेत्की' माना जाता है। सच्या मक्त मगवन्नाम के कीर्तन में धीर मानवता के लिए परमेश्वर के दयामय कार्यों के ध्यान में स्वयं को लीन करने में एक नैसर्गिक सल प्राप्त करता है। यद्यपि कछ वर्गों के व्यक्तियों के लिए कमें और ज्ञान मार्यों का विधान किया गया है, तथापि 'मिक्त' मार्ग को खेष्ठ माना गया है, जो ब्यक्ति उस मार्ग में हैं उन्हे ज्ञान-मार्ग एवं सांसारिक बस्तग्रों के प्रति वैराम्य-मार्ग का बनसरल करने की बावश्यकता नही है। व बास्त्रों में निर्देशित सकल कर्म तभी फलदायक होते हैं जब वे 'भिनत' की प्रेरणा से किए जाते हैं, भीर यदि उनका पालन न किया जाय तो भी एक व्यक्ति 'मन्ति' मात्र से अपने उथवतम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

'मिक्त' का इस रूप में मी वर्शन किया जाता है कि वह स्वय 'प्रुक्ति' है।' सच्या 'एयस-बार्ग' भिक्ति का गीश प्रभाव है। सच्या 'एयस-बार्ग' ध्रियर की निर्मिष्ठ रूप की प्रपत्ते का प्रमुद्ध तो में प्रमुद्ध ते स्वयं को स्वयं को स्वयं के स्वयं को स्वयं के स्वयं के स्वयं के स्वयं के स्वयं भीकि के हारा ही किए जा सकते हैं।" जान धपरोक्षानुभूति की तुनना में स्विक दूरवर्ती होता है। 'मिक्ति' न के बता जान को ही उत्यक्त करती है वरन् साक्षासकार की भी प्रार्थित करवाती है (ज्ञात-भावस्य का वार्ती साक्षायरि कुर्वेति), इस्तिल्ए यह भारत खाता कि 'निर्कत' (वरस्ता में से ध्रिक उच्च है जो उसका बीश प्रभाव माना जाता है। सच्चा भक्त ईस्वर के स्वरूप का साक्षाराद ध्रमती इच्छा प्रमाव माना जाता है। सच्चा भक्त ईस्वर के स्वरूप का साक्षाराद ध्रमती इच्छा सुतार याता जाता है। सच्चा भक्त ईस्वर के स्वरूप का साक्षाराद ध्रमती इच्छा सुतार याता जाता के साहचर्य

भजतां ज्ञान वैद्याग्याम्यासेन प्रयोजनं नास्ति । —घट्-सन्दर्भ, पृ० ४८१ ।

निश्वसास्वियि भक्तियों सैव युक्तिबंनादंन

<sup>(</sup>स्कन्द-पुरासा, रेवालण्ड से उद्धरसा), वही, पृ० ४४।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> वही, पृ० ४५४ ।

में अथवा उनसे पुषक उसके त्रिविध रूप में अथवा उसके किसी एक रूप में कर सकता है। एक व्यक्ति में शुभ कर्मी का प्रमाय स्वयं की प्राप्ति नहीं होता, परम 'मेर्ति' की उत्पत्ति के द्वारा परमेश्वर की संतुष्टि में सफलता की प्राप्ति होता है। उपनिवयों के 'निविध्यासन' का ग्रर्थ प्रगवान के नाम एवं विश्वति के कीर्सन द्वारा उसकी 'उपासना' करता होता है, जब कोई व्यक्ति परमेक्वर के प्रति पूर्ण झासक्ति से उसकी उपासना करता है, तब उसके 'कर्म' के सकल बंघन ट्रट जाते हैं। किन्तु अपने मन में परमेश्वर की भीर उन्मूल होने की स्वामाविक प्रवृत्ति की उत्पन्न करना तथा उसके नाम एवं विभूतियों के की तन में परम संतोष की प्राप्ति करना वस्तुत: कठिन होता है। सच्चे क्तों के साहचर्य से एक व्यक्ति का मन कमझः परमेश्वरोत्मुख होता है, तथा 'मागवत-पूराए।' जैसे बार्मिक साहित्य के बाध्ययन से यह अवृत्ति अधिक प्रवल बनती है। इसके फलस्वक्रय मन 'रजस' एव 'तमस' (इच्छाचो एव द:लो) से मक्त हो जाता है. भीर परमेश्वर के प्रति आसिक्त में अधिक विस्तार होने पर परमेश्वर के स्वरूप एवं उसके साक्षात्कार का ज्ञान उदित होता है, फलतः घहंकार नष्ट होता है, सकल सशय विलीन होते हैं, तथा 'कमं' का नवं बचन नष्ट होता है। अगवन्नाम के कीलंन और उसके स्वरूप का वर्णन करने वासे वार्मिक पाठों के श्रवसा द्वारा एक व्यक्ति परमेश्वर के स्वरूप के संबंध में अपने वस्तुगत बजान का निवारण करता है, गहन चिन्तन एवं ध्यान से बह परमेदवर संबंधी प्रपने मिथ्या विचारों के विनाश द्वारा प्रपने धारमतत मजान का निवारता करता है तथा परमेश्वर के साक्षात्कार एवं प्रत्यक्ष दर्शन से परमेश्वर के स्वरूप के प्रवबोध में वाधक व्यक्तियत ग्रंपर्शता को नष्ट करता है। 'मिक्त' का धन्ददान कमें के धन्ददान से इस बात में मिझ है कि पूर्वोक्त साधन-काल और साध्य-काल दोनों में सखदायी होता है, पहचादक नहीं होता । इस प्रकार एक व्यक्ति को नित्य प्रथवा ग्रन्य कर्मों के अनुष्ठान ग्रथवा ज्ञान या वैराय्य के शनुष्ठान को सर्व प्रयतन स्याग देना चाहिए ।" 'अक्ति' के बिमा ये सब निष्फल रहते हैं, क्योंकि जबतक कर्म मगवान को समीपत नहीं किए जाते. वे एक व्यक्ति को 'कमें' के बंधन से अवस्य ही पीडित करते हैं, तथा 'मिन्त' के बिना कोरा ज्ञान बाह्य होता है और वह न तो साक्षास्कार जरपन्न कर सकता है और न बानन्द, इस प्रकार न तो 'नित्य' कर्म करने चाहिए भीर न नैमित्तिक कर्म, प्रत्यत केवल भक्ति का बनच्छान करना चाहिए । यदि 'मस्ति' की चरम सफलता प्राप्त कर ली जाती है तो फिर कहना ही क्या है, किन्त यदि मित का मनुष्ठान वर्तमान जीवन में सफलतायुर्वक न किया जा सके तो भी भक्त के भाग्य में कोई दण्ड नहीं होता क्योंकि भक्ति-रसिक को ज्ञान अथवा कर्म के अनुष्ठान

कर्मानुष्ठानवस्त्र साधन-काले साध्य-काले वा अक्त्यानुष्ठानं दु:ल-क्पं प्रत्युत सुल-क्पमेवं ।
 —वही, पृ० ४५७ ।

व वही, पु० ४५७ ।

का कोई अधिकार नहीं होता (मक्तिरसिकस्य कर्मानाधिकारात्) । परमेश्वर सर्व मानवों की चेतन प्रक्रियाओं में अपनी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति करता है, और वह सर्वात-रात्मा है भीर केवल उसी की उपासना की जानी चाहिए। चुंकि 'मिक्त' स्वरूपत: मुक्ति से एकरूप होती है, इसलिए हमारा चरम लक्य 'मिक्त' है (मिक्तिरेवामिषेयं बस्तु) । जो मनुष्य मक्ति-मार्ग में है उसे भारम-जिन्तन के हेतु दु:समय प्रयास करने की कोई भावदयकता नहीं हीती, क्योंकि स्वय मक्ति भक्तिमय मावावेश के सम्बल से एक सहज व सरल ढग से घारम-चिन्तन उत्पन्न कर देगी। 'अक्ति' का स्थान इतना उच्च है कि वे व्यक्ति जो संतत्व अथवा 'जीवनमुक्ति' की अवस्था की प्राप्त कर चुके हैं, सथा जिनके पाप मस्य हो चुके हैं, यदि सगदान के प्रति झनादर करते हैं तो उनका भी भगवान की इच्छा से पतन हो सकता है और उनके पापों का प्नविकास हो सकता है। जब 'मक्ति' के द्वारा 'कर्म' के बधन का नाम्न हो जाता है, तब भी 'मक्ति' के उच्चतर विकास की गुंजायश रहती है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने स्वरूप के और भी श्राधिक पवित्र रूप की प्राप्ति करता है। इस प्रकार 'मिक्त' बादवत अपरोक्षानुभूतियों की प्रवस्था है जो बधन की प्रशुद्धताधों की पूर्ण निवृत्ति के पश्चात् भी विद्यमान रहती है। परमेश्वर सर्व वस्तुको का परम प्रदाता है, उसकी इच्छा से निकुष्टतम मनुष्य भी देवता में रूपान्तरित हो सकते हैं, और देवता भी निकृष्टतन मानवो में रूपान्तरित हो सकते हैं। 'भक्ति' का बस्तित्व सकल बयुओं का न्यव-निवारक माना जाता है, इस प्रकार 'मिक्त' न केवल सर्व प्रकार के दोवों को दूर करती है, मिन्तू उसकी शक्ति से 'प्रारब्ध-कर्स' भी नष्ट हो जाते हैं। <sup>ह</sup> सतः एक सच्चा 'मक्त' न सामान्य मृक्ति की कामना करता है न किसी अन्य वस्तु की वरन केवल मिक्त-मार्ग का धनसरण करने के लिए चितित रहता है।

एक मक्त के लिए समजान के समान सन्य कोई बस्तु बाधनीय नहीं होती। सबसान की यह मिल पूर्णत: 'निमुंख' हो सकती है। समजान का यदार्थ ज्ञान 'निमुंख' हो सकता है। भववान का यथार्थ ज्ञान 'निमुंख' हा ज्ञान होना चाहिए, सत्तपुद उसकी समार्थ निक्त सी 'निमुंख' होनी चाहिए, क्योंकि, 'निक्त 'वाहे किसी

१ वही, पृ० ४६०।

सर्वेषां घी-वृत्तिभिः अनुभूतं सर्वं येन स एकैव सर्वान्तरात्मा ।

<sup>⊸</sup>बहो, पृ०६०।

जीवत्युक्ता प्रपि पुनवंत्वनं यान्ति कर्मभिः यद्यचित्त्य-महा-शक्तौ भगवत्य-पराचितः।

<sup>-&#</sup>x27;षट्-सन्दर्भ,' पृ० ५०५ ।

४ वही, पृ० ५१६।

भी रूप में अपनी अभिव्यक्ति करे उसका एकमात्र लक्य निर्मुश ईश्वर होता है। 'निर्मुं सं अब्द का प्रयं यह है कि वह स्वरूपतः 'युक्तों' से घतीत होता है। पहले यह व्यास्था की जा चुकी है कि 'मिक्त' परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की ग्रीमध्यक्ति के भतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अतएव उसका संघटक तत्व केवल परमेश्वर ही होता है, और इसलिए उसे 'गुर्हा' से बतीत मानना चाहिए, किन्तु बपनी बमिन्यक्ति में 'मिक्त' गुराो के मन्तर्गत एवं गुराों से रहित दोनों रूपों में भनुभव गम्म हो सकती है। बह्मान् का ज्ञान भी द्वितिष रूप में घटित होता हुमा माना जा सकता है, तथाकवित बहावादियों के उदाहरण में बात्मा एवं परमात्मा के तादात्म्य रूप में, भीर मक्तों के उदाहरए। में एक प्रकार के डैत रूप में। इस कारए। से, यद्यपि 'मक्ति' झान और कमें में निहित होती है, तथापि उसे 'निगुँ स' मानना चाहिए, क्योंकि, बहुसमी 'गुर्गो' से बतीत केवल परमेश्वर का उल्लेख करती है। इस प्रकार स्पप्टत: 'मक्ति' एक बनुभवातीत प्रक्रिया है। यह नि:सन्देह सत्य है कि कमी-कमी उसका 'सगुएा' के रूप में वर्शन किया जाता है, किन्तु उक्त सभी उदाहरएगे में भक्ति का ऐसा वर्णन केवल अन्त:करता के बौद्धिक, क्रियारमक अथवा भावनारमक गुरुगों के साहचयं के काररण ही हो सकता है। वस्तुत: 'भक्ति' का अर्थ 'भगवान के साथ निवास करना' होता है, कू कि मगवान् स्वय गुलातीत है, इसलिए भगवान के साथ प्रयदा भगवान के अन्तर्गत निवास करने का अर्थ अनिवार्यतः एक गुरातीत भवस्था होनी चाहिए। किन्तु, बन्य विद्वान् उपासनामय कमें के रूप में एव ईश्वर प्र।प्तिमय ज्ञान के रूप में 'मिक्त' का विमेद करते हैं, तथा उनके अनुसार केवल पश्चादुक्त को ही गुरुगतीत (निर्गुरण) माना जाता है। परन्तु, यद्यपि वास्तविक उपासनाकाकार्य 'गुरुगो' में एवं गुरुगो के द्वारा सभस्यक्ति होता है, तथापि उसको निर्धारित करने वाला बाध्यास्मिक कर्म जडात्मक प्रभावो से बतीत माना जाना चाहिए ।<sup>२</sup>

यहाँ यह प्रश्न स्वमावतः उठ सकता है कि यदि परमेश्वर सदा प्रानद-स्वरूप होता है तो मक्त के निए उसको प्रथमी मिक्त के द्वारा सनुष्ट करना कैसे सम्भव है? यह पहले ही स्पष्ट किया वा चुका है, तथा प्राने धौर कहा जा सकता है कि 'मिक्त' परमेश्वर के निजी प्रानन्दमय स्वरूप की प्रारम-विद्वित गठ फर कार है, उसकी प्रक्रिया की विधि ऐसी है कि महा मयवान की 'ह्यादिनी' चक्ति मक्त को प्रथमे संघटक तत्व के रूप में प्रथमे सम्मान लेकर कियान्यित होती है, तथा उसका स्वरूप ऐसा है कि वह न

यत् तु श्री कपिल देवेन मक्ते रिप निर्मु सुस्तानस्याः किवतास्तत् पुनः पुरुवान्तः करस्य मुखा एव तस्यामुष्ववंन्ते इति स्थितम् ।
 —बही, पृ० १२० ।

वही, पृ० ५२२।

केवल मनवान के लिए बार्नदमय होती है, वरन मक्त के लिए भी बानदमय होती है। एक मक्त में 'मक्ति' का बाविभाव उसमें भगवात की बात्समित्रि-मय जाने के कर में समिव्यक्त भगवदिच्छा के कारण होता है, तथा भगवान की इच्छा की ऐसी समिव्यक्ति की व्याक्या उसकी दया के रूप में की जानी चाहिए। इसलिए किसी भी व्यक्ति में मिक के ब्राविभीय का यवार्ष कारण भगवान होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि न केवल 'मिक्त' का उदय बल्कि इन्द्रिय-शक्तियों के व्यापार तक भगवान की इच्छा के प्रभाव से होते हैं, इस प्रकार भगवान मानवों के सकल व्यवहार में भारम-सिद्धि ही की प्राप्ति करता है, यद्यपि केवल 'मिक्त' में ही उसके उच्चतम गर्व सर्वाधिक प्रानन्द-मय स्वरूप की भारमाभिज्यक्ति मक्त की संतुष्टि के लिए होती है, भतएव इसे उसके विद्येष सन्प्रह का कार्य समक्तना चाहिए । शास्त्रों में यह कहा गया है कि अगवन्नाम का सक्षिप्त सकीतन भी भगवान को संतुष्ट करने के लिए यथेष्ट होता है, तथा जो व्यक्ति उक्त शास्त्र-पाठों को अतिशयोक्ति (अर्थवाद) मानते हैं उन्हें अगवान द्वारा दण्ड दिया जाता है। किन्तु सच्या मक्त इस कारण मगवनाम का संकीतन समाप्त नहीं कर देता क्योंकि केवल एक सकीतंन ही 'उसे संतुष्ट करने के लिए यथेष्ट होता है और मगवन्नाम का मकीतंन ही उसे बस्यानंद के भावातिरेक में प्लावित कर देता है। परम्त फिर भी ऐसे उदाहरण होते है जिनमें केवल सकीर्तन या यही ईश्वर साभारकार के लिए बचेच्ट नहीं होता. ऐसे उदाहरणों में यह मान सेना चाहिए कि भनः महा पातकी है। जो व्यक्ति महा पातकी होते हैं उन पर भगवान अपनी हया प्रदान करने के लिए सरलता से प्रवत्त नहीं होते हैं. ऐसे व्यक्तियों को तबतक अगवकाम का निरतर सकीर्तन करना चाहिए जब तक उनके पापों का नाश न हो जाए और वांखित लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाए। भगवन्नाम का संकीर्तन स्वय निकृष्टतम पापों का नाम करने के लिए यथेष्ट होता है, किन्तु बन का कपट (कौटिल्य), 'सम्बद्धा' तथा भगवान के प्रति हमारी बासक्ति में बाधक बस्तुयों में बासक्ति निकृष्टतम पाप हैं, क्योंकि उनकी अवस्थिति से यत में 'प्रक्रि' के ब्राविप्रीय की प्रक्रिया ब्रवस्ट होती है, तथा ऐसे व्यक्ति स्वयं को भगवान में भनूरकत नहीं कर सकते। इस प्रकार मक्ति के उदय में निकृष्ट-तम पापो को करने प्रथवा सन्नान में लीन रहने की तुलना में समिक पांडित्य एवं तज्जनित हृदय की कृटिलता अधिक प्रवल रूप से बाधक सिद्ध हो सकती है. क्योंकि भगवान 'प्रशानी' के प्रति दयालु होता है किन्तु पद्चादक्त के प्रति नहीं, मन की उक्त प्रवृत्तियाँ केवल दीर्घकालीन गम्भीर पापों के ग्रस्तित्व के कारण ही उत्पन्न होती हैं। सतः अस कोई पूर्व पाप नहीं होते सीर नाम-संकीतंन के पक्कात कोई गम्भीर सपराध नहीं किए जाते 13 तब उस दृष्य में सफलता के लिए केवल एक ही सकीतंन यथेष्ट

¹ बही, पु० ५२३।

वट-सन्दर्भ, पु० ५३२-४।

वही, पुरु १३६।

होता है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति काल में मणबन्नाम का संकीतन करता हैं, तो केवल एक ही संकीतन सर्वे पापों के निवारता एवं मणबान के अनन्य साहबर्य के लिए यवेष्ट होता है।

'अदा' के सनाव में एक व्यक्ति के लिए ज्ञान सबसा कर्म नार्ग का अनुसरस्य करना सन्य नहीं होता, पर फिर जी जो व्यक्ति 'अर्किन मार्ग' का अनुसरस्य करना वाहते हैं उनके लिए तो 'अदा' एक स्वपिद्धांत्र स्वप्तस्य होती है। जब एक बार स्विप्त कर देना चाहिए। सपनी सफलता के लिए 'अक्ति' किसी कर्मकाव्यीव प्रक्रिया कर देना चाहिए। सपनी सफलता के लिए 'अक्ति' किसी कर्मकाव्यीव प्रक्रिया की अपेखा नहीं रखती। जिस प्रकार सिन स्वप्तावतः चाल को स्वतः जला देती है, उत्ती प्रकार नगरननाम एवं नगरना की विनुतियों का संकीतेन स्वतः किसी नी नवस्य प्रक्रिया के विना स्वित्तस्य सभी पार्ग का नाश कर देता है। अदा स्वक्रपतः 'अक्ति' को उदय को सम्प्रक वनाती है। 'अक्ति-मार्ग' का सनुसरस्य करते समय एक व्यक्ति को ज्ञान समया कर्म-मार्ग का अनुसरस्य करते समय एक व्यक्ति को ज्ञान सम्या कर्म-मार्ग का अनुसरस्य करते समय एक व्यक्ति को ज्ञान सम्या कर्म-मार्ग का अनुसरस्य करते समय एक व्यक्ति को ज्ञान सम्बा कर्म-मार्ग का अनुसरस्य करते समय एक व्यक्ति को ज्ञान सम्बा कर्म-मार्ग का अनुसरस्य करते का प्रसास नहीं करना चाहिए, ऐसा सम्यास अक्ति की द्वित में प्रकार समक्ति कर होगा।

यदि 'मस्ति' से ईस्वर-झालिम्य उत्पन्न होता है, तो बूँकि ईस्वर की तीन सास्तवा महान्तु एरपासनम् और मगवान् होती हैं, इस्तिल् तीन प्रकार का सानिम्य माप्त करना सम्मन है, इनमे से तुनीस दिवीय ने अंच्ठ होता है सौर दितीय प्रवप से । स्प से सम्पन्न देश्वर-साक्षात्कार रूप से रहित साक्षात्कार से अंच्ठ होता है। सच्चा मस्त त्याक्रियत समित एवं ऐस्वयं के उच्चतर पर की तुनना में ईस्वर की शासता के चर को स्विक माण्या देता हैं, 'इस्तिल् वह किन्हीं सन्य तयाक्षित तामरायक कती से ससंविध्य हुद मस्ति को कामना करता है। ऐसे मस्त, जो केवल मयवान सौर स्वयान सोर स्वयान सीर स्वयान सीर स्वयान सीर ही की कामना करते हैं, 'एकान्तिन' कहनाते हैं, जो सन्य प्रकार के सभी

<sup>&</sup>lt;sup>९</sup> वही, पृ० ५३६ ।

<sup>&</sup>lt;sup>९</sup> वही

 <sup>&#</sup>x27;भिक्ति' के निम्निकित नौ सक्षण बतसाए जाते हैं :

श्रवसां कीर्तनं विष्णोः स्मरसां पाद-सेवनं बर्ण्वनं वन्दनं दास्यं सस्यमारम-निवेदनम् । —वही, पृ० ५४१ ।

किन्तु यह भावस्यक नहीं है कि 'जस्ति' का इन सर्व नवचा रूपों में अनुसरस् किया जाय ।

<sup>&</sup>lt;sup>क</sup> को मूढ़ो दासतां प्राप्य प्राप्तवं पदमिच्छति ।

<sup>--</sup>बही, पृ० ४४१ ।

भक्तों से श्रेष्ठ होते हैं, इस प्रकार की मक्ति को 'श्रीकंचन-मक्ति' कहा जाता है। यह तक किया जा सकता है कि जब सभी व्यक्ति ईश्वर के श्रंस हैं, और शंशी के शंशों के रूप में वे उसके प्रति स्वमावत: बासक्त होते हैं, इसलिए उन सबके लिए 'ब्रॉकियन-मनित' स्वामाविक होनी चाहिए, किन्तु, इसका उत्तर वह है कि वहाँ तक ईश्वर की 'स्वरूप शक्ति' का संबंध है मानव उसका ग्रंश नहीं होता, वरने वहाँ तक 'वह' ग्रपनी 'तटस्य-सक्ति' सहित अपनी विविध सक्तियों से सम्पन्न होता है, वहीं उसका अंश होता है। मानव देश्वर का अंश दूस अर्थ में है कि बाह्य एवं आंतरिक दोनों दृष्टि से वह ईश्वर के अपरोक्ष संबंध में होता है, किन्तु फिर भी उसमें अपनी मूल व सामान्य प्रवृत्तियाँ, रुचि तथा स्वभाव बादि होते हैं, जो उसे ईश्वर से पृथक करते हैं। इस कारता से, यद्यपि मानव ईश्वर के जीवन में भाग नेता है और उसका भी वही जीवन होता है, तथापि स्वयं सपने विचारों व प्रवृत्तियां के कोव में सावृत्त रहने के कारण बह ईश्वर-प्रसाद के श्रतिरिक्त ईश्वर-भक्ति रूपी श्रवने जन्म-सिद्ध श्रविकार में श्रासक्त नहीं हो सकता ।" जब एक व्यक्ति कृटिलता आदि के सहस महाबाधक पापों के प्रभाव में नहीं होता है, तब प्रत्य भक्तों के साथ उसका समागम ईश्वर की अपना अनुप्रह प्रदान करने के लिए अवसर देता है और उसके मन में मिक्त जाग्रत होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि सभी प्राशियों को ग्रनिवार्यतः मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए, जीवात्माओं की सक्या धनत होती है, तथा केवल उन्हीं को मोक्ष प्राप्त होगा जो उसके भनुप्रह को जाप्रत कर पाते है। भनादि काल से मानव ईश्वर के प्रति सक है और उससे विमुख है, तथा यह स्वामाविक बाबा सच्चे भक्तों के साहचर्य (सत्सग) से ही दूर की जा सकती है, ईश्वर मानवों में ऐसे उत्तम मक्तों के अनुग्रह से अवतरित होता है जो किसी न किसी काल में मन्य साधारए। व्यक्तियों की भौति पीड़त रह चुके हैं, भतएव उनके प्रति स्वमावतः सहानुभृति रखते हैं। देश्वर स्वयं उनके प्रति सहानुभृति नहीं रख सकता, क्योंकि सहानुभृति में पीड़ा की पूर्व-कल्पना निहित होती है, ईश्वर विशुद्ध मानन्द-स्वरूप होता है, मतः उसे सामारण प्राणियों के दु:स का मनुमव नहीं हो सकता।

सर्वोत्तम भक्त वह है जो सर्व भूतों में भगवान को देखता है तथा सर्व भूतों को धपनी धारमा एवं उसमे अमिब्यक्त मगवान के अतर्गत देखता है। 3 दितीय प्रकार का मक्त (मध्यम) वह है जो भगवान के प्रति प्रेम, उसके मक्तों के प्रति मैत्री, प्रज्ञानियों

¹ वही, पृ० ५५३।

<sup>&</sup>lt;sup>३</sup> षट्-सन्दर्म, पु० ४४७ ।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> सर्व-भूतेषु यः पश्येद् मगवद्-मावमास्मनः।

भूतानि मगबत्यारमन्येष मागबतोत्तमः।

<sup>-</sup>वही, प्र० ४६१।

-वही, पृ० ५६४।

के प्रति कृपा बीर वापने सनुषों के प्रति उपेक्षा रखता है। ' आकृत' सनत नह है जो सदा-सित सहित अपवान को पूर्ति की पूजा करता है, किन्तु उसके मनती सबसा सन्य स्वित्तयों के प्रति कोई विशेष माद नहीं रखता । ' सर्वोत्तम मनत के सन्य सीर संवर्रण भी हैं; जैसे 'शीता' में कहा गया है कि वह जिसका विन्त खुद एवं कामनाक्षों क कमें से सनाक्षांत रहता है, और जिसका मन सदा वाखुदेव में अनुरस्त रहता है, सर्वोत्तम भनत माना जाना चाहिए," आगे कहा गया है कि सर्वोत्तम भनत वह है जो 'स्व' एवं 'पर' सबना सपनी एवं पराई बन्दुओं में कोई मेद नहीं करता, तथा सर्वभूतों का सुदृद धौर सारमा में पूर्ण सानत होता है, "भीर आगे, सर्वोत्तम भनत वह है जिसका विन्त सपरोश रूप के देवर के सपीन होता है, नवा जो प्रेम बंधन के द्वारा प्रगवान के चरण-कमत्रों को पारण करता है।<sup>2</sup>

एक प्रस्य हिंग्दिकों से 'मिन्त' की सेवा के क्या में प्रधवा सभी वस्तुधों की प्राप्त के साधन के क्या में परिचावा दी गई है, यूर्वोक्त को 'स्वक्य-मत्मस्त' तथा परवादुक्त को 'सटस्य लक्षस' कहा जाता है तथा मन्ति विविव स्वक्य की मानी गई है-केवल बाध्य मन्ति (सारांप-सिद्धि), धन्य मक्तों के साहत्वयं से उत्पन्न मन्ति (सार-सिद्ध)। प्रथम दो उदाहत्यों में 'मन्ति 'कंटिल' (कित्य) कही जाती है, धौर प्रित्त उदाहरण में मानी की मानी है। प्रथम दो उदाहरणों में 'मन्ति केटिल' कित्य) कही जाती है। प्रया-माने से सर्वांचक प्रस्थक किया मानवान के नाम एवं विभूतियों का अवत्य और कोर्तन है, किन्नु उत्तरे प्रप्तथक क्या मानवान के मान एवं विभूतियों का अवत्य और कोर्तन है, किन्नु उत्तरे प्रप्तथक क्या स्थित सभी कमों का मगवान के प्रति समर्थण मी होता है। ऐसा करने में मन्त भपने हुक्काओं का मी समावेव करता है, बहु न केवल घपने वार्मिक कर्तवयों के फलों व जीवन के सामाय्य कर्तव्यों के प्रति है, विन्नु उत्तर को सामाय्य कर्तव्यों के प्रति जीवन के सामाय्य कर्तव्यों के प्रति के सामाय्य कर्तव्यों के प्रति के सामाय्य कर्तव्यों के प्रति है। करता है, वरनु वन कमों का मो सामित्त करता है जी कि सामाय्य कर्तव्यों के प्रति होते हैं। वह भववान के मनल प्रपत्त स्वमाव करता है जी कि सामाय्य कर्तव्यों के प्रति होते हैं। वह भववान के मनल प्रपत्त स्वमाव करता है जी कि सामाय्य कर्तव्यों के प्रति होते हैं। वह भववान के मनल प्रपत्त स्वमाव करता है जी कि सामाय्य कर्तव्यों के प्रति होते हैं। वह भववान के मनल प्रपत्त स्वमाव

ईश्वर तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्स्विप प्रेम-मैत्री-क्रुपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ।

<sup>-</sup>वही, १० ५६२ । ै स्रच्चीयामेन हरये पूजा यः श्रद्धयते न तद्-वक्तेषु चान्वेषु स सक्त. प्राकृतः स्मृतः ।

न काम-कर्म बीजानां यस्य चेतसि सम्मवः वासुदेवैक निलयः स वै मायवतोत्तमः।

वाबुदेवैक निलयः स वै मायवतोत्तमः। —वही, पृ० १६४।

<sup>भ</sup> न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा निदा सर्वे-भूता-पुहुच्छान्तः स वै

मायवतोत्तमः। —वही, पृ० १६४।

<sup>&</sup>lt;sup>क्र</sup> वही, पृ॰ १६४।

<sup>&</sup>lt;sup>व</sup> वट्-संदर्भ, पृ० ४०१-२ ।

के सभी दोवों तथा अपने द्वारा किए गए सभी दुष्कृत्यों को स्वीकार करता है, और उसके अनुबह के हेतू उसकी प्रार्थना करता है जिससे उसके सकल पाप खुल जाते हैं। एक मनत मगवान से प्रार्थना करता है कि वह उसके लिए प्रेम से उसी प्रकार उन्मत्त हो जाय जिस प्रकार एक युवती एक युवक के तथा एक युवक एक युवती के प्रेम में रमए। करता है। अब एक मनुष्य स्वार्य से प्रेरित होकर कोई कार्य करता है, तब वह धसफलताओं धववा न्यून फलों के कारण पीड़ित हो सकता है, किन्तू, जब वह अपने कमों को ईश्वर को अपित कर देता है, तब वह उक्त असफलताओं के कारए पीडित नहीं होता । सर्व कमें एवं उनके फल वस्तुत: मगवान की सम्पत्ति होते हैं, केवल प्रज्ञान अथवा मिथ्या संकल्पनाधी के कारण हुन उनका स्वायतीकरण कर लेते हैं और उनके बंधनों में बध जाते हैं। किन्तु गर्दि इन्हीं कमों को उचित इध्टिकोसा से किया जाय तो हम उनके प्रभावों से नहीं व्य सकते, इस प्रकार यदि यह अनुभूति करें कि वह हमारी संपत्ति नही है मगवान की सपत्ति है तो जो कर्म हमारे जन्म एव पनर्जन्म के लिए उत्तरदायी हैं वे उक्त चक को नष्ट कर सकते हैं तथा हमें उनके बंघन से मूक्त कर सकते हैं। यदि यह तर्क किया जाय कि आजा प्राप्त कर्मों का अनुप्टान कर्ता में एक नवीन व सजात शक्ति (अपवं) को उत्पन्न करता है, तो यह भी तर्क किया जा सकता है कि मानव में यथार्थ कर्ता उसका 'अतर्यामिन्' है, जा उसे कर्म मे प्रवृत्त करता है, बतएव कर्म इस बन्तर्यामिन-भगवान की सम्पत्ति होता है, तथा यह माननः गलन है कि कर्म का कर्ता यथार्थ कर्ता है। 3 इस प्रकार सभी वैदिक कर्म चरम कर्ता के रूप में केवल भगवान के द्वारा ही सम्पन्न किए जाते हैं. अतएव सभी कर्मों के फल केवल उसी की सम्पत्ति हो सकते है।

हमारे कमों का भगवान को समर्था पुन. द्वित्य स्वस्य का हो सकता है-एक स्वर्णक एक कमें को उसके द्वारा भगवान को सनुष्ट करने के स्यय्य उद्देश्य के स्वकार है, स्वया बहु उस कमें को उसके कर का की प्रतिन दुष्का के किना कर सकता है त्या उसको भगवान के सर्था कर सकता है त्या उसको भगवान के सर्था कर सकता है-एक तो 'कर्म-सन्यान' है और दूसरा 'कल-सन्यान' । कर्म या ता इच्छायों से सम्यान मगवान के सिष्य में रित हो सकते हैं, सर्थात कसों को मगवान पर छोड़ना सबवा मगवान के सिष्य में रित हो सकते हैं, सर्थात कसों को मगवान पर छोड़ना सबवा मगवान के सिष्य में तीन प्रकार के सर्था जाता है कि चक्चाहरूक सिख्द 'सिर्फ हो करना हो हो ये तीन प्रकार के सर्था

युवतीनां यथा यूनि यूनाच युवती यथा
 मनोऽभिरमते तद्वन् मनो में रमतां त्विय ।

<sup>–&#</sup>x27;विद्यापु-पुरासाम्' पृ० ५६।

<sup>\*</sup> वही, पृ० ५८५।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> वही, पृ० ४म६ ।

'कामनानिमित्त' 'नैष्कर्म्य-निमित्त' और 'मक्ति-निनित्त' कर्मी के रूप में वर्गीकृत किए बए हैं। सक्ते शक्त अपने सभी कर्म सगवान को संतुष्ट करने के हेत् करते हैं, अन्य किसी भी हेतू से नहीं। पून: 'अक्ति' को 'कर्म' से संबंधित माना वा सकता है, और इसलिए उसे 'सकाम' 'कैवल्य-काम' व मक्ति मात्र-काम माना जा सकता है। जब एक व्यक्ति सावारण इच्छाव्यों की पूर्ति के लिए वयवान की अक्ति करता है, तब उसे 'सकाम-मिक्त' माना जाता है। 'कैबल्य-काम-मिक्त' को 'कर्म' अथवा 'कर्म' व 'ज्ञान' से संबंधित माना जा सकता है. यह उस व्यक्ति के उदाहरता में पाया जाता है जो भगवान पर ध्यान को केन्द्रित करता है तथा 'योग' पथ पर बाक्द होता है. वैराग्य का धम्यास करता है. और मगवान के साथ अपने एकत्व को संकल्पित करने का प्रयत्न करता है, और ऐसी प्रक्रियाओं के द्वारा स्वयं को 'प्रकृति' के बंधन से मुक्त कर लेता है, बह ज्ञान व कर्म के द्वारा 'जीवात्मन' का 'परमात्मन' से एकीकरण करने का प्रयास करता है। तीसरा प्रकार 'कर्म' से ध्रयवा 'कर्म' व 'बान' से संबंधित हो सकता है। इनमें से प्रथम वर्ग के अक्त भगवान के नाम एवं विभृतियों के संकीतन, उसकी निरतर जयामना धीर जमके प्रति धपने सभी कर्मों के समर्थता के द्वारा धपनी अहित की प्रकट करते हैं। द्वितीय वर्ग के सकत भगवान के प्रति चपनी अक्ति में सकल वस्त्रमों के प्रति एक प्रवद्ध दृष्टिकील के निरतर बस्थास का समावेश करते हैं, वे सर्व जनों को भगवान की अभिव्यक्ति मानते हैं, वे सबं उत्तेजक परिस्थितियों में धैर्य रखते हैं भीर स्वयं को सकल वासनाओं से विरस्त बनी लेते हैं, वे बड़ो के प्रति भादरयुक्त, दीन-हीनों के प्रति दयाल और अपने समत्त्व्यों के प्रति मैत्रीपुर्ण होते हैं, वे 'यम' एवं 'नियम' के शंतर्गत समाविष्ट सदगुरा। का सम्यास करते हैं, अपना सकन शहकार विनष्ट कर देते हैं तथा भगवान की विभत्ति के चितन एवं उसके नाम के सकीर्तन मे संलग्न रहते हैं। किन्त जिसमें उच्चतम प्रकार की भीवत झाँकचन मक्ति होती है बह ऐसा होता है कि अगवान का नाम सनने गात्र से ही उसका मन भगवान की घोर इस प्रकार प्रवाहित हो जाता है जैसे गगा का जल समृद्र में प्रवाहित होता है। ऐसा भक्त उसे दी गई किसी भी वस्तु को अगीकार नहीं करता, उसका एक मात्र सुख निरतर भगवान में लीन रहने में निहित होता है।

एक सन्य दृष्टिकोस् से 'स्वित' का 'वैबी' सीर 'रानानुत' दो बगों में विभावन किया वा सकता है। 'वैधी-मिक्ट दो प्रकार की होती है जो सकत को मगदान के प्रति समर्थस प्रकार की सित है जो सकत को मगदान के प्रति समर्थस प्रकार किया है। विश्व देखा के तिए प्रेरित करती है। वह 'वैसी' होती है क्योंकि उक्त 'विका' का प्रोत्साहन साक्सों से (जिन्हें सम्बद्धा 'विका' समस्य साम्ब्री सा सकते की सा स्वतं सा साम्ब्री सा सकते की सा स्वतं का साथों व पक्तों का समागद प्रवान के नाम का व्यवस्त भीर उसके नाम एवं विव्यक्तिया हो। वोदी से प्रकार की साम्ब्री के स्वत्येत साते हैं। व्यवस्त की सा स्वीतं का संकीतंत्र साहि 'वैची मिन्तं के स्वत्येत साते हैं। व्यवसे से सा स्वानित्र सा स्वीतंत्र सा स्वीतंत्र साहि 'वैची मिन्तं के स्वत्येत साते हैं। व्यवसे से सा स्वानित्र सा स्वीतंत्र साहि 'वैची मिन्तं के स्वत्येत साते हैं। व्यवसे से सा स्वानित्र सा स्वीतंत्र साहि 'वैची मिन्तं के स्वत्येत साते हैं। व्यवसे से सा स्वीतंत्र साहि है। व्यवसे से 'व्यवस्तेत्र साते हैं। व्यवसे से 'व्यवस्तेत्र साते हैं। व्यवसे से स्वतंत्र साते हैं। व्यवसे से सा स्वीतंत्र साते से 'व्यवस्तेत्र साते साते से 'व्यवस्तेत्र साते सात्र सात

सर्वोधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसका धर्व जीवन के सभी भय व द:सों से निराश होकर भगवान की शरए में जाना होता है। इस प्रकार 'शरए। गति' में कोई उत्तेवक कारता होना वाहिए वो एकमात्र संरक्षक के रूप में अगवान की बारता में आने के लिए भक्त को प्रेरित करता है। जो व्यक्ति अनवान की छोद उसके प्रति प्रवाद बनुराग के कारण उन्मूल होते हैं वे मी अपनी उस पूर्व बवस्था के प्रति छूला से प्रेरित होते हैं, जब उनके मन मगबान से बिमुख थे। उसमें भी इस धारसा का समावेश होता है कि ग्रन्य कोई संरक्षक उपनब्ध नही है ग्रथवा किसी भी ऐसे ग्रन्थ व्यक्ति प्रथमा प्राणी के परिस्थान का समावेश होता है। जिस पर अक्त पहले बाधित था। व्यक्ति को वैदिक बचवा 'स्मृति' के बादेशों में सभी बाशायों का परित्याग कर देना चाहिए तथा एकमात्र साध्यस के रूप में भगवान की सोर उत्मक्त होना चाहिए। 'क्षरणापति' की परिभाषा निम्नलिमित तस्वों के समावेश द्वारा की जा सकती है-(१) नित्यप्रति सगवान के धनुकल कार्य एवं विचार करना, (२) भगवान के किसी भी प्रकार से प्रतिकृत सभी वस्तुओं का वर्जन करना, (३) यह प्रवल विदवास रखना कि वह रक्षा करेगा, (४) सरक्षश के हेतू उस पर मामित रहना. (४) स्वयं को सम्प्रशंत: भगवान के हाथों में सम्पत्त करना तथा स्वय को उस पर पूर्णतः ब्राध्रित समक्षना, (६) स्वयं को एक ब्रत्यन्ति दीन प्रासी समक्षना जो भगवान के अनुग्रह के अवतरता की प्रतीक्षा में है। इनमें से प्रमुख महत्त्व मगवान को एकमात्र संरक्षक समभने पर दिया जाना चाहिए जिससे ग्रन्थ तस्वें का केवल वनिष्ट संबंध होता है। किन्तु, प्रगवान के संरक्षण की प्रार्थना के पश्चात झपने 'गृह' से सहायता की प्रार्थना एव उसकी सेवा में झनुरक्ति तथा उन महापूरुयों की सेवा का स्थान बाता है जिनके साहच्यं से एक व्यक्ति बन्यमा बनाय्य बिकांश वस्तुओं की प्राप्ति कर सकता है। उपक प्रमुख रूप जिसमें 'वैधी-मक्ति' समिन्यक्ति होती है वह है-स्वयं को मगवान का दास मानना सबवा मगवान को हमारा परम मित्र समक्षता । सेवा और मैत्री के भाव इतने प्रगाह व तीव होने चाहिए कि उनके फलस्वकप एक व्यक्ति प्रपने व्यक्तित्व को मगवान के लिए सम्प्रगंत: त्याग दें, मगवान के प्रति यह पर्ता बात्म-त्यान ज्ञास्त्रीय दृष्टि से 'बात्म-निवेदन' कहलाता है। 'रामान्ग' अथवा विश्व मावावेशमय 'मित्त' का 'वैधी-मित्त' से विभेद करना आव-

भ्रथ वैधी-भेदाः श्वरणापत्ति-श्वी गुर्वादि सत्-सेवा-श्रवण-कीर्तनादः ।

<sup>-</sup>बट-सन्दर्भ, पु० ५६३।

वारणावत्तेलस्यं वैष्णव-तन्त्रे,
 घानुकूलस्य संकत्यः प्रातिकूलस्य-विवर्जनम् रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरस्यं
 तथा घारस-निक्षेष-कार्यच्ये वहविवा वरस्यागित । —वही, पृ० ५६३ ।

<sup>\*</sup> वही, प्र० ५६५-६०४ ।

श्यक है, चूंकि 'रामानुग-मक्ति' केवल मक्त के भावावेगों के मुकाव का धनुसरए। करती है, इसलिए उसकी विभिन्न बवस्थाओं के लक्षण बताना कठिन है। इस प्रकार की 'मिक्त' में मक्त भगवान को मानों एक मानव के सद्दश मान सकता है, तथा मानवी माबाबेगों एवं घावेशों का सकल उत्कच्छा व तीवता सहित उसकी और उन्मुख हो सकता है: यथा, इस प्रकार की 'मिक्त' की समिव्यक्ति का एक प्रमुख रूप उन बदाहरणों में पाया जाता है जिनमें मगवान एक ऐसे श्रेम का विषय होता है जिसे मानवी संवधों में यौन-प्रेम कहा जा सकता है। यौन-प्रेम हमारे मानवी स्वभाव के लिए सम्भव एक तीव्रतम बावेग होता है, बीर तदनसार अगवान को यौन-प्रेम की आवेगमय तीवता से जेम किया जा सकता है। इस जेम-पथ का अनुसरण करने में मक्त थोड़ी देर के लिए भगवान की दिव्यता को भूल सकता है, उसे एक सवातीय प्रासी मान सकता है, तथा उसकी मोर इस प्रकार उन्मुख हो सकता है मानो वह उसका चनिष्ट मित्र हो अथवा एक अतिशय प्रिय पति हो । ऐसी परिस्थितयों में वह उपासना, ध्यान, उसके नाम अथवा विभूतियों के कीतंन आदि कर्म-काण्डीय धीपचारिकताओं का परित्यान कर सकता है, और केवल अपनी भावावेशजन्य प्रवृत्ति का धनुसरस कर सकता है तथा मगवान के साथ अपने मावावेश की प्रवृत्ति के धनुसार व्यवहार कर सकता है। परन्तु ऐसी अवस्थाए भी हो सकती हैं जहाँ 'रागानूग' 'बैची' से मिश्रित होती है, जहाँ मक्त 'बैची-मिक्त' के कुछ कमो का धनुसरण कर सकता है और फिर भी भगवान के प्रति आवेग-सहित अनुरक्त हो सकता है ! किन्तु जो भक्त मगवान के प्रति भावावेग से केवल भागे खींचे जाते हैं वे स्पष्टत: 'वैधी-मिक्त' की कलंब्य-सीमा के ऊपर होते हैं। मगवान के प्रति उक्त वावेगमय बामिक के द्वारा ही नहीं बल्कि जब एक व्यक्ति का मन भगवान के प्रति कोच अथवा पूर्णा के तीव संबेग से पूर्ण होता है जिसके फलस्वरूप वह स्वयं को पूर्णतः विस्मृत कर देता है तथा स्वयं को अगवान की उपस्थिति से सर्वधा परिज्याप्त कर देता है-एक प्राणा के विषय के रूप में भी-तब भी वह भगवान में अपने स्वरूप को लीन करके प्रपना सर्वोच्च लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। एक सक्त 'रागानुग-अक्ति' के द्वारा जिस प्रक्रिया से प्रपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता है वह एक सर्व-अपापी तीत्र सवेग के माध्यम से भक्त के स्वरूप के भगवान में विलय की प्रक्रिया होती है। इस कारण से, जब भी भगवान के प्रति किसी प्रकार के प्रबल सबेग से एक मनुष्य का मन प्रमावित होता है, तब वह मानो भगवान की सत्ता में लीन हो जाता है और फलत: अपने सीमित व्यक्तित्व के पूर्ण विघटन के द्वारा अपने चरम सध्य की प्राप्ति करता है।

"यट-संदर्भ का लेखक छुटे विभाग 'शीति-संदर्भ' में परम तत्व एवं भेरटतम पुरुषार्थ के रूप में मानंद (शीति) के स्वरूप का निरूपण करता है। मानव का चरम सरुप प्रवास उद्देश्य सुख की प्राप्ति एवं दुःख का विनास होता है, वह प्रयान संतुष्ट होता है तब ही व्यक्ति दुःस के धन्तिम विनाश एवं नित्य मुस की प्राप्ति कर सकता है। व्यक्ति ग्रयवा 'जीव', परमेहवर के यथार्थ स्वरूप का सत्य ज्ञान न होने व 'मामा' से मानृत होने के कारण उसके यथायं स्वरूप को जानने में असफल रहता है, अनेक मात्मगत उपाधियों से संबंधित हो जाता है और जन्म एवं पुनर्जन्म के झनादि चक्रों के दु:स को भोगता है। परम बानन्द की प्राप्ति परम तस्व की बपरोक्षानुसूति में निहित होती है, यह केवल व्यक्ति के प्रज्ञान के मन्त एवं तज्जन्य दु:खों की धारयंतिक समाप्ति के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। इनमें से पूर्वोक्त, यद्यपि समावात्मक रूप में अभिव्यक्त किया गया है, तथापि परम तस्य के स्वप्रकाश स्वरूप होने एवं उसी की भारमाभिव्यक्ति होने के कारए। वस्तुतः भावात्मक होता है। पश्वादुक्त विनास के द्वारा श्रमाबात्मक स्वरूप होने के कारण नित्य व अपरिवर्तनशील होता है-इस रूप में कि, जब दु: लों का एक बार झन्तिम रूप से मूलोक्खेदन हो जाता है, तब आये कोई दु:ल की दृद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार भगवत् प्राप्ति ही परम सुख भयवा माङ्काद को प्राप्त करने का एकमात्र साधन है। " 'युक्ति' सगवत्-प्राप्ति ही है, जिसके फलस्वरूप बहकार के बंधन का अंत होता है, जो बात्म-स्वरूप में स्थिति की ही भवस्था होती है। यह भारम-स्वरूप में स्थिति परमारमन् के रूप में भ्रापने स्वरूप की भनुभृति ही होती है। परन्तु इस प्रसग में यह ध्यान रखना प्रावध्यक है कि 'जीव' परमात्मन् से एकरूप नहीं होता, क्योंकि वह केवल उसका सश है, जत: उसके झानंद स्वरूप का कथन केवल इस तथ्य के कारण किया जाना चाहिए कि उसका सार-तस्व परमात्मन् के सार-तत्त्व से उद्भूत होता है। मगवान पूर्ण आशी की प्राप्ति उसके श्रंश की परशास्मन, के रूप में प्राप्ति के द्वारा ही होती है (श्रंशेन श्रंशि-प्राप्ति)। इसकी प्राप्ति दो रूपो में की जा सकती है, प्रथमतः व्यक्ति के ब्रज्ञान (जो केवल 'माया' की प्रवस्था प्रथवा कार्य-ज्यापार है) के विनाश के साथ-साथ ब्रह्मन् के ज्ञान के प्रकाश द्वारा केवल उसकी स्वरूप-शक्तियों से निर्मित बहुतस्व की प्राप्ति के रूप में, हितीयत:, सगुण रूप में परमेश्वर की तर्कातीत शक्तियों से संबंधित उसके सगुण स्वरूप की प्राप्ति के रूप में। 'मुक्ति' इम जीवन में तथा मृत्यु के पश्चात् दोनों घवसरों पर प्राप्त की जा सकती है, जब एक व्यक्ति परमेश्वर के बचार्च स्वरूप की प्राप्ति करता है, तब उसके स्वरूप का मिथ्या शवबोध तिरोहित हो जाता है भीर यही उसकी 'मुक्ति' की श्रवस्था है, मृत्यू के समय भी परमेश्वर के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशन हो सकता है तथा परमेश्वर के रूप में उसके स्वरूप की एक प्रत्यक्ष व ग्रपरोक्ष प्राप्ति हो सकती है।

निरस्तातिशयाङ्काद-सुख-मावैक-लक्षगा
 भेषजं भगवत्-प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिका मता ।

<sup>--</sup>बिब्स्नु-पुरास, 'बट्-सन्दर्म,' पृ० ६७४।

## चरम-सिद्धि

परम तत्त्व के स्वरूप की प्राप्ति पुनः द्विविधरूपिसी हो सकती है, सुस्म, धर्मात् बह्मनु के रूप में तथा स्यूल धर्यात् एक सगुरा ईश्वर सथवा 'परमातमन्' के रूप में। पश्चादक अवस्था में स्थल प्राप्ति का बैभव और भी अभिद्रुद्ध हो जाता है जब एक मक्त भगवान को उसके सभी विविध रूपों में प्राप्त करना सीख जाता है। इस धवस्या में, यदापि भक्त भगवान की विविध धनेकात्मक व धनंत शक्तियों की धपरोक्षा-नुभृति करता है, तथापि वह अपने आत्म-स्वरूप का विशुद्ध आनंद रूपी भगवान के स्वरूप से एकाकार करना सीखता है। अगवान के स्वरूप का ऐसा ताबारम्यीकररा स्वय को 'मित्त' प्रथवा प्रानन्द (प्रीति) के संवेग में प्रमिष्यक्त करता है, मक्त प्रानंद के रूप में अपने आत्म-स्वरूप की अनुभृति करता है, और भगवान के आनंद अथवा प्रीति स्वरूप के माध्यम से भगवान के साथ अपने तादातम्य की प्राप्ति करता है। ऐसे मानद की मनुभति के द्वारा ही द:ल की नि:शेष समाप्ति सम्भव होती है, तथा उसके बिना भक्त भगवान की सभी विविध व धनत शक्तियों के साहबर्य में प्राप्ति नहीं कर सकता । भगवान के झानद स्वरूप की झंतरग झनुमृति के द्वारा मक्त के लिए उसके बन्य गुर्गों, लक्षराों व शक्तियों का भी प्रकाशन हो सकता है। मन्ष्य स्वभावतः बानद के द्वारा भारम-सिद्धि प्राप्त करना चाहना है, किन्तु साधारणनया वह ग्रानंद के विषय के यथार्थ स्वरूप को नही जानता, और इस प्रकार वह विविध सासारिक विषयों में भानद की लोज करने में अपनी शक्तियों का अपव्यय करता है। वह तभी धपने यथार्थ लक्ष्य की प्राप्ति करता है जब वह यह धनभव कर लेता है कि भगवान सकल ग्रानंद का स्रोत है. उसी का हमारे सभी प्रयत्नो द्वारा ग्रनसवान किया जाना चाहिए, तथा इस विधि से ही हम पूर्णभागंद एवं भागद में चरम मूक्ति की प्राप्ति कर सकते हैं। सच्या मक्त 'कैवल्य' की प्राप्ति का इच्छक होता है, किन्तू, 'कैवल्य' का बर्थ 'शुद्धता' होता है, भौर चुंकि मगवान का यथार्थ स्वरूप एकमात्र शुद्धता है, इसलिए 'कैवल्य' का अर्थ अगवान के स्वरूप की प्राप्ति होगा । अत: अगवान धीर केवल भगवान की प्राप्ति का मानद ही सच्चा 'कैवल्य' मगवान का परम स्वरूप माना जाना चाहिए।

'जीवस्त्रुक्ति' की घवस्था में व्यक्ति धारम-बान व सगवान से धपने संबध के बान द्वारा यह धनुमक करता है कि जगत् सत् एवं धसत् दोनों है, अगत्य धपने बास्त्रविक स्वरूप में उसका कोई यथायं धरितत्व नहीं है, वरण् केवन स्वय उसकी 'धर्मिया' के द्वारा यह उसका धंय माना जाता है। जगत का निषेध-मान यथेष्ट नहीं

¹ वट्-सम्दर्भ, पृ॰ ६७५।

होता, क्यों कि यहाँ मगवान पर सावारित बीव के यथावें स्वरूप का मावारमक ज्ञान भी उपस्थित होता है। इस स्वरूप में व्यक्ति सांचारिक सनुमनों को सपने स्वरूप से संविद्य होता है। इस स्वरूप में व्यक्ति सांचारिक सनुमनों को सपने सरक्ष्य से संबंधित करने के सिष्याराव को सनुमूति कर लेता है, तथा पूर्वोक्त को मगवान के संघ के क्य में पहचानाना सीव लेता है। इस वहां में के सपने प्रारव्य कमाने के सभी फतों को मोगवा पड़ता है, किन्तु वह उक्त मोगों में कोई क्षी के का सनुमन नहीं करता, तथा उनके बथन में नहीं रहता। दिता पर पर प्रवाद में वर्षोक्त में प्रमाना के स्वर्ध में उसने स्वरूप में समाना के स्वरूप में उसने स्वरूप में माना माने स्वरूप में उसने स्वरूप में माना को स्वरूप में उसने स्वरूप में माना होने के साथ-साथ व्यक्ति को प्रविद्या के क्य में 'साया' का कार्य-स्वरापर समस्य हो जाता है, इसिलए 'सावा' को पूर्ण समाप्ति को ही 'सुन्ति' की वरम सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध स्वरूप स्वरूप स्वरूप सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध स्वरूप स्वरूप सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध स्वरूप स्वरूप सम्बर्ध स्वरूप सम्बर्ध स्वरूप सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध स्वरूप सम्बर्ध स्वरूप सम्बर्ध सामने सामने स्वरूप सम्बर्ध स्वरूप सम्बर्ध सम्वर्ध सम्बर्ध सम्वर्य सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्बर्ध सम्य सम्बर्ध सम्बर्ध

यह घ्यान में रखना चाहिए कि 'जीव' 'जीवो' की समध्ट निरूपित मगवान की शक्ति के साहचयं में परम तत्त्व का एक अश होता है। परम तत्त्व सर्व के सहस है तथा 'जीव' उसमें से प्रस्कृटित किरगों के समान हैं। अगवान मे अपने मूल से वे प्रस्फुटित हए हैं और यद्यपि वे उससे स्वतत्र प्रतीत होते हैं तथापि उस पर पूर्णरूपेण माश्रित रहते हैं। उससे बाह्य उनके मस्तित्व का कथन करना उचित नहीं है, क्योंकि वस्तुत: उससे बाह्य उक्त प्रस्तित्व का घामास केवल 'मार्था' के प्रावरण का प्रभाव होता है। 'जीवो' की किरएों से तुलना का बर्य केवल यही है कि उनका उस संसा से कोई प्रथक अस्तित्व नही है जिसकी वे किरलों हैं, और इस अर्थ मे वे परमेश्वर पर पूर्णतः ग्राध्रित है। जब 'जीव' परमेश्वर की शक्ति माने जाते हैं तब तारपयं यह होता है कि वे ऐसे साधन है जिनके माध्यम से परमेश्वर अपनी अभिव्यक्ति करता है। चुँकि परमेश्वर अनत वाक्तियों से सम्पन्न होता है, इसलिए यह स्वीकार करना कठिन नहीं है कि परमेदवर की झक्ति की समिब्यक्तियाँ, 'जीव' स्वय में यथार्थ कर्ताएव भोक्ता हैं, तथा एक उग्र महैतवादी का यह निर्देश मवैध है कि उनके कर्तृत्व मथवा भोक्तुत्व का कथन करना मिथ्या है, क्योंकि एक जीव का कतुँत्व परमेहबर की शक्ति की एक ग्रमिव्यक्ति है। उसी के द्वारा 'जीव' 'ससार-चक' में भ्रमण करते हैं तथा परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति की प्रक्रिया के द्वारा ही वे अपने स्वरूप के परमेश्वर से तादास्म्य को ज्ञान करना सीखते हैं और उनके प्रति भावावेश में स्वय को तल्लीन करते हैं। यह मत गलत है कि मुक्ति की भवस्था में भानन्द की कोई धनुभूति नहीं होती, क्योंकि उस दशा में मुक्ति की खबस्या बाखनीय नहीं होती । इसके मितिरिक्त, यह मत भी वृटिपूर्ण है कि मुक्तावस्था में जीव का झानद-स्वरूप बह्मन् से पूर्ण

ग्रस्य प्रारब्ध-कर्म-मात्राणामनिमिनिवेधेनैव भोग. । —वही, पृ० ६७८ ।

भस्य प्रारक्ष्य-कम्बन्धात्रास्याच्याचावचववच चाचः ।

<sup>ै</sup> वही, पृ० ६७=।

तावात्य्य हो बाता है, क्योंकि कोई नी व्यक्ति सानंव से एकक्य होने की इच्छा नहीं करता, वरलु उसका स्वपूत्र करने की इच्छा करता हैं। इसतिए पर्यतेत्वाद का उस क्य इस बात की व्याक्या नहीं कर सकता कि मुक्तावस्था क्यों बांछनीय है, यदि पुलित को एक सर्पत वांछनीय सक्या दिव नहीं को वा सकती है, तो कोई कारण नहीं होगा कि उसकी प्राप्ति के लिए एक व्यक्ति प्रयास करे। धामे यह नी कहा वा सकता है कि, यदि परस तक्ष विशुद्ध सानंद व सान स्वक्ष्य है तो इस बात की व्याक्या करते की कोई विधि नहीं है कि वह 'पाया' के धायरण से क्यों प्रमादित होता है। संशी एवं संब का प्रत्यस यह तथ्य को स्वाप्ति के स्वारण के विश्व पूर्णतः एकक्य भी नहीं है, तथापि वास्तव में उस पर साध्यत होने के कारण वे उससे पुलंतः एकक्य भी नहीं है। परवेश्वर को समझ्ते की सम्बन्ध विश्व है उसे विधिष्ट उपाधियों व परितीयाओं से संबंधित सकल प्रार्शियों के धायस के क्य में पहिचानना प्रभात् वह विभिन्न अपितरसं के क्य में धीर होते हुए भी एक्टब के क्य में है, स्वी प्रकार 'परमाराम' के प्रत्यक का 'प्रवार्ग' के प्रत्य से एकीकरण किया वा वकता है।'

## भक्ति का आनंद

भगवान में प्रीति द्विविष स्वरूप की हो जकती है। धर्य के विस्तार से प्रीति भगवान के प्रति वह स्पृष्ट्वा हो सकती है जो भगवान के सत्य प्रत्यय विषय ज्ञान को उत्पन्न करती है (भगविविषय) हुन्यासम्करत्यव्युगत स्पृष्ट्वा (यमयो ज्ञान-विधेव तत-प्रतिहः)। किन्तु भगवान में प्रति की एक सिक प्रपरोक्ष प्रतृप्ति मी होती है जो प्रत्यक रूप से एक तीव भावनात्मक स्वरूप की होती है, इस प्रकार की 'अवित' 'रित' कह्वाती है। इस प्रतिव' का वर्त्तन में भी भी भी क्या में मी किया जाता है। जिस प्रकार एक स्थित गीतिक विषयों की भीर जनकी उपयोगिता की संकर्यना किए विमा, उनकी सौन्यर्थ के प्रावणित होता है, उसी प्रकार वह मगवान के दिश्य-सौन्यर्थ एवं विविध्य पूर्णों से भी भाक्षावत हो सकता है, तथा उनके सौन्यर्थ प्राचणित स्वार्थ प्रति तीव प्रमाण

प्रति श्रेष्ठ प्रकार के 'श्रवतां' के लिए धारिकात उच्च प्रकार की 'श्रुवित' के प्रतिरिक्त धन्य निम्न प्रकारों की जुवित नी होती है जिनका वर्णन 'शालोवय' (भगवान के साथ सह-प्रतित्व) 'शाण्टि' (शगवान के साथ सह-प्रतित्व) 'शाण्टि' (शगवान के साथ सीप रहने का विषेधाविकार), 'सायुज्य' (भगवान के दिव्य व्यक्तित्व में प्रविच्य होने का विषेधाविकार) के रूप में किया गया है। परन्तु एक सच्चा 'श्रवत' सदा दिवेवाधिकारों का परित्याच करता है तथा मगवान के प्रति प्रपनी प्रविच्त से संतुच्य रहता है।

भासक्त हो सकताहै। उत्पर पहले ही कहा जा चुका है कि सगवान का धानंद उसके मक्तों के हृदय में घपनी ममिन्यक्ति करता है और अगवान के प्रति उनके भागंदमय प्रमुभव को उत्पन्न करता है। यह मगवान के शुद्ध मानंद स्वरूप से भिन्न उसके मानंद का सकिय पक्ष माना जा सकता है। भगवान का मानंद दो प्रकार का कहा जा सकता है-बुद धानंद के रूप में उसका स्वरूप (स्वरूपानन्द) तथा उसकी शक्तियों के बानंद के सकिय पक्ष में उसका स्वरूप (स्वरूप-शक्त्यानन्द)। पश्वादुक्त पुन: दो प्रकार का होता है, प्रवात 'मानसानंद' एवं 'ऐश्वर्यानद' धर्यात 'मिन्त' की सकिय प्रक्रिया के रूप में सानद तथा उसके ऐक्वर्यमें सानंद। जब एक अक्त भगवान की महानता समया ऐक्वयं की भावना से उसके प्रति सन्रक्त होता है, तब ऐसी मन:स्थिति बानंद बयवा 'त्रीति' का एक उदाहरए। नहीं मानी जाती, परन्तु जब 'मिक्ति' मगवान की सेवा के रूप में बाधवा उस पर बपरोक्ष बाध्यय के रूप में, अधवातीत प्रेम के बंधन द्वारा उस पर आसित्त के रूप में (यथा एक पत्नी का अपने भी में लिए एक मित्र का अपने मित्र के लिए, एक पूत्र का अपने पिता के लिए ध्यवा पिता का अपने पुत्र के लिए प्रेम-बंधन) एक विश्वद्व मावनष्टमक स्वरूप ग्रहता कर लेती है तब 'मिक्त' 'प्रीति' कहलाती है। जब प्राकर्वरा बाहर से मौतिक प्रेम की भौति प्रतीत होता है, भौर उक्त सबेग के सभी सुविदित उत्तेजनात्मक नस्व एवं भानंद के प्रकारों से युक्त होता है, तब 'ब्रीनि' अपने तीवतम एवं उच्चतम रूप में ग्रामिक्यक्त होती है. परन्त, चॅकि यह संवेग मगवान की जोर निर्देशित होता है, तथा उसमें भौतिक प्रेम की जैविक प्रयुवा शारीरिक प्राथक्ति का प्रभाव होता है, इसलिए उसका उस प्रेम से स्पष्ट विभेद करना धावदयक है, परन्त उसमें कामक प्रेम की सर्व बाह्य अभिव्यक्तियां होती हैं। इस कारण से उसका समुवित वर्णन आंतरिक अनुभूति एव कामुक प्रेम की बाह्य श्रमिक्य क्तियों के पदों में ही किया जा सकता है। 'प्रीति' की परिमावा एक ऐसी संवेगात्मक अनुभूति के रूप में दी जाती है जिसमें उसके विषय के प्रति एक स्पृहा व आकर्षण का समावेग होता है। साधारण सवेगो का संकेत सांसारिक इंडिय-विषयों ग्रमवा उनसे सबंधित विचारों के प्रति होता है, परन्तू ईश्वरोत्मुख सबेगो का एकमात्र विषय परमेश्वर होता है। भगवान में ऐसी प्रीति भगवत क्या से सहज ही (स्वामाविकी) प्रवाहित होती है, धौर वह घषिक प्रयत्नो से उत्पन्न नहीं होती तथा वह मुक्ति से श्रेष्ठ होती है। अ यह प्रीति तीवता में इतनी

१ वही, पृ० ७२२।

तत्र उल्लासारमको ज्ञान-विशेष: सुखम, तथा विषयानुकृत्यारमकस्तदानुकृत्यानुगत-तत्स्पुष्ठा-तदनुमय-हेतुकोल्लास-मय-ज्ञान-विशेष प्रियता । —वही, पृ० ७१८ ।

अक्त' में समाविष्ट उत्सुकता केवल कामुकता ही नहीं होती किन्तु लगभग एक पीडाजनक प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार यह कहा जाता है:

विकलित हो सकती है कि मक्त पूर्णुत: बारय-विस्मृत हो जाता है धौर स्वयं को मगवान से एकक्प मृत्यूमक करने तनता है, इस व्यवस्था को बारशीय दृष्टि से 'मृह्यूमाय' कहा जाता है। 'यह कहा जा तकता है कि एक तामाय्य प्रवं में 'मृह्यूमाय' कहा जाता है। 'यह कहा जा तकता है कि एक तामाय्य प्रवं में 'मृह्यूमाय' कहा जाता है। किन्तु आंकि का एक श्राय' खांत' कप भी होता है जिसमें मक्त तनक एवं उसके तमान मनतों की माति यह भृत्यूमक करता है किन्तु आंकि का एक श्राय' खांत' कप भी होता है जिसमें मक्त तनक एवं उसके तमान मनतों की माति यह भृत्यूमक करता है किन्तु भावता का है, किन्तु भगवान उसके नाम प्रवृत्तों की माति कर पर्वे मनवान के स्वामित्य की एक दूरस्य मावना वर्तमान रहती है-मृत्यू (खुरुप्त्य), गातनकर्ता (पातस्य) प्रथमा एक मातनकर्ता पिता के रूप में (लात्यस्व) उसकी हुपा की प्रतीक्षा में रहना। एक मक्त स्वयं को एक पिता धौर मगवान को एक प्रय प्रथम प्रया को एक पिता धौर मगवान को एक प्रय प्रथम प्रथम करता में स्वयं है, इस प्रकार का स्वयं प्रथमक समकर से मानव को एक प्रय प्रथम करता है। सिन्तु, जैसाकि उत्पर कहा जा चुका है, भगवान में तीवतम प्रीति वैवाहिक प्रेम का रूप बहुण करती है कामुक प्रम (काम) तमा करती है कामुक प्रम का क्या बहुण करती है कामुक प्रम (काम) विवादम प्रीति क्यार कहा जो हुप्त काम स्वाप्त के प्रम रहि वैवाहिक प्रम का रूप बहुण करती है कामुक प्रम (काम) विवादम स्वर्णिक प्रम कहा जो हुप्त के प्रम तम्ब हि कामुक प्रम (काम) व्यवस्था के प्रकार के हुप्त काम स्वाप्त के प्रम रहि वैवाहिक प्रम का क्या बहुण करती है कामुक प्रम (काम) विवादम स्वर्णिक प्रमा कहा के प्रम स्वर्णिक प्रमा कहा के प्रम स्वर्णिक प्रमा कहा है। स्वर्णिक प्रमा कहा के प्रमा काम करता है के स्वर्ण करता है। स्वर्णिक प्रमा काम स्वर्णिक प्रमा करता है के से प्रमा काम स्वर्णिक प्रमा करता है के स्वर्णिक प्रमा काम स्वर्णिक प्रमा स्वर्णिक प्रमा स्वर्णिक प्रमा स्वर्णिक प्रमा स्वर्णिक स्वर्णिक स्वर्णिक स्वर्णिक स्वर्णिक स्वर्णिक स

"प्रजात-पक्षा इव मातर सगा:

स्तन्यं यथा वत्सतराः श्रृषार्ताः

प्रिय प्रियेव ब्युवितं विवण्लो

मनो रविन्दाक्ष दिहलते त्वां।" -वही, पृ० ७२६।

प्रीति के विकास की प्रगाइता के सनुसार कभी-कभी दो सवस्थाओं में विभेद किया जाता है, प्रथात, 'उटज,' 'ईयटुद्गम' पदचाटुक्त की पुनः दो सवस्थाए होती हैं। चरम सबस्या 'प्रकटोदयावस्था' कहताती है।

 षट्-सन्दर्भ, पृ० ७३२ परिस्थितियों की ब्याक्या करने के लिए यहाँ 'उज्ज्वल-नीलमिए।' में से एक उद्धरेश दिया गया है:

"राधाया मवतस्य चित्त-जतुनी स्वेदैर विलाप्य कमाद्युंजन प्रदि-निकुज-कु जर-गतिनिषुँत-मेद-भ्रमम् चित्राय स्वयमन्वरंजमदिह ब्रह्माच्य-हर्म्योदरे भूगोपिनैव-राग-हिङ्ग ले-फर्की म्हंनार-चारः कृतिः।

 सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाह न मामकीनस् त्व समुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः।

 -वही, पृ० ७३५।

हरेपुँगा द्विषधाः मतः-चित्त सस्कार हेनवस्त्रदियान-विशेष्य-हेनवश्चाये
..... (१० ७३३) । ज्ञान-मतिवर्दात्त्वत्यम् मेत्री काल-मावस्य (१० ७३०) ।
यद्यपि इन सर्वे विचित्तकार को 'वन्तियों' का उत्तरेख किया गया है, तथापि यह
स्वर्ष किया जाता है कि विचानक संबों में इनके पारस्परिक निषया मात्र से कई
सम्य स्प मी उत्पन्न हो सकते हैं।

कोजता है, वबकि परभादुनत प्रियतम समयान की संतुष्टि कोजता है, यहाँ भीत्सुक्य जयप्रसिष्ट तरफ होना है। ये मस्त प्रेस के धपने प्रस्त स्वित के हारा एक भरितस प्रेसी के रूप में समयान के प्यापुर्य प्रस्त तक ही सर्प में के स्पर्य में समयान के प्यापुर्य प्रस्त तक ही सर्प में के उच्चतम एवं तीवतम रूप का उदाहरण कुष्ण के प्रति राभा का प्रेस कहा साता है। वैध्यान सेसक प्राय: इत प्रेस की स्वास्था 'भनकार-सार्थ में प्रकतित साथारण, तीकिक प्रेस के विश्लेषण, के धनुसार करते हैं।

'मन्ति' के विषय का निरूपण करते समय रूप गोस्वामी के प्रसिद्ध ग्रंथ 'मन्ति-रसामृत-सिन्ध्र' का संक्षिप्त उल्लेख न देना असम्मव है। यह ग्रथ 'पूर्व,' 'दक्षिण,' 'पिष्यम' व 'उत्तर' चार भागों में विभाजित है, तथा इनमें से प्रत्येक भाग 'लहरियों' नामक बध्यायो में विभाजित है। रूप के भतीजे जीव गोस्वामी 'मक्ति-संदर्भ' धीर 'प्रीति-संदर्भ' के प्रध्याय लिखने में उपरोक्त ग्रथ में बहुत ऋशी थे, जिस पर उन्होंने 'मागवत-संदर्भ' की समाप्ति के पश्चान 'दर्गम-सञ्जयन' नामक एक टीका भी लिखी थी। यहाँ 'उत्तम भक्ति' की परिभाषा कृष्ण की संतृष्टि के अनुकुल (आनुकुल्येन कृष्णानुशीलनम्) ऐसी मन:स्थिति व तत्सवधित कर्मों के रूप में दी जाती है जो किसी भी अन्य अमिलाया-हेत् अथवा उद्देश्य से शुन्य होती है, उँसी 'भक्ति' शकर की मौति जय ग्रदैनवादियों के ग्रदैनवादी टार्जनिक जान ग्रथवा साझ्य. यौंस व ग्रन्य प्रतो के दार्शनिक ज्ञान से सबधित नहीं होनी चाहिए, और न 'स्मृति-साहित्य' में व्यादिष्ट श्चनिवार्य श्रववा आकत्मिक कर्मों के अनुष्ठान से सब्धित होनी चाहिए। ऐसी 'मिक्त' के छ: लक्षरा होते हैं। प्रथम, वह समस्त पाप उनके मूल एवं घविद्या का माश करती है। पाप दो प्रकार के होते है-वे जा परिपक्वावस्था में नहीं होते (श्रप्रारब्ध), भीर जो परिषक्वावस्था में होते हैं (प्रारब्ध) भीर 'मिर्क्त' दोनो का निवारण करती है। पापों के मूल मन के अञ्चल संस्कार होते हैं जिन्हें अन्यथा 'कर्माशय' कहते हैं तथा वे भी 'मिक्ति' के द्वारा विनष्ट हो जाते हैं, जो ठोस ज्ञान होने के कारण 'ग्रविद्या' का भी नाश करते हैं। इसरे, उसे पवित्र अथवा शुभ (शुभद) कहा जाता है। 'अक्ति' के द्वारा एक व्यक्ति संसार को सख देता है, तथा सब जनों के प्रति मैत्री व प्रेम के बंधन से प्रासक्त रहता है, चूँकि एक मक्त सबका मित्र होता है इसलिए सब प्रारंगी भी उसके मित्र होते हैं। तीसरे, एक मक्त 'मिक्त' में धपनी प्रीति से इतना संतब्द रहता है कि मक्ति उसके लिए कोई मारूपंस नहीं रखती। चौथे, 'मिलि' की प्राप्ति मतियय कठिन होती है क्योंकि शत्यिक प्रयत्न से भी भगवत्-कृपा

श्रन्याभिलाविता-शून्यं झान-कर्माद्यनादतम्
 श्रानुकृत्येन कृष्णानुशीसनं मक्तिरुत्तमा ।

<sup>–&#</sup>x27;मक्ति-रसामृत-सिन्धुः' १. १. ८।

के बिमा एक व्यक्ति उन्ने प्राप्त नहीं कर सकता। योचमें, प्रक्ति का सानंद बहु-जात में प्राप्त पुक्ति के सानंद से समत कुषा लेक होता है। सहे, प्रक्ति समयान को इस सीमा तक वशीक्त कर नेती है कि वह पूर्णंतः समये मक की सेवा में सम सात है। तिक सी प्रक्ति में सामिक वार्षिक विद्वारा से लेक होती है। दार्षिक व तार्किक विदार किसी तिवस्त विन्तु पर नहीं पहुँचाने तथा एक योग्य तर्ककर्ती के हारा संस्थापित प्राप्तित का हुतरे समिक योग्य तर्ककर्ती हारा सहस्त ही सम्प्रत किया का करता है। ऐसे तार्किक विदार सम्प्रत का हुतरे समिक योग्य तर्ककर्ती हारा सहस्त ही सम्प्रत का हुतरे समिक योग्य तर्ककर्ती हारा सहस्त ही सम्प्रत का हुतरे समिक योग्य तर्ककर्ती हारा सहस्त ही सम्प्रत का स्वर्थ का स्वर्थ है। ऐसे तार्किक विदार सम्प्रत हो सामग्री है। ऐसे तार्किक विदार सम्प्रत हो सामग्री है।

कर तीन प्रकार है 'सर्कि' के विनेद करते हैं-'खायन,' 'आव' और 'प्रेमन्'।' 'खायन-मर्कि' ऐसे विभिन्न सावनों की मृत्यक है जिनको प्रमाने से मानस्ति संवेद सहव ही 'सान-मर्कि' (कि 'सान्य-मर्कि' भी कहते हैं) के रूप में प्रकट होने में सबर्य होते हैं। पर कर पाने कहते हैं कि सहव अफिनय संवेग किसी किया-विधि स्वया प्रयान के हारा उत्पन्न नहीं किया वा सकता, स्वोकि 'मर्कि' चरम श्रेय है सत्यव वह नित्त होती है। कोई मी नित्य तता उत्पन्न नहीं की वा सकती, स्वतिल एक भी फिन्म संवेग की हिए नहीं की वा सकती, वह पहले में हो हहया में विध्यान रहता है, और 'सावन-मर्कि' का ब्यापार केवत उत्तकों एक पानदायी क्य में हृदय में मकट करना हो है। 'यह 'सावन-मर्कि' दो प्रकार की होती है, 'वैथी सोर 'रागानुग' जिनका उत्तर पहले ही विवरत दिया जा 'कुका है। एक व्यक्ति केवल तमी तक 'संबी-मर्कि' के अंव में होता, है जब तक उत्तके हृदय में मगदान के प्रति नीत्रीक सनुराम का प्रावत्त के के में होता, है जब तक उत्तके हृदय में सगदान के प्रति नीत्रीक सनुराम का प्रावत्त निर्माक सनुराम का प्रावत्त नहीं हो जाता। कहा जाता है कि बही व्यक्ति 'देवी-मित्र' के सो निर्माक सनुराम का प्रावत्त नहीं हो जाता। कहा जाता है कि बही व्यक्ति 'देवी-मित्र' की स्वावत्त नहीं हो जाता। कहा जाता है कि बही व्यक्ति 'देवी-मित्र' की स्वावत्त नहीं हो जाता। कहा जाता है कि बही व्यक्ति 'देवी-मित्र' की स्वावत्त नहीं हो जाता। कहा जाता है कि बही व्यक्ति 'देवी-मित्र' की सो में स्वावत्त नहीं हो जाता। कहा जाता है कि बही व्यक्ति 'पी-मित्र' की सो मित्र स्वावत्त करता है का सावता के प्रति नीत्र मित्र स्वावत्त करता है कि सही व्यक्ति स्वावत्त की सावता निर्माण स्वावता करता है कि सही व्यक्ति स्वावता सावता साव

'सा मक्तिः साधन मावः प्रेमा चेति त्रिघोदिता।'

इस भवतरए। पर टीका करते हुए बीव गोस्वामी कहते हैं कि 'माँकि' दो प्रकार की होती है, 'खावन' भीर 'खावन' इनमें से दूसरी विशुद्ध भावावेशवाद की होती है भीर पांच प्रकार से निर्मात होती है-'माब,' 'प्रेम,' 'प्रस्पप,' 'स्नेह' व 'राग'। 'उज्जवन-नील-मिएा' का तेखक तीन भीर बोड़ देता है-'मान,' 'धनुराग' भीर 'महामाव'। कप दे इन भनित्म तीन का उल्लेख नहीं किया है नेगोंकि वे 'प्रेम' के क्यान्तर भाव हैं।

<sup>&</sup>lt;sup>9</sup> वही, १. २. १।

कृति-साध्या मवेत्साध्य-मावा सा साधनामिथा नित्य-सिद्धस्य मावस्य प्राकट्य हृदि साध्यता ।

<sup>-</sup>मक्ति-रसामृत-सिन्धु, १. २. २।

का बोग्यतम प्रधिकारी होता है वो तर्क-निपुश 'खास्त्रों' में पारनत तथा बैप्शव-धर्म में मतिशय श्रद्धा सहित हुढ-निश्चय बाला होता है ।" 'मन्ति' के उदय में सबसे बडी बाबा सांसारिक सून्त बाबवा मृक्ति की कामना है। 'वक्ति-मार्ग' का धनुसरए। करने वाला व्यक्ति यदि वेदों में व्यादिष्ट श्रनिवार एवं श्रन्य कमीं का पालन नहीं करता तो मी वह पाप का मानी नहीं बनता, किन्तु, यदि वह एक वैष्णुव के सच्चे कर्तांच्यों का पानन नहीं करता तो वह दोबी होता है, परन्तु ऐसी दशा में भी एक वैष्णुव को किन्हीं प्रायक्त्वित कर्मों को करने की धावश्यकता नही है, क्योंकि भगवन्नाम का कीर्तन मात्र ही उसके पापों के निवारता के लिए यबेष्ट होता है। शास्त्रों के कोई भी बादेश एक मस्त के प्रति कोई उल्लेख नहीं करते । मस्ति-मार्ग का ब्रनुसरण करने वाले व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण नैतिक गुर्खों की संहिता एवं स्रवेक कर्म-काण्डीय प्रारम्भिक ग्रवस्थाओं के रूप में होते हैं। विकेत ग्रामिकारी शिष्यों में ग्रत्यधिक विद्वासा ग्रथवा मासक्ति 'मक्ति-मार्ग' की एक बड़ी बाधा मानी जाती है।" एक 'वैधी-मक्ति' को मगवान के सीन्दर्य तथा उसके सर्व गूलो एवं विभृतियों पर ध्यान लगाना चाहिए, भीर स्वय को उसका दास समझना सीखना चाहिए. स्वामी के इस में मगवान पर ध्यान करने की एक ग्रवस्था यह है कि ग्रपने सभी कर्मों को भगवान के समर्पता करने में स्वयं को प्रशिक्षित करना चाहिए । उसे स्वयं में यह दृढ निरुषय उत्पन्न करने का भी प्रयास करना चाहिए कि भगवान मक्तो का महानतम मित्र है, सतः उसे चाहिए कि वह भगवान को अपना सर्वोत्तम मित्र समझने का प्रयत्न करे। शास्त्रोक्त कुमी तमी तक करना भावक्यक है जब तक कि मन में भगवान के प्रति उसके नाम के संकीतंत, उसकी विभूतियों के श्रवश और झानंदपूर्वक उनके कथन के लिए वास्तविक प्रवृत्ति का श्राविर्माव न हो । ज्योही यह श्रवस्था श्रा जाती है त्योही व्यक्ति 'वैभी-भक्ति' के मार्ग पर बाहद हो जाता है. तथा उसे उसके विशिष्ट कर्मों को करना चाहिए ताकि मिक्त निरतर एक यथायं तथा स्वामाविक एवं बाप्रतिहत संवेग के रूप में विकसित हो सके। यहाँ 'माव-सहित' 'साध्य-मक्ति' का श्रीगरीय होता है। इस प्रवस्था पर धाने से पूर्व ही 'साधन-भक्ति' की 'रागानुग' नामक एक धन्य अवस्था धाती है। इस धवस्था का अतिकारण करने के पश्चात ही व्यक्ति 'साध्य-भक्ति' की उच्चतर प्रवस्था एवं उसके क्रमागत विकास-स्तरों पर था सकता है। 'रागानुग-मक्ति'

-वही, १. २. ११ I

शास्त्रे युक्तो च निपुणः सर्वया हड्-निश्चयः
 श्रीढ श्रद्धौऽधिकारी यः स मक्ताबुत्तमः मतः ।

वही, १. २. ४२ द्यादि।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> न शिष्याननुबच्नीत ग्रन्थान्नेवाभ्यासेद बहुन्

न व्याक्यामुपयं जीत नारमानारमेत क्वजित्।

<sup>-</sup>बही, १. २. ४२ ।

को 'रानारिमका-मक्ति' का एक धनुकरण माना बाता है।' रामारिमका-मक्ति' सहब रान के रूप में 'मक्ति' होती है, रान का धर्म 'धावक्ति' होता है। यह 'रानारिमका-मक्ति' काम वस्त्री स्वेचा ने रनक्प की, ध्रयवा स्वाताब व वैतृक मान धावि वैदे ध्रम्य संबंधो' के स्वरूप की होती है। 'रानातृत-मक्ति' वह है जिसमें कोई सहब धनुराय नहीं होता, परन्तु सहज माननारक्ष धनुराय के रूपों का धनुकरण करने का प्रयास होता है, तथा वह 'वंधी-मक्ति' की हाँब के लिए उठाए गए निविध चरणों के धंविषत हो सकती है। 'भ्रम' (धाम्पारिसक भ्रम) धौर 'काम' के पक्को अगर पहले ही स्पष्ट किया जा जुका है। यधारि 'काम' का प्रयोग प्राय: नगवान के प्रति उन्मत्त भ्रेम के लिए किया जाता है, तथापि उसका प्रयोग 'भ्रम' के धर्म में किया गया है।' इस प्रकार 'प्रायासका-मक्ति' के दो प्रकार के उपिशामां के धनुकार 'रानातुम-सक्ति' मी स्वयं दो प्रकार को होती है-'कामानृत्य' एवं 'व्यवानृत्य'।

'साधन-मस्ति' की द्वितीय धवस्या रागानुग के रूप में हम 'माध-मस्ति' की धवस्या पर माते हैं, वो स्वयं धाधकाधिक तीक रूपों में तब तक विकवित होती रहती है जब तक कि महले हो वर्षित 'महा-माध' की धवस्या पर नहीं पहुँच जाती। वह शुद्ध धातींकिक 'सत्व' (मगवान का धानंद स्वय्य) की धांभव्यक्ति मागा जाता है। 'मिलन' की पहले ही एक ऐसे धावस्या के रूप में परिमाया दी जा जुकी है विसका धांमधेत मयवान की संतृष्टि होता है, तथा जिसकी टप्टि में कोई धन्य

विराजसीमिन्नश्यक्तां वज वासि-जनादिषु रागात्मिकामनुमृष्टा या सा रागानु-गोक्यते । —वही. १. २. १३१ ।

<sup>\*</sup> कहा जाता है कि सहज अनुराग यदि अगवान के अति वैर-माव का रूप लेता है तो मी वह किसी भी अकार की 'वैधी-मक्ति' से श्रेष्ठ होता है, जितमें ऐसा कोई सहज अनुराग नहीं होता । इस अकार जीव के 'दुर्गम-जुल्लमन' १. २. १३५ में कहा गया है-"यया वैरानुबन्धन मर्थरतन्यतामियात न तथा मित-मोगेन इति में निषिवता सितः। तथि रागमय-कामाव्योध्या विश्विष्यस्य चित्रमेवका दुर्ज्यस्यन्त-जुत्तरश्चिति स्यजनार्यमेव । येषु मावस्येषु निन्तितोऽपि वैरानुबन्धो विधियस-मक्ति-यागच्छेद्धाः। मगवान के प्रति सहज वैर-माव 'मावारिका' (सवैगात्मक) माना जा सकता है, परन्तु 'राशारिकका' नहीं। वह 'जित्ति भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसमें मगवान को संतुष्ट करने की कोई इच्छा नहीं होती, स्वतिए वह एक पृषक् धाधार पर अवस्यत्व होता है, वह 'राशारिकका-मक्ति' से लेख होता है।

अभैन गोप-रामासां काम इत्यागत प्रवाम ।

सक्य प्रथम उद्देश्य नहीं होता, इस कारण से उसमें 'मनत' को एक प्रकार की चेण्टा करनी पड़ती है (बेच्टा-रूप) किन्तु यहां 'मस्ति' के बर्ष में संशोधन करके उसके हारा केवल चित्त की ऐसी संवेगात्मक का निर्देश किया जाता है जिसमें तज्जन्य बारीरिक व मौतिक विकास का समावेश होता है, और वो प्रेम के विषय, प्रेम के उद्दीपनों, विमाबो, स्थायी माव को निर्धारित व अभिवृद्ध करने वाले हाव-मावों से मुक्त मावनात्मक बवस्थाओं द्वारा उत्पन्न होती है। " भगवान के प्रति 'प्रेमन्' की प्रथमावस्या 'माव' कही जाती है तथा वह अश्रुपात अथवा पुलक आदि स्वरूप शारीरिक प्रमावों से संबंधित होती है। वह माव धलौकिक स्वरूप का तथा विदानद से समाविष्ट भगवान की शक्ति के स्वरूप का होता है, इसलिए वह एक भीर तो 'स्व-प्रकाशक' होता है, दूसरी मोर वह उस मगवान के स्वरूप को प्रकाशित करती है जिसकी वह शक्ति है, भीर जिसका वह निर्देश करता है। मगवान की एक शक्ति होने के कारए। वह मक्त की मनोइतियों में बाविभू त होता है, उनसे उसका तादात्म्य हो जाता है, तथा उनसे तादारम्य में प्रपनी प्रशिष्यक्ति करता है। इस प्रकार मक्त में भाविभूत 'भक्ति' करता है। इस प्रकार मक्त में भाविभूत 'भक्ति' भलौकिक एवं लौकिक का तादातम्य होती है, तथा भगवद्-स्वरूप के माधुर्यानुभव एव स्वप्रकाशक मधुर ब्रात्म-स्वरूप के ब्रास्वाद के द्विविध कार्य-व्यापार की ब्रामिक्यक्ति करती है। इसलिए वह अपने विषय के प्रति सविद्स्वरूप होती है तथा उसमें भगवान के मधुर स्वरूप एव स्वय 'भक्ति' के मधुर स्वरूप रित का समावेश होता है। वह सर्व 'रेति' (भयवा भानद) का मूल होती है, अतएव उसे 'रिवि' भी कहते हैं। असकी न्यून मात्रा प्रायः सब में सामान्य होती है, उतका सतत विभिद्ध होने वाला उत्कृष्ट

शरीरेन्द्रिय वर्गस्य विकासामां विभायिकाः

भाव-विभाव-जनितादिवल-इत्तयः ईरिताः । - 'दुर्गम-सङ्गमन,' १. ३. १ ।

प्रेम्तस्तु प्रयमावस्था मात्र इत्यात्रशीयते सात्त्विकाः स्वत्य-मात्राः स्युपंत्राकृ पूलकादयः।

<sup>–</sup>भक्ति-रसामृत-सिम्बु, १. ३. ३ ।

असी हुद्र-सन्ध-विशेषकर-रित-मृत-कारनेत मुक्य-मृत्या तच्छान-साम्या सा रितः श्रीक्रप्यादि-सर्व-तकारकरेत हेतुना स्वयं-प्रकास-स्थाऽनि प्रपंत्रिक-तत्-प्रिय जननं मनो वृत्ती वाविष्ट्रंय तत्तातारस्यं वन्नती तत्त्व-तृत्याय जननं मनो वृत्तायः स्वयः स्कुरत्ती, तथा स्वश्रक्तित पूर्वोत्तरावस्थाम्यान् कारण् कार्य-क्षेण् श्रीभाववादि-साधुव्यात्त्रिकते स्वयित स्वार-क्ष्यार्थं वात्ति कृष्णादिक्यां तैयामास्या-वस्य हेतुतां सविद्येत्वे साथकतमता प्रतिपयते ह्वादित्यये तु स्वय ह्वाद्यन्ती त्रावित्यः

<sup>-&#</sup>x27;दुर्गम-सगमन,' १. ३. ४।

साविजांद विरंक होता है और केवन यनवान यथवा उसके कर्कों के अनुबह से ही उद्दश्त होता है। सत: वैसी एवं 'राजातुमं नकि में भी निःसन्देह निम्म प्रकार के 'साब' का कुस मंत्र होता है। यथवान के प्रति विस्त उक्तस्ट प्रकार के अनुराय का उस्त 'मिक' के साधारण नियत मार्ग (शावन-मिक) से यमन किए बिना होता है, वह सामान्यतः मयवर-कृपा के कारण होता है।

'जाव-मिक्त' की प्रथम सक्त्या में तक ऐसे स्वत्यक्ष की समिष्यक्ति करता है जो विकाम के कारखों के होते हुए मी पूर्णत: कोम-रहित रहता है, वह निपर समय प्रयस्त कारखेंस वहित समयकार्य के संकीतन में व्यतीत करता है, वह इंक्सिय-समय प्रयस्त भागवांचा होता है, धौर महान् होने पर भी वह खदा सिक्षय विकास रहता है तथा सगवान के चरम सासाक्ष्य की प्राप्ति का सदा हु निश्चय रखता है। वह सदा सपने करय की प्राप्ति के लिए सम्प्रत चित्रत रहता है तथा सदा मगवजाम में युक्त का सनुमय करता है। ' 'रित' के चर्च में 'प्रार्च' का संतरण सक्षण हृदय की स्तिखय कोमयता व हवस्वधीतता होती है, किन्तु जब मी ऐसी समस्या सम्य काममाध्यों से संबंधित होती है, यह वह मुक्ति की समस्या ही वयों न हो, तब उसे वयार्थ समस्या का सुचक नहीं मानना चाहिए, धौर ऐसी सवस्था को 'रत्यामास' मानना चाहिए, क्योंकि वह पूर्ण 'सार्य-स्वतीव की स्वत्या होती है धौर वह किसी भी प्रकार की स्था कामना से सर्वश्वित नहीं हो सक्ती।

जब 'पाव' प्रवाह हो बाता है, तब उसे 'प्रेम' कहते हैं, वह भगवान में स्वाप्तित्व माव एवं प्रस्य सभी बस्तुओं से पूर्ण प्रवासित्त से संबंधित होता है। वह 'पाव' के प्रत्यक्ष विकास द्वारा प्रवास मनवान के प्रयोध प्रवृद्ध के द्वार उद्भूत हो सकता है, वह सम्वान की महानता की सकल्या से संबंधित हो सकता है, प्रयाक्षेत्रक ममयान के प्राधुर्यानुस्य के रूप में प्रकट हो सकता है। 'प्रक्ति' का विकास पूर्व सुन कमी के फलस्वरूप वर्तमान जीवन में स्थुत्पन्न एक विद्याब स्वमाव पर तथा वर्तमान जीवन में प्रवृत्त प्रकार के प्रति विभिन्न प्रकार के प्रावंद्यम संवंती के विभिन्न सकता स्वार के प्रति विभिन्न प्रकार के प्रावंद्यम संवंती के विभिन्न सकता स्वर्ण कर स्वर्ण का स्वर्ण किया नया है जिनको संवीकार करने पर उक्त संवेच विकस्तित हो सकते हैं, परन्तु उनका सही किस्प्रत करना सम्मय नहीं है।

क्य गोस्वामी ने 'संक्षेय-मानवतानृत' नामक एक अन्य रचना थी लिखी जो वैक्शव मण्डल में एक सुपरिचित अंग है। उस पर कम से कम दो टीकाएं हैं, एक बीव गोस्वामी के द्वारा भीर अन्य, उत्तरकालीन वृन्दावन चन्द्र तर्कीलकार द्वारा, जो

मिक्त-रसामृत-सिन्दु, १. ३. ११-१६ ।

राबाचरल कवीन्द्र के जिल्ल के। इस संब में क्ला ने 'पुराक्षाें' के प्रवासानुकार समयान के विविध प्रकार के सबतारों का बर्तान किया है जिनमें कृष्ण को परवेसवर माना पथा है। उनके क्लेफ्ट बंधु सनावन ने भी 'दिरदर्शन' नामक टीका लहित 'इहरू-मागवतानुल' नाम वे एक सम्य निका विकार ने माने मानान की संसाम कुछ बक्तों नी जीवन-सटनासों एवं उनके सनुसर्वा का विवरण दिया है।

## बलदेव विद्याभूषण का दर्शन

सक्देद जाति से बैट ये स्पीर उद्दीश के बलेस्वर पराजे में रेमुन के तिकट एक गांव में उत्तर हुए बैट वे जह दें परित रोताम्बर शत के खात्र के तथा सामान्यतः मोविददास नाम से विदित है। यह वेदांत-स्वनकं के तिकक सामोदर शत कर बात्र में त्यांत हुए वेदांत-स्वनकं के ते कक सामोदर शत कर वोत्र में तीविदा है। यह वेदांत-स्वनकं के तिकक सामोदर शत यह तम्म के तीविदा में पर प्राचन के विद्या में रामानंद हुए वेदान के तिक्य में रामानंद में रामानंद के तिक्य में रामानंद में र

बसदेव की सबसे महत्वपूर्ण रचना 'बह्य-मुत्र' पर उनकी टीका है, जो अन्यचा 'गोविन्द-माध्य' कहलाती है। इस पर 'सूक्ष' नामक एक उप टीका है, इस टीका के लेखक का नाम प्रात नहीं है, यदापि कुख विद्वान उसे स्वयं बनदेव हो की रचना मानते हैं। बत्तदेव ने अपने 'गोविन-माप्य' के म्लाविक्य का 'विद्वान-रल' में सक्रिय्तीकरण मी किया है, जिसकी एक टीका है। सहामहोपाध्याय गोपीनाय कविराज का कथन

भाहामहोपाध्याव गोपीनाथ कविराज की 'सिद्धान्त-रल' माथ २, की प्रस्तावना । 'प्रमेय-रलावनी' की प्रस्तावना में ए॰ के॰ सास्त्री इस यत की कड़ी धालोचना करते हैं कि बलदेव वैश्व वे । दोनों पत्नों के समर्थन में कोई सतीय-जनक प्रमास उपकरण नहीं हैं ।

है कि 'विद्वांत-रल' स्वयं बतदेव द्वारा निका बया था। इस कथन की पुष्टि में कुछ भी नहीं दिया पया है, बवकि इसके विरोध में स्वावानिक बापति यह है कि बतदेव के समाप्त पर वेप्पान स्वयं भपनी रचना की पुरि-पुरि स्तुति नहीं कर सकता ।' बतदेव 'विद्वांत-रल' को 'पोविस-माध्य' का सारोध नहीं मानते, सपितु अंबता एक पुरक रचना एवं संवतः एक टीका मानते हैं।" यह सम्मव है कि 'पोविस-माध्य' पर 'पुरम' नामक टीका का लेखक में 'विद्वांत-रल' पर निक्की गई टीका का लेखक है, क्योंकि एक प्रस्तावना स्लोक दोनों में सामाप्त है।" 'विद्वांत-रल' में बहुत कुछ सामित्र है। हो की पोविस-माध्य' में मुझ स्वांति एक प्रस्तावना स्लोक दोनों में सामाप्त है।" 'विद्वांत-रल' में बहुत कुछ सामित्र है। हो भी में में स्वांत स्वां

सामंद का नित्य स्वामित्व एवं दुःस का नित्य निरोध मानव का चरक नत्वय है। वह नव्य सात्य-स्वरूप को वानवे वाले व्यक्ति (स-आ-पूर्वकम्) झारा भणवान के स्वरूप (स्वरूपत) एवं गुणों से संबंधित रूप के यथायं जान के माध्यम से पारत किया जा सकता है। मणवान का स्वरूप बुद्ध चित्र व सानंद है। इन दोनों को मणवान का वारोर नाना जा सकता है (न यु स्वरूपादिवहस्यातिरेकः)। उठका झात्मन् जान, ऐववर्य व यक्ति से निर्मात होता है।" यद्यपि वह सपने स्वरूप में एक है, तथापि वह सपने स्वरूप में एक है, तथापि वह सपने स्वरूप में यु सपने विषय कराते के रूपों में आविज्य है। इतिहा है। इतिहा है। इतिहा है। इतिहा सात्य-नीला में उत्तकी प्रविध्य कराते के रूपों में आविज्य निर्मात होता है। इतिहा सात्य-नीला में उत्तकी प्रविध्य करात सात्र है, तथा पह उत्तकी उन स्वित्य सात्र मों कारण सम्बद्ध होता है जिनका उत्तके स्वरूप से तयात्य है। है। किन्दु, इत कारण से हैं में प्रविधान की, एक भीर स्वनेक स्वयवा भेद सीर स्रोप स्रोप के युगपत

सान्द्रानन्द स्यन्दि योविन्द बाब्यं जीयादेततसिन्धु गाम्भीर्य्य-सम्भृत् यस्मिन् सद्यः संभृते मानवानाम् योहोच्छेदी जायते तत्व-बोचः ।

<sup>- &#</sup>x27;सिद्धान्त-रस्त,' पृ०१ पर टीका।

<sup>&</sup>lt;sup>8</sup> वही ।

श्रालस्थाद प्रवृत्तिः स्थात् पुंसां यद् ग्रन्थ-विस्तरे गोविन्द-माध्ये संक्षिप्ते टिप्पसी क्रियतेऽत्र तत् ।

<sup>&#</sup>x27;सूक्म'टीका, पृ॰ ५ तथा 'सिद्धान्त-रत्न' पृ०१ पर टीका।

४ 'सिद्धान्त-रत्न,' पृ० १-१३।

१ एकमेव स्व-क्ष्ममिक्त्य-शक्त्या युवपत्सर्वजावम्यात्य एकोऽपि सन्, स्थानानि मगवदा-विमावस्पदानि तद्-विविध-सीला-प्रय-मूलानि विविध मनवन्तो मत्तास्व ।

<sup>- &#</sup>x27;गोविन्द-माध्य,' ३. २. २ ।

सस्य की शुद्धता को नहीं मान लेना चाहिए। जिस प्रकार एक समिनेता स्वरूपत: एक रहकर भी स्वयं को विविध रूप में ग्रामिक्यक्त करता है, उसी प्रकार हरि भी कार्य-भेद के धनुसार धीर विविध मक्त जिस मन:-स्थिति एवं रूपों में उसकी संकल्पना करते हैं उनके अनुसार स्वयं को शंभव्यक्त करता है। वसकी अविन्त्य शक्तियों के कारण विरोध के नियम उस पर लागू नहीं होते, उसके प्रति हमारी संकल्पना में विरोधी धर्मों व प्रत्ययों का साहच्यें हो सकता है। इसी प्रकार उसकी देह उससे मिल नहीं है; अत: वह अपनी देह से एकरूप है। उससे मिल उसकी देह का प्रस्थय चिन्तन की प्रक्रिया के सहायक के रूप में केवल मक्तों के मन में ही होता है, किन्त यद्यपि यह उनकी कल्पना है, नवापि ऐसा रूप मिन्या नहीं है, सपितु स्वय मगवान ही है ('देह एव देही' अथवा 'विग्रह एवारमा भारमैव विग्रह:') । भगवान के भलीकिक स्वरूप के कारगा, उसका बचार्य रूप शुद्ध चितु व बानंद होते हुए भी वह कृष्णा के रूप में भपना यथायं स्वरूप देह-रूप में धारता कर सकता है। यह मूर्ति वस्तृत: उसी प्रकार मक्त के मन के साहचर्य में उत्पन्न होती है, जिस प्रकार एक गवर्व के प्रशिक्षित श्रवरों के साहचर्य में राग-मूर्तियाँ भ्राविभूँत होती हैं। 3 इस प्रसंग में यह कहा जा मकता है कि बलदेव के अनुसार स्वप्त-मुख्टियाँ मी निष्या नहीं होती, वरन् सस्य होती हैं, तथा मगवान की इच्छा से उत्पन्न होती हैं और जाग्रतादस्था में मगवान की इच्छा से तिरोहित होती हैं। इसलिए मक्तों के मन में आविर्भुत होने वाली ये मूर्तियाँ यथार्थ मूर्तियाँ होनी है जो मगवान के द्वारा सगवान की इच्छा से अभिव्यक्त होकर भक्तों के मन के साहचर्य से कियान्वित होती है। इस सबंघ में यह मी निर्देश किया जा सकता है कि 'जीव' मगवान से मिन्न होते हैं। 'जीव' की ब्रह्मन के प्रतिबिस्त के रूप में एव उससे बाह्य कोई यथार्थ अस्तित्व न रखने के रूप में ब्यास्था करने के लिए चप्र प्रदेतवादिया द्वारा कल्पित किया गया 'प्रविद्या' में ब्रह्मनुका प्रतिबिम्ब भी दोष-पर्सा है, थयोकि समानता ग्रथवा प्रतिबिम्ब की सकल्पना में भेद का समावेश होता है। 'जीव' चरमाण्वीय स्वरूप के. 'प्रकृति' के गुरुषों से सबचित व मगवान पर प्रस्तेत: काश्रित होते है। यदापि बदान सर्वव्यापी है, तथापि वह ज्ञान व मिक्त के द्वारा जात

१ ३. २, १२ पर 'मुक्त्म' टीका यह कहती है कि मगवान की 'माया-शक्ति' के तीन ध्यापार होते हैं: 'झादिनी,' 'सच्चिनी' और 'सर्विन्' 'माया' के रूप में शक्ति के द्वारा वह स्वयं को विविध रूपों में प्रमिध्यक्त कर सकता है।

ध्यातु-भेदात् कार्व्य-भेदाच्च अनेकतया प्रतीतोऽपि हरिः स्वरूपैवयं स्वस्मिन्न मुंचित ।
 -'गोविन्द-माष्य,' ३. २. १३ ।

४ वही, ३. २. १-५।

किया का सकता है। उसके स्वरूप की क्यार्थ अपरोक्षानुभूति तथा उसका इन्त्रिय-प्रस्पक्ष भी केवल 'साध्य-भक्ति' के द्वारा सम्मवः होता है साधन भक्ति द्वारा नहीं । भगवान के चित व मानंद को या तो अनुवान के इच्च के रूप में शवना उसके गुलों के क्य में माना जा सकता है। भगवान के प्रति यह दिविष उस्तेख 'विशेष' नामक पदार्थ को स्वीकार करने के कारण किया गया है, जिसके द्वारा ब्रम्य और पूसा में भेद के अमाब में भी पश्चादक का पूर्वोक्त के श्रति इस प्रकार विकान किया जा सकता है मानों उनमें भेद विद्यमान हो । 'विशेष' को मेद का प्रतिनिधि (भेद-प्रतिनिधि) कहा जाता है. सर्वात जहाँ कोई भेद नहीं होता, वहाँ निशेष हमें भेद का विधान करने में समय बनाता है, फिर भी, यह 'विशेष' कोई 'विकल्प' मात्र अथवा मिध्या साब्दिक कथन मात्र नहीं है। 'विशेष' के इस प्रत्यय की सहायता से समुद्र को जल मचवा तरंग कहा जा सकता है। 'विशेष' के प्रत्यय का सर्व यह है कि, यद्यपि भगवान श्रीर उसके बुलों, श्रथवा उसके स्वरूप और उसकी देह में कोई मेद नहीं होता, तथापि कुछ ऐसी विशेवता होती है जो पूर्वोक्त के प्रति परवादक्त के विधान को सम्भव बनाती है, तथा इस विशेषता के कारण मेदात्मक विभान को सत्य माना जा सकता है, यद्यपि बोनों में बस्तुत: कोई भेद नहीं होता। इसी प्रत्यय के बल पर 'सत्' का अस्तित्व है, 'काल' नित्य है, 'दिक् सर्वत्र' है ब्रादि तर्क-वाक्यो की सत्य भाना जा सकता है, वे न मिच्या है और न गाब्दिक मान्यता मात्र हैं। यदि वे मिच्या होते तो ऐसी मानसिक इतियो को न्यायोक्ति नहीं कहा जाता । स्पष्टतः 'सत् का बस्तिस्व है' धौर 'सत् का बस्तित्व नहीं है' तर्क-वाक्यों में भेद है, पूर्वोक्त को वैष तथा परवादक्त को असत्य माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि 'सत्' और 'झस्तिस्व' में कोई भेद नहीं है तथापि उसमें एक ऐसी विशेषता है कि मस्तित्व के 'सत्' के प्रति विधान वैध है, उसका निषेष श्रसत्य है। यदि यह केवल एक शान्दिक मान्यता होती तो, परचादक्त निवेध भी समान रूप से सम्भव व न्यायोजित होता । यह विशेषता विषय से एकरूप होती है और उसमें किसी विशेष संबंध में स्थित नहीं रहती । इस कारए। से सबधों की एक प्रत्य गृ सला की अपेक्षा नहीं होती, तथा धनवस्या दोव की प्रापत्ति स्वीकृत नहीं की जा सकती। यदि 'विशेष' के प्रत्यय को स्वीकार न किया जाय तो 'विशेष' धीर 'विशेषरा" की सकल्पना श्रव्यास्येय रह जाती है। इस सर्थ में 'विशेष' का प्रत्यय सबसे प्रथम मध्य द्वारा प्रस्तावित किया गया, बलदेव ने मगवान और उसकी शक्तियों व गुर्हों के संबंध की व्याख्या के लिए उक्त प्रत्यय को मध्य से प्राप्त किया। यह म्यास्या बलदेव के पूर्ववर्ती जीव व धन्य विद्वानों के मत से सर्वेशा भिन्न है, हम देख ही चुके हैं कि कैसे जीव ने केवल समवान की शक्तियों के श्रवित्त्य स्वरूप के सिद्धांत एवं शक्ति व शक्ति के स्वामी अथवा मूल व ब्रब्ध के नेद व अमेद के प्रविन्त्य स्वरूप के

<sup>°</sup> वही, ३. २. ३१।

डारा ही परिस्थिति की व्याक्या की थी । 'बूक्स' टीका में यह निश्चित कप में बता विया नवा है कि 'विशेष' के प्रत्यय की प्रस्तावना के डारा बसदेव ने इसे उदाहरख में स्रविक स्पब्टत: 'स्रविस्थ्यल' के स्वरूप की व्याक्या करने का प्रयत्न किया है।'

स्वरूप और नाजा दोनों में मगवान का सानंद 'बीवों' के सानंद से मिल होता है, तथा उनके जान का स्वरूप निक होता है। इस प्रकार बहुन्त वगत् व 'बीव' सेनों से स्वरूप में कि है। वा पीनचों के सकत एकत्व गांठ की व्याख्या केवत हस क्ष्मत के रूप में की बानी चाहिए कि जगत् व 'बीव' मानां में कि बानों मानां में स्वरूप हैं (सर्वण करोगा व 'जार का समुद्धारण करने वालों में भावान के स्वरूप करों वालों में भावान के स्वरूप के प्रविक्रमित मिल रूप में होती है, वैधी-भक्ति के उदाहरण में वह प्रपंते पूर्ण मानुसुंत होता है। जब जावान की कृष्ण के सीमित रूप में उपासना के प्रवृत्त होता है। जब जावान की कृष्ण के सीमित रूप में उपासना के प्रवृत्त होता है। जब जावान की कृष्ण के सीमित रूप में उपासना की सामां है तब वह मक्त के वस्मुल सीमित रूप में अपना मानां ने सामां का स्वरूप स्वरूप ऐसा होता है कि उक्त रूप में मी वह सर्व-माणी बना प्रवृत्ता है। सतः स्वरूप है कि वही 'विवेच' की स्वीकृति बतदेव की सहायक नहीं होती हमा उपने सामां में कि सामां में सामां में कि सामां में कि सामां में में सामां मामां में सामां मामां में सामां मामां मामां मामां मामां मामां मामां मामां मामां मामां

सगवान वगत् का उपादान कारण तथा चरण कर्ता दोनों ही माना जाता है।
उसकी परम-बक्ति 'विष्णु-सक्ति' 'दोकक-सिक्ति' अविधा-बक्ति के रूप में तीन सलपुत सक्तियाँ हैं। घरनी प्रथम खिक में बहुग्यू स्वय में विकार-रिहेत बना रहता है, तथा प्रम्म दो शक्तियां 'जीव' तथा 'जवत्' में रूपानतित्व होती हैं। तांक्यवादी तर्क करते हैं कि चूंकि जगत् बहुग्य से मिल स्वरूप है इसलिए बहुग्य को उत्तका उपादान कारण, नहीं माना वा सकता। यदि यह साध्यह किया जाय कि जगत् पूर्व 'जीवों' का उपादान कारण, मानी जा सकने वाली दो सूक्त्य विक्तियों होती हैं तो भी उनकी साध्यित बनी ही रहती है, क्यों कि सूक्त्य से मिल होने वाले स्त्यून के दिक्त की अपस्थान नहीं की जा सकती। इसका उत्तर यह है कि यह सावस्थक नहीं कि कार्य धानिवायत: उपादान कारण के समान ध्यवा सहस्त्र हो। बहुग्यून स्वयं को उत्तसे धनिवायतः इसत्या संक्रांतित करता है। यदि उत्तादान कारण और कार्य में पूर्ण एकक्र्यता होती तो एक को कारण व दूसरे को कार्य नहीं कहा वा सकता था, यथा घट में कार्य क्या होने वाला प्रतिका का के समान स्वयन नहीं केवा जाता, सतः स्वर

तेतैव तस्य वस्त्विमिन्नत्वं स्व-निर्वाहकत्वं च स्वस्य ताहक्षे तद्भावोज्युम्भकमिनन्यत्वं सिद्धयति ।
 —'गोविन्द-माष्य' ३. २. ३१ पर पुरुम ।

उदाहरलों की हम समीक्षा कर सकते हैं उन सब में कार्य उपादान कारल से श्रानिवार्यन: प्रिम्न होना वाहिए। उक्त स्थान्तरसा किसी भी रूप में बहान के स्थरूप को परिवर्तित नहीं करता । परिवर्तन तो उसकी शक्तियों में होते हैं. तथा वह श्रपनी वास्तियों के रूपांतरण में प्रपरिवर्तित रहता है। यदि हम एक साचारण उदाहरण लें तो यह संकेत किया जा सकता है कि 'लाठी वाला मनुष्य' किसी भीर का नहीं वरन् स्वय उसी मनुष्य का चोतक है। यद्यपि उस मनुष्य एवं लाठी में भेद है। इस प्रकार यद्यपि बहान की शक्ति का शक्तियों सहित बहान से तादारम्य होता है, तथापि बहान और उसकी वास्तियों में भेद के भस्तित्व का निषेष नहीं किया जाता है। इसके धार्तिरिक्त. उपादान कारण भीर उसके कार्य में सदा भेद होता है। घट मृतिका के हैले से तथा स्वर्ण से बने बलकार स्वर्ण से मिल्ल होते हैं, तथा वे विभिन्न उद्देश्यों की पुलि करते हैं भौर भिन्न-भिन्न कालों में भस्तित्व रखते हैं। यदि कारण की प्रक्रिया से पुर्व ही कार्य का अस्तित्व होता तो कारण की प्रक्रिया का अनुप्रयोग अनावश्यक होता. और कार्य नित्य होता । यदि यह माना जाय कि कार्य एक पुर्व-स्थित सत्ता की अभिन्यक्ति है, तो आगे यह प्रवन उठता है कि क्या उक्त अभिन्यक्ति, जो स्वयं एक कार्य है, बागे बन्य ब्रमिक्यक्ति की अपेक्षा रखती रहेगी जिसके फलस्वरूप बनत तक यह प्रक्रिया चलती रहेगी इस प्रकार ग्रामिक्यक्तियों की एक श्राखना की श्रावश्यकता होगी ग्रीर मनवस्था-दोष हो जायगा । फिर भी बलदेव 'परिगाम' धयवा 'मभिम्यक्ति' के सिद्धांत को नहीं करते. वे इस सांक्य-मत को ग्रस्वीकार करते रसाता की प्रक्रिया से पूर्व भी कार्य का प्रस्तित्व होता है, प्रथवा एक 'ग्रिभव्यक्ति' के लिए भ्रमिश्यक्तियों की शृंखला की आवश्यकता होगी। ने कार्य की एक स्वतंत्र श्रमिश्यक्ति के रूप मे परिमाषा देते हैं (स्वतन्त्राभिव्यक्तिमस्वं किल कार्यत्वम्) भीर ऐसे कार्य के कारए। का अस्तित्व प्रक्रिया से पूर्व नहीं हो सकता । जगत की अभिव्यक्ति भगवान की अभिव्यक्ति के माध्यम से होती है, जिस पर वह आश्रित होता है। ऐसी अभिध्यक्ति केवल मगवान में बन्तर्निहत कारण की प्रक्रिया के द्वारा और उसकी इच्छा द्वारा श्रीरत हो सकती है। इस प्रकार जयत भगवान की शक्ति से अभिव्यक्त होता है तथा एक सीमित अर्थ में जगत का भगवान से तादात्म्य होता है, किन्तू एक बार कार्य रूप में पृथकु हो जाने पर वह उससे जिस्न हो जाता है। अपने वर्तमान रूप में अभिव्यक्त होने से पूर्व अगत् का किसी भी काल में श्रस्तित्व नहीं था, यह मान लेना अदिपूर्ण है कि जगत का किसी भी अवस्था में भगवान से तादातम्य या, इसलिए यद्यपि मगवान को सदा जगत का उपादान कारण माना जा सकता है। इन समस्त विवेधनों के परचात यह स्पष्ट हो जाता है कि बलदेव के मत एवं सांक्य मत में कोई महत्वपूर्ण भेद नहीं है।

<sup>&</sup>lt;sup>9</sup> वही, २. १. १३।

व गोविन्द-भाष्य, २. १. १४।

बलदेव भी यह मानते हैं कि अपनी शक्तियों से सम्पन्न भगवान में जगत एक सक्ष्म कप में बस्तित्व रखता है। वह केवल 'कारिका' के इस साब्दिक प्रकाशन पर आपति उठाते हैं कि कारएता के कारकों की प्रक्रिया से पूर्व कार्य का कारए। में प्रस्तित्व होता है, क्योंकि कार्य कारण में 'कार्य के रूप' में बस्तित्व नहीं रखता वरन एक सुक्ष्म श्रवस्था में भरितत्व रखता है। यह सक्ष्म भवस्था कारणता के कारकों की प्रक्रिया से कार्य रूप में धमिन्यक्त होने से पूर्व अभिदृद्ध एव दिक्-कालीन गुर्खों से सम्पन्न हो जाती है। किन्तु कारण में कार्य के सस्तित्व पर अत्यधिक बल देते में, और कारणता के कारकों द्वारा व्यापार केवल सम्यक्त रूप में पूर्व सस्तित्ववान सत्ता को समिव्यक्त करने में सांस्थ का मतभेद है। किन्त, बलदेव के अनुसार कारराता के कारक एक यथार्थ परिवर्तन एव अभिवृद्धि उत्पन्न करते हैं। यह नवीन गुर्लो एवं ज्यापारों की अभिवृद्धि अगवान की कारए।ता-विषयक इच्छा की प्रक्रिया से उत्पन्न होती है, वह इस झर्य में एक अविनत्य स्वरूप की होती है क्योंकि सुक्ष्म कारणावस्था में अस्तित्व नहीं होने पर भी वे भगवान की इच्छा की प्रक्रिया से उत्पन्न हुए हैं। परन्त, ग्रजावान के साहबर्य द्वारा जहाँ तक सक्ष्म कारण मगवान में बस्तित्व रखता है, जगत अपने वर्तमान रूप में भी भगवान से अन्त एव स्वतंत्र नहीं है। ' 'कीव' भी स्वय कोई स्वातंत्र्य नहीं रखते. उनकी भगवान ने अपनी इच्छा-मात्र से सच्टि की है, तथा जगत व 'जीवों' की सच्टि करने के पश्चात वह जनमे प्रविष्ट होकर जनके बन्तर्यामिन के रूप में स्थित रहता है। इसलिए 'जीव' जड जगत के विषयों के समान ही प्राकृतिक पनिवायता के अधीन है, भीर उनमे कर्तृत्व भ्रथवा इच्छा की कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। वजन की प्राकृतिक श्रनिवार्यता केवल उसके माध्यम से श्रमिन्यक्त होने वाली हरि-इच्छा मात्र है। मनुष्य में पाए जाने वाले सकल्प और स्वतः स्कृतं इच्छा भी मनुष्य के माध्यम से कियाशील हरि-इच्छा की अभिव्यक्ति हैं। इस प्रकार मानव और जगत दोनों ही नियति के भधीन हैं तथा मानव को कोई स्वतंत्रता नहीं है। जैसे गाय की प्राग्-शक्ति से उत्पन्न दध हमें गाय द्वारा दिया हुआ प्रतीत होता है उसी प्रकार जब एक व्यक्ति एक विशेष कार्य को करता हुआ अथवा एक विशेष इग से आचरण करता हुआ अथवा किसी वस्तुका संकल्प करता हुमा दिखाई देता है, तब वह स्वयं कर्ता नहीं होता वरन् भाष्यम होता है जिसके द्वारा परमेश्वर कार्य करता है। वहाँ यह प्रश्न उठ सकता है

तस्मादेकमेव जीव-प्रकृति-सक्तिमद् बहा जगदुपादानं तदात्मकं च इति सिद्धमेवं कार्या-वस्येत्वेऽध्यविचित्त्यत्व-चर्म-योगादप्रच्युत-पूर्वोवस्य चावित्य्वते ।

<sup>-</sup>वही, २. १. २० **।** 

<sup>🌯</sup> चेतनस्थापिजीवस्थाइम-काष्ठ-लोध्ट्रवदस्वातन्त्र्यात् स्वतः कर्तृत्व-रूपानापत्तिः ।

<sup>-</sup>बह्ये, २. १. २३।

<sup>&</sup>lt;sup>3</sup> वही, २. १. २४।

कि, यदि अगवान सकल मानवी इच्छा एवं किया का एकमात्र कारख है, तो जो संश्वान निष्पक्ष है वह हमें इतनी मिल्न इच्छाओं में प्रवत्त क्यों करता है ? इसका उत्तर यही है कि अगवान हमारे बनादि पूर्व कर्मों के बनुसार हमारी किया एवं इच्छा को निर्धारित करता है। इस पर यह बापति भी की जा सकती है कि, यदि भगवान हमारे पूर्व कर्मों के धनुसार हमारी इच्छा को निर्धारित करता है तो अगवान अपनी निर्धारक किया में हमारे 'कर्मी' पर बाश्रित रहता है, परन्तु यह उसकी निर्वाध स्वतंत्रता को एक गम्भीर बुनौती होगी। इसके ब्रतिरिक्त, चुँकि विशिन्न प्रकार की कियाएं विभिन्न प्रकार के सुखपुर्श व दू:खपुर्श प्रभावों को उत्पन्न करती हैं, इसलिए भगवान को पक्षपातपूर्ण कहा जा सकता है किन्तु इन धापत्तियों का उत्तर यह है कि अगवान 'जीवों' का निर्वारण स्वय उनके व्यक्तिगत स्वमाव के अनुसार करता है, 'जीव' अपने मौलिक रूप में विभिन्न स्वमाव के होते हैं तथा उनकी मौलिक भिन्नता के अनुसार मगवान उनकी इच्छा व कियाओं का जिन्त-जिन्त रूप में निर्धारण करता है। यद्यपि भगवान उनके स्वभाव को परिवर्तित करने की क्षमता रक्षता है, तथापि वह ऐसा नहीं करता, किन्तु मगवदिच्छा स्वरूपत: ही ऐसी है कि मगवान अपने मक्त के लिए एक धाधिमान्य व्यवहार भारक्षित रखता है, अपनी विशेष क्रणा प्रदान करता है। रवय भगवान की कियाए किसी बस्तगत उद्देश्य ग्रथवा प्रयोजन से निर्घारित नहीं होती. धापित स्वयं उसके आनंद-स्वरूप के आनदानमव द्वारा स्वेच्छा से प्रवाहित होती हैं। अपने मक्तों के प्रति उसकी विशेष क्या उसके स्वरूप से ही प्रवाहित होती है तथा मक्तों के प्रति उसका यह विशेष व्यवहार ही उसको उनका प्रिय बनाता है और धन्य व्यक्तियों को उसकी ग्रोर उन्मस होने के लिए उत्साहित करता है।

"मिक्ति" को एक ज्ञान-विशेष मी माना जाता है (मक्तिरिय ज्ञान-विशेषों क्षयति)। " 'मक्ति के द्वारा एक ब्यक्ति किसी वस्तुत्रत्व हेतु के बिना देश्वरीत्मुकी होता है। 'मक्ति' एक ऐसी बक्ति मी मानी जाती है जो वयवान को हमारे वसीमूत कर सकती है," यह खक्ति करित्त से संबंधित मगवान की 'ह्यादिनी-चार्कि' का सार मानी जाती है। उक्त सब्दिक संबंधित मगवान की 'ह्यादिनी-चार्कि' का सार मानी जाती है। उक्त सब्दिक संबंधित मगवान ही होतिन-चार्कि

<sup>-</sup>वही, २. १. ३४।

वही, २. १. ३६।

<sup>&#</sup>x27;सिद्धान्त-रत्न' पर टीका, पृ० २६।

भगवद्-वशीकार हेतु-मूता शक्तिः ।

सहज प्रवृत्ति के बनुकुल प्रवाह में निहित होता है। इस प्रकार इसका चित व बानंद के रूप में भगवान के स्वरूप से तावारम्य होता है, फिर भी उसे भगवान से एकरूप न मानकर उसकी एक सक्ति माना जाता है। वदाप 'मक्ति' का मगवान में उसकी शक्ति के रूप में शस्तित्व होता है, तथापि वह मक्त का विशेषण भी होता है। बह दोनों को मानन्ददायी होता है तथा वे दोनों उसके संघटक तस्य होते हैं।2 स्मरला होवा कि तीन शक्तियों में से 'संवित्' 'संधिनी' से श्रेष्ठ होती है, भीर 'ह्यादिनी' 'संबित्' से श्रेष्ठ होती है । भगवान न केवल है वरन वह प्रपनी सत्ता जन्य सभी वस्तुओं को प्रदान करता रहता है, अत: 'सिवनी' वह शक्ति है जिसके द्वारा मगवान सबको सत् प्रदान करता है। वह स्वयं चित् स्वरूप है। 'सवित्' वह शक्ति है जिसके द्वारा उसकी जानात्मक किया सम्पन्न होती है और जिसके द्वारा वह अन्य व्यक्तियों के लिए ज्ञान-प्राप्ति सम्भव बनाता है। यद्यपि यह आनंद-स्वरूप है, वह बाह्नाद का अनुमव करता है तथा धन्य व्यक्तियों के लिए बाह्नादमय धनुमतों की प्राप्ति सम्मव बनाता है; जिस कांक्ति के द्वारा वह ऐसा करता है उसे 'ह्वादिनी' कहते हैं। " सच्ची 'मक्ति' का स्वय से बाह्य कोई हेतु इस कारए। नहीं हो सफता कि वह स्वयं परमानद के रूप में भगवान की अनुभूति होती है। अपने स्वरूप की अनुभूति से सुयुष्ति प्राप्त ग्रानंद द्वारा यह सिद्ध होता है कि इन्द्रिय-सुख से मिन्न एक प्रकार का मानंद होता है। किन्तु, चूँकि हम मगवान की शक्ति के प्रश्नु-मात्र हैं, इसन्तिए यह मनिवार्यतः सिद्ध होता है कि मगवान का स्वरूप परम व मनन मानंद है, एक वार उस बानद की बनुभृति होने पर लोग सदा के लिए सांसारिक इन्द्रिय-सूख से विमूख होकर सहज ही भगवान की छोर उन्मूख हो जाएंगे।

सत्य ज्ञान सकत पुष्प एव पाप को नष्ट कर देता है, घतएय 'जीवस्त्रुकि' में मनुष्प केसन नमदान की इच्छा से घरणी हेड़ को थारणा करता है। धानियायं कर्मों का प्रमाद नब्द नहीं होता—स्वनं में प्रवेश घारि पुष्प कर्मों की उत्पत्ति इसके घरवाद है-तथा वह सत्य ज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होता है, बब सत्य ज्ञान का उदय होता

ह्लाद-मिन्ना सविद्, यस्तदानुकृत्यंशः स तस्या सारः । –वही, पृ० ३७ ।

स्वरूपानितरेकिण्यपि तद्विशेषतया च भासतेऽन्यवा तस्य शक्तिरिति व्यपदेश-सिद्धेः ।

<sup>–&#</sup>x27;सिद्धान्त-रस्न,' पृ० ३६ ।

भगवत्-स्वरूप-विशेष-भृत-ङ्कादिन्यादिसारात्मा भक्तिमैगवद् विशेषणतया भक्ते व पृथग्-विशेषणतया सिद्धा तयोरानन्यतिसययो नवति । —बही, पृ० ३६ ।

प तत्र सदारमाऽपि यया ससं छत्ते दराति च सा सर्व-देश-काल-इध्य-व्याप्ति-हेतु, सन्दिनी, संविदारमाऽपि यया संवीत्त सवेदयति च सा संवित्न, झादारमाऽपि यया स्वादते साह्यति च सा झादिती । —वही, पृ० ३६-४० ।

है तब यह सामे स्वयं को प्रकट नहीं करता। की बीतकी उपनिषद् में मी कहा गया है कि एक बाली मनुष्य के दुष्य उसके मिशों में बने बाते हैं और उसके पार उसके वाद्यों में, स्वित्तए वो को अपाकुत होते हैं उनके उपने के स्वान्त के समायन में प्रविष्ट होगे को अपाकुत होते हैं उनके उपने के पूर्व प्रविद्य होगे की प्रविद्य होते हैं। उसे हिंदि हो बाते हैं। इसे प्रकार प्रस्कार में में विवर्धित हो बाते हैं। इस प्रकार प्रस्कार प्रस्कार कर सम्य अपिता में विवर्धित हो बाते हैं। इस इस नियम की पूर्ण हो ताती है कि समें प्राप्य 'कमें ' प्रतिवार्थतः क्लीमूत होने ही बाहिए, तथा मनवान का नक उनते मुक्त हो बाता है। स्वय-विकास का सर्वोच्य सामन केवल मत्तों का साहच्ये हो हो सकता है। हमारा स्थान प्रमाय है धीर स्वयन का विनास स्वार्थ कर स्वार्थ प्रसाय प्रमाय कर स्वर्थ हमार स्वर्थ कर कर स्वर्थ प्रसाय स्वर्थ केवल मत्तों का साहच्ये ही हो सकता है। हमारा स्थान प्रमाय है धीर स्वर्थ का विनास स्वर्थ कर स्वर्थ हमार स्वर्थ का स्वर्थ प्रसाय कर स्वर्थ हमार स्वर्थ हमें स्वर्थ हमार स्वर्थ का स्वर्थ हमार स्वर्थ कर स्वर्थ हमार स्वर्थ का स्वर्थ हमार स्वर्थ कर स्वर्थ कर स्वर्थ हमार स्वर्थ कर स्वर्थ हमार स्वर्थ कर स्वर्थ कर स्वर्थ कर स्वर्थ हमार स्वर्थ कर स्वर्य कर स्वर्थ कर स्वर्य कर स्वर्थ कर स्वर्य कर स्वर्थ कर स्वर्थ कर स्वर्य कर स्वर्थ कर स्वर्थ कर स्व

'सिजांत-रत्न' के छठे छीर सातवें घड्यायो में बलदेव शंकर के उस घडेतवाडी सिद्धांत को खण्डित करने का प्रयास करते हैं, परन्तु, इन युक्तियों में किसी नवीनता का कठिनता से समावेश होता है, प्रत्युत में रामानुज धौर मध्य सम्प्रदाय के विचारकों की युक्तियों की पुनरावित मात्र हैं, इसलिए उनका यहाँ छोड देना श्रेयस्कर है। भ्रपनी 'प्रमेय-रत्नावली' में बलदेव गौडीय सम्प्रदाय के वैष्णव-तत्र के मुख्य विषयो का अ्यापक सारांश देते हैं। यदि हम 'मागवत-संदर्म' मे दिए गए वैद्याद दर्शन के विवरण की बलदेव के 'गोविन्द-माध्य' एव 'सिद्धांत-रत्न' मे दिए नए विवरण से त्लना करें तो हमें पता चलना है कि, यद्यपि धाधारभूत सिद्धांत एक ही है, तथापि मध्व के प्रमाव के कारण तथा अपने व्यक्तिगत पक्षपातों के फलस्वरूप बलदेव द्वारा गौढीय सम्प्रदाय की विचारधारा में धनेक नवीन तस्व प्रस्तावित किए गए हैं। ईश्वर. जीव और जगत में मेद पर दिया गया बल तथा 'विशेष' का प्रत्यय निश्चय ही मध्य के प्रभाव चित्र हैं। पुन:, यद्यपि बलदेव 'रुचि-भक्ति' की सर्वोत्तम 'मक्ति' के रूप में सराहना करते हैं, तथापि वे उस पर वही बल नहीं देते जो रूप, सनातन और जीव की रचनाओं में पाया जाता है। उनका 'मिक्त' का प्रत्यय भी जीव के प्रत्यय से तनिक मिन्न है, वे परातन शब्दावितयों ('भ्रतरग' भीर 'वहिरग शक्ति') का प्रयोग नहीं करते तथा उस प्रत्यय धाधार पर धपने मत की व्याख्या नहीं करते। उनकी 'प्रमेय-रत्न माला' पर एक कृष्णदेव वेदांत वागीश द्वारा रचित 'कांति-माला' नामक परानी टीका है। 'प्रमेय-रत्न-माला' में वह ग्रानंद तीयं ग्रपना मध्य को ग्रपना प्रणाम प्रापत करते हुए ऐसी नौका बतलाते हैं जो उन्हें संसार-सागर से पार उतारने बाली है। वह उस गुरु-परम्परा की एक सूची भी देते हैं जिनसे उन्होंने अपने विचारों

१ 'गोविन्द-माध्य,' ४. १ १७।

को प्राप्त किया । वे यह यत भी प्रकट करते हैं कि गुरू-गरम्परा पर चितन करने से भी ध्यक्ति हरि को संजुष्ट करने में सफल हो सकता है। यह प्राप्ते कहते हैं कि कलियुन में 'थी', 'बहा', 'बहा' वे सनक' नामक चार वेध्युव 'सम्प्रदाय' उद्योश (उत्तक्त) में उत्तरक होंगे जिनका रामानुन, मध्य, विध्युप्तामिन व निम्बादिय से समीकरण किया जा सकता है। वे धपने गुरूबों की परन्यरा में बीक्रमण, बहा, देविंव वादरायण, मध्य, पदमाम, नृहरि, माध्य, प्रक्रोम्य, अवतीर्य, क्षानतिन्य, विद्यामित्य, रावेशन, पदमाम, पदमाम, महास्त्र अध्यक्ति, सम्बन्धित, सम्बन्धन, देविंव स्वार्यन करते हैं। बतदेव हारा विद्यार्थन का प्रतिन्तिव्यत्त किया मान्यत्त क्षा के स्वर्यन हारा है जो स्वर्यन हारा विद्यार्थन का प्रतिनिव्यत्त किया निवार्य के सम्बन्धन हो वे संत्र की संज्ञा दी वा सकती है, बंगाल में हाल ही में वैध्युवों का एक सम्प्रदाय हो तुका है जो स्वयं को स्थल-नीवीय सम्प्रदाय कहता है।

कवि कर्णपूर डारा धपने काल्पनिक घयवा धाक्यानात्मक प्रन्य 'गौर-गर्शाहेश-दीपिका' में दी गई एक पूर्व सूची देखिए।



